राजनीति विज्ञान

लेखक
डॉ० वी० के० अरोड़ा

प्रोफेसर
हरिश्चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान
जयपुर

प्रकाशक
गाड़ोदिया पुस्तक भंडार
फड़ बाजार, बीकानेर-३३४००१

प्रकाशक :
किशनलाल गाडोदिया
गाडोदिया पुस्तक भडार
फड बाजार, बीकानेर
फोन न 4080, 5330

सस्करण : 1986-87
मूल्य
छात्र सस्करण रु० 35 00
पुस्तकालय सस्करण रु० 45 00

मुद्रक
प्रेसको इण्डिया, मौजपुर, दिल्ली-53

मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक
डा० लक्ष्मण सिंह राठौड़
को
सादर
समर्पित

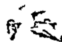
भूमिका

राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्तो की व्याख्या करने वाली पाठ्य-पुस्तको का अभाव नही है, फिर भी एक नयी पुस्तक लिखने की आवश्यकता क्यों हुई—यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। वस्तुत पिछले पचास वर्ष मे राजनीति शास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में जो विस्मयकारी परिवर्तन हुए हैं, उन्हें देखते हुए यह साहस किया गया है। आधुनिक युग क्रान्तिकारी रूपान्तरणो का युग है, जिसने भौतिक ही नहीं अकादमिक जगत के स्वरूप को भी बुनियादी तौर पर बदल दिया है। राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्तो के विषय मे अब हमारी धारणायें वैसी नही हैं, जैसी कुछ वर्ष पहले थी। एक नयी प्रक्रिया की शुरूआत हो चुकी है जो राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तो की सर्वमान्य व्याख्या की खोज मे है। इस अन्तरिम अवस्था मे राजनीतिक सिद्धान्तो के विषय मे पुरानी और नयी पीढ़ी के चिन्तन के बीच अन्तर को मिटाना तथा विद्यार्थियो को परीक्षा की दृष्टि से भी विषय से सम्बन्धित नयी जानकारी देना, इस पुस्तक का लक्ष्य है। उदाहरण के लिए, 'जनतन्त्र' के विषय मे थोडा-बहुत सभी जानते हैं। उनकी एक धारणा भी होती है। लेकिन पुस्तक मे 'जनतन्त्र' का अर्थ आदि पढने से उन्हें विषय से सम्बन्धित नये दृष्टिकोणो का परिचय मिलेगा और 'जनतन्त्र' की आत्मा को पहचानने और उसके स्वरूप को समझना आसान हो जायेगा। मूलत पुस्तक पुरानी शैली म है, नये विचार, व्याख्यायें (Definitions) आदि इसलिए हैं कि पुस्तक नवीन और रोचक लगे तथा राजनीतिक सिद्धान्त या अवधारणायें (Concepts) अधिक स्पष्ट हो सकें।

पुस्तक मे मौलिकता का दावा करना उन विद्वानो के प्रति कृतघ्नता होगी जिनकी रचनाओ से मुझे प्रेरणा व सहायता मिली है। तो वह मेरा निजी दृष्टि कोण है जो विवादास्पद हो सकता है।

पुस्तक को सुधारने के लिए भेजे गये रचनात्मक सुझावो का आदर किया जायेगा।

—विजय अरोडा



11 फरवरी, 1983

विषय-सूची

प्रणाली, जापानी योजना, सीमित मत प्रणाली, एकत्रित मत योजना, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, सूची प्रणाली, एकल संक्रमणीय मत पद्धति, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण व दोष, निष्कर्ष प्रत्यक्ष विधायन, प्रत्यक्ष विधायन के उपकरण, प्रत्यक्ष विधायन के गुण प्रत्यक्ष विधायन के दोष, निष्कर्ष, जनमत, महत्व, जनमत का निर्माण तथा उसके साधन स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधायें, स्वस्थ जनमत निर्माण के लिये आवश्यक शर्तें, राजनीतिक दल, महत्व, अर्थ और प्रकृति, कार्य, गुण और दोष, सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें, दल-प्रणाली के रूप, बहुदलीय पद्धति, द्विदलीय पद्धति, दबाव गुट, अभ्यासार्थ प्रश्न।

अध्याय 1

राजनीति शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र व महत्त्व

(Definitions, Scope and Importance of Political Science)

"राजनीति आज मानवीय अस्तित्व का अपरिहार्य तत्त्व बन चुकी है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध होता है।"

—राबर्ट ए डहल

'राजनीतिक शास्त्र, अंग्रेजी भाषा के शब्द पॉलिटिकल साइंस' (Political Science) का हिन्दी रूपान्तर है जिसकी उत्पत्ति यूनानी शब्द 'पोलिस' (Polis) से मानी जाती है। यूनानी भाषा मे 'पोलिस' का अर्थ है 'नगर राज्य'। प्राचीन यूनान मे प्रत्येक 'नगर' एक स्वतन्त्र 'राज्य' था और 'नगर राज्य' की गतिविधियो से सम्बन्धित ज्ञान को लोग 'पालिटिक्स' के नाम से पुकारते थे।* प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने इसी आधार पर 'नगर राज्य' की समस्याओं का अध्ययन करने वाली अपनी पुस्तक का नाम 'पॉलिटिक्स' रखा था। इतिहास के काल चक्र मे धीरे धीरे नगर राज्य लुप्त हो गये तथा इनके स्थान पर पहले विशाल साम्राज्यो की और बाद मे आधुनिक राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना हुई। 'राज्य' संस्था के स्वरूप मे होने वाले इन परिवर्तनों के साथ-साथ उससे सम्बन्धित अध्ययन, राजनीति (Politics), का अर्थ भी उतना संकुचित नही रह गया। यह राज्य के विकसित स्वरूप का अध्ययन करने वाला विषय बन गया।

---

* मूलत पोलिस नगर को काफी ऊंचाई से देखता हुआ आत्मरक्षा की दृष्टि से बनाया गया किलेबन्दी का स्थान था। सार्वजनिक मामलो पर विचार विमर्श के लिये वे (यूनानी) वहीं इकट्ठे होते थे। धीरे धीरे पोलिस शब्द ऐसे संगठित समाज या 'शक्ति' के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा जो दूसरी समान शक्तियो या समुदायो से सम्बन्ध स्थापित करने लगी हो। पोलिस, इस तरह नगर राज्य के आस-पास बसे लोगो का ऐसा समूह समझा जाने लगा, जो वास्तविक अथवा काल्पनिक रक्त-सम्बन्धो से बंधा सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से संगठित तथा समूह के सदस्यो व उनके आश्रितो के मध्य सम्बन्धो को सुव्यवस्था से सम्बन्धित हो उसमें पूजा-पाठ, खेल कूद तथा ललित कला की समान सुविधा और वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन मे श्रम विभाजन का भाव निहित था। ऐसे 'पोलिस' के सम्बन्ध मे चौथी शताब्दी ईसा पूर्व अरस्तू ने 'पोलिटिक्स' (पोलिस विषयक) शीर्षक के अन्तर्गत भाषण माला दी थी।

—Joseph Dunner, *Dictionary of Political Science*, 'Introduction' 1964, pp XIII XIV

लेकिन राजनीतिक शास्त्र वेत्ताओं का एक वर्ग ऐसा भी है जो 'राजनीति शास्त्र' की इस ऐतिहासिक व्याख्या को स्वीकार नहीं करता। इनमें प्रोफेसर जी डी एच कोल और प्रोफेसर फील्ड का नाम मुख्य है। कोल का मत है कि "पोलिस' का अर्थ 'राज्य' नहीं हो सकता तथा 'राज्य' के रूप में उसका अनुवाद करके हम यूनानी चिन्तन को अपने विचारों के अनुकूल तोडने-मरोडने का कार्य कर रहे हैं।"[1] फील्ड का कहना है कि "हमें 'पोलिस' का अर्थ 'समुदाय' से लगाना चाहिये, 'राज्य' से नहीं।[2] 'पोलिस' से 'राज्य' का कोई रिश्ता है अथवा नहीं इस विवाद में उलझे बगैर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि राजनीति शास्त्र मुख्यतः 'राज्य' से सम्बन्धित समस्याओं का ही अध्ययन है।

कुछ वर्ष पहले तक 'राजनीति शास्त्र' में केवल 'राज्य' के संस्थागत पक्षों का अध्ययन होता था, लेकिन अब इसमें मानव के आचरण और शक्ति सम्बन्धों का अध्ययन भी होने लगा है। 'राज्य' अब भी इसके अध्ययन का आधार है, तथापि आजकल जोर राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन और शासक व शासितों को प्रभावित करने वाले मनोवैज्ञानिक व सामाजिक तत्त्वों पर दिया जाने लगा है।[3]

राजनीति शास्त्र की परिभाषा

(Definitions of Political Science)

सामान्यतः किसी विषय का अध्ययन उसकी परिभाषा से प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि परिभाषा उस विषय से सम्बन्धित समस्याओं को मोटे तौर पर समझने में सहायता देती है। सिजविक ने लिखा है कि "वैज्ञानिक अनुसन्धान के सभी क्षेत्रों में शुद्ध, स्पष्ट व निश्चित परिभाषा प्राप्त कर लेने से एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य बन जाता है।" परन्तु राजनीति शास्त्र पर सैकड़ों ग्रन्थों के लिखे जाने के बावजूद इसकी अभी तक कोई ऐसी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकी है जो सर्वमान्य या पूर्ण सन्तोषप्रद हो। विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषायें राजनीति शास्त्र के सम्पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसके किसी एक पक्ष का ही चित्रण करती हैं। इसलिये किसी एक परिभाषा द्वारा ही सम्पूर्ण राजनीति शास्त्र विषय को नहीं समझा जा सकता। उसके विविध पक्षों को विभिन्न परिभाषाओं द्वारा ही जाना जा सकता है। राजनीति शास्त्र पर दी गयी परिभाषाओं को आजकल दो भागों में बाटकर अध्ययन किया जाता है—परम्परावादी और आधुनिक।

राजनीति शास्त्र की परम्परागत परिभाषाएँ

(Traditional Definitions of Political Science)

मोटे तौर पर द्वितीय महायुद्ध से पूर्व राजनीति शास्त्र वेत्ताओं ने जिस प्रकार

---

1 G D H Cole *Essays in Social Theory* London 1950 p 13
2 G C Field *Political Theory* London 1966 p 8
3 C Eisenmann On the Matter and Methods of Political in *Contemporary Political Science*, Paris 1950, p 10

राजनीति शास्त्र की व्याख्या की वह द्वितीय महायुद्ध के बाद की व्याख्याओं से भिन्न है। पुरानी व्याख्याओं को 'राजनीति शास्त्र की परम्परागत परिभाषाओं' का नाम दे दिया गया है। इन्हें निम्नांकित चार वर्गों में रखा जा सकता है —

(1) राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के अध्ययन से है।
(2) राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध सरकार के अध्ययन से है।
(3) राजनीति शास्त्र राज्य व शासन दोनों का अध्ययन है।
(4) राजनीति शास्त्र मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन है।

राजनीति शास्त्र—'राज्य का अध्ययन'

अधिकांश परम्परागत राजनीति शास्त्र वेत्ता केवल राज्य को राजनीति विज्ञान का केन्द्र बिन्दु मानते हैं। इनमें गानर, ब्लश्ली, गुडनोव, गेरीज, एक्टन और जकारिया मुख्य हैं।

गानर की राय में "राजनीति शास्त्र का प्रारम्भ व अन्त राज्य से ही होता है।"[4]

ब्लश्ली के विचार से "राजनीति शास्त्र वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध राज्य से है और जो उसकी परम आवश्यक प्रकृति, आधारभूत स्थिति, तथा विविध स्वरूपों एवं विकास को समझने का प्रयास करता है।"[5]

गुडनोव के शब्दों में "यह शास्त्र उस सगठन का अध्ययन करता है जिसे राज्य कहते हैं यह राज्य की स्थिर और प्रगतिशील दोनों अवस्थाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।"[6]

गेरीज का विचार है कि "राजनीति शास्त्र राज्य के उदभव, विकास, उद्देश्य तथा समस्त राजकीय समस्याओं का उल्लेख करता है।"[7]

एक्टन के अनुसार "राजनीति शास्त्र राज्य तथा उसके विकास के लिए अनिवार्य दशाओं से सम्बन्धित है।"[8]

---

4 ' Political Science begins and ends with the State "
—*Garner*

5 "Political Science is the science which is concerned with the State which endeavours to understand and comprehend the State in its fundamental conditions in its essential nature, its various forms of manifestation its development " —*Bluntshli*

6 It is "the science which treats of the organization known as the State a science of both statics and dynamics of the State '
—*Goodnow*

7 "Political Science deals with the origin growth objects and problems of the State " —*Garies*

8 "Political Science is concerned with the State and with the conditions essential for its development " —*Acton*

डा० जकारिया के शब्दों मे "राजनीति शास्त्र व्यवस्थित रूप से उन आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिनके द्वारा समिष्ट रूप मे राज्य का सगठन होता है और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है।"[9]

राजनीति शास्त्र—'सरकार का अध्ययन'

इस वर्ग मे वे विद्वान् आते हैं जिनकी परिभाषाओं मे 'राज्य' शब्द नहीं आता। वे 'राज्य' के स्थान पर 'सरकार' के अध्ययन पर जोर देते हैं। उनके विचार से नाना प्रकार की मानवीय व्यवस्थाओं व सगठन विभिन्नताओं के अध्ययन द्वारा राजनीति विज्ञान के अध्ययन का उदय होता है। इसमे 'व्यवस्था' का अध्ययन प्रमुख है। राज्य तो केवल एक अमूर्त इकाई है। उसका बोध वस्तुत सरकार के माध्यम से ही होता है। क्रोसे (Croce) ने लिखा है कि 'उनके लिये, जो कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता की खोज मे हैं, 'राज्य सरकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है तथा सरकार मे ही उसे पूर्ण रूप प्राप्त होता है।" सरकार के अध्ययन मे राज्य का अध्ययन अन्तर्निहित है। अत सरकार का अध्ययन प्रथम और राज्य का गौण है। इस वर्ग मे मुख्य रूप से जान सीले, जेम्स और लीकॉक आते हैं।

सीले के शब्दों मे "राजनीति शास्त्र शासन सम्बन्धी बातों पर उसी रूप मे विचार करता है, जिस प्रकार अर्थ शास्त्र सम्पत्ति पर, जीव शास्त्र जीवन पर, बीज गणित अंकों पर तथा रेखागणित स्थान तथा परिणाम के सम्बन्धों पर।"[10]

एच जी जेम्स यद्यपि राजनीति शास्त्र को 'राज्य का विज्ञान' कहता है, तथापि उसके राज्य मे सरकार भी अन्तर्निहित है। राज्य के अन्तर्गत एक सत्ता या अभिकरण का होना जरूरी है जो राज्य की इच्छा को लागू करे। इसी को सरकार कहते हैं। सरकार राज्य के उद्देश्य को पूरा करने का यन्त्र है, वह राज्य को मूर्त रूप देता है। अत राजनीति शास्त्र का प्रारम्भ व अन्त राज्य और सरकार से होता है, न कि केवल राज्य से है।

लीकॉक का कथन है कि "राजनीति शास्त्र सरकार का अध्ययन करता है"[11] राज्य से इसे कुछ लेना देना नहीं है।

राजनीति शास्त्र—'राज्य व शासन दोनो का अध्ययन'

तीसरे वर्ग के विद्वान मध्य मार्ग अपनाते हुए राजनीति शास्त्र को राज्य और

---

9 Political Science sets forth in a systematic order the fundamental principles according which the State as a whole is to be organised and the sovereign power exercised' —*Zacharia*

10 Political Science investigates the phenomena of Government as Political Economy deals with wealth Biology with life, Algebra with numbers and Geometry with space and magnitude' —*Seelay*

11 Political Science deals with the Government' —*Leacock*

सरकार दोनों का अध्ययन करने वाला विषय बताते हैं। इस वर्ग में पॉल जेनेट,[12] गिलक्राइस्ट, गैटिल, डिमाक आदि विद्वान आते हैं। आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी (अंग्रेजी शब्द कोश) में राजनीति शास्त्र को इसी प्रकार परिभाषित किया गया है "सरकार की कला एवम विज्ञान, किसी राज्य के अथवा उसके किसी भाग के स्वरूप, संगठन एवं प्रशासन से तथा उस राज्य व अन्य राज्यों से संबंधों के नियमन से सम्बंधित विज्ञान।"

पॉल जेनेट की राय है कि "राजनीति शास्त्र समाज विज्ञान का वह अंग है जो राज्य के आधारभूत तत्वों तथा शासन के सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।"[13]

गिलक्राइस्ट के विचार से "राजनीति शास्त्र वस्तुत राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।"[14]

गैटिल के अनुसार "राजनीति शास्त्र राज्य के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह शास्त्र मानव जाति के समुदायों से सम्बन्धित है जो शासन व्यवस्था के संगठनों से सम्बंधित राजनीतिक इकाइयों का वर्णन करता है। यह सरकार के उन कार्यों का वर्णन भी करता है जो विधि के निर्माण करने और उन्हें क्रियान्वित करने तथा राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से पूर्णतया सम्बंधित हैं। यह मानव जाति के उन सम्बन्धों की विवेचना भी करता है जिनका नियन्त्रण राज्य के द्वारा होता है। यह राजनीतिक सत्ता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या पर भी प्रकाश डालता है।"[15]

प्रो डिमॉक का विचार है कि "राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है जिसका ध्येय राज्य के अन्दर रहने वाले जनसमूह के द्वारा प्रगट की गयी इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।"

राजनीति शास्त्र—मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन

चौथे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जिनके अनुसार राजनीति शास्त्र मनुष्य के सम्पूर्ण

---

12 इनका फ्रांसीसी उच्चारण पाल जाने है।

13 'Political Science is that part of social science which treats of the foundations of the State and the principles of the Govern ment' —*Paul Janet*

14 Political Science deals with the general problems of the State and Government' —*Gilchrist*

15 Political Science may be defined as the science of the State It deals with the associations of human beings that form *political units with the organization* of their governments and with the activities of these governments in making and administering law and in carrying on inter state relations It deals with those relations among human beings which come under state regulation, with the relation of individuals or groups to the state itself and with the relation of states to other states It considers the problem of adjusting political authority to individual liberty' —*Gettell*

राजनीतिक जीवन का अध्ययन करता है। ये विद्वान मानते हैं कि राज्य मनुष्यों का सगठन है जिसे उनकी रक्षा और उन्नति के लिए बनाया गया है तथा उस राज्य की क्रियात्मक अभिव्यक्ति सरकार के माध्यम से होती है। अत राज्य और सरकार का अध्ययन उनके उद्देश्य और प्रयोजन के सम्बन्ध म ही किया जा सकता है। इसलिए राजनीति शास्त्र (जिस राज्य और सरकार का अध्ययन करने वाला विषय माना गया है) वस्तुत मनुष्य के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने वाली विद्या है। उसके राजनीतिक जीवन की समस्यायें ही राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मूल विषय हैं।

प्रो लास्की के अनुसार, "राजनीति शास्त्र के अध्ययन का सबध सगठित राज्यों से सम्बन्धित मानव जीवन से है।"[16]

हरमेन हेलट क शब्दा में "राजनीति शास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव सम्बन्धी मूलभूत मान्यताओं द्वारा होता है।"[17]

विलोबी के विचार से भी यह मानव राजनीतिक जीवन का अध्ययन करता है। उसके शब्दो मे "राजनीति शास्त्र केवल सगठन की दृष्टि से समाज का अध्ययन है— अर्थात जिस प्रकार एक व्यवस्थित और प्रगतिशील जीवन बिताने के लिए समाज एक सत्ता के अन्तगत प्रभावी रूप में सगठित होता है।"[18]

राजनीति शास्त्र की आधुनिक व समकालीन परिभाषाएँ
(Contemporary Definitionos of Political Science)

राजनीति शास्त्र के अधिकांश समकालीन (आधुनिक) विद्वानो को इस पर आपत्ति है कि राजनीति शास्त्र को मुख्य रूप से 'राज्य' और 'शासन' (सरकार) के अध्ययन तक ही सीमित माना जाय। उनके अनुसार राजनीति शास्त्र को यदि राज्य और उसके क्रियाकलापो (सरकार) का अध्ययन माना जाय तो स्वय राज्य की एक सौ पैंतालिस परिभाषाएँ ऐसी हैं जो एक दूसरे से पूणतया भिन्न हैं तथा राजनीति शास्त्र अनेक ऐसी समस्याओ का अध्ययन भी करता है जो इन परिभाषाओ के क्षेत्र से बाहर हैं।[19] अत यह आवश्यक है कि राजनीति शास्त्र की ऐसी पारभाषाएँ अपनायी जायें जो उसके व्यापक क्षेत्र की समुचित व्याख्या कर सकें और साथ ही भविष्य की सभावनाओं का भी ध्यान रखें। लेकिन उन परिभाषाओ मे हमे सगठित समाज के सभी पहलुओं को शामिल करने की भूल नही करनी चाहिये।

---

16 "The study of politics concerns itself with the life of men in relation to organized states ' —Laski, Quoted in Dorothy M Pickles Introductions to Politics ' p 34

17 It may be said that the character of political science in all its parts is determined by its basic pre suppositions regarding man —Encyclopaedia of social Sciences Vol XII p 212

18 W W Willoughby An Examination of the Nature of New york 1911, p 2

David Easton—The Political System New york 1953

इस समकालीन प्रवत्ति की शुरुआत उन दो पुस्तको से मानी जाती है जो 1908 मे प्रकाशित हुई थी। इनमे प्रथम एक अंग्रेज, ग्राहम वालास, की रचना "राजनीति मे मानव स्वभाव' (Human Nature in Politics) थी, जिसमे उसने राजनीति शास्त्र की परम्परागत शैली के प्रति असतोष व्यक्त करते हुए लिखा था कि, "राजनीति का अध्ययन अभी तक आश्चर्यजनक रूप से असतोषपूर्ण अवस्था मे है। राजनीति के लगभग सभी विद्यार्थी सभी सस्थाओ की विवेचना करते हैं और मनुष्य के विश्लेषण की उपेक्षा करते हैं।" दूसरी पुस्तक थी अमरीकी राजनीति शास्त्र वेत्ता आर्थर बेन्टले "शासन की प्रक्रिया" (The Process of Government) जिसमे उसने लिखा कि "हमारे पास एक जीवनहीन राजनीति शास्त्र है। यह शासकीय सस्थाओं की अत्यधिक बाहरी विशेषताओ का केवल औपचारिक अध्ययन है।"

प्रथम महायुद्ध के बाद अमरीकी विश्वविद्यालयो मे राजनीति शास्त्र के ऐसे विद्वानो की बाढ आ गयी जो राजनीति शास्त्र को नई परिभाषा देने को उत्सुक थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह धारणा खास तौर पर प्रबल हो गयी। राजनीति शास्त्र का अध्ययन नित नई दृष्टि से किया जाने लगा। फलस्वरूप राजनीति शास्त्र का जो नया रूप विकसित हुआ है और जो नयी परिभाषाएँ प्रकाश मे आयी हैं उन्हे निम्नाकित क्रम में बांटकर अध्ययन किया जा सकता है —

(1) राजनीति शास्त्र मानवीय क्रियाओ का अध्ययन है।
(2) राजनीति शास्त्र शक्ति का अध्ययन है।
(3) राजनीति शास्त्र पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन है।
(4) राजनीति शास्त्र नीति निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन है।

राजनीति शास्त्र—'मानवीय क्रियाओ का अध्ययन'

इस वर्ग मे वे समकालीन अनुभववादी विद्वान् आते हैं जो राजनीति शास्त्र को 'सगठित समाज में मानवीय क्रियाओ का अध्ययन' मानते हैं। इन्होने राजनीति शास्त्र की मान्यताओ मे इतना आमूलचूल परिवर्तन किया है कि इनकी परिभाषाओ को अति आधुनिक और इनके द्वारा विवेचित राजनीति शास्त्र को 'वर्तमान राजनीति शास्त्र' की सज्ञा दी जाती है। इनकी परिभाषाओ मे राजनीतिक आचरण और प्रक्रिया पर जोर दिया जाता है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि इनमे वैधानिक, सरचनात्मक और सस्थागत तत्त्वों की सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी है। इस वर्ग के विद्वान राजनीति को मात्र सरकार या राज्य रूपी सस्था का अध्ययन करने वाला विषय नहीं मानते। उसके विचार से **"राजनीति एक ऐसी कला है जिसके द्वारा प्रभावित, छलयोजित अथवा नियन्त्रित करके कोई वर्ग दूसरे वर्गों के विरोध के बावजूद अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।"**[20]

---

20 Politics is the art of influencing manipulating or controlling (groups) so as to advance the purposes of some against the opposition of others —Quincy Wright, *The study of International Relations* p 13

कैटलिन के शब्दो म, "राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध नियन्त्रणशील समाज में होने वाले कार्यों से है। यह उन कार्यों पर विचार करता है जो नियन्त्रण में सम्पादित होते हैं तथा उन इच्छाओं एव सरचनाओं से निकलते हैं जो कि इच्छाओं के नियन्त्रण सम्बन्ध के फलस्वरूप होती हैं।"[21]

अगादिपुरम अप्पादुरै का कथन है कि 'राजनीति शास्त्र समाज के सगठन का अध्ययन करता है तथा वह परिवार, श्रमिक सघ व राज्यरूपी सगठनो (मानवीय व्यवहार के एक ही पक्ष के अध्ययन के रूप मे) से दो बातो का पता लगाता है—ये हैं (अ) नियत्रण का प्रयोग कैसे होता है तथा (ब) व्यवहार में आज्ञाकारिता कसे काम करती है।"

पीटर मकल के अनुसार, "राजनीति का सार इस तथ्य मे निहित है कि एक समाज मे कोई भी मनुष्य अपनी मूलभूत स्वतत्रता का उपयोग करते हुए राजनीतिक साधनो से अपने खुद के भाग्य को किस तरह नियत्रित करता है।"

इस वग के विद्वानो के अनुसार केवल राज्य व शासकीय सस्थाओं का अध्ययन ही नही, राजनीति शास्त्र मे राजनीतिक व्यवहार और उस पर पडने वाले मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियो आदि के प्रभाव का अध्ययन भी निहित होता है। इसी बात को स्टीफेन वास्बी ने या व्यक्त किया है कि "राजनीति शास्त्री सुबह नौ बजे से शाम के पांच बजें तक जो कुछ करता है वही राजनीति शास्त्र है।"

राजनीति शास्त्र—'शक्ति का अध्ययन'

कुछ अर्वाचीन लेखक राजनीति शास्त्र को मुख्य रूप से शक्ति (Power) का अध्ययन मानते हैं। उनके विचार से "शक्ति के अर्जन, रक्षण और धारण की कला राजनीति है" दूसरे शब्दो मे, जहाँ कही भी शक्ति के लिये सघष है वही राजनीति है। यदि यह शक्ति सघष धार्मिक सगठनो परिवारिक सम्बधो, श्रमिक सघा आदि मे दिखायी देता है तो उन सभी सस्थाओं मे शक्ति के लिये होने वाले सघष का अध्ययन भी राजनीति शास्त्र का विषय है। कैटलिन ने भी शक्ति सम्बन्धो' (Power relationship) का राजनीति का केन्द्र बिन्दु माना है।

लासवेल और कैपलन लिखते हैं कि "एक अनुभववादी ज्ञान के रूप मे राजनीति शास्त्र शक्ति की रूप रचना और उपभोग का अध्ययन है।

हरमेन हेलर के अनुसार 'आज का राजनीति शास्त्र मुख्यत राजनीतिक शक्ति

---

21 'Political Science is concerned with the function in society of control with the Acts that issue in control with wills and with the structures resulting from the control relationship of wills
—Catlin, *Systematic Politics*, p 64

22 'Political Science as an empirical inquiry is the study of the shaping and sharing of power —Harold D Lasswell and Abraham Kaplan, *Power and Society A Framework for Political*, (New Haven U P, 1950) p XIV

की प्राप्ति, रक्षा एवं वितरण की समस्या पर विचार करता है। ऐसा करते समय किसी मूर्त राज्य को अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है अथवा मूर्त राज्य से प्राप्त होने वाले तत्त्वों के आधार पर अमूर्त राज्य की कल्पना की जा सकती है।"[3]

उलमर लिखता है कि "सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई नहीं है जितना कि राजनीति शास्त्र। अरस्तु से लेकर आज तक की राजनीतिक रचनाओं की विषय वस्तु के विश्लेषण से नि सन्देह यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इसमें एक केन्द्रीय धारणा रही है जिसके सहारे राजनीति शास्त्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।"[24]

हुस्जर और स्टीवेन्सन के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र मुख्यत मनुष्य और मनुष्य तथा राज्य और राज्यों के बीच शक्ति सबधों के अध्ययन का विषय है।"[25]

मेरियम, वेबर, रसेल, लासवेल, मैकाइवर, मार्गेन्थो, रॉबसन आदि ने भी राजनीति शास्त्र को शक्ति का अध्ययन बताया है। रॉबसन लिखता है कि शक्ति एक ऐसा आधारभूत विचार है जो राजनीति शास्त्र के सभी पक्षों को एक सूत्र में पिरो देता है। वस्तुत राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय है—समाज में शक्ति उसका स्वरूप, आधार, क्षेत्र और परिणाम। अत इसका ध्यान उस सघर्ष पर केन्द्रित होता है जो शक्ति को प्राप्त करने और बनाये रखने के लिए किया जाता है अथवा जिसका उद्देश्य दूसरों पर अपनी शक्ति या प्रभाव का प्रयोग करना या दूसरों की शक्ति या प्रभाव को रोकना होता है।[26]

राजनीति शास्त्र—'पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन'

रावर्ट दहल के विचार से राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध सगठित मानव समाज से है और मुख्य रूप से यह राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

---

23 *Encyclopaedia of Social Sciences* p 209

24 'Of all the Social Sciences none has been more concerned with the concept of power than political science A content analysis of the political writings from Aristotle to the present would no doubt reveal power as the central concept around which attempts to explain politics have revolved '

—S S Ulmer, *Introductory Readings in Political Behaviour* Chicago (1962) p 332

25 ' Political Science is the field of study concerned primarily with the power relationships among men between men and the state and among states

—Dr Huszar and Stevenson *Poltical Science* p 1

26 William A Robson (ed) "The University Training of Social Sciences Political Science (A report on behalf of the International Political Science Association), UNESCO 1954 p 17 19

वी श्रो की (जूनियर) के शब्दो मे, "राजनीति का सम्बन्ध शासक और शासित के प्रभुत्व व समर्पण के मानवीय सम्बन्धों से होता है।"[27]

बर्ट्रण्ड डि जूविनेल के अनुसार राजनीति शास्त्र उन राजनीतिक संबंधो का अध्ययन करता है जो मिल जुल कर रहने वाले व्यक्तियो के बीच स्वय उत्पन्न हो जाते हैं।[28]

राजनीति शास्त्र—'नीति निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन'

कुछ समकालीन विचारको ने राजनीति शास्त्र को नीति निर्धारण की प्रक्रिया का अध्ययन करने वाला विषय बताया है। उनके विचार से राजनीति शास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि राज्य की विविध सस्थायें क्या नीति अपनायें और उन नीतियो को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय।

डेविड ईस्टन ने राजनीति शास्त्र की परिभाषा करते हुए उसे "किसी समाज मे मूल्यों के आधिकारिक विभाजन या आबटन का अध्ययन बताया है।[29] मोटे तौर पर आधिकारिक विभाजन का अर्थ है—नीति निर्धारण।[30]

लुईस फ्रीमन के अनुसार, "अपने व्यापक अर्थ मे राजनीति लोगो के मध्य हानि और लाभ के वितरण से सम्बंधित है।"

निःसन्देह नीति निर्माण प्रक्रिया का राजनीति शास्त्र मे अध्ययन होता है और वह उपयोगी भी है, तथापि केवल उसी का अध्ययन राजनीति शास्त्र मे होता है—यह मानने के लिए अधिकाश लोग तैयार नही है।

निष्कर्ष—राजनीति शास्त्र की विभिन्न परिभाषाओ के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (अ) विभिन्न दृष्टिकोणो के कारण राजनीति विज्ञान की एक सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन हो गया है, (ब) परम्परावादी राजनीति शास्त्र वेत्ताओ के अनुसार यह मनुष्य की नैसर्गिक सस्थाओ—राज्य व सरकार—के अस्तित्व, स्वरूप, विकास तथा उनके आधारभूत सिद्धान्तो और समस्याओ का विशद विवेचन करता है, तथा (स) आधुनिक विद्वानो के अतिरिक्त उनकी प्रक्रियाओ व परिणामो का समुचित अध्ययन भी करता है। उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान मे रखते हुए, सारांश मे, राजनीति शास्त्र शासकीय सस्थाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं का व्यवस्थित (Systematic) अध्ययन कहा जा सकता है।

---

27 'Politics deals with human relationships of dominance and submission of the governors and governed —V O key (Jr)

28 Bertrand Dr Jouvenal The Pure Theory of politics p 82

29 It is the study of a process whereby values are authoritatively allocated for the whole society —David Easton The political em Scientific, Calcatta 1971 p 141

30 एलेन बाल, 'आधुनिक राजनीति और शासन, मैकमिलन, दिल्ली, 1971, 1

राजनीति शास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Political Science)

राजनीति स्शात्र पर दी गयी परिभाषाओ मे इतनी अधिक भिन्नता से यह बात स्वय सिद्ध है कि विद्वान् राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के विषय मे एक मत नहीं हो सकते। कुछ केवल राज्य के अध्ययन को ही राजनीति शास्त्र के अन्तगत मानते हैं तो दूसरे केवल सरकार के अध्ययन को। कुछ यदि राज्य और सरकार दोनो के अध्ययन को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र मे रखते है तो दूसरे उन समस्त मानवीय क्रियाओ को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत मानते हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी हित साधना करता है। सर फ्रेडरिक पोलक, के० पी० मुकर्जी और सिजविक जसे विद्वानो ने सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति नामक दो वर्गों मे समस्त राजनीतिक समस्याओ को रखने की चेष्टा की है और इस प्रकार उन्होने राजनीति सिद्धान्त या दशन के क्षेत्र को सीमित और राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को बहुत व्यापक बताया है। राजनीति शास्त्र के क्षेत्र मे उनके विचार से समस्त सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक राजनीति आ जाती है।

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र को निर्धारित करने के उद्देश्य से 'सयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक वैज्ञानिक व सांस्कृतिक सगठन' (UNESCO) के तत्वावधान मे सितम्बर 1948 मे राजनीति शास्त्र वेत्ताओं का एक सम्मेलन पेरिस मे आयोजित किया गया था। इसमे एक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र सघ की स्थापना हुई जिसने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के अन्तगत निम्नांकित विषयो के अध्ययन मे पूण सहमति व्यक्त की —

(1) **राजनीतिक सिद्धान्त**—राजनीतिक विचारो का इतिहास तथा राजनीतिक सिद्धान्त।

(2) **राजनीतिक सस्थायें**—सविधान, राष्ट्रीय सरकार, क्षेत्रीय व स्थानीय सरकारें, लोक प्रशासन, सरकार के सामाजिक एवम् आर्थिक काय तथा तुलनात्मक राजनीतिक सस्थायें।

(3) **दल, समूह व जनमत**—दलीय व्यवस्था, सघ व दबाव समूह, जनमत, तथा शासन मे जनता का भाग लेना।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सगठन व प्रशासन, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि।[31]

उपर्युक्त योजना महत्त्वपूण होते हुए भी राजनीति शास्त्र के क्षेत्र की परिधि को निश्चित रूप स निर्धारित करने मे पूणत सफल होती दिखायी नही देती। राजनीति शास्त्र के अन्तगत आजकल जिन समस्याओ का अध्ययन किया जाता है उन्हें निम्नांकित क्रम से रखा जा सकता है —

(1) **राज्य का अध्ययन**—राज्य राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मुख्य

31 Austin Ranney *The Governing of Men* Holt, N Y p

है। यह मनुष्य की एक नैसर्गिक संस्था है जिसका जन्म जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुआ था और जो जीवन को अच्छा बनाने के लिये टिकी हुई है। राज्य के स्वाभाविक तथा आवश्यक होने के कारण राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिये राज्य के स्वरूप व चरित्र को जानना आवश्यक हो जाता है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि **"राजनीति शास्त्र का क्षेत्र, राज्य के सम्बन्ध मे उठने वाले प्रश्नों से निश्चित होता है। व्यापक रूप से इन प्रश्नो का वर्गीकरण--'राज्य कैसा है', 'राज्य कैसा था' और 'राज्य कैसा होना चाहिये' के अन्तर्गत किया जा सकता है।"**

'राज्य कैसा है' के अन्तर्गत राज्यों के वर्तमान स्वरूपों का विवेचन तथा उनकी वास्तविक कार्य प्रणालियों का अध्ययन आता है। इसमें राज्य के अर्थ, तत्त्व, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र का अध्ययन भी आता है। आधुनिक राज्य 'राष्ट्रीय राज्य' है, जो राष्ट्रीयता की भावना से बधे और एक निश्चित क्षेत्र मे बसे हुए नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, सुविधाओं तथा उन्नति की दशाओं का ध्यान रखता है। प्राचीन काल मे राज्य का स्वरूप और कार्यक्षेत्र वर्तमान से बहुत भिन्न था। 19वी शताब्दी मे व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य के केवल तीन ही कार्य थे---बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा, कानून और व्यवस्था की स्थापना तथा आपसी समझौता को लागू करना। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उदभव तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून एव सगठनों के विकास ने आधुनिक राज्य को एक नया स्वरूप दिया है। इसे कूटनीति, सन्धिविग्रह, विश्व शान्ति आदि से सम्बन्धित समस्याओं को भी सुलझाना पडता है।

'राज्य कैसा था' के अन्तर्गत राज्य के अतीत का अध्ययन आता है। राज्य का वर्तमान रूप एक लम्बे विकास का परिणाम है। अपने वर्तमान राष्ट्रीय राज्य के रूप तक पहुचने के लिये इसे विकास की अनेक अवस्थायें पार करनी पडी हैं। राजनीति शास्त्र राज्य की इस प्रक्रिया का अध्ययन करता है। वह यह पता लगाने का प्रयास करता है कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई। किस प्रकार रक्त सम्बन्ध, धर्म, राजनीतिक चेतना आदि ने राज्य के विकास मे योग दिया। किस प्रकार कबीलों और छोटे छोटे राज्यों से बडे बडे राष्ट्रीय राज्य बने। किस प्रकार अतीत काल मे राजनीतिक विचारधारायें बढ़ीं तथा किस प्रकार विभिन्न समुदायों व सगठनों ने समाज में सत्ता प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने के प्रयत्न किये।

'राज्य कैसा होना चाहिये' शीर्षक के अन्तर्गत राज्य के भावी स्वरूप के आकलन की बात आती है। राजनीति शास्त्र मे केवल राज्य के ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन या उसके वर्तमान स्वरूप का विश्लेषण ही नहीं होता, अपितु उनके आधार पर राज्य के भावी स्वरूप और उसके कार्यक्षेत्र का अनुमान लगाने का प्रयास भी किया जाता है। इसमें इस बात को खोजने का प्रयास भी किया जाता है कि किस प्रकार राज्य मानव जीवन के लिये अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उन विचारधाराओं की समीक्षा भी की जाती है जो राज्य को मानव जीवन की उन्नति मे बाधक और अनुपयोगी मानती हैं। इतना ही नहीं, 'विश्व राज्य' की उपादेयता और सम्भावना, तथा तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना से मानवता को सुरक्षित रखने के उपायों पर भी गौर किया जाता है।

सक्षेप मे, राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के अन्तगत राज्य के भूत, भविष्य और वतमान का अध्ययन आता है। गानर ने लिखा है कि "सामान्यतया इसकी (राजनीति शास्त्र की) बुनियादी समस्याओ मे तीन प्रकार की बातें शामिल हैं—प्रथम, राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति की खोज, द्वितीय राजनीतिक सस्थाओं के स्वरूप, उनके इतिहास तथा विभिन्न रूपो की खोज, ततीय, इन दोनों के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमो को, जहां तक हो सके, निश्चित करना।" इसी शैली मे बोलते हुए गैटिल भी लिखता है कि "राजनीति शास्त्र 'राज्य कसा था' का ऐतिहासिक अनुसन्धान, राज्य कैसा है' का विश्लेषणात्मक अध्ययन, तथा 'राज्य कसा होना चाहिये' का राजनीतिक व नतिक विचार-मन्थन है।'[32]

सरकार का अध्ययन

राज्य का कोई अध्ययन चाहे वह कितना ही व्यापक क्यो न हो उस समय तक पूण नही हो सकता जब तक कि वह राज्य के प्रमुख तत्व सरकार का अध्ययन न करता हो। राज्य केवल एक भावात्मक विचार है, वह अपना कार्य स्वय नही करता। अपनी इच्छा को व्यक्त करने तथा उसे लागू करने के लिये उसे एक एस अग की आवश्यकता होती है, जिसे सरकार कहते हैं। अत सरकार राज्य का वह यन्त्र है जिसके द्वारा ही वह जाना जाता है। दूसरे शब्दो मे, सरकार राज्य की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। इसलिय राज्य के अध्ययन मे स्वाभाविक रूप से सरकार की प्रकृति, उसके स्वरूप, काय और सगठन का अध्ययन भी शामिल है। सक्षेप मे, राजनीति शास्त्र राज्य के साथ साथ सरकार का अध्ययन करता है और उसके भावी स्वरूप पर विचार विमश भी करता है।

स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन

राज्य के विकास के साथ साथ राज्य की समस्याओ मे भी वृद्धि हुई है। यूनान के नगर राज्यो का सगठन आधुनिक राष्ट्रीय राज्यो के सगठन की भांति जटिल नही था। जनसख्या के प्रसार तथा वज्ञानिक आविष्कारो ने राज्य की समस्याओ मे अप्रत्याशित वृद्धि की है। अत प्रत्येक स्तर पर उनका निराकरण करने के प्रयास जारी हैं। राजनीति शास्त्र स्थानीय स्तर पर, लगभग सम्पूण विश्व मे, स्थापित की गयी सस्थाओ जैसे ग्राम पचायत, नगरपालिका, कम्यून आदि के सगठन तथा उनकी काय प्रणालियों का अध्ययन करता है। इसके क्षेत्र मे वे सम्पूण समस्याएँ भी आती हैं जो राष्ट्रीय स्तर पर सभी देशो के लिये विचारणीय होती हैं, जैसे, जाति, भाषा, धम या सम्प्रदाय के आधार पर बँटे लोगों म राष्ट्रीय एकता की भावना भरने की समस्या। देश की वित्तीय स्थिति को सवारना और उसकी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना। इतना ही नही, राजनीति शास्त्र मे अतर्राष्ट्रीय समस्याओ पर भी विचार विमर्श होता है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ

---

32 Political Science is a historical investigation of what the State has been an analytical study of what the State is and a politico ethical discussion of what the State should be —Gettell, *Introduction to Political Science* p 4

पर आधुनिक युग मे इतना ध्यान दिया जा रहा है कि कई देशो मे 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' नाम से एक पृथक् विषय की ही स्थापना कर दी गई है। हमारे यहा भी उच्च कक्षाओ मे इसे राजनीति शास्त्र के एक विषय के रूप मे पढाया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सम्बन्धो व सगठनो का अध्ययन

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के अन्तगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि, सम्बन्धों व सगठनो का अध्ययन भी आता है। राजनीति शास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास, स्वरूप तथा उसे सहिताबद्ध बनाने के प्रयासो का अध्ययन करता है। वह विभिन्न राष्ट्रो के मध्य युद्ध और शान्तिकाल के उन सभी नियमो को एक व्यवस्थित स्वरूप देने की कोशिश में है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति का वातावरण स्थापित हो सके। विभिन्न राज्यो के पारस्परिक व्यवहार व सम्बन्धो तथा उनकी विदेश नीतियो का अध्ययन भी राजनीति शास्त्र के क्षेत्र की विषय वस्तु है। इतना ही नही, विश्व म स्थापित किये गये अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के चरित्र, उनकी भूमिका तथा उन्हे प्रभावशाली बनाने के उपायों पर भी राजनीति शास्त्र मे विचार विमर्श होता है। राष्ट्रसघ व सयुक्त राष्ट्र का गठन, उनकी कार्यप्रणाली, उनकी शक्तिया व दुर्बलताओ का मूल्याकन राजनीति शास्त्र के अध्ययन के अन्तगत ही आता है।

राजनीतिक सिद्धान्तो और विचारधाराओ का अध्ययन

विलियम एसलिंगर ने लिखा है कि राजनीति शास्त्र **''राज्य के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का, राजनीतिक सगठन और कार्यों का, राजनीतिक सस्थाओं और राजनीतिक सिद्धान्तो का अध्ययन है।**[33] सभ्यता के प्रारम्भ से लेकर अब तक उन सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्तो का, जो समय व परीक्षण की कसौटी पर लगभग खरे उतरे हैं, राजनीति शास्त्र अध्ययन करता है। प्राचीन भारत का मण्डल सिद्धान्त, अरस्तू का क्रान्तियों का सिद्धान्त, स्पेन्सर का सावयवी सिद्धान्त आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जो राजनीति शास्त्र की विषय वस्तु हैं और जिनके अध्ययन के द्वारा ही राजनीतिक घटनाओ के चरित्र को समझा जा सकता है तथा उनके भावी परिणामो का पूर्वानुमान लगाकर जनकल्याण की सुरक्षा के लिये पहले से ही आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं। इतना ही नही, राजनीति शास्त्र मे जनतन्त्र, उदारवाद, समाजवाद आदि राजनीतिक विचारधाराओ का अध्ययन भी होता है। चूंकि सभी विचारधारायें सुखद भविष्य का आश्वासन देती हैं, अत उनके तुलनात्मक अध्ययन और विभिन्न देशो मे उनके प्रयोग को देखकर उनकी शक्ति व दुर्बलताओ को समझने मे सहायता मिलती है तथा निर्णय करना सरल हो जाता है कि कौन से देश के लिए कौन सी विचारधारा उपयुक्त होगी।

---

33 'It is study of the State in the past present and future, of political organisation and political function, of political institutions and political theories —William Esslinger, *Politics and Science* N Y, 1955, p 22

क्षेत्र के विषय मे आधुनिकतम दृष्टिकोण

प्रो० लास्की ने लिखा है कि "राजनीति शास्त्र के अध्ययन का सम्बन्ध सगठित राज्यो से सम्बन्धित मानव जीवन से है।" यह मनुष्य के राजनीतिक क्रियाकलापो का अध्ययन करता है। इसके अन्तगत वे सभी मानवीय विचार और काय आ जाते हैं जो शासकीय व कानूनी सस्थाओ को गति देते हैं। सत्ता के प्रयोग, अर्जन, रक्षण, धारण आदि की समस्याओ पर भी राजनीति शास्त्र मे विचार विमर्श होता है। यह कोरा राज्य और सरकार रूपी सस्थाओ तथा आदशवादी विचारधाराओ का अध्ययन ही नही है, वरन यह सिखाता है कि मानव क्रियाओ को किस प्रकार सम्पादित करके शक्ति प्राप्त की जा सकती है तथा विश्व कल्याण को दृष्टि म रखकर किस प्रकार उसका प्रयोग किया जाना चाहिये। लासवेल, हेलर, रॉबसन आदि तो इसे 'शक्ति का ही अध्ययन' मानते हैं और वे इसे व्यवहारवादी विज्ञानो (Behavioural Sciences) की श्रेणी मे रखते हैं।

शक्ति अवधारणा की सीमाओ को दूर करने के प्रयास मे प्रख्यात अमरीकी विद्वान डेविड ईस्टन ने अपनी पुस्तक मे राजनीति शास्त्र की एक अलग ही व्याख्या की है और इसका कायक्षेत्र सामाजिक मूल्यो का आवटन या निर्धारण बताया है, जिसकी पिछले पृष्ठो मे चर्चा की जा चुकी है। ईस्टन ने इसके अध्ययन क्षेत्र मे तीन बातो—नीति, प्राधिकार और समाज (Policy, Authority and Society) पर बल दिया है। नीति का सार है कि इसके माध्यम से कुछ बातें कुछ लोगो के लिए निषिद्ध की जाती हैं तथा कुछ दूसरो को प्राप्त करने योग्य बनाई जाती हैं (उदाहरण मद्यनिषेध नीति)। प्राधिकार का अध्ययन राजनीति शास्त्र मे इसलिए होता है कि नीति सम्बन्धी किसी भी निणय के क्रियान्वयन के लिए प्राधिकार या अधिसत्ता (Authority) का होना आवश्यक है, तथा समाज राजनीति शास्त्र के क्षेत्र की विषय वस्तु इस लिए है कि नीति किसी व्यक्ति विशेष नही अपितु समाज को ध्यान मे रखकर बनायी जाती है और उसका प्रभाव पूरे समाज पर पडता है। उदाहरण के लिए यदि कोई श्रमिक सगठन या छात्र सघ ऐसे नियमो का निर्माण करे जो केवल उसकी आन्तरिक सीमाओ मे प्रभावी हो तो राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के अन्तगत उसका अध्ययन आवश्यक नही है, लेकिन यदि वे सगठन किसी ऐसी व्यापक हडताल या आन्दोलन का निणय करें जिसका प्रभाव पूरे समाज पर पडता हो तो उसका अध्ययन राजनीति शास्त्र की विषयवस्तु बन जायेगा। इस प्रकार, आधुनिकतम दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति शास्त्र का क्षेत्र गतिशील है। इसमे वतमान समस्याओ और सघर्षों, नीति निर्माण प्रक्रियाओ तथा उनमे सलग्न मानव व्यवहार का अध्ययन आता है।

चार्ल्स हाइन मैन के शब्दो मे, 'राजनीति शास्त्र का क्षेत्र अब इतना व्यापक हो गया है कि उसम सस्थात्मक सगठन, नीति निर्माण और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओ, नियत्रण की राजनीति, नीतियो और कार्यों तथा विधिबद्ध प्रशासन के मानवीय वातावरण को भी सम्मिलित किया जाने लगा है।" इसके अतिरिक्त, राजनीतिक नेतत्व की

प्रकृति, विचारधारा और नेतृत्व के पारस्परिक सम्बन्धो के बदलते स्वरूपो और चुनावो की प्रक्रिया का अध्ययन भी इसमे किया जाने लगा है।

सक्षेप म राजनीति शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है। युग, अवस्था और प्रदेश के अनुसार इसका क्षेत्र विस्तृत व सकुचित हो जाता है। आधुनिक राज्य चूकि पालने से लेकर श्मशान तक' (From cadle to gave) मनुष्य को अपने नियत्रण म रखता है, इसलिए मानव से सम्बन्धित उन सभी पहलुओ का अध्ययन इसमें आ जाता है जिनका सीधा सबध सगठित समाज से है। इसके क्षेत्र को किसी निश्चित परिधि मे बांधना मुश्किल है, तथापि मोटे तौर पर इसम राजनीतिक सस्थाओ के इतिहास, उनके सिद्धान्तो, कार्यों, उन्हे सचालित करने वाली शक्तियो, उन पर पडने वाले प्रभावो और उनसे प्राप्त होने वाले परिणामो का अध्ययन होता है।

राजनीति शास्त्र के परम्परागत और आधुनिक स्वरूप मे भेद

राजनीतिक शास्त्र पर दी गयी विभिन्न परिभाषाओ और क्षेत्र की व्याख्या के उपरान्त भी एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है कि परम्परागत राजनीति शास्त्र और आधुनिक राजनीतिक शास्त्र म क्या भेद है ?

प्रथम, राजनीति शास्त्र की परम्परागत परिभाषाओ मे सस्थागत पहलू पर बल दिया गया है। उनम राजनीति शास्त्र को राज्य व सरकार जैसी सस्थाओ का अध्ययन करने वाला विषय बताया गया है। आधुनिक परिभाषाओं म उपयुक्त सस्थाओं के निर्माण, स्वरूप आदि की अपेक्षा राजनीतिक आचरण और प्रक्रियाओ के अध्ययन पर जोर दिया गया है। डा० वर्मा लिखते हैं कि 'प्राचीन राजनीतिक चिन्तको ने अपना सारा ध्यान आदर्श राज्य की समस्या पर केन्द्रित किया था, मध्य युगीन चितको ने एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने के सम्बन्ध म सोचा जिसके अतर्गत पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की स्थापना की जा सके और पिछली कुछ दशाब्दियो मे राजनीतिक दार्शनिको का ध्यान शक्ति, प्रभाव, सत्ता आदि समस्याओ पर अधिक केन्द्रित रहा है।"[34]

दूसरा, परम्परावादी परिभाषाओ मे जहा राज्य के सगठन पर बल देने की प्रवृत्ति पायी जाती है वहा आधुनिक परिभाषाओ म उस पर विशेष जोर नहीं दिया जाता।

तीसरा, आधुनिक राजनीति शास्त्र मे परम्परागत राजनीति शास्त्र के विपरीत शासन व राज्य के कार्यों पर अधिक जोर दिया जाता है। सरकार कैसे बरती है, इसकी अपेक्षा सरकार क्या काय करती है यह प्रश्न प्रमुख बन गया है।

चौथा, राजनीति शास्त्र आधुनिक परिभाषाओ मे राज्य के लक्ष्यो, राजनीतिक व्यवस्था म सम्पादित होने वाले कार्यों के मूल्याकन पर अधिक ध्यान दिया गया प्रतीत होता है, जबकि राजनीति शास्त्र परम्परागत परिभाषाओ में यह बात दिखाई नही देती।

---

34 एस पी वर्मा, आधुनिक राजनीति सिद्धान्त, विकास, 1980, पृ० 3।

पांचवां, राजनीति शास्त्र परम्परावादी परिभाषाए मूल्यपरक हैं, जबकि आधुनिक परिभाषाओं मे मूल्यो व लक्ष्यो का सम्बन्ध आदि भौतिक रूप से नही है बल्कि उन्हे अनुभव के आधार पर सिद्ध करने का सकेत दिया गया है।

छठा, राजनीति शास्त्र की आधुनिक परिभाषायें राजनीतिक प्रक्रिया के केवल औपचारिक व वैधानिक पक्ष पर जोर नही देती, अपितु उनमे यह स्पष्ट करने मे रुचि ली गयी है कि विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व नैतिक शक्तियो तथा राजनीतिक शक्तियो के बीच परस्पर क्या सम्बन्ध होता है और वे एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालती हैं।

सातवां, परम्परावादी परिभाषाओं की अपेक्षा आधुनिक परिभाषाए अधिक वैज्ञानिक, स्पष्ट और सटीक हैं। इनमे निश्चितता और सूक्ष्मता है जबकि परम्परावादी परिभाषाए सरल होते हुए भी अस्पष्ट और व्यापक हैं।

सक्षेप मे, परम्परावादी परिभाषाओं मे राज्य व शासन के औपचारिक, सरचनात्मक व वाह्य पक्ष पर जोर दिया गया है जबकि राजनीति शास्त्र की आधुनिक परिभाषाओं मे राजनीतिक सस्थाओं के क्रियात्मक पक्ष पर बल है।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता व महत्त्व
(Utility and Importance of the Study of Political Science)

राजनीति शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व देश की परिस्थितियो तथा उसकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता है। जिस देश के नागरिक को शासन सचालन मे अधिक भाग मिलेगा वहा राजनीति शास्त्र की शिक्षा अधिक उपयोगी भी सिद्ध होगी, क्योकि इसके द्वारा ही समाज मे प्रबुद्ध राजनीतिक चेतना जागृत हो सकेगी और कुशल राजनीतिक नेतृत्व का विकास हो सकेगा। परन्तु उन देशो मे जहाँ स्वार्थ, बेईमानी और भ्रष्टाचार सर्वमान्य मूल्य हो तथा जहाँ "कोउ नृप होय हम का हानी चेरि छाँडि न होउब रानी" का दृष्टिकोण सर्वसाधारण मे व्याप्त हो, राजनीति शास्त्र के अध्ययन से विशेष महत्त्वपूर्ण परिणामों की आशा की जानी चाहिए। विश्व के लगभग सभी देशो मे राजनीति शास्त्र उच्च कक्षाओं मे अध्ययन के एक विषय के रूप मे पढाया जाता है, लेकिन इसके एक से परिणाम निकलते हो यह देखने मे नही आता। तथापि इसका अर्थ यह भी नही है कि राजनीति शास्त्र का अध्ययन बेकार की वस्तु है। अध्ययन की उपयोगिता के पक्ष मे अनेक दलीलें दी जा सकती हैं, लेकिन उपयोगिता की प्राप्ति देश, युग और समाज की परिस्थितियो पर निर्भर करती है।

सामान्यत निम्नांकित आधार पर राजनीति शास्त्र का अध्ययन उपयोगी बताया जाता है—

प्रथम, राजनीति शास्त्र का अध्ययन जन साधारण को सजग बनाता है। यह नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है तथा उन्हें बुराइयो से ऊपर उठकर एक श्रेष्ठ जीवन बिताने की प्रेरणा देता है। यह मनुष्य को बोध कराता है कि मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता है। सुख और दुख (भौतिक अर्थों में) भाग्य मे

मिला हुआ रही है, वरन् समाज की अच्छी या दोषपूर्ण व्यवस्था का परिणाम है। अत परिस्थितयो को सुधारने के प्रयत्न किये जाने चाहिए क्योंकि उन्हें सुधारा जा सकता है। इतना ही नहीं, राजनीति शास्त्र के अध्ययन से सत्ता के प्रति अनावश्यक भय समाप्त हो जाता है और नागरिकों में आत्म बल का विकास होता है। मैक्सी ने लिखा है कि "राजनीतिक विचारधारायें सदैव ही मानवीय व्यवहार की प्रेरक शक्तिया से एक रही हैं और आज भी हैं।" सभी क्रातिया और जन आदोलनों को राजनीतिक विचारो से प्रेरणा मिली है और आगे भी मिलेगी इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

दूसरे, राजनीति शास्त्र हमे समाज का पुनर्निर्माण करने की कला सिखाता है। जिस प्रकार किसी मकान को सुदृढ, कलात्मक व सुन्दर बनाने के लिए स्थापत्य कला (Architecture) का ज्ञान आवश्यक है ठीक उसी भाँति सामाजिक जीवन के ढाचे को सुदर और जन उपयोगी बनाने के लिये राजनीति शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता होती है। विभिन्न देशो की शासन पद्धतियो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा तथा वहाँ की सरकारों की नीतियो के क्रियान्वयन की शैली व उसके परिणामो के अध्ययन द्वारा हम अपने देश के लिये उपयोगी शासन पद्धति व नीतिया को खोज सकते हैं। यदि हम इसमे असमर्थ रहते हैं तो दोष राजनीति विज्ञान का नहीं, वरन नीतिया को लागू करने वाले उन व्यक्तियों का होता जो व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्धांतो के आवरण मे छिपाने की चेष्टा करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक भ्रष्ट इन्जीनियर बेईमान ठेकेदार द्वारा घटिया सामग्री से बनाये गये भवन या पुल को सतोषजनक होने का प्रमाण पत्र दे देता है। बाद मे उसके धराशायी होने का अर्थ स्थापत्य कला का दोषपूर्ण होना नहीं, वरन सम्बद्ध व्यक्तियों का स्वार्थ व दोष होता है।

तीसरे, राजनीति शास्त्र हमे शासन की कला सिखाता है। सरकार के विभिन्न अगो का गठन, उनकी कार्य प्रणाली और समय व देश के अनुकूल उनमे परिवर्तन लाने की विधि राजनीति शास्त्र ही बताता है। यदि राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तो को शासन से पृथक् कर दिया जाये तो विश्व के लगभग सभी देशों का प्रशासन ताश के पत्तों से बनाये गये महल की तरह ढह जायेगा। शासन को जन उपयोगी बनाने उसे विद्रोह से बचाने आदि के लिए अरस्तू के सिद्धान्तो को यूनानी सभ्यता से लेकर आज तक सभी शासक अपनाते चले आये हैं। राजनीति शास्त्र के अध्ययन के बाद हम किसी भी राजनीतिक समस्या पर, चाहे वह स्थानीय हो या प्रादेशिक, राष्ट्रीय हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, तर्कपूर्ण ढग से विचार कर सकते हैं।

अत मे, राजनीति शास्त्र का अध्ययन भविष्य मे ससार को पूर्ण विनाश से बचाने में सहायक हो सकता है। वर्तमान सभ्यता सह अस्तित्व या सम्पूर्ण विनाश के एक दोराहे पर खड़ी है। वैज्ञानिक आविष्कारो तथा अणु व उद्‌जन शक्ति की खोज ने विश्व को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है कि किसी भी सनकी राजनीतिज्ञ की भूलो से सारा ससार कुछ ही पलो मे राख के ढेर मे बदल सकता है। यदि तृतीय महायुद्ध तो वह विजेता और विजित दोनो म से किसी को नहीं बख्शेगा। अत आज के

युग मे राष्ट्रीय समस्याओ का युद्ध के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प खोजना होगा तथा यह विकल्प हमे केवल राजनीति शास्त्र का अध्ययन ही प्रदान कर सकता है। स्पुतनिक और अन्तरिक्ष यात्राओ के युग मे विज्ञान के अतिरिक्त यदि किसी अन्य विषय का अध्ययन परम उपयोगी है तो वह केवल राजनीति शास्त्र है। क्योकि केवल यही एक मात्र विषय है जो समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो तथा एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र के साथ सम्बन्धो के नियमन व निर्धारण की शिक्षा देता है। आज की विषम परिस्थितियो में विश्व शांति और मानव सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करने में केवल राजनीति शास्त्र ही सहायक हो सकता है, अन्य कोई विषय नही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 राजनीति शास्त्र की परिभाषा करते हुए उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिये।
(आगरा 1955, 67, 69, कानपुर 1969, विक्रम 1969, राजस्थान 1957, 62, 73)

2 "राजनीति शास्त्र राज्य के साथ प्रारम्भ तथा समाप्त होता है।" उपयुक्त कथन के प्रकाश मे राजनीति शास्त्र के क्षेत्र की व्याख्या कीजिये।
(विक्रम 1960, 64, आगरा 1964, कानपुर 1969, गोरखपुर 1969)

3 राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह अग है जो राज्य के आधारों और शासन के सिद्धान्तो पर विचार करता है।"—विवेचना कीजिये।
(गोरखपुर 1961)

4 "एक परिष्कृत भाषा की जितनी अधिक आवश्यकता राजनीति शास्त्र को है उतनी अन्य किसी शास्त्र को नही।"—विवेचना कीजिये।

5 "सामाजिक जीवन के वास्तविक मूल्य के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते हुए राजनीति विज्ञान का अध्ययन सफल व सारपूर्ण दोनो है।" उक्त कथन के प्रकाश में राजनीति विज्ञान के स्वरूप और क्षेत्र की व्याख्या कीजिए तथा राजनीति विज्ञान के अध्ययन का महत्व बताइये।
(आगरा 1958, 62)

6 राजनीति विज्ञान के अध्ययन का महत्त्व समझाइये। (आगरा 1965)

7 प्रजातन्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत राजनीति शास्त्र की उपयोगिता बताइये।
(कानपुर 1972)

8 "राजनीति शास्त्र का अर्थ राजनीति का अध्ययन है, व्यवहार का नही"।
—(राबर्ट ए डहल)
इस कथन की व्याख्या कीजिये और बताइये कि वह किस प्रकार के, (क) व्यक्तिगत नागरिको, (ख) निजी अथवा अर्द्ध-सार्वजनिक समुदायो, (ग) राजनीतिक संस्थाओ, (घ) राजनीतिक प्रणाली, तथा (च) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो का अध्ययन है? (राजस्थान 1971)

9 राजनीति शास्त्र की प्रकृति और कार्य क्षेत्र की व्याख्या कीजिये और इस सम्बन्ध में परम्परागत व आधुनिक दृष्टिकोणो मे अन्तर स्पष्ट कीजिये।
(राज 1975, 77)। इनमे समानता व अन्तर बताइये। (राज 1976, 1978, 1981)

अध्याय २

राजनीति शास्त्र का स्वभाव तथा नाम-विभेद

(Political Science Nature and Terminology)

"राजनीति शास्त्र एक प्रयोगात्मक नहीं, पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक कारवाई की प्रमुख अनुसंधानशाला पुस्तकालय नहीं, वरन् राजनीतिक जीवन की बाहरी दुनिया है।"

—लावेल

राजनीति शास्त्र विज्ञान अथवा कला

राजनीति शास्त्र विज्ञान है अथवा कला—यह एक विवादास्पद प्रश्न है। राजनीति शास्त्र के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए कुछ विद्वान् यदि इसे कला मानते हैं तो दूसरे इसे विज्ञान की श्रेणी मे रखते हैं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू इसे सर्वोच्च विज्ञान मानता था। अंग्रेजी भाषा के महान नाटयकार जार्ज बर्नार्ड शॉ ने कहा था कि "राजनीति शास्त्र ही ऐसा विज्ञान है जिसके द्वारा सभ्यता को बचाया जा सकता है।" इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्र को विज्ञान मानने वाले लेखकों मे बोदाँ, हाब्स, माण्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लटशली, सिजविक, जेलीनेक, फाइनर और लास्की के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेकिन ऐसे भी बहुत से लेखक हैं जो राजनीति शास्त्र के विज्ञान होने के दावे को मानने के लिए तैयार नही हैं। इनमे विशेष रूप से बकल मेटलैण्ड, बियर्ड, कैटलिन, मोस्का, ब्रोगन और काम्टे नामक विद्वान आते हैं। बकल का तो यहा तक कहना है कि "ज्ञान के वर्तमान धरातल पर राजनीति का विज्ञान होना तो दूर यह कलाओं मे भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।"[1] मेटलैण्ड भी लिखता है कि "जब मैं बहुत से परीक्षा प्रश्नों को राजनीति विज्ञान के शीर्षक के अन्तर्गत देखता हूं तब मुझे प्रश्नों के विषय में नही वरन् शीर्षक पर खेद होता है।"[2] बियर्ड के विचार से राजनीति का विज्ञान बनना न तो वाछनीय है और न सम्भव।[3] कैटलिन के शब्दो मे "अभी तक कोई ऐसी वस्तु नहीं

1 'Politics so far from being a science is one of the most of all the arts —Buckle, *History of Civilisation* Vol p 301

2 When I see a good set of questions headed by the word 'Political Science' I regret not the questions but the title —Mait nd *Collected Papers* Vol I p 302

3, Charles Beard, *Research in the Social Sciences*, p 271

है जिसको किसी मान्य अर्थ मे राजनीति विज्ञान कहा जा सके।"[4] मोस्का की राय है कि विज्ञान विशेष ध्यान और उचित ढगों से एक निश्चित ढाचे के बुन पर किये गये निरीक्षणो की उपज है इसलिए यह उन्हे सयुक्त करके पूर्ण सत्य की सतह पर लाने का प्रयास करता है जो कि साधारण और व्यर्थ के निरीक्षणो द्वारा समझा नही जा सकता हम यह नहीं सोचते कि राजनीति विज्ञान ने अपनी वर्तमान दशाओं में अब तक वास्तविक रूप मे वैज्ञानिक रगमच पर प्रवेश कर लिया है।" ओगन का मत है कि "राजनीति से विज्ञान का सीधा सम्बन्ध असामयिक और सदिग्ध है तथा राजनीति केवल विशिष्ट अर्थ मे ही विज्ञान कही जा सकती है।"

फ्रास मे प्रसिद्ध दार्शनिक आगस्ट काम्टे ने राजनीति शास्त्र के विज्ञान न होने के तीन कारण बताये हैं—

प्रथम, राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उसकी अध्ययन पद्धतियो, सिद्धान्तो तथा निष्कर्षों के सम्बन्ध मे एकमत नही हैं।

द्वितीय, इसमे विकास की निरन्तरता का अभाव है। तथा

तृतीय, इसमे उन तत्वो का अभाव है जिनके आधार पर भविष्य के लिये ठीक निष्कर्ष निकाले जा सकें।[5]

सक्षेप मे, उपर्युक्त लेखक इसे विज्ञान की अपेक्षा कला की सज्ञा देना अधिक पसन्द करते हैं।

राजनीति शास्त्र विज्ञान क्यो नहीं है?

अब प्रश्न उठता है कि राजनीति शास्त्र विज्ञान क्यो नही है? क्यो विद्वानो का एक बहुत बडा वर्ग इसे विज्ञान मानने के लिए तैयार नही होता?

राजनीति शास्त्र को विज्ञान न मानने वाले विचारक अपने मत के समर्थन मे सामान्यत निम्नांकित तर्कों का सहारा लेते हैं —

सर्वमान्य सिद्धान्तों का अभाव—राजनीति शास्त्र मे ऐसे सिद्धान्तो का सर्वथा अभाव है जो सार्वभौम और शाश्वत हो। इसकी परिभाषा, क्षेत्र, अध्ययन पद्धतियो तथा नामकरण तक के विषय मे विद्वान् एकमत नही हैं। कुछ इसे राज्य का विज्ञान मानते हैं तो दूसरे इसे केवल शासकीय सगठन का अध्ययन बताते हैं। कुछ के विचार से यह राज्य और सरकार दोनो का अध्ययन है तो अन्य कुछ विद्वान् इसे मानव के राजनीतिक क्रियाकलापो का अध्ययन मानते हैं। इसी तरह कुछ लोग इसे 'राजनीति शास्त्र' की सज्ञा देते हैं। तो दूसरे इसे केवल 'राजनीति' या 'राजनीति दर्शन' कहना अधिक पसन्द करते हैं। इसी प्रकार, कुछ लोग जनतन्त्र की अच्छाइयो का वर्णन करते हुए इसे

4 Catlin *The Science and Method of Politics* p 142

5 "There is no consensus of opinion among experts as to his methods principles and conclusions It lacks continuity of develop ment It lacks the elements which constitute a basis of provision' —Auguste Comte *Positive Philosophy* Vol II, Ch 3

जन-उपयोगी सरकार बताते हैं तो दूसरे इसके घोर आलोचक हैं। फेगट (Faguet), कार्लाइल और टेलेरेण्ड (Telleyrand) के विचार से लाखों लोगों म अधिकार मूर्ख होते हैं, अत जनतन्त्र 'मूर्खों का शासन' है। फिर यह भी कहना कठिन है कि अमुक देश मे जनतान्त्रिक सरकार सफल ही हो जायेगी। भारत मे जनतन्त्र है लेकिन कोई भी इसके भविष्य के विषय मे निश्चित नही है। इसी प्रकार, कुछ लोग यदि अध्यक्षीय शासन प्रणाली को उचित मानते हैं तो दूसरे लोग ससदीय व्यवस्था को। कुछ की राय मे विधान मण्डल का एक सदन होना चाहिए तो दूसरो की राय मे इसके दो सदन होने हितकर हैं। कुछ 'राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त' का पालन आवश्यक मानते हैं तो दूसरे 'एक राष्ट्रीय राज्यो' को व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समानता के नियम का विरोधी समझते हैं। इतना ही नही, राजनीतिक शब्दो जैसे, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, जनतन्त्र, स्वतन्त्रता आदि का किन्हीं दो विद्वानो के लिये समान अर्थ हो यह भी जरूरी नही। एक शब्द का अमरीका मे जो अर्थ लगाया जाता है, रूस मे उसका वह अर्थ नही है। गैटिल ने लिखा है कि "राजनीति शास्त्र के पदो का सामान्य बोलचाल मे इतनी असावधानी के साथ प्रयोग किया जाता है कि उनके दो अर्थ हो जाते हैं तथा उनको सुविधानुसार तोडा मरोडा जा सकता है।" साराश यह कि राजनीति शास्त्र मे कोई भी ऐसा प्रश्न नही है जिसके विषय मे सभी राजनीति शास्त्र वेत्ता एकमत हो। भौतिक शास्त्र या रसायन शास्त्र ऐसे प्राकृतिक विज्ञानो की तरह राजनीति शास्त्र मे नियमो व तथ्यो की एकरूपता नहीं पायी जाती।

कार्य कारण मे सम्बन्ध का अभाव—प्राकृतिक विज्ञानो की तरह राजनीति विज्ञान मे कार्य और कारण (cause and effect) के मध्य सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, पानी को 100° सेण्टीग्रेट तक गर्म करने पर वह भाप बन जाता है तथा 1° सेण्टीग्रेट तक ठण्डा होने पर वह बर्फ का रूप ले लेता है। इसका कोई अपवाद नही है यह आज भी होता है, 5000 वर्ष पहले भी होता था और 5000 वर्ष बाद भी हो सकता है। रूस मे भी होता है, अमरीका मे भी होता है और हर जगह होता है, होता रहेगा लेकिन राजनीति शास्त्र म ऐसा कार्य और कारण सम्बन्ध सम्भव नहीं है। किसी एक घटना (कारण) के जो परिणाम एक देश मे हुए हो वैसे ही किसी दूसरे देश मे उस घटना की पुनरावृत्ति स हो यह बिल्कुल जरूरी नही। पिछले दो दशकों मे एशिया और अफ्रीका के अनेक देशो मे महत्वाकाक्षी सेनापतियो ने जनतान्त्रिक व्यवस्था को मिटाकर सैनिक शासन स्थापित करने म सफलता पायी और उन्हें इस कार्य मे जनता के बहुत बडे भाग का समर्थन मिला, लेकिन इग्लड, अमरीका, भारत आदि देशो मे जनतन्त्र को मिटाने म सेना को जनता का समर्थन मिले यह सदिग्ध है।

पर्यवेक्षण व परीक्षण का अभाव—प्राकृतिक विज्ञानो की भाँति राजनीति शास्त्र मे प्रयोग (Experiment) तथा पर्यवेक्षण (Observation) विधियों द्वारा निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा नही जा सकता। एक वनस्पति शास्त्र वेत्ता (Botanist) अपनी प्रयोगशाला मे प्रयोग व पर्यवेक्षण द्वारा यह निश्चय निकाल सकता है कि अमुक वाला अमुक पौधे के विकास की क्या गति होगी। लेकिन राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी

ऐसी किसी प्रयोगशाला में बैठकर वनस्पति शास्त्र के विद्यार्थी की भांति परीक्षण नहीं कर सकता। राजनीति शास्त्र में पर्यवेक्षण व परीक्षण के मार्ग में मुख्य बाधा यह है कि इस शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं से होता है तथा ये राजनीतिक क्रियाएँ उसके उस प्रकार नियन्त्रण में नहीं हैं जिस प्रकार भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र के पदार्थ होते हैं। इस विषय में काम्टे का मत है, कि "राजनीतिक घटनाओं में क्रम और विकास की कमी है इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्र का विषय इतना व्यापक और जटिल है कि उस पर अवेक्षण तथा प्रयोग की वैज्ञानिक विधियाँ लागू नहीं की जा सकतीं। इन्हीं कारणों से राजनीति शास्त्र को विज्ञान नहीं समझा जाता।"

निष्कर्षों में निश्चितता का अभाव—प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्ष शुद्ध तथा नियम निश्चित होते हैं। उदाहरणार्थ, विज्ञान का यह नियम शाश्वत है कि पानी या तरल द्रव्य सदैव ऊँची सतह से नीचे की तरफ बहता है। इसी तरह न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम अटल है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होती है, जो भी वस्तु ऊपर उछाली जायेगी नीचे की ओर गिरेगी। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि दो और दो चार होते हैं या दो मात्रा में हाइड्रोजन और एक मात्रा में ऑक्सीजन मिलाकर पानी बन जाता है। ऐसा आज भी होता है, पहले भी होता था और भविष्य में भी होता रहेगा। ऐसा भारत में भी होता है, रूस में भी, अमरीका में भी, और दुनिया के सभी देशों में। लेकिन राजनीति शास्त्र में ऐसे अटल निष्कर्ष नहीं मिलते। इसका मुख्य कारण यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों में सामान्यतः निर्जीव वस्तुओं का अध्ययन होता है, जबकि राजनीति शास्त्र में मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन होता है जो उसकी भावनाओं, संवेदनाओं, इच्छाओं, रुचियों व अरुचियों से निर्देशित होती हैं। गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "राजनीति शास्त्र में एकरूप नियमों का पाया जाना कठिन है। कारण यह कि इसकी विषय वस्तु निरन्तर बदल रही है। क्रियाएं व प्रक्रियाएँ विभिन्न रूपों में तथा बहुधा अदृश्य रूपों में घटित हो रही हैं।"

दूसरे, राजनीति शास्त्र के अध्ययन की इकाई मनुष्य एक समान नहीं होते। उनका व्यवहार व विचार शैली उनकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करती है। प्रशान्त द्वीपसमूह में रहने वाले व्यक्तियों का व्यवहार और सोचने का ढंग भारत और चीन के लोगों के आचरण और विचार से मेल खा सके यह असम्भव है। ग्राहम वालास ने लिखा है कि "20 वर्ष की सुसंस्कृत शिक्षा दीक्षा के बाद भी यह कठिन होगा कि दो ऐसे व्यक्ति तैयार किये जा सकें जो हर समान स्थिति में एक ही प्रकार से विचार या आचरण करें।"

राजनीति शास्त्र के निष्कर्षों में निश्चितता न होने का एक कारण यह भी है कि "आप जीवन के उस भाग को जिसे राजनीति कहा जाता है अथवा संगठन के उस अंग को जिसे राज्य कहा जाता है मानव समाज के जटिल ढांचे से अलग करके समझने की आशा नहीं कर सकते।"[6] लेकिन प्राकृतिक विज्ञानों में हर अंग और प्रत्यंग का स्वतन्त्र

6 *You cannot remove a little slice of life called politics or a slab of organisation called the State from the intricate structure of human society and hope to understand it* —*Crossman,*

अस्तित्व भी होता है और उनसे अलग अलग प्रयोग किये जा सकते हैं।

सक्षेप मे बकर की युक्ति ठीक जँचती है कि जिस प्रकार हम सौंदर्य शास्त्र को विज्ञान नही कह सकते उसी प्रकार राजनीति शास्त्र को भी विज्ञान की सज्ञा नही दे सकते। उनका मत है कि "गणित शास्त्र के समान राजनीति शास्त्र में कुछ भी निश्चित नहीं है। राजनीति शास्त्र की कोई सीमाएँ नहीं हैं। राजनीति शास्त्र सम्बन्धी विचारों में बार बार परिवर्तन हुए हैं। राजनीतिक बुद्धिमत्ता का कोई मापदण्ड स्थापित करना नितान्त असम्भव है। सत्य यह है कि राजनीति शास्त्र की व्याख्या करना नितान्त कठिन है। ब्रोगन ने तो साफ साफ लिखा है कि "स्थायी निष्कर्षों के अभाव में राजनीति को विज्ञान नही कहा जा सकता। जिस समय तक राजनीति के क्षेत्र मे डार्विन तथा मेण्डल जैसे महारथी न होंगे जो राजनीति के अटल सिद्धान्तों को निर्धारित कर सके तब तक राजनीति को विज्ञान की सज्ञा प्रदान करना कठिन है।"

कम विषयकता का अभाव—राजनीति शास्त्र के विज्ञान न होने के पक्ष मे एक तक यह भी है कि प्राकृतिक विज्ञानो की भांति राजनीति शास्त्र मे कम विषयकता (objectivity) नही पायी जाती। जिस प्रकार अपनी रसायनशाला मे एक रसायन शास्त्री बिना किन्ही पूर्वाग्रहों के निष्पक्ष दृष्टिकोण से परीक्षण करता है, उस प्रकार एक राजनीति शास्त्र वेत्ता के लिए अपना अध्ययन करना असम्भव है। प्रत्येक राजनीति शास्त्र वेत्ता किसी राजनीतिक समस्या को अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखता है। दो विचारकों का दृष्टिकोण किसी समस्या पर समान हो, यह जरूरी नही। 1971 के भारत पाक युद्ध के लिय कुछ लोग पाकिस्तान के सैनिक शासको को शोषणवादी व विस्तारवादी नीतियो को उत्तरदायी मानते हैं तो कुछ उसे भारतीय कुचक्र का परिणाम मानते हैं। कुछ के लिए यह अमरीका की साजिश थी तो दूसरो के लिये यह भुट्टो की याह्या खाँ को दी गयी गलत सलाह का परिणाम था। रॉसेक ने ठीक लिखा है कि "राजनीतिक निर्णय लेते समय समस्या के गुणों पर ध्यान नहीं दिया जाता। वास्तविकता यह है कि सारे सामाजिक ज्ञान निस्पृहता (full objectivity) प्राप्त नहीं कर सकते।"[7]

भविष्यवाणी की क्षमता का अभाव—राजनीति शास्त्र में आगामी घटनाओं का सकेत देने की क्षमता का अभाव है। उदाहरण के लिये ज्योतिष विज्ञान मे वर्षों पहले सूर्य ग्रहण अथवा चन्द्रग्रहण का समय जाना जा सकता है, लेकिन राजनीति शास्त्र मे सम्भावित राजनीतिक घटनाओ के विषय म भविष्यवाणी करने की क्षमता नही पायी जाती। उदाहरण के लिये, 1971 के आम चुनाव के परिणाम प्रकाशित होने से पूर्व विश्व के लगभग सभी राजनीति शास्त्र वेत्ताओं ने अनुभववादी अध्ययन द्वारा निष्कर्ष निकालकर यह भविष्यवाणी की थी कि इन्दिरा गाधी की कांग्रेस को लोकसभा म स्पष्ट बहुमत नहीं मिल सकेगा, लेकिन हुआ इसके सवथा विपरीत। बकर ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि "राजनीति मे भविष्यवाणी करना मूर्खता है।"

Introduction to Political Science, p 9

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र में वे अनेक गुण विद्यमान नहीं हैं जो प्राकृतिक विज्ञानों में पाये जाते हैं।

राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता

जहां राजनीति शास्त्र को विज्ञान न मानने वाले विचारकों का अभाव नहीं है वहां विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो राजनीति शास्त्र को निश्चय ही विज्ञान मानता है। जर्मन लेखकों विशेषकर हाल्जेनडार्फ, रेजनहॉफर, ट्रीटस्के, वॉन, मोहल (Van Mohl) आदि की दृढ़ मान्यता है कि राजनीति शास्त्र विज्ञान है और अमरीका व दूसरे देशों के अधिकांश विचारक उनके मत का समर्थन करते हैं। अतः राजनीति शास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं इसे जानने के लिये यह जरूरी हो जाता है कि हम इस बात की जांच करें कि विज्ञान किसे कहते हैं तथा विज्ञानों में पाये जाने वाले कौन-कौन से गुण राजनीति विज्ञान में पाये जाते हैं।

विज्ञान क्या है—विज्ञान का अर्थ है किसी विषय का "क्रमबद्ध ज्ञान जो उचित प्रकार के निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन तथा वर्गीकरण द्वारा प्राप्त हुआ हो।"[8] सेंचुरी डिक्शनरी (Century Dictionary) के अनुसार विज्ञान 'किसी विषय के सम्बन्ध में उस एकीकृत ज्ञान भंडार को कहते हैं जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, प्रयोग व अध्ययन द्वारा हुई हो तथा जिसके तथ्यों के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करके उनका क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।" "विज्ञान की मांग," मैकाइवर के शब्दों में, "यह है कि हम अपनी विषय वस्तु के अध्ययन में अपने पूर्वाग्रह को त्यागकर वस्तुगत (objective) दृष्टिकोण को अपनायें ताकि उस सत्य का रूप जिसे हम ढूंढने का प्रयास कर रहे हैं कहीं विकृत न हो जाये। हमें भी वैज्ञानिकों की भांति सच्चाई पर ही ध्यान देना चाहिये, सच्चाई के परिणामों की ओर नहीं।" संक्षेप में, किसी विषय के विज्ञान कहलाने के लिये उसमें निम्नांकित विशेषताएं आवश्यक हैं —

(1) तथ्यों का वर्गीकरण तथा उनका निष्पक्ष व क्रमबद्ध अध्ययन,
(2) पर्यवेक्षण व प्रयोग द्वारा विधिवत् अध्ययन,
(3) कार्य कारण सम्बन्ध की स्थापना,
(4) सामान्य नियमों की स्थापना, तथा
(5) भविष्यवाणी करने की क्षमता।

विज्ञान की इस कसौटी पर राजनीति शास्त्र खरा उतरता है।

तथ्यों का वर्गीकरण व उनका क्रमबद्ध अध्ययन—जहां तक विज्ञान का अर्थ तथ्यों का वर्गीकरण करना, उनके आपसी सम्बन्धों को खोजना तथा उनका निष्पक्ष अध्ययन करना है, 'राजनीति शास्त्र' विज्ञान कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। अरस्तू से लेकर आज तक राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्रमबद्ध रूप में ही किया जाता रहा है।

---

8 "Science is a knowledge relating to a particular subject acquired by a systematic observation experience or study which have been coordinated systematized and classified." —Garner, *Political Science and Government* p. 11

राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी सदैव ही वैज्ञानिक ढग से उन समस्याओं के अध्ययन का प्रयास करता रहा है जो प्रशासन की प्रक्रिया मे स्वय मानव के सामने आती हैं। ऐतिहासिक सामग्री के रूप मे जो तथ्य सामने आते हैं, राजनीति शास्त्र वेत्ता उनका उचित प्रकार से वर्गीकरण कर उनके निष्पक्ष व क्रमबद्ध अध्ययन का प्रयास करते हैं। अपने इस अध्ययन मे वे कल्पना की अपेक्षा तक और वास्तविकता का सहारा लेते हैं।

पर्यवेक्षण व प्रयोग सम्भव—राजनीति शास्त्र मे पर्यवेक्षण व प्रयोग (Experiments) भी होते रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इसके पास भौतिक शास्त्र या रसायन शास्त्र की प्रयोगशालाओं की भाति कोई प्रयोगशाला नहीं है अत इसम प्रयोग और पर्यवेक्षण की सुविधा का अभाव है। तथापि यह नही भूलना चाहिये कि राजनीति शास्त्र मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं व सगठनो का अध्ययन है, समस्त ससार ही इसकी प्रयोगशाला है और दुनिया के किसी भी क्षेत्र मे जो राजनीतिक फेर-बदल होता वह इसकी प्रयोगशाला मे होने वाला प्रयोग है। गानर ने लिखा है कि "प्रत्येक नये कानून का निर्माण प्रत्येक नयी सस्था की स्थापना और प्रत्येक नयी नीति का प्रारम्भ एक प्रयोग ही होता है, क्योंकि उस समय तक वह अस्थायी अथवा प्रस्ताव के रूप मे ही समझा जाता है जब तक कि परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दें।"[1] राज्य की विधानसभाएँ नित्य नये कानून बनाती हैं। कुछ भले और कुछ त्रुटिपूर्ण सिद्ध होते हैं। अनेक देश अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिये युद्ध का सहारा लेते हैं—कभी वह उनके लिये हितकर सिद्ध होता है तो कभी अहितकर। यदि इनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो किन्ही निश्चित परिणामो पर पहुचा जा सकता है। ये सब प्रयोग ही हैं। 1919 मे भारतीय प्रान्तो में द्वैध शासन व्यवस्था लागू की गयी थी, बाद मे यह सिद्ध हुआ कि वह दोषपूर्ण है अत उसे समाप्त कर दिया गया। हमारा वर्तमान सविधान अनेक देशों द्वारा किये गये सावैधानिक प्रयोगो के अनुभव पर आधारित है। इसी प्रकार व्यक्तिवाद, समाजवाद, फासीवाद आदि विचारधाराओं का राजनीतिक जीवन म प्रयोग होता रहा है और हो रहा है।

कार्य कारण का तारतम्य—यद्यपि राजनीति शास्त्र मे प्राकृतिक विज्ञानो की तरह कार्य कारण सम्बन्ध नही होता, तथापि यदि हम किसी घटना विशेष के कारणो का उस घटना की परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए अध्ययन करें तो हम उस कारण को खोज सकते हैं जो उस घटना के होने के लिये उत्तरदायी था। उदाहरण के लिये, यदि हम विभिन्न देशो मे हुई क्रान्तियो का अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि सभी क्रान्तियों का मूल कारण कुशासन रहा है। यदि किसी देश मे निर्धनता शोषण, भ्रष्टाचार, राजनीतिक असन्तोष पाया जाय तो यह आसानी से कहा जा सकता है कि वहाँ राजनीतिक क्रान्ति का खतरा विद्यमान है। यह सत्य है कि मनुष्यों के कार्य व व्यवहार मे विज्ञान के तत्त्वों की भाँति नियमितता व सम्बद्धता नही पायी जाती फिर भी निश्चित परिस्थितियो म मनुष्य पर एक निश्चित प्रकार की प्रक्रिया होते पायी

1 लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि "मानव स्वभाव की प्रवृत्तियों में एकरूपता

वही, पृ 19

तथा सामानता पायी जाती है जिसकी सहायता से हम पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य बहुधा एक ही तरह के काय करता है। कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उनमे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा उन्हें शृखलाबद्ध करके सामान्यत क्रियाशील प्रवृत्तियों के परिणाम के रूप मे उनका अध्ययन किया जा सकता है।' अत इस बात की पुष्टि होती है कि राजनीति मे भी काय-कारण सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव है।

सामान्य नियमों का अस्तित्व—यह कहना भी गलत है कि राजनीति शास्त्र के नियमो मे सावभौमिकता नही पायी जाती। राजनीति के अनेक सिद्धान्तों मे काफी हद तक सावभौमिकता और मतैक्यता देखने को मिलती है। सभी राजनीति शास्त्र वेत्ता इस प्रश्न पर एकमत हैं कि उपनिवेशवाद, असमानता, जातिवाद, छुआछूत, साम्राज्यवाद निधनता और निरक्षरता मानवीय प्रगति मे बाधक तत्त्व हैं, इनका उन्मूलन होना चाहिये। कौटिल्य की यह युक्ति कि पडोसी देश कभी भी स्थायी मित्र नही हो सकता और पडोसी का पडोसी अथवा शत्रु का शत्रु मित्र होता है एक सवमान्य तथ्य है। इसी तरह उसका यह लिखना कि "यदि दण्ड शक्ति का दुरुपयोग किया जाय, तो गृहस्थो की तो बात ही क्या, वानप्रस्थी और सन्यासी लोग भी क्रुद्ध हो जाते हैं और विद्रोह कर बैठते हैं तथा दण्ड शक्ति का उचित प्रकार से प्रयोग जनता मे सवत्र धम का राज्य स्थापित करता है" एक सवमान्य सिद्धान्त है।

राजनीति शास्त्र मे यदि सावभौमिकता अथवा मतैक्यता का अभाव है तो इसका कारण विषय नही वरन मानवीय प्रकृति है। मनुष्य का स्वभाव परिवत्तनशील है अत यह कहना मुश्किल है कि मनुष्य कब, किस प्रकार का आचरण करेगा। लेकिन इस आधार पर राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता को चुनौती नही दी जा सकती। निश्चितता और सावभौमिकता का अभाव राजनीति शास्त्र मे ही नही, वरन भूगभ शास्त्र, ऋतु शास्त्र आदि मे भी है। सभी बातो पर प्राकृतिक विज्ञान वेत्ता भी एकमत नही होते, लेकिन उनके विषय के विज्ञान होने के दावे का इस आधार पर कोई विरोध नहीं करता।

भविष्यवाणियाँ करना सम्भव — जहाँ तक राजनीति मे भविष्यवाणी की क्षमता का प्रश्न है, डा फाइनर का मत है कि "हम भविष्य की सभावनाओ के विषय मे भविष्यवाणी अवश्य ही कर सकते हैं चाहे हम उन्हें निश्चित रूप से देख न सकें।" लोकमत की अवहेलना करने वाली व्यवस्था को देखकर हम कह सकते हैं कि वहाँ क्रान्ति अनिवाय है। पूजीवादी व्यवस्था के दोषो को देखकर हम कह सकते हैं कि किसी न किसी रूप मे सारे विश्व म समाजवादी व्यवस्था स्थापित होने जा रही है। लेकिन यदि भविष्यवाणी करने की क्षमता को ही विज्ञान होने की कसौटी मान लिया जाय तो ऋतु शास्त्र, भूगभ शास्त्र, ज्योतिविज्ञान आदि अनेक विषय विज्ञान कहलाने के अधिकारी नही होगे क्योकि उनमे की गयी भविष्यवाणियाँ अनेक बार ठीक नहीं होतीं। 1909 मे पॉलिटिकल साइन्स एसोसियेशन' के अध्यक्ष के पद से भाषण देते हुए लार्ड राजनीति शास्त्र को ऋतु शास्त्र की तरह का विज्ञान माना था। उनका

यद्यपि मानव प्रवृत्तियाँ जटिल और अनिश्चित होती हैं तथा उन पर वातावरण और परम्पराओं का प्रभाव होता है फिर भी मानव-स्वभाव में जो एकरूपता और तारतम्य पाया जाता है उसके आधार पर हम मानव के राजनीतिक आचरण में सम्भावित सत्यों की खोज सकते हैं और भावी घटनाओं का पूर्वानुमान लगा सकते हैं।

निष्कर्ष—राजनीति शास्त्र की वैज्ञानिकता के पक्ष व विपक्ष में उठाये गये तर्कों के तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि राजनीति शास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों की भांति विज्ञान नहीं है, और न हो सकता है तथापि इसे सामाजिक विज्ञानों या अनिश्चित विज्ञानों (Inexact Sciences) की श्रेणी में रखा जा सकता है और इसके लिये विज्ञान शब्द का प्रयोग करना अनुचित नहीं है। इसके अध्ययन का आधार निश्चित रूप से वैज्ञानिक है। इसे दिन प्रतिदिन विज्ञान बनाने का प्रयास हो रहा है। यह केवल तथ्यों और परिस्थितियों का अध्ययन ही नहीं करता, उसके आधार भावी सम्भावनाओं को खोज निकालने का प्रयास भी करता है। यह 'एक प्रायोगिक तथा प्रगतिशील विज्ञान है। प्रतिवर्ष इसकी अध्ययन सामग्री ही नहीं बढ़ती जाती, अपितु उन नियमों की संख्या भी बढ़ती जाती है जो मानव समाज को शासित करते हैं।"[10] सर फ्रेडरिक पोलक ने ठीक ही लिखा है कि "राजनीति के विज्ञान होने का अस्तित्व उसी अर्थ में और उसी सीमा तक है, जैसे नैतिक विज्ञान का अस्तित्व है।"[11]

राजनीति शास्त्र एक कला भी है

विलियम एर्सलिंगर ने लिखा है कि "विज्ञान और कला का परस्पर विरोधी होना जरूरी नहीं है। कला विज्ञान पर आधारित हो सकती है।" राजनीति शास्त्र की सचमुच यही स्थिति है। यह कला भी है जो लोग यह समझते हैं कि कोई भी अध्ययन या तो 'विज्ञान' की श्रेणी में आता है। अथवा 'कला' की, वे गलती करते हैं। एक ही विषय 'विज्ञान' भी हो सकता है और 'कला' भी। उदाहरण के लिए 'चिकित्सा शास्त्र' (Medical Science) को लीजिये। वह विज्ञान भी है और कला भी।

जहाँ तक किसी विषय के कला (Art) होने का प्रश्न है, कला मानव जीवन के चित्रण से सम्बन्धित होती है। कला का उद्देश्य अतीतकालीन जीवन का निरूपण करते हुए भविष्य के लिए मार्ग निर्देशन करना तथा उच्च आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना करना होता है। कला जीवन की सर्वोत्तम अनुभूति व अभिव्यक्ति है। यह स्वयं जीवन अथवा जीवन का श्रेष्ठतम पक्ष है। रंगों का विश्लेषण व उनकी पहिचान विज्ञान है, परन्तु उनके द्वारा किसी चित्र का निर्माण करना कला है। राजनीति शास्त्र विज्ञान के साथ साथ एक कला भी है, क्योंकि एक ओर यह राजनीतिक समाज का यथार्थ चित्रण करता है और दूसरी ओर उसका पथ प्रदर्शन भी। कौटिल्य तथा मैकियावेली ने राजनीति के कलात्मक पक्ष पर व्यापक प्रकाश डाला है उनके विचार

10 Bryce *American Political Science Review* Vol III p,3
11 Pollock, *A History of the Science of Politics* p 2

से एक सुसस्कृत, श्रेष्ठ और शक्तिशाली राज्य की स्थापना इसका लक्ष्य है। अत जिस सीमा तक मानव अपने उपार्जित ज्ञान का प्रयोग एक उत्तम राज्य के निर्माण के लिये करता है उस सीमा तक राजनीति शास्त्र एक कला है। ब्लश्ली ने लिखा है कि "राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का बोध अधिक होता है। राज्य का सचालन किस रूप मे हो, क्रियात्मक दृष्टि से वह कैसा व्यवहार करे —राजनीति मे इन समस्त बातों का ही प्रतिपादन होता है।" बक्ल भी राजनीति को एक कला ही मानता है। उसका यह तक ठीक नही है कि "राजनीति कलाओ मे सबसे पिछडी हुई कला है।" वस्तुस्थिति यह है कि यह पिछडी न होकर एक पूर्ण विकसित कला है जो राजनीतिक समाज का चित्रण करने के साथ साथ उसका पथ-प्रदशन करती है और जिसका उद्देश्य मनुष्य को एक आदश नागरिक बनाना तथा शासन मे उसके दायित्व के प्रति उसे सचेत करना है।

नाम विभेद
(Terminological Distinction)

राजनीति शास्त्र की एक विशेषता यह है कि इस विषय के नामकरण के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मतभेद है। एक ही विद्या के लिए 'राजनीति,' 'राजनीति शास्त्र,' 'राजनीतिक सिद्धान्त, 'राजनीति दशन', 'राजनीतिक चिन्तन', 'अनेक राजनीति शास्त्र' आदि अनेक शब्दो का प्रयोग किया जाता है। इन शब्दो का ठीक अथ जाने बिना यह निणय करना मुश्किल है कि अपने विषय को कौन सा नाम देना उपयुक्त होगा।

राजनीति (Politics)—पहले बताया जा चुका है कि 'राजनीति' शब्द अग्रेजी भाषा के शब्द 'पॉलिटिक्स' का हिन्दी रूपान्तर है जो यूनानी शब्द 'पोलिस' से बना है। यूनानियों के लिये 'राजनीति' शब्द के साथ राज्य व नागरिक जीवन का अध्ययन जुडा हुआ था। अरस्तू ने राज्य व नागरिक जीवन का अध्ययन करने वाली अपनी रचना का शीषक 'राजनीति' (Politics) ही रखा था। उसके बाद सील, विलोबी, बर्जेस, लीकॉक, ब्राइस, हाल्जेनडार्फ, जेलीनेर, सिजविक आदि विद्वानो ने इस विषय को 'राजनीति के नाम से पुकारने की सलाह दी थी। उनका तक यह था कि यह विद्या केवल सरकार के कार्यों और सिद्धान्तो का विवेचन करती है तथा इसका राज्य के विज्ञान (Science of state) से कोई सम्बन्ध नहीं है अत इसे 'राजनीति शास्त्र' की अपेक्षा 'राजनीति' कहना अधिक उपयुक्त है।

आधुनिक युग मे 'राजनीति' से अथ सावजनिक मामलो के वास्तविक प्रशासन से सम्बन्धित क्रियाओ के वणन से लगाया जाता है, इसलिए इस विद्या को 'राजनीति' के नाम से पुकारना अनुचित है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "आजकल 'राजनीति' शब्द से अभिप्राय शासन की वतमान समस्याओ से है जो वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक होने की अपेक्षा आर्थिक होती हैं। जब हम किसी एस व्यक्ति की चर्चा करते हैं जिसे राजनीति म दिलचस्पी है तो हमारा अभिप्राय होता है कि अमुक व्यक्ति वतमान

समस्याओं—आयात निर्यात कर, प्रदन, या शुल्क पद्धति, श्रम समस्या, व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के पारस्परिक सम्बन्ध—वास्तव में इस तरह की किसी भी समस्या के सम्बन्ध में जिसके प्रति देश के विधायकों को सजग होना चाहिये—में दिलचस्पी रखता है।"[12] अनेक बार कुछ प्रचलित और व्यावहारिक बातों के लिये भी 'राजनीति' शब्द का प्रयोग होता है जबकि उन बातों का राज्य विज्ञान अथवा सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिये, गृह राजनीति (Family Politics), क्लब राजनीति (Club Politics), कालेज राजनीति (College Politics) आदि। गिलक्राइस्ट लिखता है कि "राजनीति शब्द का प्रयोग यदि उस अर्थ में ही किया जाय जिसमें यूनानी करते थे, तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। लेकिन इसका प्रयोग इतना निश्चित है कि राज्य के विभिन्न व्यापारों को पूर्णतया व्यक्त करने की क्षमता उसमें नहीं है।" अत इस विद्या के लिये 'राजनीति' शब्द पूरी तरह उपयुक्त नहीं है।

कुछ विद्वानों ने 'राजनीति' शब्द का संकुचित अर्थ में प्रयोग होते देखकर विषय से सम्बन्धित समस्त सामग्री को उसके अन्दर रखने के प्रयास में 'राजनीति' को दो भागों में बाँट दिया है—'सैद्धान्तिक राजनीति' और 'व्यावहारिक राजनीति'। ऐसे विद्वानों में सर फ्रेडरिक पोलक का नाम मुख्य है। उनके विचार से सैद्धान्तिक राजनीति में निम्नांकित बातें आती हैं—

(1) राज्य के सिद्धान्त (उत्पत्ति, शासन रूपों का वर्गीकरण और प्रभुसत्ता)।
(2) शासन के सिद्धान्त (संस्थाओं के प्रकार, कार्यपालिका विभाग, सरकार की कार्य पद्धति)।
(3) कानून निर्माण के सिद्धान्त (कानून निर्माण का उद्देश्य, न्याय सम्बन्धी दर्शन, कानून का स्वरूप उसकी स्वीकृति, व्यवस्था और शासन, कानून निर्माण की प्रक्रिया)।
(4) कृत्रिम राज्य व्यक्तित्व का सिद्धान्त (दूसरे राज्यों तथा मानव संस्थाओं से सम्बन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय कानून)।

व्यावहारिक राजनीति में निम्नांकित विषय आते हैं—

(1) सरकार का वास्तविक रूप (संघीय राज्य, स्वतन्त्रता, संरक्षित तथा प्रादेशिक क्षेत्र आदि)।
(2) सरकार का संगठन तथा कार्य पद्धति (संवैधानिक कानून और रूढ़ियाँ, संसदीय शासन प्रकार, सेना, नौ सेना, पुलिस, मुद्राचलन, बजट और व्यापार)।
(3) कानून तथा व्यवस्थापन (विधि निर्माण की प्रणाली, अदालतें, न्याय व्यवस्था, न्याय सम्बन्धी दृष्टान्त तथा न्यायाधिकरण)।
(4) व्यक्ति रूप में राज्य (कूटनीति, युद्ध, शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और सन्धियाँ)।

---

[12] *Principles of Political Science*, p. 2

कुछ लोगो का विचार है कि इस विद्या को 'सैद्धान्तिक राजनीति' (Theoretical Politics) कहना चाहिये क्योकि इसके सैद्धान्तिक पक्ष का ही कालेजो मे अध्ययन होता है, लेकिन यह तर्क थोडा लगता है। वस्तुत आधुनिक युग मे राजनीति शब्द का प्रयोग एक निश्चित अर्थ मे होता है जिसका अभिप्राय वह कला है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरो से अपना इच्छित कार्य करा लेता है। अत इस सम्पूर्ण विषय को 'राजनीति' के नाम से पुकारना या 'सैद्धान्तिक राजनीति' और 'व्यवहारिक राजनीति, दो विभिन्न नाम देना युक्तिसगत नही है।

'राजनीति' और 'राजनीति शास्त्र' म भेद स्पष्ट करते हुए ब्लश्ली लिखता है कि "राजनीति विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है, उसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्य और उसके सचालन से है, किन्तु राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध राज्य के आधार उसकी प्रकृति, उसके स्वरूप एव विकास से होता है।" अत 'राजनीति' की अपेक्षा 'राजनीति शास्त्र' अधिक व्यापक शब्द है। 'राजनीति' 'राजनीति शास्त्र' का पर्यायवाची नही हो सकता क्योकि आधुनिक युग मे उसका प्रयोग प्राचीन अर्थ मे नही किया जाता है। दूसरे, वत्तमान लोक जीवन म यह शब्द बडा अप्रतिष्ठित हो गया है। इससे छल, कपट धूर्तता, बेईमानी का बोध होता है अत अपनी विद्या के लिए 'राजनीति' नाम अनुपयुक्त है।

राजनीतिक सिद्धान्त
(Political Theory)

कुछ विद्वानो की राय है कि इस विषय का अध्ययन करते समय हम राजनीतिक विचारको के उन सिद्धान्तो का अध्ययन करते हैं जिन्होने राजनीतिक क्रियाकलापो व समस्याओ को समझने व सुलझाने की चेष्टा की है।[13] ऐसे लोग इस विद्या को राजनीतिक सिद्धान्त का नाम देना पसन्द करते हैं। उनके विचार से अपनी विद्या राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओ का अध्ययन नही करती अपितु उनके आधार पर सामान्य नियम निर्धारित करने का प्रयास करती है। इसका उद्देश्य 'राजनीतिक प्रज्ञान (wisdom) की खोज है। राजनीति की समस्याएँ और उसके प्रश्न तो शाश्वत हैं तथा प्रत्येक पीढ़ी को नये सिरे स इनके समाधान का हल खोजना पडता है। अपना विषय तो केवल यह चाहता है कि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारो का विवेचन नीर क्षीर-विवेक से किया जाय।[14] यह हमारे सम्मुख ऐसे नैतिक मूल्या तथा मान्यताओ को प्रस्तुत करता है जिनके आधार पर हम समाज के राजनीतिक कार्यो व कत्तव्यो का निर्णय करके उनकी सफलता और विफलता की जाच कर सकते हैं। अत इस विषय को 'राजनीतिक सिद्धान्त नाम देना सवथा उपयुक्त है। कोकर ने लिखा है कि "जब हम राजनीतिक

---

13 Hans J Morgenthau Power as a Political Concept', *Approaches to the study of Politics* p 17

14 Jocobson The Unity of Political Theory Science Morals and Politics *Approaches to the study of Politics*, pp 122 24

शासन, उसके विभिन्न रूपो तथा प्रक्रियाओं का वर्णन, उनकी तुलना तथा मूल्यांकन करते हैं, और ऐसा करने में तात्कालिक एवं अल्पकालीन प्रभावों की अपेक्षा हम मनुष्यों की चिरंतन आवश्यकताओं, इच्छाओं और मतों को ध्यान में रखते हैं—तो यह राजनीतिक सिद्धान्त होता है।[15]

राजनीति दर्शन
(Political Philosophy)

विचारकों का एक बहुत बड़ा वर्ग इस विद्या को 'राजनीति दर्शन' का नाम देने के पक्ष में है। इस वर्ग में अनेक अंग्रेज और जर्मन लेखक आते हैं। राजनीति दर्शन दो शब्दों—राजनीति और दर्शन—से मिलकर बना है। दर्शन का अर्थ समग्रता (wholeness) का ज्ञान है। यह समस्त विश्व का विवेचन करता है। राज्य विश्व का एक अंग है अतः यह उसके अध्ययन का ही एक उप विभाग हुआ। इसलिए राज्य से सम्बन्धित अध्ययन को राजनीतिक दर्शन कहना चाहिये। राज्य के जन्म, विकास, कार्य, प्रकृति और चरित्र के सम्बन्ध में राजनीति शास्त्र वेत्ताओं ने ऐसे तार्किक व काल्पनिक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं कि उन्हें देखकर इस विषय को राजनीति शास्त्र की अपेक्षा राजनीति दर्शन कहना अधिक उचित लगता है। प्लेटो की 'रिपब्लिक' संत आगस्टाइन का 'सिटी ऑफ गाड' तथा थामस मूर का 'यूटोपिया' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। राज्य से सम्बन्धित इस विषय का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो वैज्ञानिक न होकर दार्शनिक है। दर्शन शास्त्र की भांति अपनी विद्या भी राज्य के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करती है, जैसे—

(1) राज्य साध्य है अथवा साधन ?
(2) राज्य की सर्वोच्च सत्ता का वास्तविक अर्थ क्या है ?
(3) अधिकार किसे कहते हैं ?
(4) स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ?
(5) स्वतन्त्रता व कानून तथा नैतिकता का कानून से क्या सम्बन्ध है ?
(6) स्वतन्त्रता और शक्ति में क्या सम्बन्ध है ? राज्य को अपने नागरिकों के जीवन में किस सीमा तक हस्तक्षेप करना चाहिये ?
(7) लोग राज्य की आज्ञाओं को क्यों मानते हैं ? क्या उन्हें इनके उल्लंघन का अधिकार प्राप्त है ? यदि हाँ ! तो किन परिस्थितियों में और किस सीमा तक ?
(8) समानता और विश्व बन्धुत्व का क्या अर्थ है ? सामाजिक न्याय किसे कहते हैं ?

लेकिन हम यह नहीं भूलना चाहिये कि जहाँ अपनी विद्या के अध्ययन का आधार दार्शनिक है वहाँ यह वैज्ञानिक भी है। इसके अनेक सिद्धान्त वैज्ञानिक सत्य की भांति अटल हैं, उदाहरण के लिये, अरस्तू ने अपने काल में पायी जाने वाली शासन व्यवस्थाओं

15 *Recent Political Thought* p 3

का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि असमानता ही सदैव क्रान्ति का कारण बनती है। इसी प्रकार लार्ड ब्राइस ने भी विभिन्न देशों की जनतान्त्रिक प्रणालियों का अध्ययन करके कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जो सार्वकालिक और सार्वदेशीय हैं। राजनीति शास्त्र का एक अंग दार्शनिक है तो दूसरा वैज्ञानिक और दोनों के मध्य विभाजन रेखा खींचना सम्भव नहीं है। जो इसे राजनीति दर्शन का नाम देने के पक्ष में हैं वे इसके अन्तर्गत उन्हीं विषयों के अध्ययन को शामिल करते हैं जिन्हें सर फ्रेडरिक पोलक ने सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत रखा है। इस सम्बन्ध में सिजविक की वह युक्ति ठीक लगती है कि "राजनीति का सम्बन्ध मुख्यतः कुछ मनोवैज्ञानिक आधारों पर पारस्परिक सम्बन्धों की उस व्यवस्था के निर्माण करने से है, जो सभ्य मनुष्यों द्वारा निर्मित समाज में शासक एवं शासित व्यक्तियों तथा उनमें आपस में स्थापित होनी चाहिये।" अतः राज्य सम्बन्धी विद्या का अध्ययन करने वाले विषय को राजनीति दर्शन कहना इसके क्षेत्र को संकुचित करना है। राजनीति दर्शन के अन्तर्गत वह समस्त विषय सामग्री नहीं आती जो राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत आती है। दूसरे, राजनीति दर्शन अमूर्त और आदर्शात्मक है जबकि राजनीति शास्त्र का पक्ष वर्णनात्मक, विवेचनात्मक तथा अनुभव पर आधारित होता है। तीसरे, राजनीति दर्शन राजनीतिक संगठन के सिद्धान्तों की चर्चा बहुत संक्षेप में करता है, वह भी यह बताने के लिए कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में कौन से परिवर्तन आवश्यक हैं। चौथे, राजनीति दर्शन का सम्बन्ध भविष्य से अधिक रहता है जबकि राजनीति शास्त्र का वर्तमान से। पाँचवें जैसा पोलक का मत है, राजनीति दर्शन एक अर्थ में राजनीति शास्त्र से पहले जन्मा है। प्राचीन यूनान में इसका उदय इसलिए सम्भव हो सका कि वहाँ ऐसे अनेक नगर-राज्य थे जहाँ विभिन्न प्रकार के सांविधानिक प्रयोग हो रहे थे। प्रो० गिलक्राइस्ट ने राजनीति दर्शन और राजनीति शास्त्र में पायी जाने वाली इन भिन्नताओं को एक वाक्य में व्यक्त करते हुए लिखा है कि "राजनीति दर्शन शब्द संकुचित है। राजनीति दर्शन केवल राज्य की प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त, नागरिकता, कर्त्तव्य और अधिकारों के प्रश्न तथा राजनीतिक आदर्शों से सम्बन्ध रखता है। राजनीति दर्शन एक रूप में राजनीति शास्त्र का पूर्वगामी है, क्योंकि इसकी मौलिक मान्यताओं पर राजनीतिक शास्त्र आधारित है। राजनीति दर्शन को स्वयं ऐसी बहुत सी सामग्री प्रयोग करनी पड़ती है जो उसे राजनीति शास्त्र से मिलती है। अतः इन दोनों में कोई कठोर विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती किन्तु वर्तमान प्रथा के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति शास्त्र का अर्थ काफी स्पष्ट है जबकि राजनीति दर्शन में यह स्पष्टता नहीं आ सकती।" अतः हमारी विद्या को 'राजनीति दर्शन' की संज्ञा देना पूरी तरह उपयुक्त नहीं है।

राजनीतिक चिन्तन
(Political Thought)

कुछ पश्चिमी विचारक अपने अध्ययन को 'राजनीतिक चिन्तन' के नाम से पुकारते हैं और कुछ दूसरे 'राजनीतिक चिन्तन' को 'राजनीतिक सिद्धान्त' का ही

नाम बताते हैं। राजनीतिक चिन्तन और राजनीतिक सिद्धान्त में भेद है। अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है कि "राजनीतिक सिद्धान्त कुछ चिन्तकों के विचारों को बताता है, भले ही ये विचार उस समय की परिस्थितियों तथा तथ्यों से कोसों दूर हों। इसके विरुद्ध, राजनीतिक चिन्तन एक विशेष काल का वह अन्तर्निहित दर्शन है जो व्यक्तियों को कार्य करने की प्रेरणा देता है अथवा उनके जीवन पर प्रभाव डालता है। इनमें प्रथम स्पष्ट, चेतन तथा (बहुत सीमा तक) अनासक्त है जबकि द्वितीय अन्तर्निहित, अचेतन और सजीव कार्यों के प्रवाह में डूबा रहता है।"[16] राजनीतिक चिन्तन युग विशेष में किसी देश अथवा समाज के मान्य राजनीतिक विचारों का द्योतक होता है। अनेक बार आन्दोलनों अथवा नयी संस्थाओं के माध्यम से इसके प्रगट होने पर जनसाधारण इसे स्पष्ट रूप में देख भी नहीं पाता। यह हमारी विद्या का अंग अवश्य है, लेकिन सम्पूर्ण विद्या नहीं। अतः राजनीतिक सिद्धान्त या राजनीतिक दर्शन की भाँति राजनीतिक चिन्तन भी हमारे अध्ययन के नामकरण के लिए अनुपयुक्त है।

अनेक राजनीति शास्त्र
(Political Sciences)

कुछ फ्रांसीसी विचारकों का मत है कि राज्य की समस्त घटनाओं और अवस्थाओं पर विचार करने वाला केवल एक शास्त्र नहीं है। ऐसे अनेक शास्त्र हैं जो उसके विभिन्न पहलुओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करते हैं। उदाहरण के लिये, समाज शास्त्र राज्य के सामाजिक संगठन का, अर्थ शास्त्र राज्य की सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण, विनिमय व उपभोग का, सार्वजनिक राजस्व (Public Finance) राज्य के आय व कर के स्रोतों का, लोक प्रशासन (Public Administration) राज्य के प्रबंध व व्यवस्था का, तथा सांविधानिक इतिहास (Constitutional History) राज्य के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करते हैं। राजनीति शास्त्र राज्य के इन विविध पक्षों का एक साथ विशेष अध्ययन (Special study) प्रस्तुत नहीं कर सकता, अतः यह मानना चाहिये कि राजनीति शास्त्र एक न होकर अनेक है। दूसरे शब्दों में, राजनीति शास्त्र एक शास्त्र न होकर अनेक शास्त्रों का समूह है। इसलिये इस विषय के नामकरण के लिए एकवचन 'राजनीति शास्त्र' की अपेक्षा बहुवचन 'राजनीति शास्त्रों' या 'अनेक राजनीति शास्त्र' शब्द अधिक उपयुक्त होंगे।

फ्रांसीसी मत को स्वीकार करने में कुछ आपत्तियाँ हैं। प्रथम, राज्य विषयक विज्ञान को पृथक्-पृथक् टुकड़ियों के रूप में देखने से उसकी पूर्णता नष्ट हो जायेगी और वह एक पूर्ण विज्ञान के रूप में नहीं रह जायेगा। दूसरे, जैसा मुनरो स्मिथ का मत है, "राज्य के विविध सम्बन्धों के भाग किये जा सकते हैं और उन पर विचार किया जा सकता है परन्तु ये सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं और उनके प्रयोजन इतने मिलते जुलते हैं कि

The Social and Political Ideas of Some Great Medieval ...rs ed F J C Hearnshaw, London pp 10-11

उन्हे हम विभिन्न विज्ञानो का रूप नही दे सकते ।"[17] तीसरे, राजनीति शास्त्र के अतिरिक्त जिन अन्य सामाजिक शास्त्रो को वे राजनीति शास्त्र का रूप मानते हैं । उनमे से कोई भी 'शक्ति सम्बन्धी समस्याओं' (Power Politics) का अध्ययन नही करता और न प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक क्रियाकलापो से सम्बन्धित होता है । वस्तुत सामाजिक जीवन के विविध पहलुओ का अध्ययन करते हुए वे ज्ञान की स्वतन्त्र शाखा बन चुके हैं और उनमे से प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण और केन्द्रबिन्दु है अत राजनीति शास्त्र का एक वचन मे प्रयोग ही शुद्ध है । बर्गेस, जैलीनेक, लीबर, सिजविक, विलोबी, सीले आदि की भी यही मान्यता है । डाक्टर गानर ने इन दानो दृष्टिकोणो से भिन्न अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'जब केवल राज्य की विवेचना करनी हो तो राजनीति शास्त्र शब्द का प्रयोग एकवचन मे किया जाय और जब उसका प्रयोग राज्य के जीवन के विशिष्ट पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाले सभी [विज्ञानो जसे समाज शास्त्र, इतिहास, अर्थ शास्त्र आदि का वणन करने के लिए हो तो उसका प्रयोग बहुवचन में हो ।"[18]

राजनीति शास्त्र ही सर्वाधिक उपयुक्त—उपयुक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि प्रस्तुत विद्या के नामकरण के लिए 'राजनीति शास्त्र' ही सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है । इसके अन्तगत पोलक की सैद्धान्तिक राजनीति भी आ जाती है और व्यावहारिक भी । इसके अन्तगत राजनीति दशन', 'राजनीतिक सिद्धान्त', 'राजनीति' आदि सभी शब्दो की क्षेत्रगत बातें और विद्याए आ जाती हैं । यूरोपीय भाषाओ म भी शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जो 'राजनीति शास्त्र' से अधिक व्यापक हो । 1948 मे यूनेस्को के तत्वावधान मे होने वाली ससार के प्रमुख राजनीति शास्त्र वेत्ताओ की परिषद् ने भी इसी शब्द—राजनीति शास्त्र (Polit i al Science)—को ही सर्वाधिक उपयुक्त माना था । अन्त मे हम प्रो० गिलक्राइस्ट के साथ कह सकते हैं कि अपनी विद्या के लिए ' विवेक तथा प्रचलन की दृष्टि से राजनीति शास्त्र ही सर्वाधिक उचित नाम है ।"[19]

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 राजनीतिशास्त्र की व्याख्या कीजिये । 'राजनीति', 'राजनीतिक दशन', और 'राजनीति शास्त्र' मे क्या अन्तर है ?
(राजस्थान 1960, पटना 1962, उदयपुर 1969, विक्रम 1965, आगरा 1657, 61)

2 क्या राजनीतिशास्त्र एक विज्ञान है ? पूणतया व्याख्या कीजिये ।
(आगरा 1969, लखनऊ 1964, दिल्ली 1969, राज० 1972)

3 "जब मैं राजनीति विज्ञान शीपक के अन्तगत परीक्षा प्रश्नो के समूह को

---

17 'The Domain of Political Science," *Political Science Quarterly* Vol 1, P 5

18 *Political Science and Government* p 6

19 *Principles of Political Science* p 3

देखता हू तो मुझे प्रश्नो पर नही अपितु शीर्षक पर खेद होता है।" (मैटलण्ड) व्याख्या कीजिये। (गोरखपुर 1962, उदयपुर 1969), कानपुर 1971)

4 "एक परिष्कृत शब्दावली की जितनी आवश्यकता राजनीति शास्त्र को है उतनी अन्य किसी शास्त्र को नही।" विवेचना कीजिये।

3 राजनीति शास्त्र के सम्बन्ध मे विज्ञान शब्द के प्रयोग मे क्या आपत्तियाँ उठायी गयी है? आप इस विषय मे अपने विचारो का सकारण वर्णन कीजिये। (आगरा 1971)

6 ज्ञान की वर्तमान दशा मे राजनीति शास्त्र का विज्ञान होना तो दूर वह कलाओ मे भी अधिकतम अविकसित कला है।" (बक्ल) विवेचना कीजिये। (राजस्थान 1960, जोधपुर 1965, आगरा 1959)

7 'राजनीति शास्त्र', 'राजनीति' और 'राजनीति दर्शन' मे भेद स्पष्ट कीजिये। आप इस विषय के लिए कौन सा नाम सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं और क्यो? (आगरा 1951, 57, 61 66, 69, 72, राज० 1977)

8 इस विचार का परीक्षण कीजिये कि राजनीति शास्त्र कला व विज्ञान दोनो हैं। (राज० 1976)

9 "राजनीति विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानो के वर्ग मे नही है यह एक सामाजिक विज्ञान है।"—स्पष्ट कीजिये। (राज० 1981)

अध्याय ३

राजनीति शास्त्र की अध्ययन पद्धतियाँ और उपागम

(Methods and Approaches to study Political Science)

"सामाजिक शास्त्रो को नई शोध प्रविधियों की उतनी जरूरत नही जसा कुछ लोग समझते हैं परन्तु उन्हे एसे विश्वासो की आवश्यकता जरूर है जो तक सगत सिद्धान्तों पर आधारित हों।' —जे० एच० हैलोवेल

पिछले अध्यायो म हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विद्वानो मे राजनीति शास्त्र के स्वरूप और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध मे काफी मतभेद है। अत विषय की अध्ययन पद्धति के सम्बन्ध मे मतभेद होना भी स्वाभाविक है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे सामान्यत जिन पद्धतियो का प्रयोग किया जाता है, उन्हे निम्नाकित तीन भागो मे बाँटा जा सकता है—

(1) आगमनात्मक पद्धति,(2) निगमनात्मक पद्धति,(3) सादृश्यात्मक पद्धति।

(1) आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method)—इस पद्धति मे हम विशिष्ट तथ्य से सामान्य सिद्धान्त की ओर बढते हैं। किसी भी घटना, तथ्य या समस्या का पहले अवलोकन करके (ऐतिहासिक अनुभव, प्रयोग या तुलना के आधार पर) निष्कर्ष निकाले जाते हैं और फिर उन्हे सिद्धान्तो का रूप दिया जाता है। अरस्तू, बोदाँ, हाब्स, लॉक, माण्टेस्क्यू, मार्क्स, लास्की आदि ने इस पद्धति का अनुसरण किया है।

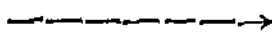
(2) निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method)—राजनीतिक अध्ययन के लिये प्रारम्भ मे धार्मिक व नतिक दृष्टि अपनायी जाती थी और दार्शनिक या निगमनात्मक पद्धति का सहारा लिया जाता था। इस पद्धति मे पहले से ही कुछ सिद्धान्तो को सत्य मान लिया जाता है और फिर उन सिद्धान्तो को विशेष परिस्थितियो पर लागू करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं, जिन्हे राजनीतिक सत्य कहते हैं। सक्षेप मे, इस पद्धति मे हम सामान्य सिद्धान्त से विशेष तथ्य की ओर बढते हैं। प्लेटो तथा उसके अनुयायियो ने यूनान मे, आधुनिक आदर्शवादियो तथा उपयोगितावादियो ने इगलैण्ड मे उसका अनुसरण किया था।

(3) सादृश्यात्मक पद्धति (Analogical Method)—इसमे किसी तथ्य या घटना की व्याख्या किसी अन्य वस्तु या सस्था से समानता दिखाकर की जाती है।

स्पेंसर द्वारा राज्य की मानव शरीर के रूप मे व्याख्या करना इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

राजनीति शास्त्र मे यह जरूरी नही कि एक व्यक्ति केवल एक पद्धति से ही उसका अध्ययन करे। वह एक से अधिक पद्धतियो का सहारा भी ले सकता है। हाब्स ने आगमनात्मक और सादृश्यात्मक दोनो पद्धतियाँ अपनायी और रूसो ने अपनी रचनाओं मे तीनो ही पद्धतियो का प्रयोग किया। सक्षेप मे, राजनीति शास्त्री जिन पद्धतियो का अपने अध्ययन मे प्रयोग करते हैं वे मूल रूप मे इन्ही तीनो म से किसी पद्धति का अग होती हैं। नीचे के चार्ट द्वारा इस बात को भली-भाति समझा जा सकता है।

पद्धतियाँ (Methods)

आगमनात्मक (Inductive) 
1 प्रयोगात्मक
2 पर्यवेक्षणात्मक
3 ऐतिहासिक
4 तुलनात्मक

निगमनात्मक (Deductive) 
1 दार्शनिक

सादृश्यात्मक (Analogical) 
1 समाज शास्त्रीय
2 जीव शास्त्रीय
3 मनोवैज्ञानिक
4 सांख्यिकी

प्रयोगात्मक पद्धति (The Experimental Method)

प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग भौतिक विज्ञानो मे होता है। प्रयोगशाला में किये गये प्रयोग के बिना भौतिक विज्ञानो का अध्ययन वैसा है जैसे बिना बादशाह रखे शतरज का खेल खेलना। समाज शास्त्रो म भी प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाया जाता है। लेकिन यह तरीका भौतिक विज्ञानो से भिन्न है। भौतिक विज्ञानो मे जिन तत्वो का अध्ययन किया जाता है वे चेतना शून्य होते हैं उनका व्यवहार निश्चित होता है और वे जान बूझकर प्रयोगकर्ता के कार्यों म बाधा नही डालते। जैसे ऑक्सीजन गधक, पानी आदि यूरोप, आस्ट्रेलिया या साइबेरिया सब जगह एक सी प्रतिक्रियायें करते हैं। लेकिन समाज शास्त्रों म मनुष्य की क्रियाओ का अध्ययन होना है। इच्छाओ और भावनाओं का दास होने के कारण मनुष्य का व्यवहार निश्चित नहीं होना है। रसायन शास्त्री का ...ना और नापा जा सकता है, लेकिन मनुष्य की भावनाए और क्रियाएँ उस ...नी और नापी नहीं जा सकतीं। हम वायु के तापमान, उसकी नमी और गति

को माप सकते हैं, लेकिन भीड की उत्तेजना मे कितनी उष्णता (गर्मी) है इसे नहीं माप सकते। चुनाव के तथ्य भारत, रूस और पाकिस्तान मे समान नही हैं, हालांकि सभी जगह उन्हे एक ही नाम से पुकारा जाता है। समाज शास्त्रो म प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग एक भिन्न अर्थ मे होता है। राजनीति शास्त्र मे प्रयोगात्मक पद्धति इस सीमित अर्थ मे अपनायी गयी मानी जाती है कि, जाने या अनजाने, राजनीति के क्षेत्र मे निरन्तर प्रयोग होते रहते हैं जिनसे प्राप्त अनुभव हमे अध्ययन की यथेष्ट सामग्री प्रदान करता है। गिलक्राइस्ट के अनुसार "शासन के ढाँचे म किया गया कोई भी परिवर्तन, प्रत्येक नया कानून और प्रत्येक युद्ध राजनीतिक विज्ञान मे एक प्रयोग ही होता है।" हम ऐतिहासिक अनुभव के आलोक मे सदा राजनीतिक प्रयोग करते रहते हैं। **मरियम** लिखता है कि "राज्य के पास अन्य किसी भी सस्था की अपेक्षा प्रयोग के लिए बहुत अधिक सामग्री होती है। सेना विद्यालय, सार्वजनिक सेवाओ और सस्थाओ की एक लम्बी कतार प्रत्यक्ष रूप से उसके नियन्त्रण मे होती है तथा आवश्यकता पडने पर वह प्रयोग करने के लिए उपयोग मे लाई जा सकती है।"[1]

ब्रिटेन मे ससदीय जनतन्त्र और अमरीका मे शक्ति पथक्करण का प्रयोग किया गया। अन्य देशो के विधान निर्माताओ ने उनसे सबक लिया। योजनाबद्ध आर्थिक निर्माण सोवियत रूस मे एक प्रयोग के रूप मे लागू हुआ। उसकी पचवर्षीय योजनाओ ने अनेक देशो का पथ प्रदर्शन किया है। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एक महान् प्रयोग था।

सीमाएं—प्रयोगात्मक पद्धति की सबसे बडी सीमा यह है कि उससे प्राप्त होने वाले निष्कर्ष केवल स्थान विशेष, देश विशेष और काल विशेष के लिए लागू होते हैं। मानव स्वभाव और आचरण मे पायी जाने वाली अस्थिरता प्रयोगात्मक पद्धति की सफलता के मार्ग मे सबसे बडी बाधा है।

दूसरी, भौतिक शास्त्रो की तरह राजनीति शास्त्र के विद्वानो का अपने अध्ययन की वस्तु और परिस्थितियो पर पूर्ण नियन्त्रण नही होता इसलिये परिणाम भौतिक विज्ञानो की तरह अचूक नही निकलते।

तीसरी, किसी प्रयोग को कई बार दोहराये बिना उससे वैध निष्कर्ष नही निकाले जा सकते। ब्राईस के शब्दो मे "भौतिक विज्ञान मे बार बार प्रयोग किये जा सकते हैं जब तक कि किसी निश्चित निष्कर्ष तक नही पहुँचा जा सके। लेकिन राजनीति मे जिसे प्रयोग कहा जाता है उसकी पुनरावृत्ति नही हो सकती क्योकि उन्ही परिस्थितियो का उसी रूप मे पुन निर्माण नहीं किया जा सकता, जैसा हैराक्लिटस कहता है कोई नदी की एक धारा म दो बार डुबकी नही लगा सकता।"[3]

---

1 Merriam, 'New Aspects of Politics' 1925 p 55
2 Catlin The Science and Methods of Politics pp 113 114
3 Bryce Modern Democracies Vol I, p 14

चौथी, प्रयोगात्मक पद्धति से "भौतिक विज्ञानो की भविष्यवाणिया निश्चित हो सकती हैं, परन्तु राजनीतिक विज्ञान की भविष्यवाणिया अधिक से अधिक सम्भावना के क्षेत्र तक पहुँच सकती हैं।"[4]

लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि राजनीति शास्त्र म प्रयोगात्मक पद्धति की उपयोगिता व क्षेत्र सीमित है। प्रयोग के रूप मे समय समय पर सभी सरकारें नये नये कार्यक्रम लागू करती है जो सफल भी होते हैं और असफल भी। गार्नर ठीक लिखता है कि "प्रत्येक नयी विधि का निर्माण, प्रत्येक नयी सस्था की स्थापना, प्रत्येक नयी नीति का उद्घाटन तब तक अस्थाई ही माना जाता है जब तक कि प्रयोग उसके स्थायी होने की योग्यता को सिद्ध न कर दे।"[5]

पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational Method)

अत्यन्त प्राचीन काल स राजनीति शास्त्र का अध्ययन इस पद्धति द्वारा किया जा रहा है। उदाहरण के लिए, लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'राजनीति' लिखने से पहले यूनान के 158 राज्यो की व्यवस्था का अवलोकन या पर्यवेक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला था कि 'असमानता' ही विद्रोह का कारण होती है। 18वी शताब्दी मे प्रसिद्ध राजनीति शास्त्र वेत्ता माण्टेस्क्यू ने यूरोपीय देशो का भ्रमण करके यह सिद्धान्त दिया कि निजी स्वतन्त्रता के लिए शासन की शक्तियो का विभाजन जरूरी है। 20वी शताब्दी मे लार्ड ब्राईस ने पर्यवेक्षण के आधार पर ही 'अमरीकी राष्ट्रमण्डल' (American Commonwealth) व 'आधुनिक जनतत्र' (Modern Democracies) नामक पुस्तके लिखी। सिडनी व बीट्रिस वेब की 'सोवियत साम्यवाद' (Soviet Communism), लास्की की 'अमरीकी अध्यक्षता' (American Presidency), 'अमरीकी जनतत्र' (American Democracy) 'ससदीय जनतत्र' (Parliamentary Democracy) आदि पर्यवेक्षण अथवा अवलोकन पद्धति पर आधारित रचनायें हैं।

इस पद्धति मे विद्यार्थी स्वय राजनीतिक सस्थाओ और घटनाओ का अवलोकन व अध्ययन करता है तथा उसके आधार पर निष्कर्ष निकलता है। लावेल का विचार है कि राजनीतिक समस्याओ के अनुसधान के लिये पर्यवक्षण पद्धति श्रेष्ठतम है। उसके अनुसार "राजनीति पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है, प्रयोगात्मक नही—राजनीतिक सस्थाओ मे प्रत्यक्ष व्यवहार की मुख्य प्रयोगशाला पुस्तकालय नही है, बल्कि व्यावहारिक जीवन का बाहरी ससार है।'[6] ब्राइस लिखता है कि "तथ्यो की वास्तविक और ताजी जानकारी प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि प्रत्यक्ष राजनीति म घुल मिल जाया जाये। फ्रांस और सयुक्त राज्य अमरीका जैसे देश मे कोई भी योग्य व्यक्ति बारह वर्षों के

4 वही

5 Garner Political Science and Government pp 19 20

6 L Lowell The Philosophy of Politics (American) vol IV p 8

Po

भीतर लोकतत्रात्मक शासन का अत्यधिक एव सूक्ष्म वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान कभी भी पुस्तको द्वारा प्राप्त नही हो सकता।"[7]

इस पद्धति का सबसे बडा गुण यह है कि इसमे अध्ययन करने वाले का अध्ययन की जाने वाली समस्या या घटना से सीधा सम्बन्ध होता है। वह स्वय मौके या घटना-स्थल पर पहुँच कर व्यक्तिगत साक्षात्कार या वार्तालाप से जानकारी या तथ्य इकटठे करता है। दूसरे से प्राप्त सूचनायें इतनी विश्वस्त नही होती। घटना या समस्या से प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोडने के कारण उस पर भाव शून्य या कोरा सिद्धान्तवादी होने का आरोप नही लगाया जा सकता। सेट के विचार से "राजनीति का विज्ञान पर्यवेक्षण प्रणाली द्वारा ही विकसित किया जा सकता है।" यद्यपि यह प्रणाली मुश्किल है और इसमे प्रयोगात्मक पद्धति की तुलना मे अधिक भूलो की सभावना रहती है, तथापि इसकी अपेक्षा नही की जा सकती।[8]

इस पद्धति का अनुसरण करते समय कुछ सावधानिया आवश्यक हैं—

(1) घटनाओ, तथ्यो, परिस्थितियो आदि का अवलोकन या परीक्षण करते समय समस्त काय भावना-रहित होकर किया जाना चाहिये।

(2) अनुमान के आधार पर निष्कर्ष निकालने की भूल नही करनी चाहिये। माण्टेस्क्यू ने अनुमान के आधार पर ब्रिटिश सविधान म शक्तियो का विभाजन बता दिया था। जिसके लिए बाद मे उसकी बहुत आलोचना हुई।

(3) अवलोकन ठोस होना चाहिये, व्यर्थ या सतही नही। उसे पूण व सार्व-कालिक होना चाहिये, एकागी और क्षणिक नही।

(4) अन्वेषक असाधारण सूझ बूझ और पैनी दृष्टि वाला होना चाहिये। उसे सभी आवश्यक और सम्बन्धित तथ्य इक्टठे कर लेने चाहियें। "उन्हें तब तक माजते रहना चाहिये जब तक कि वह एक हीरे की तरह चमकने और प्रकाशमान न होने लगें। उसके बाद उसे दूसरे तथ्यो के साथ जोडना चाहिये, उनके सदभ मे उसकी जाँच करनी चाहिये, इससे उसकी कीमत और उसके महत्त्व का पता चलेगा। अकेला कोई तथ्य किसी काम का नही है। अत उसे गले के हार का एक हीरा या हो सके तो अपने अनुसधान रूपी भवन का एक पत्थर, बुनियादी पत्थर बनाइये।"[9]

सीमायें—लास्की, सौले और मुनरो ने इस पद्धति मे अनेक सीमाओ को स्वीकार किया है तथा उनके खतरे के प्रति सचेत किया है।

(1) लास्की के अनुसार "जो लोग राजनीतिक प्रक्रियाओ से निकट का सबध रखते हैं वे कभी कभी उनके यथाथ अभिप्राय समझने मे बडी भूलें कर देते हैं। इसका

---

7 वही प 19

8 Sait, पूर्वोक्त पुस्तक p 36

9 Bryce Presidential Address American Political Science Review Vol III, p 10

कारण यह है कि शासन की प्रक्रियाएं बहुत कुछ एक हिमशैल के समान होती हैं, जिसका जो भाग सतह के ऊपर दिखाई देता है वह उस भाग से कहीं छोटा होता है जो पानी में डूबा रहता है।'

(2) लास्ले के विचार से "राजनीति शास्त्र में तथ्यों को प्रयोगात्मक रूप से प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन है।"

(3) इस पद्धति की सबसे बड़ी सीमा मुनरो के अनुसार, "एक निरपेक्ष दृष्टिकोण का अभाव है। इसका कारण यह है कि शासन सम्बन्धी मामले प्राय ऐसे होते हैं जिनका मानवीय भावनाओं और रुझानों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। बहुत थोड़े लोग ऐसे मिलेंगे जो धैर्य और पूर्ण निरपेक्ष भाव से उनका विश्लेषण कर सकें।

(4) यह पद्धति बहुत खर्चीली है। असाधारण सम्पत्ति और साधन सम्पन्न व्यक्ति ही दूसरे क्षेत्रों में जाकर स्वयं पर्यवेक्षण या अवलोकन द्वारा अध्ययन कर सकते हैं फिर भी यह जरूरी नहीं है कि उनके अध्ययन के परिणाम पूर्ण सत्य निकलें।

ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)—सभी व्यक्ति इसका प्रयोग करते हैं। अपने विचारों के समर्थन के लिए सभी इतिहास की घटनाओं के उदाहरण देते हैं। परन्तु यह ऐतिहासिक पद्धति नहीं है। ऐतिहासिक पद्धति में चार बातें आती हैं। प्रथम, ऐतिहासिक घटनाओं, तथ्यों अथवा व्यवस्थाओं की खोज की जाये। दूसरी, उन घटनाओं व तथ्यों का क्रमबद्ध अनुशीलन व संग्रह किया जाये। तीसरी, उनका विषयवार वर्गीकरण किया जाये और बेकार की सामग्री को निकाल कर दूर किया जाय, तथा चौथी, उस सामग्री के आधार पर कार्य कारण सम्बन्धों (cause and effect relationship) की स्थापना का प्रयास किया जाये ताकि सामान्य नियमों का निर्माण हो सके। सर फ्रेडरिक पोलक के शब्दों में 'ऐतिहासिक पद्धति में इस बात की खोज की जाती है कि संस्थाओं का क्या रूप रहा है उनका क्या रूप बनता जा रहा है और इस चेष्टा में वह संस्थाओं के वर्तमान स्वरूप की व्याख्या करने की अपेक्षा इस बात का अधिक ध्यान रखती है कि उनका भूतकालीन स्वरूप क्या था तथा वर्तमान स्वरूप कैसे बना।" सेट इस पद्धति के समर्थन में लिखता है कि 'अपने अनुभव का संचय हमें पुरानी भूलों को दोहराने से बचाता है। विगत पीढ़ियों के अनुभव से लाभ उठाकर मनुष्य अपने लिए कुछ व्यावहारिक परिणाम खोजने का प्रयास करता है।"

अरस्तू के युग से ही किसी न किसी रूप में इस पद्धति का प्रयोग होता रहा है। आधुनिक युग में इस पद्धति का अनुसरण करने वाले विद्वानों में मैकियावेली, बोदाँ, मान्टेस्क्यू, सैविनी (Savigny), हीगल, मार्क्स, स्पेंसर, काम्टे मायन सीले, फ्रीमन लास्की ओकशाट के नाम प्रमुख हैं। लास्की के विचार से सम्पूर्ण राजनीति इतिहास का दर्शन है" और ओकशाट के अनुसार ऐतिहासिक अध्ययन के बिना राजनीतिक [illegible] रह जायेगी। उनकी दृढ़ मान्यता है कि शैक्षिक स्तर पर राजनीति का [illegible] होना चाहिये।

ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करते समय कुछ सावधानियाँ बरतने की बहुत आवश्यकता है। प्रथम ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग निष्पक्ष होकर करना चाहिये। पूर्वाग्रहों या पुरानी धारणाओं के आधार पर ऐतिहासिक पद्धति से निकाले गये निष्कर्ष निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, बर्क ने ब्रिटिश संस्थाओं को आदर्श मानकर रूढिवादी दृष्टिकोण से ब्रिटिश इतिहास की व्याख्या की, हीगल ने तत्कालीन जर्मनी को आदर्श राष्ट्र मानकर इतिहास का प्रयोग किया, नाजी विचारकों ने जर्मन जाति को सर्वश्रेष्ठ और विश्व विजय पर उसका जन्मजात हक मानकर इतिहास का अध्ययन किया, तथा, मार्क्स ने भौतिकता को नियामक तत्त्व मानकर इतिहास की व्याख्या की। ये अध्ययन श्रेष्ठ होते हुए भी ऐतिहासिक पद्धति के निरपेक्ष प्रयोग के प्रमाण नहीं हैं। दूसरी, ऐतिहासिक पद्धति का असावधानी से प्रयोग एक ओर ऐसी आशावादिता उत्पन्न कर सकता है जिससे हम 'जो भी हो रहा है' अथवा 'होने जा रहा है' उसी को सर्वोत्तम समझ सकते हैं तो दूसरी ओर एक प्रकार की निराशावादी रूढिवादिता भी उत्पन्न कर सकता है कि 'जो कुछ भी हो सकता था हो चुका है' और 'अब आगे विशेष आशा नहीं की जा सकती।' तीसरी, ऊपरी समानताओं और सादृश्यों से बचना चाहिये और उन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। 'इतिहास स्वयं को दोहराता है यह केवल अर्ध सत्य है। शेष अर्ध सत्य यह है कि 'इतिहास स्वयं को कभी नहीं दोहराता।' ब्राइस के विचार से ऊपरी समानतायें हमें पथभ्रष्ट बनाती हैं। अन्त में, प्रत्येक आधुनिक समस्या का हल इतिहास में खोजना एक भूल होगी। प्रत्येक युग में परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। एक युग की समस्याओं का निदान दूसरे युग के तथ्यों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

सीमायें—सीले के अनुसार "इस अध्ययन पद्धति में प्रायः 'हम जैसा चाहते हैं' उसके प्रकाश में 'जो है' उसको समझने और समझाने का प्रयत्न करने लगते हैं।"

दूसरे, जैसा बार्कर लिखता है, इस पद्धति से विकास की प्रक्रिया को तो समझा जा सकता है लेकिन उसके परिणाम का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। 'क्या था' और 'कैसे हो गया' इसका रिकार्ड तो मिल जाता है किन्तु क्या होना चाहिये इसका सही ज्ञान नहीं हो पाता।[10]

तीसरे, इस पद्धति का अबाध रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। सिजविक लिखता है कि "मेरा ख्याल नहीं कि व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं का सही हल खोजने में ऐतिहासिक पद्धति का प्राथमिक प्रयोग होना चाहिये।"[11]

तुलनात्मक पद्धति (Comparative method)—यह पद्धति ऐतिहासिक पद्धति की पूरक है। राजनीतिक विचारों, विवादों और संस्थाओं के अध्ययन

10 Earnest Barkar 'Political Thought in England 1848 1914, London 1942 p 145

11 Sidgwick 'Elements of Politics', p 7

मे इसका प्रयोग होता है। इसका आधार समानताओ और असमानताओ का विवेकपूर्ण निरीक्षण है। गार्नर के शब्दो मे "तुलनात्मक पद्धति का उद्देश्य वर्तमान या भूतकालीन राजनीति के अध्ययन द्वारा ऐसी निश्चित सामग्री का सकलन है जिससे शोधकर्ता चयन, तुलना तथा छटनी द्वारा राजनीतिक इतिहास की आदर्श व्यवस्थाओ और प्रगतिशील शक्तियो की खोज कर सके।"[12] लार्ड ब्राइस ने इस पद्धति को 'वैज्ञानिक पद्धति' बताया है और विस्तार से इसकी व्याख्या की है। उसके अनुसार, इस पद्धति मे समान परिणामो के समान कारण ढूढकर सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचा जाता है और इस विश्लेषण मे उन कठिनाइयो को दूर किया जाता है जो एक देश मे उपस्थित हो दूसरे मे नही। जब तुलनात्मक पद्धति द्वारा दो देशो की जनतान्त्रिक व्यवस्थाओ की कार्य पद्धति मे अन्तर स्पष्ट हो जाये तब स्थानीय और विशेष परिस्थितियो—भौतिक, जातीय या आर्थिक—का परीक्षण किया जायेगा ताकि यह पता लग सके कि कहीं उनमे कुछ अन्तर तो विद्यमान नही है। जब परिस्थितियो का अन्तर स्पष्ट हो जाये तभी यह सतुलित निर्णय लिया जा सकता है कि किस स्वरूप को सफलता मिलने की सभावना अधिक है। जब विभिन्न जनतान्त्रिक शासनो के मध्य 'भेद के तत्व' निकाल दिये जाते है तो उनके बीच जो समानता के तत्व शेष बचते हैं उन्हें जनतान्त्रिक मानवीय स्वभाव अर्थात जनतन्त्र के भीतर नागरिको की सामान्य या स्थायी आदतें व प्रवृत्तिया कहा जा सकता है।"[13]

तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करने वालो मे अरस्तू बोदा, माण्टेस्क्यू, ब्राइस, डी० टाकविल का नाम प्रमुख है। आधुनिक युग मे हरमन फाइनर की 'आधुनिक सरकारो के सिद्धान्त एव व्यवहार' तथा मुनरो, ऑग आदि अमरीकी लेखको की सविधान विषयक पुस्तकें तुलनात्मक विधि से लिखी गयी हैं।

इस पद्धति का प्रयोग करते समय निम्नाकित बातो पर ध्यान देना आवश्यक है—

(1) तुलना परिस्थतियो की समान पृष्ठभूमि मे ही की जानी चाहिये। अध्ययन के लिए ऐसे विषयो अथवा सगठनो को नहीं चुनना चाहिये जिनमें आधारभूत विरोध हो।

(2) तुलना का ध्येय नकल नही होना चाहिये और न वह पूर्वाग्रहो या पूर्व निर्धारित दृष्टिकोणो के आधार पर की जानी चाहिये, अन्यथा वह प्रचार होगा, शास्त्रीय अध्ययन नही।

(3) निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने से पूर्व यह निश्चित रूप से देख लेना चाहिये कि प्रत्येक स्तर पर वास्तविक समानता हो।

---

12 Political Science and Government p 12

13 'Modern Democracies' Vol I pp 2? 21

(4) तुलना करते समय समानताओं और असमानताओं दोनों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(5) तुलना करते हुए अवस्थाओं तथा परिस्थितियों का भेद—जैसे, लोगों की बुद्धिमत्ता और स्वभाव का अंतर, सामाजिक और आर्थिक हालत, कानूनी और नैतिक अनुभव आदि—नजर अंदाज नहीं किया जाना चाहिये। उदाहरण के लिए, भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था की अमरीका, इंग्लैंड से तुलना करते समय भारतीय जनता के बौद्धिक स्तर, आर्थिक पिछड़ेपन, धर्म व जातिगत भेदभाव को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

सीमायें—गार्नर लिखता है कि "तुलनात्मक पद्धति में व्यावहारिक रूप में गलती होने का भय है, क्योंकि सामान्य नियमों की खोज करने का प्रयत्न करते हुए विभिन्न परिस्थितियों (जैसे लोगों का स्वभाव और प्रतिभा, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ, नैतिक और वैधानिक स्तर, राजनीतिक प्रशिक्षण, अनुभव आदि) के भेद को भुला देने की भूल की जा सकती है।"[14]

इस पद्धति के दोषपूर्ण प्रयोग का हरबर्ट स्पेंसर मुख्य उदाहरण है, जिसने राज्य और मानव शरीर में समानता बताते हुए अनेक धारणायें स्थापित कीं। तुलनात्मक पद्धति के असावधानी से प्रयोग के कारण उसके निष्कर्ष में दो त्रुटियाँ आ गयीं—प्रथम, वह भूल गया कि दो वस्तुओं में समानता दिखाना उनके आपसी सम्बन्धों का निर्धारण कार्य नहीं है, तथा दूसरी, 'सामाजिक ढांचा वास्तविक शरीर नहीं है।' राज्य जीव के समान हो सकता है, लेकिन इस बनावटी समानता से वह वास्तविक शरीर नहीं बन जाता।

दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)—दार्शनिक पद्धति के अन्तर्गत किसी सिद्धान्त या विचारधारा की कल्पना पहले से ही कर ली जाती है और फिर उसके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। इस पद्धति में राज्य के लक्ष्य या उद्देश्य सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों को स्वयं सिद्ध मानकर उनके आधार पर राज्य, सरकार आदि विषयों का विश्लेषण किया जाता है। प्लेटो की रिपब्लिक व मूर की यूटोपिया, इस पद्धति के प्रयोग के अनुपम उदाहरण हैं। प्लेटो ने एक काल्पनिक आदर्श राज्य का और मूर ने स्वर्गिक राज्य का चित्रण किया और उन्हें आदर्श माना। मध्ययुगीन योरोप में दार्शनिक पद्धति लोकप्रिय थी। 18वीं और 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड के उपयोगितावादियों एवं आदर्शवादियों ने भी इस पद्धति का अनुसरण किया। इस पद्धति के समर्थकों का कहना है कि सामाजिक शास्त्र आदर्शात्मक होते हैं अतः उनके अध्ययन का महत्त्व दार्शनिक पद्धति के समुचित प्रयोग पर निर्भर है। इस पद्धति का प्रयोग करके हम राज्य के दार्शनिक आधारों की परीक्षा करते हैं और उन विभिन्न संगठनों का अध्ययन करते हैं जो 'शक्ति' और 'प्रभाव' प्राप्त करने के लिये लालायित रहते हैं। इसके

14 पूर्वोक्त पुस्तक, पृ 27

द्वारा हमे वे आदर्श और सिद्धात प्राप्त हो जाते हैं जिनकी नीव पर राजनीतिक वास्तविकताओ का विवेचन और मूल्याकन किया जा सकता है तथा उनमे सुधार के सुझाव दिये जा सकते हैं।

सिजविक और सेट ने इस प्रणाली को अपनाने का आग्रह किया है। सिजविक के अनुसार राजनीति शास्त्र प्रारम्भिक उद्देश्य आदर्श को निर्धारित करना और भविष्य के लिये मार्ग दर्शन करना है। अमूर्त आगमन प्रणाली से इन उद्देश्यो को पूरा नहीं किया जा सकता इसलिए दार्शनिक प्रणाली उत्तम है।[15] सेट के शब्दो मे "जीवन की साधारण बातो मे उलझे हुए व्यक्तियो के लिये प्लेटो एक उत्तम इलाज है।"[16] दार्शनिक पद्धति बुद्धि विकसित करती है जिसके बिना राजनीतिशास्त्र की समस्याओ का सफल समाधान मुश्किल है।

सीमायें—ब्लश्ली लिखता है कि "यह पद्धति कोरी सैद्धान्तिक है जिसका तथ्यो से कोई सम्बन्ध नही रहता।"

दार्शनिक पद्धति का दूसरा दोष यह है कि इसमे कल्पनावादी होने का भय सदा बना रहता है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक दार्शनिक सिद्धात सदैव तथ्यो के अनुकूल ही हो। लास्की ने उचित ही कहा है, "किसी भी प्रकार की पूर्व सिद्ध राजनीति मार्ग चलकर अवश्य ही भग हो जाती है, क्योकि उसका प्रारम्भ ही स्पष्ट मस्तिष्क से नहीं होता।'[17] उदाहरणस्वरूप, प्लेटो द्वारा जिस आदर्श राज्य की कल्पना 'रिपब्लिक' मे की गयी उसकी स्थापना इस पृथ्वी पर सम्भव नही है। अतएव दार्शनिक पद्धति का उपयोग करते समय यह सावधानी रखनी आवश्यक है कि कहीं निष्कर्ष व्यावहारिक तथ्यो के बिल्कुल विपरीत न हो अन्यथा उनकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी।

कुछ भी हो दार्शनिक पद्धति की अपनी उपयोगिता है। श्रेष्ठ जीवन के लिये वास्तविक तथा दार्शनिकता दोनों का मिश्रण आवश्यक है। कल्पना और यथार्थ समान्तर रूप से चलने चाहियें। जिसे हम नियोजन कहते हैं, वह कल्पना मूलक ही होता है। उसे यथार्थताओ से सिर्फ सजाया जाता है।

समाज शास्त्रीय पद्धति (Sociological Method)—समाज शास्त्रीय पद्धति राज्य को एक सामाजिक अवयव (शरीर) के रूप मे स्वीकार करती है, जिसमें समाज बनाने वाले व्यक्तियो जैसे गुण होते हैं। इसके अन्तर्गत राज्य तथा व्यक्ति के विकास की समान्तर दशायें व स्थितियाँ खोजने का प्रयास किया जाता है। इस पद्धति का उद्देश्य सामाजिक जीवन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग राजनीतिक जीवन मे करना है। समाज शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करने वाले राज्य के विश्लेषण मे विकासवादी या ऐतिहासिक धारणाओ को अपनाते हैं। इसलिए अनेक विद्वान इसे स्वतन्त्र पद्धति नहीं अपितु

---

15 Sidgwick The Development of Europeuan Polity London 1920 p 5

16 Sait 'Political Institutions, p 5

17 Laski "An Inaugural Lecture on the Study of Politics,

4

एक 'दृष्टिकोण' (approach) मात्र मानते हैं। काम्टे ने अपनी रचनाओ मे इस 'पद्धति' या 'दृष्टिकोण' का उपयोग किया है।

जीव शास्त्रीय पद्धति (Biological Method)—इस पद्धति का अनुसरण करने वाले राज्य को एक जीवित मानव शरीर की भाति मानते हैं और उसमे तथा मनुष्य (या पशु) के शरीर के मध्य समानतायें स्थापित करने का प्रयास करते ह। राज्य के विभिन्न अगो का वणन जीवशास्त्रीय शब्दावली म किया जाता है और उसके सगठन व विकास के नियमो मे मानव शरीर के साथ समानतायें खोजने की चेष्टा की जाती है। स्पेंसर, दुर्खीम, गमप्लोविज आदि इनके मुख्य समथक हैं। जीवशास्त्रीय पद्धति म इतने दोष है कि अनेक लोग इसे पद्धति मानने से ही इन्कार करते हैं। उनकी आलोचना का मुख्य आधार है कि राज्य और मानव शरीर मे समानतायें केवल दिखावटी हैं, वास्तविक नही। इसलिये इम पद्धति स राजनीतिक सत्य या यथाथ की खोज नही की जा सकती।

मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method)—इस पद्धति के अतगत राजनीतिक सस्थाओ की स्थापना व गतिविधियो के पीछे मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जाता है। राजनीतिक सस्थाओ की स्थापना व गतिविधियो के पीछे मनोवैज्ञानिक तथ्यो को ढूढने का प्रयास किया जाता है। इस पद्धति के समथको की राय है कि मनोविज्ञान की सहायता से राजनीतिक व्यवहार के मूल तथ्यो को मालूम किया जा सकता है और उनके अनुसार समाज के लिये उपयोगी राजनीतिक सिद्धातो व सस्थाओ की स्थापना की जा सकती है। बाकर लिखता है—**"मानवीय क्रिया कलापों की उलझनो को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुलझाना वास्तव मे आज के दिन का चलन हो गया है, यदि हमारे पूवज प्राणी विज्ञान की दृष्टि से सोचते थे तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से"** इस प्रकार के अध्ययन की नीव ग्राहम वालास ने डाली जिसे मक्डूगल, टाड, लावेल और लसवल ने विकसित किया। मनोवैज्ञानिक पद्धति अभी विकास की अवस्था मे है। सही और व्यवस्थित ज्ञान के रूप मे यह कोई ऐसा ठोस आधार देने मे असमथ रही है जिस पर राजनीतिक व्यवहार से सम्बधित किसी सिद्धात को स्थिर किया जा सके। गाटकिन्स ने इसका कारण बताते हुए लिखा है, कि राजनीति शास्त्री जिन व्यक्तियो के व्यवहार का अध्ययन करता है व जीवित प्राणी हैं, निर्जीव वस्तुयें नही। यद्यपि इस पद्धति से अभी तक बहुत साधारण परिणाम ही प्राप्त हुये हैं तथापि भविष्य मे इससे विशेष सफलता की आशा की जा सकती है।

सांख्यिकी पद्धति (Statistical Method)—राजनीति शास्त्र में आधुनिक लेखक निर्वाचनों के आंकडो, तालिकाओ तथा विशेष कानूनो या राजनीतिक नेताओ की नीतियो पर लोकमत सम्बधी आंकडो के वर्गीकरण एव विश्लेषण का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं। विभिन्न देशो की सरकारें राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक स्थितियो पर पर्याप्त मात्रा मे आंकडे सग्रह एव प्रकाशित कर रही हैं। ये आंकडे हर प्रकार की समस्याओ को सुलझाने में, विधि निर्माण म तथा राजनीतिक एव सामा[illegible]

करने मे उपयोगी होते हैं। अध्ययन की इस पद्धति को सांख्यिकी या सम्यात्मक पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति का प्रयोग करने वाला सम्याओं या आँकड़ो को इकट्ठा करता रहता है। बाद म उनका वर्गीकरण व विश्लेषण करके अनुमानित निष्कर्षों तक पहुचने का प्रयास करता है। आधुनिक सरकारो का समस्त नियोजन काय सांख्यिकी पद्धति पर ही निभर है। लेकिन इस पद्धति का प्रयोग राजनीति शास्त्र के अध्ययन मे ऐतिहासिक पद्धति की भांति स्वतन्त्र रूप स नही हो सकता। एक सहायक पद्धति क रूप में अवश्य इसका प्रयोग किया जा सकता है।

वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method)—पियसन ने लिखा है—"सत्य तक पहुचने के लिय कोई भी संक्षिप्त माग नही है। जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिक पद्धति के अलावा और कोई दूसरा द्वार नही है।"[18] बर्नार्ड बान डायक लिखता है कि विज्ञान का सम्बन्ध उस ज्ञान से होता है जो 'हो चुका है' या 'है' या 'होगा' चाहे किसी परिस्थिति मे कोई भी 'चाहिए' क्यो न हो। वह यथाथ के विवेचन की विधि है, इसलिए प्रेक्षण, पयवेक्षण या अवलोकन पर आधारित है, तथा इसकी सीमाओ स बधी हुई है। जिसका अवलोकन नही किया जा सकता है वह विज्ञान की अध्ययन सामग्री नही बन सकता। किन्तु यहाँ अवलोकन का अर्थ केवल नेत्रो द्वारा देखना मात्र न होकर, ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान है। इसम उस वस्तु, घटना, क्रिया के साथ संलग्न नाम, भाव, विचार आदि सभी आ जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान अवलोकन का नाम है। डायक के अनुसार विज्ञान मे तीन लक्षण पाये जाते हैं—

1 सत्यापनीयता (Verificationality)
2 व्यवस्था (System)
3 सामान्यता (Generality)

चूकि विज्ञान का आधार अवलोकन है, इसलिए अवलोकन की विशिष्ट अध्ययन विधि को 'वैज्ञानिक पद्धति' कहा जाता है। किसी भी विषय के विज्ञान बनने के लिये उसकी विषय वस्तु नहीं, बल्कि वैज्ञानिक पद्धति महत्वपूर्ण होती है।

वैज्ञानिक पद्धति के चरण—समस्त विज्ञानो मे पद्धति की दृष्टि से लगभग समानता पायी जाती है। पद्धति मूलत एक व्यवस्थित व क्रमबद्ध प्रक्रिया है जो निम्नांकित अवस्थाओ, चरणो या स्तरो से होकर निकलती है —

(1) समस्याओं की पहचान व वर्णन—वैज्ञानिक पद्धति का आरम्भ समस्या के चुनाव या पहचान से होता है। जब कोई प्रश्न, वस्तु या क्रिया वैज्ञानिक के मन मे ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न करती है जिसके वशीभूत होकर वह उस विषय में खोज करता

---

18 Karl Pearson 'The Grammer of Science', A & C Black, n 1911, p 1

चाहता है तो वह उसे समझने या पहचानने का प्रयास करता है। धीरे धीरे उसके सामने समस्या का चित्र उभरने लगता है और वह उसके वर्णन व समझने की कोशिश मे जुट जाता है।

(2) तथ्यों का एकत्र करना व क्रम से जोडना—दूसरे चरण मे समस्या से सम्बन्धित तथ्यो को एकत्र करने और यदि सम्भव हो तो उनका मापन करने का कार्य किया जाता है। तथ्यो का एकत्रित करने मे पुस्तको या विषय के विद्वानो के व्यावहारिक ज्ञान या अनुभव स सहायता ली जाती है। तथ्यो को सग्रहीत करने व उनके मापन के बाद उसे क्रमबद्ध किया जाता है।

(3) एकत्रित सामग्री के आधार पर परिकल्पनायें बनाना—उपलब्ध अध्ययन सामग्री आँकडो आदि को शुरू मे एक 'तथ्यमूलक परिकल्पना (Factual Hypothesis) के रूप म प्रयोग किया जाता है, अर्थात अस्थायी तौर पर उन तथ्यो को सामान्य गुणो व घटनाओ से जोडा जाता है। यह स्तर कुछ अवैज्ञानिक सा लगता है क्योकि इसमे अनुमान का सहारा लेना पडता है लेकिन इस स्तर पर ही (Causal Relations) कारणात्मक सम्बन्ध प्रगट होने लगते हैं। यदि परिकल्पना मे खोज की सम्भावना दिखाई देती है तो परिकल्पना 'कार्यकारी परिकल्पना' या सैद्धान्तिक परिकल्पना' बन जाती है और खोज आगे बढाई जाती है, अन्यथा समस्या को इसी स्तर पर छोड दिया जाता है।

(4) परीक्षण व सशोधन—वैज्ञानिक पद्धति का यह सबसे कठिन व महत्त्वपूर्ण चरण होता है। इसमे 'परिकल्पना' की जाँच या परीक्षण होता है। प्रथम तीनो चरणो स प्राप्त जानकारी या तथ्यो के सदर्भ मे 'प्रयोग' या 'परीक्षण' किये जाते हैं। यदि इन प्रयोगो या परीक्षण से तथ्य व निष्कर्ष सबध असगत प्रतीत होते हैं तो उनमे सशोधन किया जाता है।

(5) सामान्यीकरण व निष्कर्ष—अतिम चरण मे वैज्ञानिक अपने प्रयोगो के अतिम परिणामो का सही मूल्याकन करके 'कार्य करण सम्बन्ध' (cause effect relationship) स्थापित करता है। यदि 'कार्य करण सम्बन्ध' स्थापित हो जाता है तो 'परिकल्पना' एक सिद्धात का रूप ले लेती है जिसे सामान्यीकरण भी कहते हैं। इस अवस्था म वैज्ञानिक के पास पूर्वकथन या भविष्यवाणी करने की क्षमता भी आ जाती है। समस्या का समाधान ही वैज्ञानिक पद्धति' का लक्ष्य और निष्कर्ष है।

वैज्ञानिक पद्धति द्वारा केवल भौतिक शास्त्र की समस्यायें ही नही, समाज शास्त्रो की और यहाँ तक कि हमारे निजी जीवन की अनेक समस्यायें भी सुलझाई जा सकती हैं।

काम्टे ने भी वैज्ञानिक पद्धति के पाच चरण बताये हैं, जिन्हें वह क्रमश (1) विषय या समस्या का चयन, (2) अवलोकन द्वारा प्राप्त तथ्यो का सकलन, (3) तथ्यो का वर्गीकरण, (4) तथ्यो की जाँच पडताल और (5) नियमो का प्रतिपादन नाम देता है।

अर्नोल्ड ब्रेख्त (Arnold Brecht) ने उसे ग्यारह चरणों में बाँटा है—यथा, (1) अवलोकन (Observation), (2) वर्णन (Description), (3) मापन (Measurement), (4) स्वीकृति या अस्वीकृति (Acceptance or Non acceptance), (5) आगमनात्मक सामान्यीकरण (Inductive Generalization), (6) व्याख्या (Explanation), (7) तार्किक निगमनात्मक युक्तिकरण (Logical Deductive Reasoning), (8) जाँच (Testing), (9) संशोधन (Correction), (10) पूर्वकथन (Prediction) तथा (11) अस्वीकृति (Non acceptance)। चरणों के विस्तार के अलावा ब्रेख्त की 'वैज्ञानिक पद्धति' में कोई नवीनता नहीं है।

राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रारम्भ माण्टेस्क्यू से माना जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के सभी अनुभववादी राजनीति शास्त्री (Empirical Scientists) स्वयं को वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करने वाले बताते हैं। उनके नाम व कार्य की चर्चा 'अनुभविक दृष्टिकोण' के अन्तर्गत आगे की गयी है।

सीमायें (Limitations)—

राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति को उस तक सीमा लागू नहीं किया जा सकता जिस सीमा तक भौतिक विज्ञानों के अध्ययन में उसका प्रयोग होता है। इसके कई कारण हैं

(1) विषय वस्तु का परिवर्तनशील चरित्र—राजनीति शास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु मानव जीवन का राजनीतिक पक्ष है। चूंकि मानव स्वभाव परिवर्तनशील है, इसलिए राजनीतिक तथ्य भौतिक तथ्यों की तरह स्थिर नहीं रह पाते। वैज्ञानिक पद्धति से ऐसे तथ्यों का अध्ययन करने से कोई लाभ नहीं जो निरंतर बदलते रहते हैं, क्योंकि जो भी निष्कर्ष निकाले जायेंगे वे शाश्वत, स्थायी और अचूक नहीं होंगे।

(2) सजातीयता (Homogenity) का अभाव—सामाजिक जीवन बहुत जटिल है। परिवर्तनशीलता के अतिरिक्त मनुष्य के जीवन पर वातावरण अथवा भौतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी पड़ता है, जो प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन की विषय वस्तु में नहीं पाया जाता। इससे सामाजिक जीवन की जटिलता बढ़ जाती है और अध्ययन की जाने वाली इकाइयों की समानता नष्ट हो जाती है। राजनीति शास्त्र की कोई दो इकाइयाँ, चाहे व्यक्ति हो या संस्थायें अथवा नीतियाँ समान नहीं होतीं। इसलिये राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति लागू करना उपयोगी नहीं होता।

(3) वस्तु निष्ठता का अभाव—वैज्ञानिक पद्धति की सफलता के लिए वस्तु निष्ठता (Objectivity) बहुत जरूरी है। भौतिक विज्ञानों में विषय वस्तु के निर्जीव होने के कारण पक्षपात या पूर्वाग्रह से दूर रहकर विद्यार्थी तटस्थ होकर अनुसंधान कार्य करता है। लेकिन राजनीति शास्त्र में आत्म निष्ठता (Subjectivity) और ... से बचना बहुत मुश्किल है। लोग राजनीतिक समस्याओं को अपने निजी ... से देखते हैं। स्वतन्त्रता, समानता, जनतन्त्र आदि सामान्य धारणाओं के

विषय मे भी भारत, रूस, अमरीका आदि के राजनीति शास्त्र वेत्ताओ मे मतभेद पाया जाता है।

(4) **वर्गीकरण व मापन मुश्किल है**—राजनीति शास्त्र के अध्ययन की अधिकतर सामग्री वणनात्मक या गुणात्मक है न कि सख्यात्मक। इसलिए उसके वर्गीकरण और मापन का काय मुश्किल है। भौतिक विज्ञानो म किसी घटना का प्रथम परिचय गुणात्मक रूप मे होता है और अध्ययन के उपरात वह सख्यात्मक रूप ले लेती है, किन्तु राजनीतिक घटना का परिचय सख्यात्मक रूप से होता है और बाद मे वह गुणात्मक रूप ग्रहण करती जाती है। आप जिस तरह ताप या गैस के दबाव को नाप सकते हैं, उस तरह भीड की उत्तेजना या आवेश को नही।

(5) **निरपेक्ष प्रयोग कठिन**—राजनीति शास्त्र मे उस ढग से प्रयोग (Experiments) नही हो सकते जिस ढग से प्राकृतिक विज्ञानो (भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि) मे होते हैं। राजनीतिक प्रश्नो से सम्बन्धित व्यक्तियो, नेताओ या नीतियो के विषय मे विश्वसनीय जानकारी प्राप्त करना मुश्किल होता है। कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनका रहस्योद्घाटन देश के दीघकालीन लक्ष्यो अथवा शाति व व्यवस्था के लिए घातक हो सकता है इसलिए उन्हें जान बूझकर दबाया जाता है। प्रयोगशाला मे बैठकर मनचाहे ढग से प्रयोग करना राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के लिए सभव नही है। स्टीफेन वेसबी ठीक लिखता है कि **"राजनीतिक वास्तविकता की प्रचुरता प्रयोगशाला की पहुच के बाहर है।"**

(6) **पूर्वानुमान की क्षमता का अभाव**—राजनीति शास्त्र मे निश्चित तौर पर यह नही बताया जा सकता कि अमुक कारण से अमुक घटना होगी। भौतिक विज्ञानो मे काय कारण सम्बन्धो की निश्चितता के कारण पूर्वानुमान लगाना या भविष्यवाणी करना मुश्किल होता है। कई बार देखने मे आया है कि परिस्थितियो का वज्ञानिक अध्ययन करके जो निर्णय लिए जाते हैं वे अपने उद्देश्यो के विपरीत परिणाम देते हैं। विषय वस्तु की परिवतनशीलता, अस्थाई चरित्र और पूर्वाग्रह, राजनीति के क्षेत्र मे पूवकथन या भविष्यवाणी की क्षमता का नाश कर देते हैं जिसके कारण 'वैज्ञानिक पद्धति' राजनीति शास्त्र मे न तो सही रूप से प्रयोग ही की जा सकती है और न उपयोगी ही सिद्ध होगी।

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के विविध दृष्टिकोण या उपागम
(Different Approaches to Study Political Science)

अध्ययन पद्धतियो के अतिरिक्त राजनीति शास्त्र के अध्ययन के कुछ प्रमुख दृष्टिकोण या उपागम (Approaches) भी हैं। साधारणतया 'दृष्टिकोण' या उपागम' को 'पद्धति' का पर्याय समझा जाता है जो गलत है। दृष्टिकोण' पद्धति से उतना ही भिन्न है जितनी 'पद्धति' 'तकनीक' से। 'दृष्टिकोण' या उपागम एक प्रकार का चश्मा (ऐनक) या कसौटी है जो किसी विषय के अध्ययन के लिए सामग्री और समस्याओ का चयन करते समय व्यवहार मे लाई जाती है। एवरी लीसरसन के शब्दो मे "अनुसधान

के लिए आंकड़े, प्रश्न या समस्या के चयन में जिस कसौटी को अपनाया जाता है, वही दृष्टिकोण या उपागम है।" राजनीति शास्त्र का अध्ययन अनेक उपागम या दृष्टिकोण से हो सकता है। कुछ प्रमुख उपागम निम्नांकित हैं —

(1) विधिशास्त्रीय उपागम (Juridical Approach),
(2) आर्थिक उपागम (Economic Approach),
(3) आनुभविक उपागम (Empirical Approach), तथा
(4) व्यवहारवादी उपागम (Behavioural Approach)।

विधिशास्त्रीय उपागम—यह वकीलों व कानूनी विशेषज्ञों का दृष्टिकोण है। इसके अन्तर्गत राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या कानूनी शब्दावली में की जाती है। सम्प्रभुता, अधिकार, समानता, स्वतन्त्रता आदि धारणाओं पर विशुद्ध कानूनी दृष्टि से विचार किया जाता है। कानून या विधि के क्षेत्र से बाहर उपस्थित सामाजिक शक्तियों पर ध्यान नहीं दिया जाता। भारतीय संविधान की धाराओं का शाब्दिक अर्थ लगाकर यदि कोई सिद्ध करे कि भारत का राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है तो ऐसा अध्ययन विधिशास्त्रीय उपागम से किया हुआ कहा जायगा। विधिशास्त्रीय उपागम अपनाने वालों में आस्टिन, हेनरी मेन, क्रेब, डायसी का नाम उल्लेखनीय है। राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए यह दृष्टिकोण सीमित, संकीर्ण और एकपक्षीय है। देखने में आया है कि विधिशास्त्रीय उपागम के साथ साथ अन्य उपागमों या पद्धतियों को साथ लेकर विधिवक्ता राजनीतिक प्रश्नों की व्याख्या करते हैं।

आर्थिक उपागम—आर्थिक उपागम राजनीतिक घटनाओं को आर्थिक शक्तियों द्वारा प्रेरित मानता है। 1656 में, अपनी पुस्तक ओसियाना में हैरिंगटन ने यह विचार व्यक्त किया था कि शक्ति स्वभावतः सम्पत्ति का अनुगमन करती है और राजनीतिक संविधान आर्थिक व्यवस्था की छाया मात्र होता है। उसके बाद, जान एडम्स और जेम्स मेडिसन ने भी, अठारहवीं शताब्दी में इस धारणा का समर्थन किया। एडम्स ने बताया कि "समाज विरोधी वर्गों में बटा हुआ है और आर्थिक लाभों के लिए होने वाली स्पर्धा के कारण समाज में बड़े बड़े राजनीतिक संघर्ष जन्म लेते हैं जो मुख्यतः धनवान और निर्धन व्यक्तियों के बीच होते हैं।[19] कार्ल मार्क्स ने इस दृष्टिकोण को सर्वाधिक वैज्ञानिक बनाया और इसी के माध्यम से विश्व इतिहास की व्याख्या की। उसके अनुसार सभी राजनीतिक परिवर्तन आर्थिक शक्तियों का परिणाम हैं। उत्पादन के साधन या ढंग बदलने पर सारी सामाजिक व्यवस्था बदल जाती है। फलस्वरूप निर्धनता न तो ईश्वर की देन है और न स्थायी। उसका जन्म गलत आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था के कारण हुआ है जिसे सुधार कर गरीबी को मिटाया जा सकता है और शोषणविहीन राजनीतिक समाज की स्थापना की जा सकती है। आधुनिक युग में राजनीतिक प्रश्नों

---

19 Quoted in Charles Beard 'Economic Origins of Jeffer Democracy', 1915, p 16

के विश्लेषण के लिए आर्थिक उपागम एक 'फैशन' बन गया है। विश्व के आधे लोग इसके प्रबल समर्थक हैं तो कुछेक इसे एकांगी और न्यूनताओं का शिकार बताते हैं।

आनुभाविक उपागम—द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीतिशास्त्र में आनुभाविक उपागम से किये गये अध्ययनों की बाढ़ आ गयी है। इस उपागम को अपनाने वाले 'तथ्यों' और 'मूल्यों' में स्पष्ट भेद करते हैं और 'तर्क' की अपेक्षा 'अनुभव' पर भरोसा रखते हैं। उनके विचार से राजनीति को 'मूल्यों' से कुछ लेना-देना नहीं है। राजनीतिक समाज की बुराइयों को अनुभव के आधार पर ही जांच पड़ताल करके दूर किया जा सकता है। इसमें अवलोकन, परिकल्पना, अनुमान, जाँच, सामान्यीकरण आदि के उपकरणों का प्रयोग होता है। 'आनुभविक उपागम' का 'सांख्यिकी पद्धति' से निकट का रिश्ता है, क्योंकि इस उपागम या दृष्टिकोण से जो निष्कर्ष निकलते हैं उनकी सांख्यिकी पद्धति द्वारा जाँच और सीमा निर्धारण आवश्यक है। इसका सबसे बड़ा दोष, वाल्डो के अनुसार, यह है कि जिस मूल्य विहीन राजनीति की यह कल्पना करता है वह एक मृग-तृष्णा है। 'मूल्यों' के बिना राजनीतिक समस्या का अध्ययन खोखला होगा। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य होते हैं जिनकी शुरुआत तभी से हो जाती है जब वह किसी राजनीतिक समस्या का अध्ययन के लिए चयन करता है। मार्गेयो के अनुसार इस उपागम को अपनाने वाला ने जो तथ्य एकत्रित किये हैं, उनसे शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता हो।

व्यवहारवादी उपागम
(The Behavioural Approach)

आनुभविक उपागम की तरह व्यवहारवादी उपागम भी आधुनिक है और द्वितीय महायुद्ध के बाद ही लोकप्रिय हुआ है। इस उपागम को समझने से पहले व्यवहारवाद का अर्थ और उसकी आधारभूत विशेषतायें जान लेना आवश्यक है।

व्यवहारवाद क्या है—व्यवहारवाद एक आन्दोलन, एक विचारस्थिति और एक उपागम तीनों है। आन्दोलन के रूप में व्यवहारवाद उन सभी राजनीति शास्त्र वेत्ताओं को शरण देता दिखाई देता है जो राजनीति शास्त्र के परम्परागत अध्ययन और उसकी उपलब्धियों से असंतुष्ट हैं। यह राजनीति शास्त्र को विज्ञान का स्तर दिलाने का एक प्रयास है। इसकी शुरुआत 1908 में प्रकाशित दो पुस्तकों, ग्राहम वालास की "राजनीति में मानव स्वभाव (Human Nature in Politics)" और आर्थर बेण्टले की "शासन की प्रक्रिया (The Process of Government)" से मानी जाती है, जिनमें उन्होंने राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों पर मात्र संस्थाओं की विवेचना करने तथा मनुष्य के कार्यों के विश्लेषण की उपेक्षा करने का आरोप लगाया था। इसके बाद 1925 से चार्ल्स मेरियम के नेतृत्व में शिकागो विश्वविद्यालय व्यवहारवादी आन्दोलन का केन्द्र बना। द्वितीय महायुद्ध ने इस बात की पुष्टि कर दी कि संस्थाओं और बनावट के अध्ययन मात्र से राजनीतिक जीवन की जटिलताओं को नहीं सकता। अतः युद्ध समाप्त होते ही (राजनीति शास्त्र के परम्परागत अध्ययन

पूण परिणामो ने) समकालीन विद्वानो को विज्ञान मे पायी जाने वाली प्रवृत्ता व स्पष्टता को राजनीतिक मामलो की खोज मे लाने के लिए प्रेरित किया जिसका परिणाम व्यवहारवाद है।

एक विचारस्थिति या बौद्धिक प्रवृत्ति के रूप मे व्यवहारवाद का अर्थ है, व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन। इसके मूल मे यह धारणा काय करती है कि व्यक्ति के व्यवहार का अवलोकन और वैज्ञानिक विवेचन करके उसे सही रूप मे समझा जा सकता है। कालान्तर मे इस प्रवृत्ति के विकास के परिणामस्वरूप व्यवहारवाद मे निम्नांकित आठ विशेषतायें दिखाई देती हैं—

(1) व्यवहारवाद अध्ययन या विश्लेषण के लिए राजनीतिक सस्थाओ (जैसे राज्य, न्यायपालिका आदि) को आधार बनाने के विरुद्ध है। इनके स्थान पर वह मनुष्य के आचरण या व्यवहार को राजनीतिक विश्लेषण की मूलभूत इकाई मानता है।

(2) यह वैज्ञानिक पद्धति अपनाने पर बल देता है और समझता है कि सारे उपागम व पद्धतियाँ उसी मे समाहित हैं।

(3) यह आकडो व सर्वेक्षण की शोध सम्बन्धी प्रविधियो (Survey techniques) के प्रयोग पर जोर देता है। व्यवहारवादी समझते हैं कि सख्यात्मक अध्ययन (Statistical study) राजनीतिक समस्या के रहस्यो का उद्घाटन और उनके सबधो के खोज के कार्य को सरल बनाता है।

(4) एक ओर यह वैज्ञानिक पद्धति और आकडो पर बल देता है तो दूसरी ओर व्यक्ति के दृष्टिकोण व आचरण को प्रेरित करने वाले तत्वो को समझने के मनोविज्ञान का सहारा लेने की आवश्यकता पर जोर देता है।

(5) व्यवहारवाद सभी समाज शास्त्रो को व्यवहारवादी विज्ञान के रूप मे देखता है और राजनीति शास्त्र की अन्य समाज शास्त्रो के साथ एकता स्थापित करने पर बल देता है। दूसरे शब्दो मे वह अन्तर्विषयक शोध (Inter disciplinary research) को प्रोत्साहित करता है।

(6) व्यवहारवाद का उद्देश्य अन्य समाज विज्ञानो की भाति राजनीति शास्त्र के लिए एक ऐसे व्यवस्थित सिद्धान्त का निर्माण करना है जो जीवन की वास्तविकताओ पर आधारित हो तथा जिसका उपयोग आने वाली राजनीतिक समस्याओ के अध्ययन मे किया जा सके।

(7) यह जाँच पडताल या परीक्षण के लिए किसी एकमात्र या सीमित शास्त्र पर पूरी तरह निर्भर रहने के विरुद्ध है।

(8) यह मुख्यत यथार्थवादी और समन्वयवादी मनोवृत्ति या बौद्धिक प्रवृत्ति है।

व्यवहारवादी उपागम के आधार
(Fundamentals of Behavioural Approach)

एक उपागम या दृष्टिकोण के रूप में व्यवहारवाद मूलत पशु मनोविज्ञान (animal psychology) से ली गयी अध्ययन पद्धति है। वैज्ञानिक शुद्धता, अवलोकन, सत्यापन, परीक्षण, परिमाणन आदि इसके मुख्य आधार हैं, जिनकी सहायता से व्यवहारवादी छात्र राजनीति में महत्त्वपूर्ण पहलुओं की व्याख्या करना चाहते हैं ताकि अध्ययन प्रणाली के संबध मे कोई भी आपत्ति न उठायी जा सके। चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित रचना **समकालीन राजनीतिक विश्लेषण** (Contemporary Political Analysis) में डेविड ईस्टन ने अपने एक लेख, **व्यवहारवाद के प्रचलित अर्थ** (The Current Meaning of Behaviouralism) में व्यवहारवादी उपागम की निम्नांकित विशेषताओं व चरणों का उल्लेख किया है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के ये मूल आधार हैं।

(1) **नियमितताएँ** (Regularities) व्यवहारवादी मानते हैं कि कुछ निश्चित प्रकार के कार्यों व परिस्थितियों में मनुष्य कुछ निश्चित ढंग से व्यवहार करता है। खोज के द्वारा राजनीतिक व्यवहार में इन नियमितताओं को ढूँढा जा सकता है और व्याख्या व भविष्यवाणी के लिए सिद्धान्तों के रूप में इन्हें व्यक्त किया जा सकता है। आचरण के सामान्य तत्वों को ढूँढकर और उन्हें बार बार प्रयोग में दुहरा कर ही सामान्यीकरण सम्भव है।

(2) **सत्यापन** (Vrerification) समस्या से सम्बन्धित सामग्री (Data) को पुन जाँचने और उसकी पुष्टि करने की क्रिया को सत्यापन कहते है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण की दूसरी विशेषता एकत्रित तथ्यों व सामग्री का सत्यापन है।

(3) **तकनीक प्रयोग** (Uses of Techniques) विश्वसनीय तथ्य या सामग्री एकत्रित करने के लिए शुद्ध और सक्षम तकनीकों का अपनाना जरूरी है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि शुद्ध तकनीकों का अभी अभाव है। नई नई तकनीकों की परिपक्वता व शुद्धीकरण के प्रयास जारी हैं। व्यवहारवादी दृष्टिकोण अभी प्रश्नावली, पर्यवेक्षण, सहभागी पर्यवेक्षण, विषय विचार, विश्लेषण आदि अध्ययन तकनीकों पर निर्भर है।

(4) **परिमाणन** (Quantification) व्यवहार सम्बन्धी सामान्य नियमों की खोज में पुनरावृत्तियों की गणना का सहारा लिया जाता है और उसका परिणाम ढूँढा जाता है जिसे परिमाणन कहते हैं। व्यवहारवादी दृष्टिकोण में जब लक्ष्यों को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है तब तथ्यों के संग्रह खोज-परिणामों और व्याख्या के लिए मापन व परिमाणन की प्रक्रिया को अपनाना उचित है।

(5) **मूल्य निर्धारण** (Value determination) व्यवहारवादी मूल्यों के प्रति तटस्थ रहने की कोशिश करता है, लेकिन नैतिक मूल्यांकन के लिए कई बार उनका सहारा या प्रयोग आवश्यक हो जाता है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण में अध्येता द्वारा

निजी मूल्यों को अध्ययन से दूर रखने के लिए सजगता व सावधानी बरतने पर आग्रह है।

(6) क्रमबद्धीकरण (Systematization) तथ्यों व सामग्री का सकलन व्यवस्थित ढग से किया जाता है ताकि उनके आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की रचना की जा सके तथा मानव व्यवहार मे कार्य करण सबध स्थापित किये जा सकें। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के मूल मे यह मान्यता कार्य करती है कि सिद्धान्तहीन अनुसधान (research) निरर्थक है और इसी प्रकार तथ्यहीन सिद्धान्त निस्सार होता है।[20]

(7) विशुद्ध विज्ञान (Pure Science) व्यवहारवादी दृष्टिकोण म इस बात पर आग्रह होता है कि मानव व्यवहार को निर्देशित करने वाले सिद्धान्त पूर्णत वैज्ञानिक रहे। फलस्वरूप व्यवहारवादी मानव व्यवहार के यथार्थ का अध्ययन करते हैं। उससे सम्बन्धित समस्याओं के प्रति वे उदासीन रहते हैं। परन्तु ऐसी केवल एक वर्ग की मान्यता है। लासवेल आदि विद्वान प्रायोगिक (Applied) पक्ष पर अधिक बल देते हैं ताकि नीति निर्माण म मदद मिल सके।

(8) समग्रता (Integration) व्यवहारवादी दृष्टिकोण मानव व्यवहार में समग्रता मानता है अर्थात् मानव व्यवहार एक पूर्ण इकाई है और उसका अध्ययन खण्डों में नहीं होना चाहिये। मानव व्यवहार मे एक मौलिक एकता होती है, इसलिए सारे सामाजिक विज्ञान एक दूसरे के निकट और जुडे हुए हैं। राजनीति शास्त्र जीवन की इस मौलिक एकता की अभीष्ट विशेषता की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रारम्भ मे इस व्यवहारवादी उपागम का प्रयोग लघु समुदायों के अध्ययन के लिए होता था और चुनावों मे मतदान का अध्ययन इसका प्रिय विषय था, परन्तु अब अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन व्यवहारवादी दृष्टिकोण (उपागम) से किया जाने लगा है।

व्यवहारवाद की सीमाएँ और दोष पश्चिम मे अत्यन्त लोकप्रिय होते हुए भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण स्वय मे पूर्ण या दोषमुक्त नहीं है। व्यवहारवाद की अनेक मान्यताओं का आज स्वय व्यवहारवादी खण्डन कर रहे हैं और एक नये युग उत्तर व्यवहारवादी के प्रारम्भ की घोषणा कर चुके हैं। हीज यूलॉ ने भी (जो व्यवहारवादी दृष्टिकोण को राजनीतिक जीवन के सभी पक्षों के अध्ययन के लिए योग्यतम मानता है) इस समय, अवसर, पूर्वाग्रह, भय, सकुचित दृष्टि दोषपूर्ण शोधपेक्षा, प्रविधियों की अपूर्णता आदि से पीडित और प्रतिबन्धित माना है। अनेक विद्वान इसे अप्रासगिक,[21]

---

20 Research untutored by theory may prove trivial and theory and unsupported by data futile —David Easton

21 'यह सकुचित केन्द्र (narrow focus), तुच्छ विवरण, अमूर्त, लगभग ... हीन तत्वों का समाज शास्त्र है।"

—Wright Mills The Marxist' Pelican, 1963 p 12

बौद्धिक ओछापन (Learned frivolity),[22] व्यर्थ की मेहनत,[23] पद्धति सम्बन्धी जूड़ी (बुखार),[24] चालू लोगों का दर्शन,[25] मूल्यविहीन[26] अवैज्ञानिक,[27] गैर जनतान्त्रिक,[28] अत्याधिक खर्चीला,[29] और विषयनिष्ठ सीमाओं से युक्त,[30] उपागम बताकर इसकी खिल्ली उड़ाते हैं। व्यवहारवादी अध्ययन में पायी जाने वाली मुख्य सीमाओं और दोषों को निम्नांकित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है—

(1) व्यवहारवाद के अन्तर्गत शोध परिणाम बहुत देर से प्राप्त होते हैं और जब प्राप्त होते हैं तब तक उनका महत्त्व प्रायः समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि एक विद्यार्थी व्यवहारवादी दृष्टिकोण से आगामी भारतीय आम चुनाव का अध्ययन शुरू करता है। इसे पूरा करने में उसे दो वर्ष का समय लगेगा और तब तक देश की राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक संस्कृति में बहुत परिवर्तन आ जायेगा। इसलिए सम्पूर्ण अध्ययन प्रतिक्रियावादी लगेगा। जो परिणाम निकलेंगे वह भी जरूरी नहीं ठीक हो, क्योंकि राजनीतिक प्रश्नों के प्रति मनुष्य का विचार जो आज है

---

22 Randhir Singh, 'Reason, Revolution and Political Theory" Peoples, Delhi 1967, p 257

23 Coy and Playford 'Apolitical politics" Crowell, New york 1967

24 Reinhard Bendix, "Social Science and the Distrust of Reason' California, 1951 p 28

25 Lancaster, "Masters of Political Thought" Vol III, p 267

26 "व्यवहारवादी खोज किसी यथार्थ सीमा तक नैतिक तटस्थता ग्रहण करने में सफल नहीं हुई है।"
—David Easton 'The New Revolution in Pol Sc" American Pol Sc Review Dec 1969 p 1050

27 "मानव व्यवहार के अध्ययन में अपनायी जाने वाली तकनीकें उस रूप में भौतिक विज्ञान में नहीं अपनायी जातीं।"
—Rollo Handy 'Methodalogy of the Behavioural Sciences Spring field 1964 p 121

28 B Crick 'The American Science of Politics, 'Berklev, 1959 D E Butler The Study of Political Behaviour Hutchinson, London, 1959

29 Evron M Kirkpatrick art in Charlesworth s, 'Contemporary Political Analysis' p 25

30 Sami G Hajjar 'Meaning and Scope of Behavioural Rationality in Pol Sc *The Indian Journal of Political Science*' Delhi Vol XXXIII 1, p 9

यह बल बदल सकता है जिससे उसका व्यवहार भी बदल जायेगा।

(2) व्यवहारवादी अध्ययन के लिए बहुत धन और साधनों की आवश्यकता होती है। भारत जैसे गरीब देश मे एक एक राजनीतिक समस्या के अध्ययन के लिए इतना धन जुटा पाना तो दूर महाविद्यालयों के लिए भी सम्भव नहीं है। स्वय अमरीका में जहाँ व्यवहारवाद का ताना बाना बुना गया व्यवहारवादी अध्ययन खर्चीला प्रमाणित हुआ और करोडो डालर के व्यय के उपरान्त भी विश्वस्त, प्रामाणिक और संतोषप्रद अध्ययन परिणाम देने म सफल नहीं हो सका।

(3) व्यवहारवादी स्वय को मूल्य निरपेक्ष मानता है, लेकिन अध्ययन के लिए किसी राजनीतिक समस्या का चयन करते समय वह अपने जीवन के अनुभव व लक्ष्य से प्रभावित हुए बिना नही रह पाता। व्यवहारवादी दृष्टिकोण इसलिए निरपक्ष या वस्तुगत नहीं कहा जा सकता।

(4) मनुष्य भविष्य म किस प्रकार का व्यवहार करेंगे यह भविष्यवाणी समान परिस्थितियाँ और समान व्यवहार की गारटी होने पर ही की जा सकती है। व्यवहार उपागम के प्रयोग व प रीलण में इतनी सीमायें हैं कि ज्ञान की गहराई व उसके निष्कर्ष सामान्य बन सकें इसमें स देह है।

(5) नीति निर्माण के क्षेत्र मे राजनीतिज्ञों के लिए व्यवहारवाद का प्रयोग सीमित है। व्यवहारवादी उपागम स प्राप्त निष्कर्षों क अलावा नीति निर्माण के लिए और भी कई तत्त्व महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

मल्फोड सिब्ली लिखता है कि "व्यवहारवादी अध्ययन शोधकर्ता को समसामयिक राजनीतिक सामग्री स अलग कर देता है। इसका सम्बन्ध यदि जुडता भी है तो प्राय ऐसे साधनो से जिन्हें व्यवहारवादी कहना मुश्किल है।"

(7) व्यवहारवादी भूल जाते हैं कि राजनीतिक शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है प्राकृतिक विज्ञान नहीं। वे उसे प्राकृतिक विज्ञान के समकक्ष बनाने का प्रयास करते हैं जो असम्भव है। एल्फ्रेड काब्डन लिखता है कि "बिना विज्ञान को प्राप्त किये, राजनीति खतरनाक चक्कर से बचने की विश्वविद्यालयों के शिक्षको द्वारा आविष्कृत यह एक युक्ति है।' इसे 'है और 'चाहिये' (ought) दोनो म सम्बन्ध रखना चाहिये साथ ही साथ अन्तग्रत मूल्यात्मक पूर्वाग्रहों का मूल्यांकन भी करना चाहिये।

(8) व्यवहारवादी जानकारी और आकडों क सकलन म इतने उलझे रहते हैं कि यथार्थताओं को नजरबन्द कर देते हैं। तथ्यों से अधिक पद्धतियों पर बल देना उनकी बहुत बड़ी कमजोरी है।

(9) व्यवहारवादी एक साथ विनम्र (modest) और अहकारी (immodest) हैं। एक ओर तो वे अपनी मा यताओं को सापेक्षिक (Relative) बताते हैं और दूसरी ओर वह किसी भी अध्ययन सामग्री के अस्तित्व को तब तक महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं हैं, जब तक कि उसे मापा या तोला न जा सके। यह कट्टर दृष्टि को एक सीमित और अनमनीय उपागम बना देती है।

(10) क्रिश्चियन बे लिखता है कि "उनका राजनीति शास्त्र को विज्ञान बनाने का प्रयास, राजनीति से बचते रहने के रूप मे प्रगट हुआ है।" व्यवहारवाद का सम्बन्ध मिथ्या राजनीति से है। आवश्यकता एक ऐसे उपागम की है जो मिथ्या राजनीति से अलग हो और जनसाधारण की आवश्यकताओ को पूरा करने की सामर्थ्य रखता हो।

(11) राजनीति खोज का उद्देश्य 'क्या है" का पता लगाकर "क्या होना चाहिए" की सिफारिश करना है। इस दृष्टि से व्यवहारवाद विश्लेषण का एक अपूर्ण उपागम है। इसके द्वारा "क्या है" का अध्ययन होता है, 'क्या होना चाहिए" इस विषय पर यह मौन है।

(12) व्यवहारवादी रोग का केवल पता लगाना जानते हैं, उसके निदान के बारे मे कुछ नहीं जानते। वे राजनीतिक प्रक्रिया के दोषो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर सकते हैं, लेकिन उन्हें कैसे दूर किया जाय इसका उपाय नही बता सकते।

(13) व्यवहारवादी उपागम "यथास्थिति" का सरक्षक है। ऐसा लगता है कि उनका ध्येय स्थायित्व प्राप्त करना है, जबकि राजनीतिक जीवन का लक्ष्य "विकास" करना होता है। क्रिश्चियन बे के अनुसार "उनमे उदारवादी जनतत्र के प्रति पूर्वाग्रह है और वे किसी सीमा तक अराजनीतिक, राजनीति विरोधी तथा यथास्थितिवादी हैं।"

(14) लियो स्ट्रास का भी मत है कि "व्यवहारवादियो का दृष्टिकोण उदार जनतत्र के प्रति पक्षपातपूर्ण है।' लिपसेट लिखता है कि व्यवहारवादी मान्यताओ को मान लेने से अच्छे समाज की खोज का प्रश्न जो हम सदियो से उठाते आये हैं, समाप्त हो जाता है, क्योकि व्यवहारवादियों के अनुसार वह हमने प्राप्त कर लिया है और उनके विचार से अमरीकी जनतत्र ही श्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था है।'

किसी विद्वान ने ठीक ही लिखा है कि "व्यवहारवादी ऐसे सन्यासियो की तरह हैं जिनके पास मनोदैहिक बीमारियो का उत्तम इलाज है, जिसके द्वारा वे एक टूटे हुए कूल्हे की हड्डी को डाक्टर की सहायता के बिना ही ठीक करना चाहते हैं।'

व्यवहारवाद का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव—व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र व प्रकृति मे व्यापक परिवर्तन ला दिया है। इसने अध्ययन की नई इकाइयो को खोजने का कार्य किया है। नई अध्ययन पद्धतियो और प्रविधियो का आविष्कार किया है।[31] राजनीतिक व्यक्तियो (personalities) के अध्ययन की परम्परा जो प्लेटो के युग से चली आ रही थी उसे विकसित किया और बढाया है। सस्थागत राजनीतिक अध्ययन की ओर से हटाकर विद्यार्थियो का ध्यान उन अतर वैयक्तिक सम्बन्धों की ओर आकर्षित किया है जिन्हे हम सस्था या समूह कहते हैं। राजनीतिक समस्याओ के विश्लेषण के लिये इकाइयो को निर्धारित करने की समस्या का हमेशा के

---

31 साक्षात्कार, प्रश्नावलियो, विषय वस्त विश्लेषण (content analysis), सांख्यिकी प्रविधि, सर्वेक्षण, अभिवृद्धिमापन, अनुमाप निर्माण मतदान व्यवहार, तकनीक (Sample technique) आदि का विकास किया है।

लिए समाधन किया है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों में दूसरे समाज शास्त्रों के साथ अपने विषय का एकीकरण करने के प्रति तीव्र रुचि उत्पन्न कर दी है। इसमें यह सम्भावना प्रगट होने लगी है कि यदि समाज-विज्ञानों में एकता स्थापित हो गयी तो मनुष्य को समझने के लिए निर्धारित ज्ञान की मात्रा असीम हो जायेगी। यदि कभी 'मनुष्य का विज्ञान' (Science of Man) नामक विषय तयार हुआ तो उसमें व्यवहारवाद की भूमिका उल्लेखनीय होगी। ईस्टन लिखता है कि व्यवहारवाद सभी समाज शास्त्रों में विश्लेषणात्मक व व्याख्यात्मक सिद्धान्त की शुरुआत का सूचक है। यह समाज के विभिन्न परिवर्तनशील अवबोधक उपागमों की लम्बी कतार में एक नये विकास का सूचक है।[1]

उत्तर व्यवहारवाद
(Post Behaviouralism)

व्यवहारवादी दृष्टिकोण जब अपनी सफलता की चरम सीमा पर था तभी युग के बढ़ते हुए राजनीति संकटों ने इसके खोखलेपन को उजागर करना शुरू कर दिया। इस पर सबसे पहली चोट भी संयोग से उन व्यवहारवादियों ने ही की जिन्होंने इसे लोकप्रिय बनाने में योग दिया था। इनमें सर्वप्रमुख डेविड ईस्टन ने, 1969 में, अमरीकी राजनीति शास्त्र सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि व्यवहारवाद का युग बीत चुका है और अब राजनीति विज्ञान उत्तर व्यवहारवादी युग में प्रवेश कर चुका है। उत्तर व्यवहारवाद को उन्होंने अतीतोन्मुख की अपेक्षा भविष्य की ओर देखने वाला बताया जो उनके अनुसार "एक आंदोलन भी है और एक बौद्धिक प्रवृत्ति भी।" इसका नारा है संगत (Relevance) और कार्य (Action)। उत्तर व्यवहारवाद की उनके अनुसार सात विशेषतायें है-—

(1) अध्ययन की विधियों की अपेक्षा उन सारभूत तत्त्वों पर पहले ध्यान देना चाहिये जो विद्यमान सामाजिक समस्याओं की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हों।

(2) अध्ययन से यथास्थिति को संरक्षण नहीं मिलना चाहिये जैसा व्यवहारवाद में है जो केवल अपने को तथ्यों के वर्णन व विश्लेषण तक ही सीमित रखता है।

(3) व्यवहारवाद यथार्थ से अपना नाता तोड़ बैठता है जबकि उत्तर व्यवहारवाद यथार्थ की भाषा अपनाने को उद्यत है।

(4) राजनीतिक अध्ययन पूर्णत मूल्यविहीन नहीं हो सकता। अतः राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों को अपने ज्ञान की सीमाओं से परिचित रहने के लिए मूल्य आमुखों (Value premises) के प्रति सचेत रहना चाहिये।

(5) किसी भी विषय के बुद्धिजीवियों का दायित्व है कि वे सभ्यता के मानवीय मूल्यों की रक्षा करें। यदि उनमें इस दायित्व को निभाने की भावना नहीं है तो वे सिर्फ तकनीशियन (मिस्त्री) हैं, बुद्धिजीवी नहीं।

---

1 Charlesworth 'Contemporary Political Analysis' p 88

(6) जानने का अर्थ है कार्य करने के दायित्व को वहन करना और कार्य करने का अर्थ है समाज पुनर्निर्माण मे लग जाना। बुद्धिजीवी का दायित्व है कि वह ऐसा ज्ञान दे जो कार्य रूप मे परिणत किया जा सके।

(7) यदि ज्ञान के प्रयोग का दायित्व बुद्धिजीवी पर होगा तो बुद्धिजीविया से निर्मित सब—विश्वविद्यालय, व्यावसायिक सघ आदि युगो के सघर्षों से अछूते नहीं रहेंगे। राजनीतिकरण तब अपरिहार्य और वाछनीय होगा।[32]

अगर 1960 के दशक को 'व्यवहारवाद के वचस्व' का युग माना जाता है तो सत्तर के दशक को 'उत्तर व्यवहारवाद का युग' कहा जा सकता है। 1980 के दशक मे वैज्ञानिक पद्धति और मूल्य व्यवस्था (Value System) के बीच नये पुल स्थापित किये जा रहे हैं। इस सदर्भ मे जार्ज ग्राहम और जार्ज केरी द्वारा सम्पादित उत्तर व्यवहारवादी युग राजनीति शास्त्र के परिप्रेक्ष्य (The Post Behavioural Era Perspectives in Political Science) काय व प्लेफोड द्वारा सम्पादित अराजनीतिक राजनीति व्यवहारवाद की समीक्षा (Apolitical Politics A Critique of Behaviouralism) आदि रचनायें पठनीय हैं।

निष्कर्ष

राजनीति शास्त्र की विभिन्न अध्ययन पद्धतियो और उपागमो के विवेचन से जिज्ञासु विद्यार्थी के मस्तिष्क मे दो प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं—प्रथम, राजनीति शास्त्र के अध्ययन के लिए पद्धतियो व दृष्टिकोणों की क्या आवश्यकता है? तथा दूसरा, उनमे से कौन सी अध्ययन पद्धति या दृष्टिकोण सर्वाधिक उपयोगी है?

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है यह बात ध्यान देने योग्य है कि यूनानी काल से लेकर आज तक राजनीति शास्त्र के क्षेत्र, प्रकृति और अध्ययन प्रणाली मे बहुत परिवर्तन हुए हैं। विश्लेषण के सन्दर्भ हर काल मे बदलते रहे हैं। अत एक के बाद दूसरी अध्ययन पद्धति को अपनाया जाता रहा है। अध्ययन पद्धतियो की बाढ मे परिस्थितियो का मुख्य हाथ रहा है, साथ ही विषय को वैज्ञानिक बनाने की लालसा भी राजनीति शास्त्र के विद्वानो को नित नई पद्धति अपनाने या प्रयोग करने की प्रेरणा देती है।

जहा तक श्रेष्ठ या सर्वाधिक उपयोगी अध्ययन पद्धति का सम्बन्ध है, किसी एक पद्धति या उपागम का हर देश, काल या समस्याओ के विवेचन के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। अध्ययन पद्धतिया एक दूसरे से जुडी हुई हैं। वे परस्पर भिन्न नही, एक दूसरे की पूरक हैं। गिलक्राइस्ट की राय अवश्य है कि "सबसे उत्तम पद्धति मे ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विधियों का मिश्रण होना चाहिए।" लेकिन अच्छा होगा यदि निगमनात्मक व आगमनात्मक पद्धतिया के साथ साथ वैज्ञानिक पद्धति को भी वर्तमान राजनीतिक समस्याओ के विवेचन का आधार बनाया जाय।

---

32 David Easton, The Political System, Scientific, Calcutta, 1971 p 325 7

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 वर्तमान काल में राजनीति शास्त्र के अध्ययन हेतु कौन सी अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है ? (राज० 1974)

2 वैज्ञानिक पद्धति से आपका क्या तात्पर्य है ? राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किस प्रकार किया जाता है। (राजस्थान 1975)

3 वैज्ञानिक पद्धति के मुख्य तत्व क्या हैं ? इनको राजनीति शास्त्र पर किस सीमा तक लागू किया जा सकता है। (राज० 1966)

4 व्यवहारवाद के प्रमुख लक्षणों को स्पष्ट करें तथा उसकी सीमाओं पर परीक्षण करें। (राज० 1978)

5 राजनीति विज्ञान की परिभाषा दीजिए और यह बताइये कि वैज्ञानिक पद्धति के मुख्य तत्व आजकल इसके अध्ययन में भी लागू किये जाते हैं। (राज० 1979)

6 राजनीति शास्त्र की विविध अध्ययन पद्धतियों का वर्णन कीजिए। उनका महत्त्व और परिभाषायें समझाइये। (आगरा 1949, 1953, 1955)

— o —

अध्याय ४

राजनीति शास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध

Relation of Political Science to other Social Sciences

"राजनीति शास्त्र के उचित अध्ययन के लिये अन्य विज्ञानों अथवा ज्ञान की अन्य शाखाओं की सहायता आवश्यक है। सर्वप्रथम उसके लिए इतिहास की आवश्यकता है—जिसका सम्बन्ध उससे इतना घनिष्ठ है कि कुछ लेखकों के अनुसार इतिहास केवल उस विषय का अतीत मात्र है जिसका राजनीति शास्त्र वर्तमान है। मानव स्वभाव के विश्लेषण हेतु उसे मनोविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता है। इसी प्रकार नीति शास्त्र तथा धर्म की सहायता भी उसके लिये आवश्यक है क्योंकि उनके मापदण्डों से ही तो समाज के राजनीतिक कार्य जाँचे जाते हैं। अन्त में, आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप तथा सामूहिक समृद्धि की व्यवस्थाओं को समझने के लिए राजनीति शास्त्र को अर्थ शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता है।" —रोमर एवं सोल्टाउ

सिजविक ने लिखा है कि "यदि हमें किसी विषय या विज्ञान का अन्वेषण करना है तो यह अत्यन्त लाभदायक होगा कि हम उस विज्ञान का अन्य विज्ञानों या विषयों से सम्बन्ध मालूम करें, और फिर यह ज्ञात करने का प्रयास करें कि उस विषय या विज्ञान ने अन्य विषयों से क्या लिया है और उसने अन्य विषयों को क्या दिया है।' आधुनिक युग में किसी भी विषय का एकाकी अध्ययन पर्याप्त नहीं है क्योंकि मानव जीवन बहुपक्षीय है और उसके जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किसी एक विषय के अन्तर्गत किया जाना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है। अतः राजनीति शास्त्र के उचित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम अन्य विज्ञानों के साथ राजनीति शास्त्र के सम्बन्धों और प्रभावों की जानकारी प्राप्त करें जिनसे राजनीति शास्त्र प्रभावित और विकसित होता है।[1] "हम अपने सहायक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति शास्त्र का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार गणित के बिना अन्य विज्ञान

1 [illegible] ने लिखा है कि [illegible] करते जाय, [illegible] ही [illegible] अनुभव करता है कि [illegible] [illegible] है [illegible] के लिए [illegible] [illegible] है।'

और रसायन शास्त्र के बिना जीव विज्ञान का उचित ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।"[2] राजनीतिक प्रक्रियाओं की प्रकृति को भलीभांति समझने और राजनीतिक जीवन की मूलभूत समस्याओं के सही आकलन के लिये राजनीति शास्त्र के साथ अर्थ शास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान तथा भूगोल के सम्बन्धों की जानकारी नितान्त आवश्यक है।[3]

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र
(Political Science and Sociology)

समाज शास्त्र अपेक्षाकृत एक नया विषय है। इसे जन्म देने का श्रेय आगस्ट कॉम्टे को है जो इसे एक व्यापक सामाजिक विज्ञान बनाना चाहता था, परन्तु अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल न हो सका। डा. वेणीप्रसाद के अनुसार यह 'सामाजिक विकास और सगठन का अध्ययन करने वाला मौलिक विज्ञान है" जो समाज की उत्पत्ति, विकास, व्यवस्था और कार्यों का अध्ययन करता है। यह समाज की जीवन पद्धति, रीति-रिवाजों, मान्यताओं, संस्कृति व सभ्यता को उनकी देन का अध्ययन करता है। आधुनिक सरकारों के सामने जितनी समस्यायें होती हैं उनमे सामाजिक नियन्त्रण से सम्बन्धित समस्या सबसे कठिन होती है। अत राजनीति शास्त्र का विद्यार्थी समाज की प्रथाओं व संस्थाओं का मूल्यांकन करके भविष्य में सामाजिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिये शासकों को बहुमूल्य सामग्री और मार्ग दर्शन प्रदान कर सकता है।

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र में सम्बन्ध

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों को निम्नांकित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है —

(1) समाज शास्त्र राजनीति शास्त्र का जन्मदाता है—समाज शास्त्र सभी सामाजिक शास्त्रों का जन्मदाता है और राजनीति शास्त्र उनकी सन्तानों में से एक है। जो स्थान मानसिक विज्ञानों में दर्शन शास्त्र का है वही स्थान सामाजिक विज्ञानों में समाज शास्त्र का है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसकी सामाजिकता अनेक रूपों में प्रकट होती है। राजनीति शास्त्र में उसके केवल एक पक्ष—राजनीतिक पहलू—का ही अध्ययन होता है। अत समाज शास्त्र के ज्ञान के बिना राजनीति शास्त्र का अध्ययन

2 गानर, वही, पृ 28 29। इस सम्बन्ध में डा गानर पृ 27 पर पॉल का उद्धरण भी देते हैं कि 'राजनीति शास्त्र का राजनीतिक अर्थ शास्त्र अथवा सम्पत्ति शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। इसका कानून से सम्बन्ध है, चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा मानवीय, क्योंकि वह मुख्यत नागरिकों के आपसी सम्बन्धों को नियमित करता है। यह इतिहास से सम्बन्धित है जो इसे आवश्यकतानुसार तथ्य देता है। इसका दर्शन और विशेषत नैतिकता से सम्बन्ध है जो इसे कुछ सिद्धान्त देते हैं।'

3 " familiarity with Economics History, Psychology and Geography is essential to a proper understanding of the nature of political processes and to a genuine appreciation of the basic probl- of political life —J S Roucek and Others *Introduction to Poli- cience*, p 6

अधूरा है। गिडिंग्स ने लिखा है कि "समाज शास्त्र के मूल सिद्धान्तो से अनभिज्ञ व्यक्ति को राज्य के सिद्धान्तो की शिक्षा देना उसी प्रकार है जिस प्रकार न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त से अपरिचित व्यक्ति को ज्योतिष विद्या अथवा यन्त्रताप शास्त्र (Thermo dynamics) की विद्या पढ़ाना।"[4]

(२) दोनों विषय एक-दूसरे के पूरक हैं—यद्यपि राजनीति शास्त्र समाज शास्त्र की सन्तान है, तथापि वह ऐसी सन्तान है जो जन्म के बाद अपनी माता का पालन करने का काय करती है। समाज शास्त्र राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को राजनीतिक सत्ता की उत्पत्ति और उन कानूनो का बोध कराता है, जिन्होने प्रारम्भिक समाज मे मानव के आचारण को नियन्त्रित करने का काय किया है। बदले मे राजनीति शास्त्र समाज शास्त्र को वग-सघष व सामाजिक सगठन के तत्त्वो को समझने मे सहायता देता है जिनकी उपेक्षा समाज के भविष्य के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। गार्नर ने इस दृष्टि से ठीक ही लिखा है कि "एक राजनीति शास्त्र वेत्ता को समाज शास्त्री होना चाहिये और समाज शास्त्री को राजनीति शास्त्र वेत्ता।" ये दोनो विषय एक-दूसरे के इतने पूरक हैं कि "बहुधा यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कोई विशेष लेखक समाज शास्त्री है या राजनीति शास्त्र वेत्ता अथवा दार्शनिक।"[5] फर्टलिन तो लिखता है कि "राजनीति और समाज शास्त्र अखण्ड हैं और वास्तव में एक ही चित्र के दो पहलू हैं।"

राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र मे अन्तर

यद्यपि राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र के बीच एक निश्चित और स्पष्ट रेखा खींचना मुश्किल है तथापि दोनो विषयो मे कुछ आधारभूत निम्नलिखित भेद हैं —

(१) क्षेत्र की दृष्टि से—समाज शास्त्र का क्षेत्र राजनीति शास्त्र की तुलना मे अधिक व्यापक और विस्तृत है। सलिगमन ने लिखा है कि "उसका कार्यक्षेत्र बहुत विशाल है और इस दृष्टि से यह सभी सामाजिक विज्ञानों में सर्वाधिक महत्वाकांक्षी है।"[6] राजनीति शास्त्र केवल राज्य व सरकार का अध्ययन करता है, जबकि समाज शास्त्र परिवार धम, व्यापार आदि सभी सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है। समाज का आर्थिक, नतिक कानूनी आदि कोई भी पक्ष उसके क्षेत्र के बाहर नहीं है।

दूसरे, समाज शास्त्र मानव जीवन की सभी गतिविधियों को देखता है जबकि राजनीति शास्त्र उसकी केवल राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन करता है।

तीसरे, समाज शास्त्र सभी तरह के संगठित, अर्द्ध-संगठित और [illegible] समुदायो का अध्ययन करता है, जबकि राजनीति शास्त्र केवल उन्हीं मानव समुदायों का अध्ययन करता है जो सगठित हों और [illegible] महत्व है। [illegible] राजनीति शास्त्र वेत्ताओ के लिये बहुत [illegible] है समाज शास्त्र के लिये [illegible] सामाजिक सगठन मात्र है। इसके [illegible]

4 Giddings Principles of [illegible] P. 37
5 F G Wilson The [illegible] of Modern Politics [illegible]
6. R A Saligman, The [illegible] of Social [illegible]

की उत्पत्ति और उनके स्वरूप आ जाते हैं, तथा राज्य इनमें से एक है।[7]

(२) प्रकृति की दृष्टि से—समाज शास्त्र मुख्यत एक वर्णनात्मक शास्त्र (Descriptive Science) है, जबकि राजनीति शास्त्र वर्णनात्मक के साथ-साथ आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) भी है। समाज शास्त्र का सम्बन्ध 'जो बीत चुका है' और 'जो बीत रहा है' उससे है, जबकि राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध 'जो बीतना चाहिये' उससे भी है। यह राज्य के अतीत के अलावा उसके आदर्श, ध्येय और भावी स्वरूप की विवेचना भी करता है।

(३) प्रणाली की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र मनुष्य की केवल चेतन कार्य प्रणाली का अध्ययन करता है, जबकि राजनीति शास्त्र चेतन के साथ-साथ उसकी अचेतन कार्य प्रणाली का अध्ययन करता है। आधुनिक युग में उसकी इसी अचेतन कार्य विधि को प्रभावित करने की सभी राजनीतिक दल व दबाव-समूह चेष्टा करते हैं।

(४) ऐतिहासिक दृष्टि से—समाज शास्त्र राजनीतिक शास्त्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। उसका अध्ययन 'पूर्व राजनीतिक अवस्था' (Pre-political Stage) से प्रारम्भ होता है, जबकि राजनीति शास्त्र अपना अध्ययन उस समय से प्रारम्भ करता है जब मनुष्य ने 'राज्य' नाम का अपना राजनीतिक सगठन भली-भाँति स्थापित कर लिया था।

(५) विधि की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र राज्य द्वारा निर्धारित विधियों और नियमों का तथा उनके परिपेक्ष्य में ही सगठित समाज में रहने वाले मनुष्यों की राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन करता है, जबकि समाज शास्त्र धार्मिक प्रथाओं, सामाजिक आचारों और रीति रिवाजों को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाता है।

समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र में व्याप्त अन्तर को व्यक्त करते हुए बार्कर ने लिखा है कि "राजनीति शास्त्र सिर्फ राजनीतिक समुदायों का अध्ययन करता है जो एक सविधान द्वारा सयुक्त किये गये हैं और एक ही सरकार के अधीन हैं। समाज शास्त्र सभी समुदायों का अध्ययन करता है। राजनीति शास्त्र एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लेता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह समाज शास्त्र की भाँति बताने का प्रयत्न नही करता कि वह राजनीतिक प्राणी कैसे हुआ?"[8]

सक्षेप में, विषय-सामग्री, क्षेत्र और उद्देश्य की दृष्टि से दोनों विषय पृथक-पृथक हैं। गिलक्राइस्ट ने समाज शास्त्र को एक सामान्य और व्यापक विज्ञान तथा राजनीति शास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान माना है।

राजनीति शास्त्र और इतिहास
(Political Science and History)

इतिहास अतीतकालीन घटनाओं व आन्दोलनों, उनके कारणों व पारस्परिक

7 H E. Barnes *Twentieth Century Political Thought* ed., J S Roucek, 8 p 37

8 *Political Thought in England* p 138

चार्ल्स द्वितीय और फ्रांस के लुई चौदहवें के राजतन्त्र यह शिक्षा देते हैं कि निरंकुश राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता।

(४) इतिहास राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी के विचार क्षितिज को व्यापक बनाता है—लिप्सन ने लिखा है, "अपने कालक्रमानुसार अध्ययन से इतिहास राजनीति के विद्यार्थी को एक परिपक्वता व विकास की भावना देता है तथा इस तरह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के लिये अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।"[9] इतिहास भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों के बीच एक सूत्र स्थापित करता है। इतिहास के अध्ययन से व्यक्ति में सामाजिक व्यवस्था को सुधारने और उसे अधिक न्यायपूर्ण बनाने की भावना—जिसे 'ऐतिहासिक चेतना' कहते हैं—पैदा होती है। राजनीति के विद्यार्थी को इसी की जरूरत है।

(५) इतिहास राजनीति शास्त्र के सम्पर्क से अथपूर्ण बनता है—इतिहास और राजनीति शास्त्र के सम्बन्धों का प्रवाह केवल एक ओर ही नहीं है। यदि राजनीति शास्त्र इतिहास का ऋणी है तो इतिहास भी अर्थपूर्ण और गम्भीर बनने के लिए राजनीति शास्त्र पर आश्रित है। राजनीति शास्त्र इतिहास को वह दृष्टिकोण प्रदान करता है जिसके आधार पर घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में देखा जा सकता है। राजनीतिक संस्थाओं व विचारों के अध्ययन के अभाव में किसी युग का इतिहास केवल लड़ाई-झगड़ों की कहानी या शुष्क साहित्य मात्र बनकर रह जायेगा।[10] उदाहरण के लिये, १९वीं शताब्दी के यूरोप का इतिहास उस समय तक अपर्याप्त ही होगा जब तक कि व्यक्तिवाद, साम्राज्यवाद राष्ट्रवाद, समाजवाद आदि के ज्ञान से उसे परिपूर्ण न किया जाय। इसी प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में शासन सुधार सम्बन्धी अधिनियमों, साइमन कमीशन, गोलमेज का फ्रेंसों क्रिप्स प्रस्तावों तथा महात्मा गांधी के विचारों और उनके प्रभाव का उल्लेख आवश्यक है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का इतिहास रूसो और वॉल्टायर तथा रूस की साम्यवादी क्रान्ति का इतिहास मार्क्स और लेनिन की राजनीतिक मान्यताओं के उल्लेख के बिना अधूरा है। "यदि इन दोनों शास्त्रों को एक-दूसरे से अलग कर दिया जाय तो," बर्गेस के शब्दों में, "उनमें से एक मृत नहीं तो अपंग जरूर हो जायेगा और शेष दूसरा भी मृग मरीचिका बन जायेगा।"[11] प्रसिद्ध राजनीति शास्त्र वेत्ता सीले ने ठीक ही लिखा है

> राजनीति शास्त्र के बिना इतिहास का कोई फल नहीं।
> इतिहास के बिना राजनीति शास्त्र की कोई जड़ नहीं।।[12]

---

9 Lipson *The Great Issues of Politics* pp 79 80

10 सीले ने लिखा है कि इतिहास के उदार प्रभाव से वंचित होकर राजनीति उच्छृंखल हो जाती है और राजनीति शास्त्र से अलग होकर इतिहास कोरा साहित्य मात्र बन जाता है।

11 Burgess *Annual Repo t American Historical Association* 1896 p 5

12. "History without Political Science has no fruit
Political Science without History has no root
—Seeley *Introduction to Political Science* p 4

राजनीति शास्त्र और इतिहास मे अन्तर

इतिहास व राजनीति शास्त्र जहाँ एक सीमा तक एक दूसर के पूरक व सहायक हैं वहाँ उनमे पर्याप्त अन्तर भी है। दोनो भिन्न और स्वतन्त्र विषय हैं। दोनो का पथक पृथक् क्षेत्र है। इतिहास केवल अतीत की घटनाओ का विवरण है। हमारे यहाँ 'प्रत्येक वस्तु का सभ्यता से लेकर सिक्कों तक का इतिहास है—गिरजे के सिद्धान्तों, सनिक रणनीतियों, चित्रकला, वेश्यावृत्ति यहाँ तक कि राक्षसों का भी इतिहास है।" इस प्रकार के इतिहास को अतीत की राजनीति कहना मूखता होगी। इतिहास का केवल कुछ अश ही राजनीति के विद्यार्थी के लिये उपयोगी होता है, शेष के साथ राजनीति शास्त्र का कोई रिश्ता नही होता। दोनो शास्त्रो के मध्य अन्तर को निम्नांकित ढग से व्यक्त कर सकते हैं

(१) क्षेत्र की दृष्टि से—इतिहास एक अथाह सागर है। राजनीति शास्त्र की तुलना में इसका क्षेत्र विस्तृत होता है। इतिहास के अन्तगत धम, संस्कृति, सभ्यता, रीति रिवाज, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक सभी प्रकार की दशाओ का अध्ययन आता है किन्तु राजनीति शास्त्र मूल रूप से राज्य व सरकार तथा उनके विकास की सामग्री से सम्बन्धित है।

(२) अध्ययन-पद्धति की दृष्टि से—इतिहास की पद्धति वणनात्मक है जबकि राजनीति शास्त्र की मुख्य रूप से विचारात्मक। इतिहास केवल घटनाओ का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है, जबकि राजनीति शास्त्र घटनाओ के आगे जाकर उनकी व्याख्या करता है। राजनीति शास्त्र मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक है। उसके कुछ नैतिक आदर्श होते हैं जिनके आधार पर विभिन्न राजनीतिक संस्थाओ व घटनाओ का मूल्य निर्धारित होता है। इतिहास किसी आदश को लेकर नहीं चलता।

(३) कार्य की दृष्टि से—घटनाओ के वर्णन के साथ इतिहास का काय समाप्त हो जाता है, वह उनके औचित्य पर विचार नहीं करता। परन्तु राजनीति शास्त्र घटनाओ का वर्गीकरण व विश्लेषण करके उनमें कार्य कारण सम्बन्ध ढूंढने और कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालने का प्रयास करता है।

(४) भावी स्थिति की दृष्टि से—ऐतिहासिक घटनाओं पर किसी न किसी अध्ययन शाखा का आधिपत्य रहता है। उसकी विषय-वस्तु को भविष्य में कोई दूसरा सामाजिक शास्त्र हड़प सकता है, परन्तु राजनीति शास्त्र के लिये ऐसा कोई भय नहीं है। उसका क्षेत्र उत्तरोत्तर विकसित हो रहा है और एक स्वतन्त्र अध्ययन के रूप में दिन प्रतिदिन उसकी ख्याति बढ़ रही है।

(५) उद्देश्य की दृष्टि से—इतिहास का उद्देश्य सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति और विकास का वणन करना है जबकि राजनीति शास्त्र का उद्देश्य इन बातों से है कि वे कैसे लोक कल्याण और सदाचार के विकास का माध्यम बन सकती हैं। इतिहास का उद्देश्य यह बताना है कि भूतकाल में राज्य कैसा रहा है। राजनीति शास्त्र का उद्देश्य यह निर्णय करना है कि राज्य कैसा होना चाहिये।

(६) प्रकृति की दृष्टि से—इतिहास निरपेक्ष प्रकृति का है। वह केवल

का उल्लेख करता है, अपनी ओर से कुछ जोड़ता नहीं। राजनीति शास्त्र इसके विपरीत इतिहास के कुछ स्थान तथ्यों से सम्बन्धित है। वह स्वयंसिद्ध सच्चाई के आधार पर इतिहास की सहायता के बिना मानव प्रकृति के बारे में एक आदर्श का निर्माण कर सकता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का निर्माण इतिहास के बिना कल्पना के आधार पर किया था। बार्कर ने लिखा है कि 'हमें राजनीति के एक बड़े और प्रभावपूर्ण सिद्धांत को स्वीकार करना होगा जिसे इतिहास में कोई निश्चित आधार प्राप्त नहीं है।"

संक्षेप में, विषय वस्तु विस्तार, विवेचन पद्धति व उद्देश्यों की दृष्टि से दोनों शास्त्र भिन्न भिन्न हैं, परन्तु फिर उन दोनों में इतनी घनिष्ठता है कि वे कहीं न कहीं एक दूसरे का अनजाने छू हो लेते हैं।

राजनीति शास्त्र और अर्थ शास्त्र
(Political Science and Economics)

आजकल कोई भी राज्य केवल शान्ति व व्यवस्था की परिस्थितियाँ उत्पन्न करके ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसका उद्देश्य यह होता है कि उसके नागरिकों के जीवन को सभी महत्वपूर्ण आवश्यकतायें पूरी होती रहें। अतः राजनीतिक और आर्थिक दशायें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और वे राजनीति शास्त्र व अर्थ शास्त्र के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों का निर्माण करती है।[13]

अर्थ शास्त्र 'सम्पत्ति का शास्त्र' (Science of Wealth) है। यह मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण की व्यवस्था का अध्ययन किया जाता है। सभी राजनीतिक विचारधारायें किसी न किसी रूप में उपर्युक्त आर्थिक सम्बन्धों के नये ढंग से निर्धारण की चर्चा करती हैं तथा सभी आधुनिक सरकारें मुख्य रूप से जनता की आर्थिक समस्याओं को ही सुलझाने में लगी रहती हैं, अतः स्पष्ट है कि राजनीति शास्त्र और अर्थ शास्त्र में निकट का रिश्ता है। उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निम्नांकित क्रम में व्यक्त किया जा सकता है —

(१) दोनों के अध्ययन की इकाई मनुष्य है—दोनों शास्त्रों के अध्ययन की मूल इकाई मनुष्य है। मार्शल ने अर्थ शास्त्र की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "अर्थ शास्त्र जीवन के साधारण व्यापार में मनुष्य का अध्ययन है।" यदि राजनीति शास्त्र मनुष्य के

13 प्रारम्भिक दिनों में अर्थ शास्त्र को राजनीति-विज्ञान की एक शाखा माना जाता था तथा उसके अध्ययन का विषय राज्य के लिये राजस्व प्राप्त करना था। इसी कारण इसे केवल अर्थ शास्त्र की अपेक्षा राजनीतिक अर्थ शास्त्र (Political Economy) कहा जाता था। राजनीतिक अर्थ शास्त्र शब्द यह प्रकट करता था कि अर्थ शास्त्र राजनीति विज्ञान के अधीन है अतः उसे त्याग दिया गया है। परन्तु अपने नये नाम 'अर्थ शास्त्र' के अन्तर्गत इस विषय ने नया रूप नया स्तर एवं महत्व प्राप्त कर लिया है। एक विज्ञान के रूप में यह मात्र राजनीति विज्ञान से भी विकसित हो गया है।

—गुरमुख निहाल सिंह राजनीति-विज्ञान एवं संगठन के मूल सिद्धान्त, पृ० १९

राजनीतिक सगठन का अध्ययन करता है तो अथ
यदि राजनीति शास्त्र मनुष्य की राजनीतिक त्रि
आर्थिक क्रियाओं से।

(२) दोनों शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं
समाज शास्त्र की जुडवा सतानें हैं। अथ शास्त्र
प्रगति की कसौटी है। दोनों एक दूसरे के पूरक
बिना राजनीति शास्त्र अवास्तविक और आत्म
है। राजनीति को समग्रता तथा पूर्ण ज्ञान के
जब कि अथ विषयक प्रसगों पर गम्भीरता से
स्थितियाँ राज्य के सगठन, विकास तथा क्रिय
प्रत्युत्तर मे राज्य अपने कानूनों द्वारा आर्थिक ि
निश्चित किये गये नियमो के अनुसार ही आर्
कानूनो का उल्लघन करके किसी वस्तु का न त
उपभोग। दूसरी ओर सरकार को अब आर्थि
अनुसार कार्य करना पडता है। राज्य के राजन
सम्बन्धो पर ही सरकार का भविष्य टिका
विलियम एर्सलिगर ने सुझाव दिया था कि पाठ
से अब राजनीति शास्त्र व अर्थ शास्त्र का एकी
चाहिये। डा बेणीप्रसाद इनमें इतनी घनिष्ठता
से अलग करने पर राजनीति शास्त्र टुकडे टुकडे

(३) दोनों का उद्देश्य मानव कल्याण
ध्येय— मानव कल्याण—की दिशा मे है। यदि
कल्याण से सम्बद्ध है तो अथ शास्त्र आर्थिक कर
अराजक और अशान्त समाज मे सम्पन्न न
समाज मे सुव्यवस्था बनाये रखना आवश्यक हो
के पारस्परिक सहयोग और विकास से ही मानव
युग मे योजनाबद्ध विकास और लोक कल्याणक
हुई हैं वे इन दोनो शास्त्रों के समान ध्येय और

(४) राजनीतिक परिवर्तनों का आधा
राजनीति शास्त्र के मध्य घनिष्ठता का प्रमाण
राजनीतिक परिवर्तनो का मुख्य आधार आ
मूल कारण आर्थिक था। दोनों महायुद्ध आर्थिक
का आधार आर्थिक है, साम्राज्यवाद के वि
नाजीवाद का उदय भी आर्थिक कारणों (प्रथ

14 Gettell *op cit* p 12
15 *Politics and the Social Sciences*

शास्त्र उसकी आर्थिक समस्याओ का।
याओ से सम्बन्धित है तो अथ शास्त्र

—अथ शास्त्र व राजनीति शास्त्र दोनो
राजनीति शास्त्र का दर्पण है, उसकी
। बियड ने लिखा है, 'अथ शास्त्र के
परक नियम निष्ठा बनकर रह जाता
साथ निर्णय करना केवल तभी सम्भव है
विचार किया जाय।" "आर्थिक परि-
क्लापो पर प्रभाव डालती हैं, और
थितियों को बदलता है।"[14] राज्य द्वारा
क गतिविधियाँ चलती हैं। राज्य के
उत्पादन करना सम्भव है और न
आवश्यकताओ व परिस्थितियो के
तिक व आर्थिक अगो के मध्य उचित
होता है। इन परिस्थितियों को देखते हुए
क्रमों और विचार गोष्ठियो के माध्यम
रण (integration) कर दिया जाना
देखते हैं कि उनके विचार से अथ शास्त्र
हो जायेगा।[15]

है—दोनो ही शास्त्रो का अध्ययन समान
, राजनीति शास्त्र मनुष्य के राजनीतिक
याण से। मनुष्य के आर्थिक विकास को
ही किया जा सकता, अत राज्य के लिये
जाता है। इस प्रकार दोनों ही शास्त्रो
की बहुमुखी उन्नति सम्भव है। आधुनिक
री राज्य की जो अवधारणायें विकसित
घनिष्ठ सम्बन्धो की परिचायक हैं।

र आर्थिक होता है—अथ शास्त्र और
हमे इतिहास मे भी मिलता है। सभी
थिक रहा है। फ्रास की राज्यक्रान्ति का
कारणों से हुए। साम्यवाद की उत्पत्ति
कास का उद्देश्य आर्थिक है, यहाँ तक कि
महायुद्ध में विजयी राष्ट्रो द्वारा जमनी

d S M Lipset p 3

का शोषण) से ही हुआ था। इगलण्ड आर्थिक कारणों से ही भारत को स्वतन्त्र नहीं करना चाहता था। कार्ल मार्क्स ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि "किसी युग में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्धारण आर्थिक परिस्थितियाँ ही करती हैं।"

राजनीति शास्त्र व अर्थ शास्त्र में अन्तर

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी राजनीति शास्त्र व अर्थ शास्त्र में कुछ मूलभूत भिन्नतायें हैं जिनका दिग्दर्शन निम्नांकित ढग से किया जा सकता है —

(१) क्षेत्र की दृष्टि से—दोनों शास्त्रों के अध्ययन का क्षेत्र भिन्न है। राजनीति शास्त्र क्षेत्र की दृष्टि से अर्थ शास्त्र की तुलना में अधिक विस्तृत और व्यापक है। समाज के आर्थिक जीवन का विवेचन और उसका पुनर्निर्माण राज्य का उत्तरदायित्व है। आर्थिक सिद्धान्तों का पालन और उनकी मीमांसा हम राज्य की परिधि में ही करते हैं।

(२) विषय वस्तु की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र मुख्य रूप से व्यक्ति का अध्ययन करता है, जबकि अर्थ शास्त्र वस्तुओं का। किसी विनोदप्रिय व्यक्ति ने ठीक ही लिखा है कि "एक अर्थशास्त्री वह व्यक्ति होता है जो दाम (Price) तो सभी चीजों के जानता है लेकिन मूल्य या महत्त्व (Value) एक का भी नहीं।" दूसरे शब्दों में, राजनीति शास्त्र के अध्ययन की विषय-वस्तु सजीव है जबकि अर्थ शास्त्र की निर्जीव। इस सम्बन्ध मे आइवर ब्राउन की मान्यता है कि अर्थ शास्त्र अब धीरे धीरे व्यक्ति के अध्ययन की ओर बढ़ रहा है, क्योंकि समस्त प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं का केन्द्र वही है।

(३) प्रकृति की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र आदर्शात्मक (Normative) विज्ञान है जब कि अर्थ शास्त्र वर्णनात्मक (Descriptive)। राजनीति शास्त्र किसी समस्या पर सामाजिक व नैतिक मूल्यों की दृष्टि से विचार करता है जबकि अर्थ शास्त्र केवल भौतिक दृष्टिकोण से। लेकिन "इस युग का यह एक शुभ लक्षण है कि अर्थ शास्त्र उत्तरोत्तर रूप मे एक आदर्शपरक सैद्धान्तिक विज्ञान (Normative Science) बनता जा रहा है और सम्पत्ति के उत्पादन का ही विवेचन न करके उसके उचित वितरण का भी विवेचन करने लगा है।'[16]

(४) साध्य की दृष्टि से—अर्थ शास्त्र में साध्य व्यक्ति की आर्थिक गतिविधियाँ होती हैं जबकि राजनीति शास्त्र मे राजनीतिक गतिविधियाँ। इस दृष्टि से राजनीति शास्त्र साध्य है और अर्थ शास्त्र साधन। स्वस्थ एव व्यवस्थित अर्थ-व्यवस्था द्वारा ही राजनीतिक स्वतन्त्रता का साध्य प्राप्त हो सकता है। आर्थिक स्थिति को सुधार करके नागरिकों में नैतिक मूल्यों के मूल्यांकन की क्षमता व विवेक को उत्पन्न किया जा सकता है।

राजनीति शास्त्र व नीति शास्त्र
(Political Science and Ethics)

नीति शास्त्र, गिलक्राइस्ट के शब्दों में, मनुष्य के नैतिक आदर्शों का विवेचन

16. राजनीति शास्त्र, प्रथम भाग, पृ ६

रने वाला विज्ञान है। यह नैतिक आचरण के नियम निर्धारित करता है । यह हमे ताता है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिये तथा वे आदर्श कौन से हैं जो किसी म की अच्छाई या बुराई बताने मे निर्णायक होते हैं।

राज्य का नैतिक पहलू राजनीति शास्त्र को नीति शास्त्र के निकट ले आता । आधुनिक युग के कुछ वर्षों को छोडकर राजनीति शास्त्र और नीति शास्त्र मे गहरा म्बन्ध माना जाता रहा है। यूनानी लोग तो राजनीति को नीति शास्त्र की ही एक ाखा मानते थे। प्लेटो ने नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र में कोई अन्तर नही देखा ा। उसने "राज्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य नागरिक जीवन को सदाचारी व सच्चरित्र नाना" बताया था। अरस्तू ने यद्यपि दोनो विद्याओ मे भेद किया, तथापि उसने भी ीकार किया कि "राज्य का मुख्य उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर व शुभ बनाना" । अरस्तू के बाद रूसो, हीगल, काण्ट, ग्रीन, बोसांके आदि विद्वानो ने राजनीति ास्त्र को नीति शास्त्र क इतना निकट लाकर खडा कर दिया कि वे दोनो एक ही ाषय के दो रूप लगने लगे। बोसांके ने तो यहाँ तक लिख डाला कि "राज्य विश्वव्यापी गठन का एक अग न होकर समस्त नैतिक ससार का अभिभावक है।"

मैकियावेली पहला यूरोपीय राजनीतिक विचारक था जिसने राजनीति को ीति शास्त्र से पृथक किया और धर्म तथा नैतिक मूल्यों को राज्य-सत्ता के अधीन ाया। उसने बताया कि राजा को पूर्ण रूप से अवसरवादी होना चाहिये तथा साध्य ी प्राप्ति के लिये न्याय, अन्याय, उचित अथवा अनुचित की चिन्ता नहीं करनी ाहिये। संक्षेप में, उसके विचारों ने पश्चिम में 'एक नीति निरपेक्ष राजनीति' (a moral politics) को जन्म दिया। उसके उपरान्त बोदां, ग्रोशियस, हाब्स, प्विनोज़ा आदि विचारकों ने भी राज्य को नैतिकता अर्थात् सार्वजनिक नैतिकता और ्यक्तिगत नैतिकता के मध्य मैकियावेली की तरह ही अन्तर किया है । कुछ वर्तमान खक, जिनमें लासवेल, मैक्स वेबर तथा जुविनेल का नाम प्रमुख है, इसी विचारधारा प्रभावित होकर राजनीति को एक 'मूल्यों से स्वतन्त्र विज्ञान' (Value-free ience) बनाना चाहते हैं। उनका तर्क है कि राजनीति शास्त्र में मूल्य और नैतिकता ा प्रवेश इसकी वस्तुपरकता (objectivity) को बाधा पहुँचाता है। अत राजनीति ास्त्र को नीति शास्त्र से नाता तोड़ लेना चाहिये।

दूसरी ओर ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं है जो इसे आदर्शवादी विज्ञान नाये रखने के लिये नैतिकता और मूल्यों के साथ इसका सम्बन्ध आवश्यक मानते हैं। क विद्वान् ने लिखा है कि "नीति शास्त्र से पृथक् होकर राजनीति शास्त्र ऐसी नींव पर डा हो जाता है जो उड़ने वाली रेत पर डाली गयी है, एवम् नीति शास्त्र राजनीति-ज्ञान से पृथक होकर संकीर्ण व कल्पनावादी बन जाता है।" इस वर्ग में आने वाले द्वानों में महात्मा गांधी, जेक्वास मरीटेन मोर्गेन्थाउ, एल्फ्रेड वेबर, लॅस्की लिप्मन आदि ाते हैं। गांधी की मान्यता है कि "धर्मविहीन कोई राजनीति नहीं है। धर्म से पृथक् ाजनीति मौत का फन्दा है जो आत्मा की हत्या कर डालता है।" कौम ने तो यहाँ तक

कहा है कि "जो बात नतिक दृष्टि से गलत हो वह राजनीति की दृष्टि से कभी सही हो ही नहीं सकती।"

फॉय का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है, लेकिन यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि राजनीति शास्त्र का नीति शास्त्र से कुछ सम्बन्ध है और उसका हम निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं —

(१) नीति शास्त्र अपने विस्तृत रूप मे राजनीति शास्त्र है—आइवर ब्राउन ने लिखा है कि "नीति शास्त्र अपने विस्तृत रूप में राजनीति शास्त्र बन जाता है, क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह एकदम एकान्त मे नहीं रह सकता। नीति शास्त्र के बिना राजनीति शास्त्र बेकार है, क्योकि उसका अध्ययन और उसके परिणाम मूलत हमारी नतिक मूल्यों की उचित एव अनुचित मान्यता पर निर्भर हैं।" नतिक मूल्य यथार्थ में राजनीति शास्त्र के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वह मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। वह केवल वास्तविक तथ्यों का अध्ययन ही नही करता, अपितु उनके आदर्शों का अध्ययन भी करता है क्योंकि राज्य का अन्तिम उद्देश्य मनुष्य का कल्याण करना है। अन्तत समाज के राजनीतिक आदर्श उसके नैतिक आदर्शों से भिन्न नही हो सकते। क्रोसे का मत है कि "नतिकता अपनी पूर्णता और उच्चतम स्पष्टता राजनीति में ही पाती है।"

(२) नीति शास्त्र राजनीति शास्त्र का शिक्षक है—नीति शास्त्र राजनीतिक आचरण की अच्छाई और बुराई निर्धारित करने का कार्य करता है। अत वह राजनीति शास्त्र का शिक्षक है। केटलिन ने लिखा है कि "नीति शास्त्र से एक राजनीति शास्त्री यह शिक्षा ले सकता है कि कौन सा कार्य करना उचित होगा। इसी तरह राजनीति शास्त्र से नीति शास्त्र यह सीख सकता है कि कौन सा कार्य सम्भव होगा।" संक्षेप में, दोनों का ज्ञान एक-दूसरे के लिये उपयोगी है।

(३) नीति शास्त्र की नींव पर ही राजनीति शास्त्र टिका हुआ है—राजनीति शास्त्र की अनेक मान्यतायें व शाखायें नीति शास्त्र की नींव पर ही खडी हैं। आदर्श राज्य की कल्पना नैतिक मान्यताओं के आधार पर ही की जा सकती है। नागरिकों को उनके अधिकार व कर्त्तव्यों का बोध कराने के लिये हमें नीति शास्त्र का ही सहारा लेना पडता है। समस्त शासकीय नियमों, सांविधानिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आधार नैतिक ही होता है। लार्ड एक्टन की युक्ति ठीक जँचती है कि "नीतिशास्त्र के अध्ययन के बिना राजनीति शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ है।

राजनीति शास्त्र और नीति शास्त्र मे अन्तर

दोनों विषयों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में निम्नांकित मौलिक अन्तर विद्यमान हैं —

(१) क्षेत्र की दृष्टि से—नीति शास्त्र का क्षेत्र विशाल और व्यापक है, जबकि राजनीति शास्त्र मनुष्य के केवल राजनीतिक आचरण है, जबकि नीति शास्त्र उसके सम्पूर्ण आचरण का—चाहे वह

आचरण राजनीतिक हो अथवा सामाजिक या धार्मिक।

(२) प्रकृति की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र एक व्यावहारिक और वर्णनात्मक (Practical and Descriptive) शास्त्र है, जबकि नीति शास्त्र एक सैद्धान्तिक और आदर्शपरक (Theoretical and Normative) विज्ञान।

(३) विषय-वस्तु की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध वास्तविक बातों से होता है जबकि नीति शास्त्र का काल्पनिक बातों से। राजनीति शास्त्र साकार, मूर्त्त और प्रत्यक्ष वस्तुओं का अध्ययन करता है, जबकि नीति शास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु निराकार, अमूर्त्त और अप्रत्यक्ष है।

(४) मूल्यों की दृष्टि से—नीति शास्त्र मूल्यों से सम्बन्धित है। यह इस बात का अध्ययन करता है कि 'क्या होना चाहिये'। राजनीति शास्त्र का अधिक सम्बन्ध तथ्यों से है। यह 'क्या है' और 'कैसा है' इस बात का तुलनात्मक अध्ययन करता है।

(५) मापदण्ड की दृष्टि से—नीति शास्त्र शाश्वत सत्य (Absolute Truth) मे विश्वास करता है। उसके मापदण्ड निश्चित होते हैं। राजनीति शास्त्र उपयोगिता (Expediency) मे विश्वास करता है, उसके मापदण्ड निरन्तर बदलते रहते हैं।

(६) अध्ययन की दृष्टि से—नीति शास्त्र मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन करता है, जबकि राजनीति शास्त्र मनुष्य के केवल बाहरी क्रियाकलापों से ही सम्बन्धित होता है। उदाहरण के लिये, राज्य के कानून हमारे बाहरी जीवन को नियमित करते हैं, लेकिन नीति शास्त्र के सिद्धान्त हमारी आत्मा पर प्रभाव डालते हैं।

राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान
(Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान मन की चेतन व अचेतन क्रियाओं और प्रक्रियाओं का अध्ययन है।[17] यह जीव विज्ञान और समाज विज्ञान दोनों है। इसके अध्ययन का विषय मन है और यह मानवीय क्रियाओं के मूल स्रोतों की व्याख्या करता है। अतः मनोविज्ञान का अध्ययन राजनीति शास्त्र के लिये बहुत उपयोगी है, क्योंकि राजनीति शास्त्र मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन ही तो है।

---

17 मनोविज्ञान पर दी गयी कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नांकित हैं —

'मनोविज्ञान व्यक्ति के अनुभव का विज्ञान है।" —वार्ड

मनोविज्ञान चेतना का विज्ञान है।' —एंजिल

"मनोविज्ञान व्यक्ति की परिस्थितियों से सम्बन्धित क्रियाओं का विज्ञान है। —वुडवर्थ

'मनोविज्ञान मनुष्य की उन आन्तरिक शक्तियों का अध्ययन करता है जो मनुष्य को अपने जीवन में अनुभव करने, विचार करने तथा इच्छा करने की सामर्थ्य प्रदान करती हैं।'

राजनीति मनोविज्ञान पर निर्भर है—ब्राइस ने लिखा है कि "राजनीति की जड़ें मनोविज्ञान में हैं जो कि मानव-जाति के मानसिक स्वभावों तथा सोद्देश्य प्रवृत्तियों का अध्ययन है।"[18] राजनीतिक तथ्यों को समझने के लिये मनुष्य के आचरण के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन बहुत जरूरी है। गटेल का विचार है कि "सरकार और कानूनों की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वे शासितों के मानसिक विचार और प्रवृत्तियों के अनुरूप हों।" राज्य तभी लोकप्रिय और स्थायी हो सकता है जब कि वह जनता की मनोवृत्तियों और इच्छाओं के अनुकूल हो। कानूनों का स्वेच्छा से पालन कराने के लिये मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। बेजहाट ने अपनी पुस्तक फिजिक्स एण्ड पॉलिटिक्स में ब्रिटेन की सांविधानिक व्यवस्था की सफलता को बहुत सीमा तक मनोवैज्ञानिक आधारों और नागरिकों की प्राकृतिक बुद्धि पर निर्भर बताया है। भारतीय जनता की त्याग और स्वयं दुःख झेलने की मनोवृत्तियों को पहचानकर ही महात्मा गांधी ने सत्याग्रह और अहिंसा का मार्ग पकड़ा था और वे अपने उद्देश्य में सफल हुए थे।

मनोविज्ञान ने राजनीति को महत्त्वपूर्ण तथ्य दिये हैं—मनोविज्ञान ने राजनीति शास्त्र को अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रदान किये हैं। उसने राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को समाज की राजनीतिक क्रियाओं का अनुभववादी अध्ययन (Empirical Study) करने के लिए प्रेरित किया है। आधुनिक काल में मनोविज्ञान को उस त्रिभुज का आधार माना जाता है जिसकी दो भुजायें इतिहास व अर्थशास्त्र हैं और त्रिभुज पर राजनीति शास्त्र टिका है। आज का प्रत्येक राजनीति विचारक मानव प्रकृति का किसी धारणा को लेकर चलता है और यदि यह धारणा सही नहीं होती तो उसके विचार राजनीतिक समुदाय पर भली प्रकार लागू नहीं हो सकते। मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि कोई विशेष संस्था किसी विशेष देश में ही क्यों सफल हुई, दूसरे देश में वह क्यों इतनी सफल नहीं हो सकती तथा विभिन्न देशों में क्यों उसका स्वरूप बदल जाता है।

मनोविज्ञान भी राजनीति से प्रभावित है—यदि मनोविज्ञान ने राजनीति शास्त्र को मानव क्रियाओं को समझने की सामग्री दी है तो राजनीति शास्त्र ने भी मनोविज्ञान को कुछ दिया है। आज का मनोवैज्ञानिक राजनीतिक तथ्यों के प्रसंग में ही किसी समस्या का विश्लेषण करता है। एक देश में जो शासन व्यवस्था व विचारधारा विद्यमान होती है उसका प्रभाव वहाँ के निवासियों के आचरण व सोचने विचारने के ढंग पर पड़ता है। यही कारण है कि साम्यवादी और जनतन्त्रवादी देशों के निवासियों और विचारकों की सोचने की शैली व ढंग में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है।

संक्षेप में, राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वालर ने इस विषय में लिखा है कि "यदि हमारे पूर्वज वीर-वैज्ञानिक ढंग से सोचते थे तो हम ढंग से सोचते हैं।" आधुनिक सरकारें अनेक कामों के लिये—

[18] James Bryce, Modern Democracies Vol. I, p 17

विशेषत सेना, लोक सेवा, न्यायालय आदि मे—मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करती हैं। कास्टे, हार्जेनडाफ, टाड, लिर्बा, मकडूगल, ग्राहम वालास, बेन्टहाट, बाल्डविन, फौसेट आदि विचारको ने राजनीति मे मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाने पर विशेष बल दिया है। उन्होंने स्वय अनेक राजनीतिक समस्याओ के मनोवैज्ञानिक हल प्रस्तुत किये हैं। लेकिन इस अध्ययन का एक बुरा पक्ष यह भी है कि मनुष्य के पूर्वाग्रहो और अज्ञान का लाभ उठाने के लिये, मनोविज्ञान की सहायता से, राजनीतिक नेताओ और स्वार्थी शासको न प्रचार की कला का भरपूर प्रयोग करके जनता की भावनाओं को भडकाकर उसका शोषण किया है।

राजनीति शास्त्र और मनोविज्ञान मे अन्तर

राजनीति शास्त्र व मनोविज्ञान के मध्य पाये जाने वाले अन्तर को निम्नांकित ढग से स्पष्ट किया जा सकता है —

(१) **विषय-वस्तु की दृष्टि से**—कैटलिन के अनुसार "मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है, जबकि राजनीति शास्त्र सकल्प किये गये कार्यों का अध्ययन है।" मनोविज्ञान का सम्बन्ध विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मनुष्य के व्यवहार से है, जबकि राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के राजनीतिक कार्यों व सस्थाओं से होता है।

(२) **अध्ययन की दृष्टि से**—मनोविज्ञान मनुष्य की आन्तरिक भावनाओ का अध्ययन करता है, जबकि राजनीति शास्त्र मनुष्य के बाहरी कार्यों का अध्ययन है। मनोविज्ञान मे हम मनुष्य की चेतन, अचेतन तथा अर्द्धचेतन सभी मानवीय अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं, लेकिन राजनीति शास्त्र केवल सचेतन व्यक्ति का ही मूल रूप से अध्ययन करता है।

(३) **निश्चितता की दृष्टि से**—निश्चितता की दृष्टि से भी दोनो विद्याओं में अन्तर है। राजनीति शास्त्र म मनोविज्ञान की अपेक्षा निश्चितता की मात्रा कम पायी जाती है। मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष राजनीतिक निष्कर्षों की तुलना में अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित होते हैं। मनोविज्ञान यह बता सकता है कि अमुक क्रिया का प्रभाव 'अमुक' होगा, लेकिन राजनीति शास्त्र केवल यह बतायेगा कि अमुक राजनीतिक आचरण का परिणाम 'अमुक हो सकता है।'

(४) **प्रकृति की दृष्टि से**—राजनीति शास्त्र एक आदर्शमूलक विज्ञान है, लेकिन मनोविज्ञान इसकी तुलना मे व्यवहारमूलक। मनोविज्ञान की नैतिक मूल्यों और आदर्शों मे कोई रुचि नही होती, इसलिये मनोविज्ञान के पास इस समस्या का कोई समाधान नही है कि राज्य आदि सस्थाओ का स्वरूप कसा होना चाहिये ? लेकिन राजनीति शास्त्र यह बताता है कि 'राज्य कसा है और उस 'कसा होना चाहिये'।

राजनीति शास्त्र और भूगोल
(Political Science and Geography)

भूगोल मनुष्य के भौतिक वातावरण (भूमि नदिया, पहाड आदि)

हो जाता है।" सोल्टाउ लिखता है कि "ग्रेट ब्रिटेन पर्याप्त स्वतन्त्रता के आश्वासन के साथ प्रतिनिधिमूलक सस्थाओं की दिशा में विश्व का जो भाग दर्शन कर सका है तथा सयुक्त राज्य अमरीका व्यापक रूप से बिखरी हुई सत्ता वाले लोकतन्त्रीय शासन को बना सका है उसके लिये ब्रिटेन को इगलिश चनल तथा अमरीका को एटलान्टिक महासागर को धन्यवाद देना चाहिये।"[22]

भूगोल राष्ट्रीय विकास का कारक है—भूगोल किसी भी राष्ट्र के विकास की गति और स्वरूप का निर्धारण करता है। उन देशो का आर्थिक विकास शीघ्रता स हो जाता है जो क्षेत्रफल की दृष्टि से बडे होते है क्योकि वहाँ कच्चा माल अधिक मात्रा मे पाये जाने की सम्भावना होती है। कम क्षेत्रफल और अधिक आबादी वाले देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली नही बन सकते। सभी राजनेता अपने देश के कल्याण के लिये भौगोलिक साधनो का अधिकाधिक उपयोग उठाने की नीति अपनाते हैं।

भूगोल राज्य की नीतियाँ निर्धारित करता है—किसी देश के इतिहास और उसकी आन्तरिक व बाह्य नीतियो पर भूगोल का कितना प्रभाव पडता है, इसके लिये हमे स्विटज़रलण्ड को देखना चाहिये। पवतो और चारो ओर से घिरे होन के कारण ही स्विटज़रलैंण्ड तटस्थता की नीति पर चलने क लिये विवश है। जमनी की स्थिति उस महान् सैनिक शक्ति बनने क लिय विवश कर दता है। बर्लिन के प्रो हिंज (Hintze) ने लिखा है कि "हमारा परम्परागत राजनीतिक भाग्य हमारी भौगोलिक स्थिति पर निभर है।" डा गानर भी मानते हैं कि भौगोलिक परिस्थितिया ने राष्ट्रीय नीतियो के निर्धारण को प्रभावित किया है।[23] जनसख्या को रोकथाम या जीवन स्तर को ऊचा उठान के लिय बनायी गयी शासकीय नीतियाँ भौगोलिक परिस्थितियो पर ही निभर होती हैं।

साराश यह कि भूगोल और राजनीति शास्त्र का अटूट सम्बन्ध है। प्रथम महायुद्ध के बाद जमनी मे तो इनम इतनी घनिष्ठता मानी गयी थी कि वहाँ एक नय शास्त्र 'भू राजनीति' (Geo-Politics) का श्रीगणेश हो गया। काल हासोफर, मकाइण्डर निकोलस स्पाइकमन आदि इसक प्रणता है।

रासायनिक और ताप नाभकीय युग मे प्रक्षेपणास्त्रो, कृत्रिम उपग्रह आदि का निर्माण हो जाने से यद्यपि राजनीति न भूगोल पर कुछ सीमा तक अधिकार प्राप्त कर लिया है, लकिन जब तक मनुष्य पेट भरने के लिये पृथ्वी द्वारा उत्पादित सामग्री पर निभर रहेगा राजनीति का भूगोल से सम्बन्ध बना ही रहेगा।

राजनीति शास्त्र और भूगोल मे अन्तर

राजनीति शास्त्र और भूगोल मे निम्नाकित भिन्नतायें हैं —

(१) प्रकृति की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र एक मानवीय विद्या है जबकि भूगोल एक भौतिकी अध्ययन। उसे यथार्थवादी विज्ञान भी कहा जा सकता है। दूसर,

---

22. Soltau *An Introduction to Politics* p 22.
23 *Political Scienc and Government* pp 42-43

राजनीति शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है इसलिये भूगोल की तुलना में ट अनिश्चितता पायी जाती है।

(२) विषय वस्तु की दृष्टि से—भूगोल जड पदार्थों का अध्ययन करता है जैसे भूमि, वर्षा, जलवायु, खनिज आदि। इसकी विषय-वस्तु भौतिक है। राजनीति शा इसके विपरीत मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओ से सम्बद्ध है। वह उसकी राजनीति संस्थाओ का अध्ययन करता है। उसकी अध्ययन सामग्री चेतनायुक्त मानव है।

(३) अध्ययन की दृष्टि से—राजनीति शास्त्र एक सामाजिक शास्त्र होने के नाते विचारात्मक तथा आदर्शात्मक (Normative) विज्ञान है। दूसरी ओर भूगोल एक तथ्यगत शास्त्र है। उसमे विचारो और भावनाओ का स्थान नहीं है।

राजनीति शास्त्र व अन्य विद्याएँ
(Political Science and Other Disciplines)

उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त राजनीति शास्त्र का विधि शास्त्र (Jurisprudence), सांख्यिकी (Statistics), लोक प्रशासन (Public Administration), मानव-विज्ञान (Anthropology) तथा नागरिक शास्त्र (civics) से भी गह सम्बन्ध है।

विधि शास्त्र के अन्तगत हम दण्ड विधान, सांविधानिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अध्ययन करते हैं। ये सब विषय राजनीति शास्त्र से बहुत अधिक सम्बन्धित हैं क्योकि कुशल शासन सचालन के लिये सांविधानिक व राष्ट्रीय कानूनों की तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की नितान्त आवश्यकता होती है। प्रत्युत्तर में विधि निर्माण के लिये अच्छी शासन-व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

सांख्यिकी द्वारा राजनीति शास्त्र को तथ्य व आकडे मिलते हैं। राजनीतिक निष्कर्षो पर आकडो द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। उदाहरण के लिये, किसी भी निर्वाचन का विश्लेषण जितना स्पष्ट रूप से आकडो द्वारा हो सकता है उतना किसी अन्य विधि द्वारा नहीं। अमरीकी राजनीति शास्त्र वेत्ता सारा राजनीति शास्त्र आजकल आकडों या सांख्यिकी पद्धति पर ही आधारित करते जा रहे हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से राजनीति शास्त्र व लोक प्रशासन मे बहुत समता व एकता है। डोनाल्ड किंग्सले के विचार से 'प्रशासन राजनीति की ही एक शाखा है। राजनीतिज्ञों और प्रशासको के पारस्परिक सहयोग पर ही देश की शासन व्यवस्था सुचारु रूप से चल सकती है। राजनीति का कार्य नीति निर्धारण है और नीति निर्धारण का आधार प्रशासको द्वारा सग्रहित किये गये तथ्य हैं। उधर प्रशासन का सचालन राजनीतिज्ञों के निर्देशन पर ही प्रशासको को करना पडता है। अत दोनो शास्त्र परस्पर पूरक हैं। अनेक विद्वान् लोक प्रशासन को राजनीति शास्त्र की ही एक शाखा मानते हैं।

मानव विज्ञान, कैटलिन के शब्दो मे, 'राजनीतिशास्त्र के लिये इस दृष्टि से ... है कि यह मानव-जाति के विषय मे पर्याप्त सामग्री इकट्ठी करता है।" ...

मनुष्य के ऐतिहासिक, भौगोलिक, सास्कृतिक, जाति व नस्ल सम्बन्धी तथा दूसरे भौतिक पक्षो का अध्ययन करता है । इसकी सहायता से राजनीति शास्त्र लोगो के जातीय विकास, उनकी सास्कृतिक प्रवत्तियो तथा रीति-रिवाजो को समझकर राजनीतिक सस्थाओ मे पडने वाले उनके प्रभावो का मूल्याकन करके अनेक राजनीतिक समस्याओ का हल खोज सकता है ।

नागरिक शास्त्र तो राजनीति शास्त्र की शाखा ही है क्योकि नागरिक के बिना राज्य और आज के सभ्य जगत मे राज्य के बिना नागरिक की कल्पना असम्भव है । नागरिक शास्त्र मे वस्तुत राजनीति शास्त्र का ही प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

इस तरह स्पष्ट है कि सभी शास्त्र यूनाधिक रूप से राजनीति शास्त्र से सम्बद्ध हैं । उनसे बिल्कुल पृथक् करके राजनीति शास्त्र का अध्ययन न तो सम्भव है और न वाछनीय । ज्ञान अखण्ड और अनन्त है । राजनीति शास्त्र का ज्ञान उस अनन्त ज्ञान का एक अश मात्र है । अध्ययन की सुविधा के लिये राजनीति शास्त्र को हम चाहे एक स्वतन्त्र विद्या का रूप दे दें लेकिन उसके अन्तगत आने वाली विषय-वस्तु का अध्ययन करते समय हम न चाहते हुये भी दूसरी विद्याओ के क्षेत्र मे कही-न-कही घुस-पठ कर ही लेंगे । अत उत्तम है कि राजनीति शास्त्र के अध्ययन का ज्ञान की अन्य शाखाओ की पृष्ठभूमि मे ही सचित किया जाय ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ आलोचनात्मक दृष्टि से राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध—(i) समाज शास्त्र (ii) इतिहास (iii) अर्थ शास्त्र, (iv) मनोविज्ञान, (v) नीति शास्त्र और (vi) भूगोल के साथ संक्षेप मे बताइये । (वाराणसी 1964, 65, 66 राजस्थान 1960 1977)
गोरखपुर १९६१, ६५ ६९ आगरा १९६०, ६२, ७१ दिल्ली १९६१,
विक्रम १९६१ ६८, जोधपुर १९६५, लखनऊ १९६९, कानपुर १९७०, ७२)

२ राज्य विज्ञान उन सभी शास्त्रो से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित है जो सगठित समाज मे मनष्य का विवेचन करते हैं । इस कथन की विवेचना कीजिये ।
(राजस्थान 1951 55, 72 1979 आगरा 1973)

३ निम्नलिखित कथन को राजनीति शास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र देते हुए पूर्ण रूप से समझाइये—
(क) राजनीतिशास्त्र इतिहास से उदात्त हुए बिना अशिष्ट रह जाता है और इतिहास केवल साहित्य मात्र रह जाता है जब वह राजनीति से अपना सम्बन्ध खो देता है ।
(ख) आर्थिक जीवन राजनीतिक सस्थाओं तथा विचारो से प्रभावित होता है, राजनीतिक आन्दोलन अधिकतर आर्थिक आन्दोलनों से प्रभावित होते हैं । (आगरा १९६०)

4 राजनीति शास्त्र की परिभाषा कीजिए । समाज शास्त्र, मनोविज्ञान तथा नीति शास्त्र से उसके सम्बन्ध का विवेचन कीजिये । (राज० 1974)

5 राजनीति शास्त्र अर्थ शास्त्र व समाज शास्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है । उदाहरण सहित परीक्षण कीजिये । (राज०

6 "राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, इतिहास के बि[illegible] की कोई जड़ नहीं ।'

अध्याय ५

राज्य और राज व्यवस्था

(The State and Political System)

"राज्य स्वाभाविक व आवश्यक दोनों है। सिरदद स्वाभाविक हो सकता है, पर आवश्यक नहीं। राज्य स्वाभाविक इस अर्थ में है कि इसका जन्म मनुष्यों की मूल प्रवृत्तियों से और विकास क्रमश हुआ है। वह स्थायी है और एक बार नष्ट कर दिये जाने पर पुन प्रकट हो जाता है। मनुष्य के विकास के लिये राज्य आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता।'

—आशीर्वादम

राज्य का अर्थ

'राज्य' शब्द भारत का अपना शब्द है। 'राजा' के समान 'राज्य' शब्द भी 'राज' धातु से बना है। प्राचीन भारत मे 'राज्य' शब्द से 'राजा के क्षेत्र' का बोध होता था। आज भी सामान्य नागरिक उसे या तो 'राजा का क्षेत्र' समझता है अथवा 'राज्य' शब्द का प्रयोग 'सरकार', राष्ट्र' या 'समाज' के पर्यायवाची के रूप मे करता है। उसके लिये चीन, फ्रास, भारत, सयुक्त राज्य अमरीका भी राज्य हैं और भारतीय व अमरीकी सघ की इकाइया जैसे उत्तर प्रदेश, राजस्थान पजाब, न्यूयार्क या कलिफोर्निया भी राज्य हैं। 'सरकारी सहायता' का वह 'राजकीय सहायता', 'सरकारी नियन्त्रण' को वह राजकीय नियन्त्रण या सरकारी शिक्षा' को वह 'राजकीय शिक्षा के नाम से पुकारता है।

लेकिन 'राजनीति शास्त्र' मे राज्य शब्द का प्रयोग एक निश्चित और वैज्ञानिक अर्थ मे किया जाता है। उस अर्थ मे, जिस अर्थ मे अंग्रेज लोग 'स्टेट' (State) शब्द का प्रयोग करते हैं। कुछ विद्वान् स्टेट' को यूनानी शब्द 'पोलिस' (Polis) तथा रोमन शब्द सिविटास' (Civitas) का पर्याय मानते हैं, जो गलत है। ट्यूटन लोग अपने राजनीतिक सगठन के लिये जिस 'स्टेटस (Status) शब्द का प्रयोग करते थे, वर्तमान 'स्टेट' (राज्य) शब्द उसी के समानार्थक है और उसी से बना है। फाइनर का दृढ मत है कि यूनान व रोम की विचारधारा में तो 'राज्य का' अस्तित्व ही नहीं था।[1] 'पोलिस' या सिविटास' को, जार्ज कैटलिन के विचार से राज्य' की अपेक्षा शहरी समुदाय' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

मकियावेली (१४६९-१५२७) पहला विचारक था जिसने अपनी पुस्तक 'नरेश' (The Prince) में प्रथम बार स्टेट' (राज्य) शब्द का प्रयोग किया है और तब से

1 Finer *Theory and Practice of Modern Government* p 2.

यह शब्द राजनीति शास्त्र की धरोहर बन गया है। राजनीति शास्त्र के अन्तगत निश्चित और वैज्ञानिक अथ मे 'राज्य' शब्द से अभिप्राय मनुष्यो के उस राजनीतिक समुदाय से होता है जिसने सगठित शासन के अन्तगत एक निश्चित प्रदेश पर अपना अधिकार कर रखा हो, और जो किसी भी प्रकार के आन्तरिक व बाहरी नियन्त्रण से पूरी तरह मुक्त हो।

स्पष्टतया 'राजनीति शास्त्र' के विधान से न तो कश्मीर एक राज्य है और न उत्तर प्रदेश। स्वतन्त्रता से पहले के भारतीय रजवाड़े—जयपुर, जोधपुर, बीकानेर —आदि भी राज्य नही थे। क्योकि जिस प्रकार कश्मीर या उत्तर प्रदेश केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण से मुक्त नही हैं, उसी प्रकार जयपुर, जोधपुर आदि भी अग्रजी नियन्त्रण से मुक्त नही थे। १५ अगस्त १६४७ के पहले तो भारत भी (यद्यपि वह 'राष्ट्र सघ' का सदस्य था) राजनीति शास्त्र की शब्दावली मे राज्य नही था, क्योकि वह अंग्रेजो के नियन्त्रण मे था या दूसरे शब्दो मे 'राज्य' का एक प्रमुख तत्त्व 'सम्प्रभुता' उसके पास नही थी। इसी प्रकार न तो 'राष्ट्रमण्डल' (Commonwealth of Nations) एक राज्य है और न 'सयुक्त राष्ट्र' (United Nations), क्योकि उन्हे अपनी इच्छानुसार आचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता नही है। वत्तमान भारत, बगला देश नेपाल, पाकिस्तान, रूस, चीन, अमरीका सब राज्य हैं, क्योकि वे किसी भी आन्तरिक या बाहरी नियन्त्रण के अभाव मे नही हैं और 'राज्य' कहलाने की सारी शर्तों को पूरा करते हैं।

परिभाषाएँ
(Definitions)

बुल्शे के अनुसार " 'राज्य' शब्द की उतनी परिभाषाएँ हैं जितने राजनीति के लेखक।" लेकिन किसी मे भी यह शक्ति नही कि वह 'राज्य' के सर्वांगीण स्वरूप का ऐसा विवेचन करे जो सवमान्य हो। क्योकि 'प्रत्येक विचारक अपनी मान्यताओ के अनुसार राज्य पर विचार करता है और उसकी परिभाषा करता है तथा राज्य को उन लक्षणो वाला मानता है जो उसके विचार दशन के अनुसार होते हैं। राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, काय क्षेत्र, कत्तव्य तथा उद्देश्यो के विषय मे प्रत्येक विचारक कुछ विशेष सिद्धान्तो का पक्ष लेता है और ये विभिन्न सिद्धान्त ढाँचे व आत्मा की दृष्टि से प्राय परस्पर मतभेद वाले होते हैं।"[2] इसके अतिरिक्त समय-समय राज्य का स्वरूप बदलता रहा है अत कोई भी परिभाषा सावदेशीय या सावकालिक नही हो सकती। परिभाषाओ को काल क्रम के आधार पर बाँटना इसलिये बेमानी है, क्योकि जो परिभाषाएँ पुरानी हैं वे पुराने राज्यो के स्वरूप का वणन कर सकती हैं, वत्तमान का नही।[3] अध्ययन की सुविधा व

---

2. Garner op cit p 45

3 पुरानी परिभाषाओ मे अरस्तू और सिसरो की परिभाषायें उल्लेखनीय हैं—

अरस्तू के विचार से 'राज्य आत्मनिभर तथा समृद्ध जीवन के हेतु सगठित कुटुम्बों व ग्रामो का समूह है।"

उचित विश्लेपण की दृष्टि से निम्नांकित वर्गों मे राज्य की परिभाषाओं को रखकर हम 'राज्य' के स्वरूप को समझने का प्रयास कर सकते हैं —

(१) राज्य शक्ति का प्रतीक है

मकियावेली से लेकर महात्मा गांधी तक अनेक राजनीति शास्त्र वेत्ता राज्य को शक्ति का प्रतीक मानते रहे हैं और इसी आधार पर उन्होने राज्य की परिभाषायें दी हैं, जिनमे कुछ प्रमुख नीचे दी जा रही हैं —

मकियावेली के शब्दों में 'चाहे राजतन्त्र हो या गणतन्त्र सारी शक्तियाँ जिनका अधिकार जनता पर होता है—राज्य की सत्ता पाती हैं।"[4]

ट्रीटस्के के विचार से "राज्य एक शक्ति है, हमें नतमस्तक होकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"[5]

बर्टिल की दृष्टि में "राज्य मानव-समाज या राजनीतिक संस्था का वह समुच्चय है जो अपनी शक्तियों के मिश्रण द्वारा सवसाधारण के हित व कल्याण की कामना करता है।"

महात्मा गांधी—के अनुसार "राज्य एक केन्द्रित व व्यवस्थित रूप में हिंसा का प्रतिनिधि है व्यक्ति की आत्मा होती है, राज्य आत्मा विहीन यत्र है, राज्य को हिंसा से दूर नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका अस्तित्व ही इस पर निभर करता है।"[6]

मैक्स वैबर के शब्दो मे राज्य 'एक मानव समुदाय है जो किसी प्रदेश में शारीरिक बल के औचित्य पूर्ण प्रयोग के एकाधिकार का सफलतापूर्वक दावा करता है।"

(2) राज्य एक बुराई है

कुछ दार्शनिकों के विचार से "राज्य एक अनावश्यक व बुरी संस्था है। इसके रहते मानव-कल्याण की कल्पना असम्भव है। इनमे अराजकतावादी और साम्यवादी विचारक आते हैं।

माइकेल बाकुनिन के विचार से "राज्य एक विशाल श्मशान भूमि है जहाँ मानव व्यक्तित्व के विभिन्न प्रतिरूपो की बलि चढ़ाकर उन्हें दफन कर दिया जाता है।"

कार्ल मार्क्स व एंजिल्स के अनुसार राज्य "शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित

सिसरो के शब्दों में ' राज्य एक बहुसंख्यक समुदाय है जो अधिकारों की सामान्य भावना तथा लाभों में परस्पर सम्बद्ध है।"

उपयुक्त दोनों परिभाषायें अपूर्ण हैं क्योंकि राज्य केवल कुछ ग्रामों और कुटुम्बों का समूह ही नहीं होता। उसके उद्देश्य आत्मनिर्भरता के अतिरिक्त राजनीतिक सम्मान प्राप्त करना, दूसरे राष्ट्रों की आवश्यकता पड़ने पर सहायता करना, विश्व शान्ति को बनाये रखना आदि भी होते हैं। इसी प्रकार राज्य में केवल अधिकार की भावना या लाभ प्राप्ति की इच्छा ही निहित नहीं होती है। ये परिभाषायें यूनानी और रोमन युग में ठीक बैठ सकती थीं आधुनिक युग में नहीं।

4 "All the powers which have had authority over men are States, and are either monarchies or Republics. —Machiavelli *The Prince* Ch. I.

5 "The State is a Power, let us stoopdown and worship the State." —Von Trietschke

6. Gandhi, M. K., Quoted in Tendulkar, D G *Mahatma Life of Karamchand Gandhi*, Vol IV, p 11

बनाये रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का एक साधन या उपकरण मात्र है।"

(३) राज्य एक सामाजिक सगठन है

अनेक राजनीति विशारदो ने राज्य को एक समुदाय या सामाजिक सगठन की भाँति माना है। इनमे दो प्रकार के लोग हैं। कुछ उसे समाज की श्रेष्ठतम और सर्वोच्च सस्था मानते हैं तो दूसरे उसे अन्य सघो की भाँति ही मानते हैं।

बर्गेस के विचार से "राज्य मानव जाति का एक विशेष समूह है जो राजनीतिक इकाई के रूप में देखा जाता है।"[7]

ग्रोशस के शब्दो मे "राज्य स्वतन्त्र लोगो का एक परिपूर्ण समाज है जिसमे वे अपने अधिकारो और पारस्परिक हितो के कारण एक दूसरे से बँधे हुए हैं।'[8]

बोदां की राय मे "राज्य सम्पत्ति सहित परिवारो का एक सघ है जो सर्वोच्च सत्ता और विवेक द्वारा शासित होता है।"[9]

ड्यिवी के विचार से "राज्य वह मानव समाज है जिसके अन्दर कुछ राजनीतिक भिन्नता होती है। यह भिन्नता शासक और शासित म होती है।'[10]

हॉलैण्ड के मतानुसार "राज्य मनुष्यो के उस समुदाय को कहते हैं, जा साधारण तया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो और जिसमे किसी एक वग की या उल्लेख बहुसख्यक दल की इच्छा इसका विरोध करने वालो के ऊपर चलती हो।"[11]

लास्की के शब्दो मे "प्रत्येक राज्य, सक्षेप में, एक प्रादेशिक समाज ही है जो सरकार तथा व्यक्तियों मे विभाजित होता है और सरकार व्यक्तियो का वह निकाय है जो राज्य मे कानून को लागू करता है जिस पर कि राज्य अवलम्बित है।"[12]

मलबर्ग की राय में "राज्य निश्चित भू भाग पर स्थायी रूप से निवास करने वाला व्यक्तियो का वह समुदाय है जिसके पास एक राजनीतिक सगठन है और जिसके

---

7 The State is a particular portion of mankind viewed as an organised political unit —*Burgess*

8 A perfect society of free men united for the sake of enjoying the advantages of right and the common utility — *Grotius*

9 An association of families and their common possession governed by a supreme power and by reason —*Bodin*

10 "A human society in which there exists a political differentiation between the governed and the governors —*Duguit*

11 Numerous assemblage of human beings generally occupying a certain territory amongst whom the will of the majority of an ascertainable class of persons is by the strength of such a majority or class may prevail against any of their number who oppose it

—Holland *Elements of Jurisprudence* p 28

12. Every State, in short is a territorial society divided into government and subjects the government being a body of persons within the who apply legal imperatives upon which the State rests —

पास अपने सदस्यो की तुलना म आज्ञा, काय तथा दण्ड प्रदान करने की उच्चतर शक्ति उपलब्ध है।"[13]

(४) राज्य एक वैधानिक वास्तविकता है

विद्वानो का एक बहुत बडा वग राज्य की व्याख्या विधिशास्त्रीय दृष्टिकोण से करता है। इसम विल्सन, विलोबी और हाल के नाम मुख्य हैं।

वुडरो विल्सन की मान्यता है कि "राज्य एक निश्चित प्रदेश के अन्तगत नियम या विधि द्वारा सगठित लोगो का नाम है।"[14]

विलोबी की दृष्टि म "राज्य एक ऐसा कानूनी व्यक्ति या स्वरूप है जिसे कानून निमाण का अधिकार प्राप्त है।"[15]

हाल की राय म "स्वत त्र राज्य का लक्षण यह है कि उसका निर्माण करने वाला समाज स्थायी रूप स राजनीतिक ध्यय की प्राप्ति के लिय सगठित है। उसका एक निश्चित प्रदेश होता है और वह बाहरी नियन्त्रण से मुक्त होता है।"[16]

(५) राज्य चार तत्त्वों से निर्मित राजनीतिक समुदाय है

कुछ विद्वानो न राज्य की परिभाषा उसके चार निर्माणक तत्त्वो के आधार पर की है। इनम स एक का भी अभाव होने पर वह राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। आधुनिक युग मे इस दृष्टिकोण स की गयी राज्य की परिभाषायें सर्वाधिक हैं सगत मानी जाती हैं।

फिलिमोर के विचार से "राज्य वह जनसमाज है जिसका एक निश्चित भू भाग पर स्थायी अधिकार हो, जो एक से कानूनो आदतो व रिवाजो द्वारा बधा हुआ हो जो एक सगठित सरकार के माध्यम द्वारा अपनी सीमा के अन्तगत सब व्यक्तियों तथा वस्तुओ पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता का प्रयोग एव नियन्त्रण करता हो तथा जिसे भू मण्डल के राष्ट्रो के साथ युद्ध एव सन्धि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार हो।"[17]

---

13 'A community of men fixed on a territory which is their own and possessing an organization from which results for the group envisaged in its relations with its members a superior power of action of command and of coercion " —Malberg

14 The State is a people organised for law within a definite territory." —Wilson

15 "The State is the political person or entity which possesses the law making right —Willoughby

16. "The marks of an independent State are that the community constituting it is permanently established for political objects that it possesses a definite territory and that it is independent of external control "—Hall, International Law p. 18

17 "A people permanently occupying a fixed territory bound together by common laws, habits and customs in one body politic exercised thro' its

गिलक्राइस्ट की राय मे "राज्य उसे कहते हैं जहाँ कुछ लोग एक निश्चित प्रदेश मे एक सरकार के अधीन सगठित होते हैं। यह सरकार आतरिक मामलो मे अपनी जनता की सम्प्रभुता को प्रगट करती है और बाहरी मामलो मे अन्य सरकारो से स्वतन्त्र होती है।"[18]

गार्नर के अनुसार "राज्य बहुसख्यक व्यक्तियो का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग मे स्थायी रूप से रहता हो, बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्णत या अंशत स्वतन्त्र हो और जिसमे ऐसी सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन नागरिको के विशाल समुदाय द्वारा स्वाभाविक रूप से किया जाता हो।"[19]

ओपेनहाइम का मत है कि "राज्य की सत्ता तब मानी जाती है, जब जनता अपनी सम्प्रभु सरकार की अधीनता मे किसी देश मे बसी होती है। राज्य की सत्ता के लिये चार आवश्यक शर्तें हैं—सर्वप्रथम इसमे जनता होनी चाहिये। जनता का अभिप्राय समुदाय के रूप मे एकसाथ जीवन बिताने वाले नर-नारियो के समूह से है, भले ही ये विभिन्न नस्लो, धर्मों या रगो वाले हो। दूसरी शर्त—एक प्रदेश का होना आवश्यक है। खानाबदोश जाति राज्य नही कहला सकती। तीसरी शर्त—सरकार का होना है अर्थात् इसमे जनता के प्रतिनिधियो के रूप मे एक या अनेक व्यक्ति कानून के अनुसार देश का शासन करते हो। चौथी और अन्तिम शर्त यह है कि यह सरकार प्रभुसत्तासम्पन्न होनी चाहिए, प्रभुसत्ता का अभिप्राय सर्वोच्च सत्ता से है, यह अन्य सभी सासारिक सत्ताओ से स्वतन्त्र होती है।"

परिभाषाओ का विवेचन और निष्कर्ष (Analysis of Definitions and Conclusion)

राज्य पर दी गयी उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि किन्ही दो विचारको की परिभाषायें एक दूसरे से पूरी तरह मेल नही खाती। इसके दो कारण हैं—प्रथम राज्य के स्वरूप मे समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है, और द्वितीय, प्रत्येक विचारक ने अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से राज्य की परिभाषा दी है। अधिकतर परिभाषायें

---

the medium of an organised government independent sovereignty and control over all persons and things within its boundaries capable of making war and peace and of entering into all international relations with the communities of the globe —Phillimore *International Law* p 81

18 The State is a concept of Political Science which exists where a number of people living on a definite territory are unified under a government which in internal matters is the organ for expressing their sovereignty and in external matters is independent of other governments —Gilchrist *Principles of Political Science* p 17

19 The State as a concept of Political Science and Public Law is a community of persons more or less numerous permanently occupying a definite portion of territory independent or nearly so of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience —Garner *op cit* p 49

आत्मपरक (Subjective) हैं जो राजनीति विशारदो ने अपने किसी मुख्य उद्देश्य को सामने रखकर गढ़ी हैं। यही कारण है कि कुछ इसे शक्ति का प्रतीक मानते हैं तो कुछ इसमे वर्ग विषमता को देखते हैं, कुछ के लिये यह एक समुदाय या सार्वजनिक उपयोगिता की कम्पनी की भाँति है तो कुछ इसकी व्याख्या एक कानूनी सगठन के रूप मे करते हैं। ये सम्पूर्ण दृष्टिकोण एक-पक्षीय हैं, इनमे वस्तुपरकता (Objectivity) का अभाव है। अत उपर्युक्त चार वर्गों मे दी गयी परिभाषाओं को उच्चकोटि की परिभाषायें नही कहा जा सकता। निर्माणक तत्त्वो के आधार पर दी गयी राज्य की परिभाषायें उनकी तुलना मे इस दृष्टि से श्रेष्ठ हैं कि एक तो वे वस्तुपरक (Objective) है और दूसरे उनमे राज्य के वर्तमान स्वरूप को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि राज्य अपने-आपमें एक उद्देश्य नहीं है, यह केवल एक साधन है जिसके द्वारा मनुष्यों की सामूहिक आवश्यकतायें व्यवस्थित व न्यायोचित ढग से पूरी की जा सकती हैं। इसके अस्तित्व के लिये चार तत्व—जनसख्या, प्रदेश, सरकार व सम्प्रभुता—आवश्यक हैं जिनमे से किसी एक के भी न होने पर कोई समाज राज्य नहीं कहा जा सकता।

राज्य के आधारभूत तत्त्व
(Fundamental Elements of the State)

जनसख्या
(Population)

राज्य के अस्तित्व के लिये प्रथम आवश्यकता जनसख्या की है 'पृथ्वी का मानवहीन कोई भी भाग,' लीकाक के शब्दो मे, "राज्य नही बन सकता।" लेकिन यह जनसख्या कितनी हो, इस विषय म कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। वर्तमान युग मे एक ओर चीन और भारत जसे विशाल देश हैं, जिनकी जनसख्या क्रमश ८० और ५६ करोड है, तो दूसरी ओर मोनाको (फ्रास के दक्षिण म), सन मरिनो (इटली के निकट), व स्पेन के 'अन्दोरा' नामक राज्य हैं जिनकी आबादी अभी पाँच अको से आगे नहीं बढी है। प्लेटो अपने आदर्श राज्य म अधिक से अधिक ५०४० नागरिक रखना चाहता था तो रूसो दस हजार। अरस्तू राज्य के लिये सौ आदमी बहुत कम मानता था और एक लाख बहुत ज्यादा। अत राज्य की जनसख्या क विषय म कोई निश्चित नियम बनाना बडा कठिन है। अधिक से अधिक, गार्नर के शब्दो म, यह कहा जा सकता है कि "जनसख्या राज्य के सगठन को चलाने के लिये पर्याप्त होनी चाहिये तथा उसे राज्य की प्रादेशिक सीमा व प्राकृतिक क्षमता से अधिक नहीं होना चाहिये।"[20] सौल्टाउ का भी मत है कि 'किसी राज्य की जनसख्या को क वस्तुओ की पूर्ति आकाक्षित जीवन स्तर तथा सुरक्षा व उत्पादन की स्थिति

1 Garner, op cit p 77

के अनुसार होना चाहिये।"[21]

अब प्रश्न उठता है कि जनसख्या कैसी हो ? इसमे दो मत नहीं हो सकते कि जनसख्या का बौद्धिक व नैतिक स्तर उच्च कोटि का होना चाहिये, क्योकि राज्य की प्रगति व स्थिरता जनता के गुणो पर निभर करती है। पिछड़े व पतित नागरिक स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण नही कर सकते।

प्रदेश
(Territory)

ब्लशली ने लिखा है कि "जसे राज्य का वयक्तिक आधार जनता है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार प्रदेश है। जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।"[22] खानाबदोश लोगो का राज्य नही हो सकता, भले ही उ होने किसी मुखिया के नेतृत्व मे अपना राजनीतिक सगठन बना लिया हो ? क्योकि 'प्रवासी राज्य' जैसी कोई चीज नही होती।[23] बीच समुद्र म खडे या तैरते समुद्री डाकुओ के जहाज को राज्य नही कहा जा सकता। यहूदी जब तक फिलिस्तीन (Palestine) मे नही बसे तब तक किसी यहूदी राज्य का निर्माण नहीं हुआ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रदेश का अथ पृथ्वी के धरातल मात्र से नही है। प्रदेश के अन्तगत उस राज्य की सीमा मे स्थित सभी जलाशय—नदियाँ, नहर, झीलें—खाने, उसकी सतह के नीचे की भूमि (अनिश्चित गहराई तक), उसके तट से १२ मील दूर तक का सामुद्रिक क्षेत्र तथा ऊपर का समस्त वायुमण्डल आदि आते हैं। विदेशो में स्थित किसी राज्य के दूतावास व खुले समुद्र मे तरते उसके जहाज भी उसके प्रदेश के अग माने जाते हैं।

प्रदेश का राज्य के लिये बहुत महत्त्व है, क्योकि यह राज्य की वह मान्य सीमा होती है जिसमे कोई अ य राज्य (बगर युद्ध का खतरा उठाये) दखल नही कर सकता। लेकिन किसी राज्य का प्रदेश या आकार कितना होना चाहिय इस विषय मे अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता। आधुनिक विश्व मे लगभग १५० राज्य हैं जो प्रदेश या आकार की दृष्टि से बडे भि न हैं। एक ओर 'सन मैरिनो (३८ वगमील), लिचट-स्टाइन' (६२ वगमील), लक्जमबग (९९९ वगमील) ऐसे छोटे छोटे राज्य हैं तो दूसरी ओर 'सयुक्त राज्य अमरीका' (३,५७०,९८२ वगमील) व 'सोवियत सघ (८,३३६,५१० वगमील) ऐसे विशाल क्षेत्रफल वाल देश हैं। सरकार बदलने के अलावा राज्यो के क्षेत्रफल मे वृद्धि अथवा सकुचन का घटनायें इतिहास मे सबसे अधिक

---

21 Soltau *An Introduction to Politics* p 24

22 Bluntshlli *Droit Administratit* p 47

23 बा होंन इसके विरोधी हैं। उनका तर्क है कि कोई कारण नही कि भावात्मक रूप स घूमने वाला एक कबीला या समाज अपने-आपको नियमबद्ध अथवा किसी निश्चित जाति के अ तगत न माने जसा कि एक रा य मे होता है। —देखें उनकी पुस्तक इण्टरनेशनल ला प १८।

होती हैं। पहले छोटे या कम प्रदेश वाले राज्यों को श्रेष्ठ माना जाता था, क्योंकि यातायात व सचार के साधन इतने विकसित नही थे और प्रतिनिधि सस्थाओ का भी इतना विकास नही हुआ था। लेकिन अब विशाल प्रदेश वाले राज्यों का युग है। बड़े प्रदेश में अधिक प्राकृतिक साधन मिलने की सभावना होती है तथा युद्ध के काल में उस राज्य की सेनायें काफी पीछे खिसक कर पहले दुश्मन की फौजो को अन्दर आने देती हैं, बाद में उसकी 'सप्लाई लाइन' काट देती हैं—द्वितीय महायुद्ध मे रूस ने इसी नीति को अपनाकर अपने बड़े प्रदेश के बल पर जर्मनी की सेनाओ को हराया था। इस तरह बड़े प्रदेश वाले राज्यो को अधिक समय के लिये गुलाम नही बनाया जा सकता। लेकिन फिर भी प्रदेश और उसकी जनसख्या में उचित अनुपात होना चाहिये। कम प्रदेश और अधिक जनसख्या वाला राज्य निर्धन बना रहता है तथा यदि किसी राज्य के पास विशाल प्रदेश और कम जनसख्या हो तो पड़ोसी राज्य उसके प्रदेश को हड़पने के षडयन्त्र रचा करते हैं।

सरकार
(Government)

सरकार से हमारा अभिप्राय उस राजनीतिक सगठन से है जो कानून आदि बनाकर राज्य के कार्यों का सचालन करता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में "यह एक मशीनरी है जिसके माध्यम से राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है। किसी निश्चित प्रदेश पर स्थित जनसमुदाय उस समय तक राज्य का निर्माण नहीं कर सकता जिस समय तक किसी राजनीतिक सगठन का निर्माण न हो गया हो।"[24] जब तक समाज के अन्दर विरोधी तत्त्व हैं, तब तक ऐसे किसी सगठन का होना अनिवार्य है जो लोगों के समाज विरोधी भावनाओ को दबाकर व्यवस्था कर स्थापित सके। अत राज्य के लिये सरकार का अस्तित्व अनिवार्य है। ब्लश्ली ने लिखा है कि "यदि किसी समाज मे न तो कोई सत्ताधारी हो और न कोई सत्ता का पालन करता हो तो वहाँ राज्य न होकर अराजकता होगी।" साम्यवादी और अराजकतावादी भी, जो राज्य सस्था की समाप्ति के समर्थक हैं सरकार के अस्तित्व को किसी न किसी रूप मे बनाये रखना चाहते हैं। सरकार की उपयोगिता और आवश्यकता पर फाइनर ने लिखा है कि "सरकार एक उद्यम है कोई पाठ्यपुस्तक नहीं। यह मनुष्य का ऐसा सतत उद्यम है जिसका कोई अन्त नहीं। यह सर्वाधिक भारी सामूहिक व व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है। व्यक्तिगत दुर्बलता से मुक्ति पाने की सर्वोच्च आशा है।"

जहाँ तक सरकार की प्रकृति और आकृति का प्रश्न है, उसमे स्थान, काल, जनता के स्वभाव के अनुसार अन्तर हो सकता है। कोई सरकार जनतान्त्रिक होती है और कोई सर्वसत्तावादी। एक ही प्रकार की सरकार सब देशों मे सफल नही हो सकती तथा एक ही देश में समय समय पर परिस्थितियो और जनता की रुचि के अनुसार उसमें

24 गार्नर के विचार से सरकार वह उपकरण है जिसके द्वारा सामान्य नीतियों के निर्धारण सामान्य कार्यों के नियमन व सामान्य हितो की अभिवृद्धि का कार्य होता है। —पॉलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेंट पृ १०१।

स्वरूप मे परिवर्त्तन होता रहता है। इस बात की चर्चा आगे के अध्यायो में की गयी है। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि राज्य के तत्त्वो मे सरकार अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। बिना राज्य के सरकार सम्भव है लेकिन बिना सरकार के राज्य नहीं हो सकता। आकृति के सम्बन्ध मे एलेक्जेण्डर पोप की युक्ति ठीक है कि "सरकार की आकृति के विषय मे मूर्खों को लडने दो, जो ठीक प्रकार से शासन करे वही सरकार सर्वोत्तम है।"

सम्प्रभुता
(Sovereignty)

राज्य का अन्तिम मुख्य तत्त्व सम्प्रभुता है। सम्प्रभुता का अर्थ है, सार्वभौम सत्ता—राज्य का वह अन्तिम अधिकार जिसके आगे अपील न हो। डा आशीर्वादम ने लिखा है कि "राज्य के अतिरिक्त अन्य सघो के पास जनता हो सकती है, भू-प्रदेश और किसी प्रकार का कोई दबावपूर्ण सगठन भी हो सकता है, पर उनके पास सम्प्रभुता नहीं होती। अन्तत राज्य के प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय को राज्येक्षा के आगे सिर झुकाना पडता है। इसे हम आन्तरिक सम्प्रभुता कहते हैं। बाहरी सम्बन्धो मे भी आधुनिक राज्य अन्तिम अधिकार रखने का दावा करता है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओ और समझौतो का पालन भले ही करे पर, जब तक विश्व सरकार एक वास्तविकता नही हो जाती तब तक पृथ्वी पर कोई दूसरी शक्ति नही है जो राज्य को उससे शक्तिशाली किसी सगठन का आज्ञाकारी बना सके। राज्य की इस विशेषता को हम बाह्य सम्प्रभुता कहते हैं। अपनी इस सम्प्रभु शक्ति के ही कारण आधुनिक राज्य आन्तरिक मामलो मे सर्वोच्चता तथा अन्य सरकारो के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता का दावा करते हैं।'[25] जैसा पहले भी लिखा जा चुका है, १५ अगस्त १९४७ के पहले भारत राजनीति शास्त्र की परिभाषा के अन्तर्गत राज्य नही था, क्योकि इसके पास सम्प्रभुता नही थी। इस प्रकार सम्प्रभुता राज्य का एक स्थायी अग है तथा जब तक यह किसी राज्य के पास है तभी तक राजनीति शास्त्र की शब्दावली मे उसका राज्य के रूप मे अस्तित्व विद्यमान है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

राज्य के चारो तत्त्वो की विवेचना करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनमे से किसी एक के भी अभाव मे राजनीतिक समुदाय को 'राज्य' का नाम नही दिया जा सकता। इनमे से प्रत्येक का अपना अपना महत्त्व है, किसी का कम अथवा किसी का ज्यादा नहीं। लेकिन आधुनिक युग मे हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय तालमेल के लिये राज्यो को कभी कभी कुछ ऐसे बन्धन स्वीकार करने पडते हैं जो उनकी सम्प्रभुता को सीमित करते मान जाते हैं। ऐसा होने पर क्या राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है? इसका सीधा सा उत्तर है कि यदि सीमायें अन्तिम नही हैं और राज्य की सरकार ने उन्हे कुछ समय के लिये स्वेच्छा से स्वीकार किया है तो 'नहीं', लेकिन यदि सीमायें अन्तिम हैं और दूसरे राज्य द्वारा जबरदस्ती लादी गयी हैं तो हाँ।

25 आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र, खण्ड १ प ३९ ३७।

राज्य और सरकार
(State and Government)

अपनी साधारण बोल-चाल में हम 'राज्य' और 'सरकार' शब्दों का प्रयोग प्राय एक ही अर्थ मे अदल बदलकर किया करते हैं। अनेक राजनीति शास्त्र वेत्ताओं, जैसे हॉब्स, कोल, फलर व लास्की, ने भी इन्हें एक ही मान लिया है। लास्की लिखता है कि "राज्य ही सरकार है और उसका मुख्य उद्देश्य क्रियात्मक रूप से शासन करना है।"[26] इंगलैण्ड के स्टुअर्ट राजाओं ने, फ्रांस के लुई चौदहवें ने या जर्मनी के हिटलर ने राज्य और सरकार मे कोई भेद ही नही समझा था। परन्तु राज्य और सरकार दोनों एक नहीं हैं, उनमे पर्याप्त अन्तर विद्यमान है।

स्वरूप मे अन्तर—राज्य एक समग्र वस्तु है, सरकार केवल उसका एक अंग। राज्य एक भाव है, सरकार एक मूर्त वास्तविकता। सरकार राज्य का केवल एक अंग है। इसका स्थान किसी 'ज्वाइंट स्टाक कम्पनी' मे 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' की भाँति होता है। जिस प्रकार बोर्ड को कम्पनी नही कहा जा सकता, उसी तरह सरकार को राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मैकाइवर ने अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय में राज्य और सरकार के मध्य किये गये भेद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "राज्य एक अदृश्य, अस्पृश्य, निराकार व अमर संस्था है। सरकार एक अभिकर्ता (Agent) है तथा अपने अभिकरण के क्षेत्र मे पूर्ण प्रतिनिधि है, परन्तु राज्य के अभाव में सरकार मात्र एक गैर-कानूनी व अत्याचारी संस्था है।"

प्रकृति में अन्तर—तुलनात्मक दृष्टि से राज्य एक स्थायी संस्था है, जबकि सरकार अस्थायी होती है। जनतांत्रिक देशों में एक निश्चित अवधि के बाद व गैर जनतांत्रिक देशों में घटनाक्रम के परिवर्तन पर एक सरकार की जगह दूसरी सरकार आती है लेकिन इस परिवर्तन का राज्य पर कोई प्रभाव नही पडता। ब्रिटिश संविधान की इस युक्ति से यह अन्तर बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि 'राजा मर चुका, राजा चिरंजीवी हो' (The king is dead, long live the king) अर्थात् शासन करने वाले राजा की मृत्यु हो गई, लेकिन राज्य अमर रहे।

उद्देश्यों मे अन्तर—राज्य मनुष्यों का वह राजनीतिक संगठन है जिसका उद्देश्य मानव-जीवन को अच्छा बनाना है। सरकार राज्य का एक ऐसा साधन है जिसका उद्देश्य राज्य की इच्छाओं की पूर्ति और उसके कार्यों का सम्पादन करना है। गानर ने लिखा है कि 'राज्य जनता के सामान्य उद्देश्यों व लोक कल्याण की पूर्ति के लिये राजनीतिक रूप में संगठित एक व्यक्ति या सत्ता है, जबकि सरकार वह सामूहिक अभिकरण है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा प्रकट होती है और जिसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करता है।'[27]

26. Harold Laski, *A Grammar of Politics* p 26
27. Garner *op cit* p 48

आकार में अन्तर—राज्य एक सूक्ष्म मानसिक रचना है, जबकि सरकार एक स्थूल भौतिक यथार्थता। इसीलिये राज्य को समझना सरल नहीं, उसे केवल मानसिक रूप से अनुभव किया जा सकता है। राज्य की तुलना मे सरकार को आसानी से समझा व देखा जा सकता है।

आकार की दृष्टि से एक अन्तर यह भी है कि राज्य में समस्त जनसख्या का समावेश होता है, लेकिन सरकार राज्य की समस्त जनता का एक छोटा-सा भाग है। राज्य की शेष जनता, जो सरकार नही, जनता (Masses) या प्रजा कहलाती है।

पुन सरकार अध्यक्षात्मक, ससदात्मक, एकात्मक या सघात्मक अनेक प्रकार की हो सकती है, लेकिन राज्य का केवल एक रूप ही रहता है, वही चार तत्त्वो वाला जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

प्रभुत्व मे अन्तर—सरकार राज्य का एक साधन है, अत इसकी शक्तियाँ प्राथमिक नही हैं, वे राज्य द्वारा प्रदान की गयी हैं। वास्तविक प्रभुता राज्य के पास होती है, सरकार के पास नही। सरकार तो प्रभु शक्ति की एजेण्ट है। राज्य ही इसे जनता पर प्रभुता का प्रयोग करने की अनुमति देता है जिसे वह वापिस भी ले सकता है। कहने का अर्थ यह कि सरकार के पास सम्प्रभुता एक पट्टे की तरह है जिसे राज्य किसी भी समय समाप्त कर सकता है। यही कारण है कि सरकार के विरोध को राजनीति शास्त्र मे उचित ठहराया गया है और राज्य के विरोध को अनुचित।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि राज्य एक पूर्ण सस्था है। इसमे नागरिक व विदेशी, सविधान व कानून, प्रदेश व सम्प्रभुता सभी वस्तुयें होती हैं। लेकिन सरकार एक अपूर्ण सस्था है, वह राज्य का केवल एक सहायक तत्त्व है। उसकी शक्ति का कारण यह है कि वह राज्य से सम्बन्धित है। उसके पास यह शक्ति इसलिये है कि राज्य ने उसे यह अस्थायी काल के लिये प्रदान की है।[28]

राज्य और समाज
(State and Society)

समाज मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है। यह सामाजिक सम्बन्धो के ताने बाने' का दूसरा नाम है। परिवार, जाति, रीति रिवाज, परम्परायें तथा लोगो के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार के सम्बन्धो के योग को समाज कहते हैं। यूनानी लोगो के लिये समाज व राज्य मे कोई भेद नही था, क्योंकि यूनानी राज्य छोटे और उनका नागरिक जीवन सीधा सादा व सरल था। हर सामाजिक घटना उनके लिये राजनीतिक और हर राजनीतिक फेर-बदल उनके लिये सामाजिक था। परन्तु आधुनिक युग मे ऐसा नही है। समाज और राज्य दो भिन्न और पृथक् सस्थायें हैं। दोनो को एक समझने के कसे भयकर परिणाम हो सकते हैं, यह मुसोलिनी और हिटलर के कारनामो से स्पष्ट है। दोनो को एक मानने का अर्थ होगा, राज्य को

28 Gilchrist *op cit* p 23

एक प्राकृतिक व सर्वोपरि सस्था मानकर उसे जघ य व
अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित करना ।

प्रो बाकर ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ सो
समाज और राज्य के मध्य तीन तात्विक अ तर बताये है
अ तर, (२) सगठन व बनावट म अन्तर, तथा (३) प
अ तर और जोड़े जा सकते हैं—(१) ज म काल म अ
अ तर तथा (३) शक्ति मे अ तर ।

उद्देश्य व काय मे अ तर—उद्देश्य की दृष्टि से
न्याय और व्यवस्था को बनाय रखना उसका लक्ष्य है औ
उद्देश्य को पूरा करने के लिये ही कार्य करता है। समाज,
स मिलकर बनने के कारण विविध उद्देश्यो की पूर्ति कर
बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक, कलात्मक या समाज
हैं। अत सदस्यता की दृष्टि से समान होते हुए भी उद्दे
समाज भिन्न होते हैं। दोनो को एक करने से न तो राज्य
सकता है और न समाज को।

सगठन व बनावट मे अ तर—सगठन की दष्टि
सस्था है जबकि समाज मे अनेक सस्थायें रहती हैं। दूस
दोनो प्रकार का हो सकता है, लेकिन राज्य हमेशा सगठि
राजनीतिक सगठन का दूसरा नाम ही राज्य है ।

पद्धति मे अन्तर—राज्य मनुष्यो के केवल वाह
है, जबकि समाज वाहरी कार्यों क साथ-साथ मनुष्य
भावनाओ का भी अध्ययन करता है। पद्धति के इस भेद
बड़ा अन्तर है। बाकर के शब्दो म "समाज का क्षेत्र है सहयो
और परिवतनशीलता इसकी पद्धति है। राज्य का क्षेत्र है
बल प्रयोग, और काय पद्धति कठोर है।"[29] राज्य की अपे
है और कठोर भी। समाज शब्द का प्रयोग परिवार के तब
मानव-जाति के लिय किया जा सकता है। व्यापक अथ मे
क्षेत्रीय सीमाओ से बँधा हुआ नहीं है, जैसे ईसाई समाज
की एक निश्चित सीमा होती है।

ज म काल मे अन्तर—समाज राज्य से पुराना है।
सस्था है। जब समाज का भौतिक विकास हुआ तभी राज्य
राज्य की उत्पत्ति व उनकी आयु म इस दष्टि से पर्याप्त अ
है कि अत्यन्त प्राचीन काल म शिकारियों, मछुओ, जड़े
ो क सामाजिक समूह थ, लेकिन राज्य नाम की सस्था

29 Barker *Principles of Social and Political*

थे।"[30] सक्षेप मे, समाज एक प्राचीन सस्था है। राज्य का जन्म बाद मे समाज से ही हुआ है।

निर्माणक तत्त्वों मे अन्तर—राज्य के निर्माण के लिये जनसख्या, प्रदेश, सरकार व सम्प्रभुता का होना आवश्यक है। समाज के निर्माण के लिये केवल दो तत्त्वो प्रदेश व जनसख्या से ही काम चल सकता है। प्रदेश भी न हो तो भी एक दृष्टि, धर्म मत या विचारधारा से बँधे लोगो का समाज हो सकता है। परन्तु चारो मे से किसी एक तत्त्व के अभाव मे भी राज्य का निर्माण नही हो सकता।

शक्ति मे अन्तर—समाज के पास केवल नतिक शक्ति होती है। वह अपने नियम मनवाने के लिये केवल मनुष्य की भावनाओ मे अपील कर सकता है उन्हे बल प्रयोग या किसी बाध्यकारी शक्ति द्वारा मनवा नही सकता। राज्य, इसके विपरीत, लिप्सन के शब्दो मे, "देवमन्दिर की ओर मुण्ड की हुई एक बन्दूक है।" वह सम्प्रभुताधारी है। अपनी आज्ञाओ को मनवाने के लिये वह बल प्रयोग कर सकता है। डा आशीर्वादम् ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'केवल राज्य को ही शक्ति का उपयोग करने का अधिकार है। समाज तो नतिक दबाव या प्रभाव और सामाजिक बहिष्कार का उपयोग करता है। सामाजिक कर्तव्यों का उल्लघन करने के अपराध मे समाज किसी भी व्यक्ति को जेल मे बन्द नहीं कर सकता।"[31]

अन्त मे हम, मकाइवर के शब्दा में, कह सकते हैं कि "राज्य एक सगठन है जो न तो समाज के समवयस्क है और न उसके समान। उसका सगठन समाज के भीतर निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है।" जन्म के उपरान्त वह जन्म देने वाले समाज की उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार एक योग्य पुत्र पिता की मृत्यु के बाद अपनी माँ का रक्षण करता है। डा आशीर्वादम ने ठीक लिखा है कि "ईंटो की दीवार में ईंटें यदि समाज हैं तो उनके बीच मे लगी सीमेण्ट राज्य, जो ईंटों को यथास्थान बनाये रखती है ताकि दीवार ज्यो की त्यो कायम रहे।"[32]

राज्य और अन्य समुदाय
(State and Other Associations)

प्रसिद्ध अमरीकी विचारक बोगार्डस (Bogardus) के शब्दो मे "समुदाय मनुष्यो के साथ काम करने को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी उद्देश्य की प्राप्ति होती है।" समुदाय सामाजिक जीवन का एक ऐसा सगठन होता है जो किसी एक अथवा एक से अधिक समान उद्देश्यो की पूर्ति के लिये व्यक्तियो द्वारा स्थापित किया जाता है। इन समुदायो से व्यक्तियो को उनके विकास में सहायता मिलती है। यद्यपि राज्य तथा अन्य समुदायो मे बहुत सी बातो मे समानता है (जैसे दोनो मनुष्यो द्वारा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये बनायी गयी सस्थायें हैं), तथापि सदस्यता, क्षेत्र, अवधि, रचना, कार्य,

30 MacIver *The Modern State* p 5
31 राजनीति शास्त्र, खण्ड १, प २५।
32. वही।

उद्देश्य व अधिकार की दृष्टि से दोनों मे मौलिक अन्तर पाया जाता है।

सदस्यता में अन्तर—प्रथम, राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है। मनुष्य जन्म से ही राज्य का सदस्य बन जाता है और उसका परित्याग वह उसी समय कर सकता है जबकि वह देश से निर्वासित हो। समुदायो की सदस्यता इसके विपरीत व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है, वह जब चाहे उसे त्याग सकता है। वह किसी समुदाय का सदस्य बने बिना भी रह सकता है, लेकिन राज्य के बिना नही रह सकता।

दूसरे, हम एकसाथ कई समुदायो के सदस्य बन सकते हैं, किन्तु कई राज्यो के नही। डा गानर ने इस बात को यो लिखा है कि "एक मनुष्य उतने समुदायों का सदस्य हो सकता है जितनों की उसे इच्छा हो, लेकिन वह सामान्यत एक से अधिक मान्यताप्राप्त राज्यो का सदस्य नहीं हो सकता।"

क्षेत्र में अन्तर—राज्य का एक निर्धारित क्षेत्र या निश्चित प्रादेशिक सीमायें होती हैं, लेकिन समुदायो के लिये प्रादेशिक सीमायें या निर्धारित क्षेत्र आवश्यक नहीं है। अनेक समुदाय तो ऐसे होते हैं जो दूसरे राज्यो मे भी अपना कार्य करते हैं, जैसे रामकृष्ण मिशन। उनका कार्य क्षेत्र सारा संसार भी हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र के अतिरिक्त आज शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान, स्वास्थ्य, श्रम संघ, बाल कल्याण, पशु रक्षा आदि से सम्बन्धित अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ की स्थापना हो चुकी है।

अवधि मे अन्तर—समुदाय प्राय अस्थायी होते हैं, जो अपना कार्य पूरा करने के बाद बन्द हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, अकाल पीडित संगठन या बाढ़ पीडित समिति। कुछ समुदाय पारस्परिक मतभेदों या अन्य कारणो से भी समाप्त हो जाते हैं। राज्य, इसके विपरीत, सतत और स्थायी संस्था है। सरकारें जरूर बनती और बिगडती हैं, सम्प्रभुता एक केन्द्र से हटकर दूसरे केन्द्र मे पहुँच सकती है, लेकिन राज्य बराबर बना रहता है।

रचना मे अन्तर—राज्य की रचना कब और कैसे हुई यह कोई नहीं जानता, उसकी उत्पत्ति के विषय मे केवल अनुमान लगाया जा सकता है, लेकिन किसी समुदाय का जन्म कब और कैसे हुआ यह आसानी से खोजा सकता है।

कार्य मे अन्तर—आधुनिक राज्य का कार्य-क्षेत्र बडा व्यापक है, वह 'पालने से लेकर श्मशान तक' मनुष्य के जीवन की सभी आवश्यकताओ को पूरा करने का दायित्व लेता है, परन्तु समुदायो के कार्य बहुत सीमित होते हैं जिन्हे पूरा करने का केवल नैतिक दायित्व उन पर होता है।

उद्देश्य मे अन्तर—राज्य का उद्देश्य सामान्य और कुछ विशिष्ट विषयो से सम्बन्धित होता है। मकाइवर के शब्दो मे उसका ध्येय "सुरक्षा की स्थापना करना और आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखना" होता है। परन्तु समुदाय का निर्माण किसी निश्चित ध्येय या उद्देश्य को लेकर होता है, जैसे सांस्कृतिक समुदाय अपने क्रियाकलापो को सांस्कृतिक कार्यों तक ही सीमित रखेगा—वह आर्थिक या राजनीतिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

अन्य अन्तर—राज्य समुदाय मे कुछ अन्य भेद भी पाये जाते हैं, जिन्हें

हम निम्नाकित क्रम म रख सकते हैं —

(1) राज्य व समुदाय ने आय के साधना की दृष्टि से बड़ा अन्तर है। राज्य की आय के साधन अनेक होते हैं, लेकिन समुदाय के सीमित। राज्य को अपने सभी नागरिको पर कर इत्यादि लगाने का पूरा अधिकार होता है, लेकिन समुदाय केवल अपने सदस्यो से प्राप्त होने वाले ऐच्छिक च दे या अनुदान पर निर्भर करते हैं।

(2) राज्य के पास सेवा, पुलिस आदि ऐसे साधन होते हैं जिनके द्वारा वह अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है, लेकिन समुदाय के पास ऐसे साधन या शक्ति नहीं होती।

(3) राज्य बाह्य आक्रमण से अपने सदस्या की रक्षा करता है, समुदाय नही।

(4) राज्य के अधीन अनेक सघ या समुदाय होते हैं, कि तु समुदायो के अधीन कोई राज्य नही है।

(5) राज्य अन्य समुदायो का सचालक, नियामक और नियन्त्रक है। बार्कर ने लिखा है कि "राज्य का सामान्यत यह काय है कि वह समुदायों के साथ अपने सम्ब धों मे तालमेल स्थापित करे, उनमे पारस्परिक सन्तुलन बनाये तथा अपने सदस्यों के साथ उनके सम्बन्धों में सयोजन स्थापित करे।" अधिकांश समुदाय, इस प्रकार, राज्य के अधीन, निबल और राज्य की अपेक्षा कम शक्तिशाली होते हैं।

(6) राज्य ऐसे समुदायो को जो समाज म रागद्वेष, विरोध या अशान्ति फैलाते हैं, उनका अन्त कर सकता है, परन्तु समुदायो को राज्य पर प्रतिबन्ध लगाने या उसे मर्यादित करने का कोई अधिकार नही होता। मिस फालेट ने लिखा है "कोई भी समुदाय या समुदायों का कोई समूह मेरी (मनुष्य की) पूणता को अपने मे व्याप्त नहीं कर सकता और एक अवश राज्य मेरी पूणता को मांग करता है। मेरी आत्मा का निवास राज्य मे ही है।"

राज व्यवस्था
(Political System)

द्वितीय महायुद्ध तक 'राज्य' राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु था। राजनीति विज्ञान को राज्य का विज्ञान माना जाता था।[33] 1940 मे अमरीकी राजनीति शास्त्र वेत्ता यह महसूस करने लगे कि 'राज्य' को अपने विषय के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बताना अनुचित हैं, क्योकि इससे राजनीतिक गतिविधियो और अन्य राजनीतिक सघटनाओ को राजनीति शास्त्र के अध्ययन का मूल विषय बताया ही नही जा सकता। अत उन्होने एक ऐसे तत्व (variabe) की खोज शुरू की जो राज्य, सरकार, राज नीतिक गतिविधियो आदि उन सभी राजनीतिक सघटको को निहित करता हो जिनका

33 गानर की परिभाषा कि "राजनीति शास्त्र का प्रारम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है" मान्यता प्राप्त थी और लोकप्रिय भी।

कि वास्तव में राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। डविड ईस्टन ने इसे 'राज व्यवस्था' या 'राजनीतिक व्यवस्था' का नाम दिया और 1953 मे प्रकाशित अपनी नये विचारो वाली पुस्तक का नाम ही 'राज व्यवस्था' रखा, जिसमे राज्य पर केवल एक अध्याय है और वह भी यह सिद्ध करने के लिए कि राज्य अब राजनीति शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु नहीं है। राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन करने वाली आधुनिक पुस्तको जसे विण्टर और बेलोस कृत लोग और राजनीति (People and Politics) आदि, मे तो राज्य का नाम भी नही लिया गया है।

यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि राज्य जिसे राजनीति शास्त्र के साहित्य म इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था अचानक महत्वहीन कैसे हो गया ? ईस्टन की रचना मे ही इसका उत्तर मिल जाता है। उसके अनुसार यदि राजनीति शास्त्र को राज्य का अध्ययन करने वाला विषय माना जाय तो उन समुदायो की राजनीतिक गतिविधियो का अध्ययन तो इसके अन्तर्गत आ ही नही सकता जहाँ राज्य का आविर्भाव नहीं हुआ है। वतमान राज्य की धारणा अपेक्षाकृत नयी है और यह जरूरी नही कि राज्य हमेशा बना ही रहे। साम्यवाद तो राज्य को मिटाना चाहता ही है, फिर क्या राज्य के मिटने से राजनीति शास्त्र विषय भी समाप्त हो जायेगा ? अत राज्य को राजनीति शास्त्र का केन्द्र बिन्दु बनाना उसके क्षेत्र को सीमित करना है, क्योकि इससे हम युद्धो, क्रान्तियो, उपनिवेशवाद आदि के अध्ययन को गौण मानेंगे जो आज के राजनीतिक जीवन की यथार्थताएं हैं।

अत बोलचाल मे अब 'राज व्यवस्था' शब्द बहुत लोकप्रिय हो गया है। इसने पिछले कुछ वर्षों मे 'राज्य' शब्द को अपदस्थ करके लोगो की जुबान पर अधिकार जमा लिया है। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि पहले जिसे हम राज्य कहते थे वही अब 'राज व्यवस्था' है।

अर्थ और परिभाषा

'राज व्यवस्था' का अर्थ समझने से पहले हम 'व्यवस्था' (system) का अर्थ समझ लेना चाहिये। यह शब्द भौतिक विज्ञानो (physical sciences) से लिया गया है, जिनमे इसका अभिप्राय 'अन्तरक्रियाओं के ऐसे ढाचे (a set of elements standing in interaction) से होता है 'जिसकी सीमाएँ निश्चित की जा सकें।' सबसे सुपरिचित उदाहरण 'जविक व्यवस्था' (biological system) का है। हम देखते हैं कि मानव शरीर के विभिन्न अग—हृदय, फेफडे जिगर आदि—उसके जविक शरीर के अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निभर) भाग हैं। एक निश्चित पद्धति के अनुसार मानव शरीर को गतिशील रखने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं मे एक दूसरे से जुडे हुए वे नियमित ढग से अपना अपना काय सम्पादित करते रहते हैं। इसी प्रकार एक घडी, कार का इजन या कम्प्यूटर 'व्यवस्था' के अच्छे उदाहरण हैं। सूय ग्रहण और चन्द्र ग्रहण भी व्यवस्था के सूचक हैं। सक्षेप म, व्यवस्था के लिए जरूरी है कि उसका सगठन (ढांचा या set) हो या उसके अग सम्बद्ध होकर अन्तर क्रियाएँ करते हो। यदि किसी स्थान पर हमे सगठन है या सगठित होने के गुण पाये जाते हैं और उसके सभी अग एक दूसरे से

सम्बद्ध हो तो वहाँ व्यवस्था विद्यमान है। सभी व्यवस्थाओं मे तीन गुण पाये जाते हैं—

(1) व्यापकता अर्थात् सभी पारस्परिक क्रियाएँ इसके अन्तर्गत शामिल होती हैं।

(2) अन्योन्याश्रय (interdependence) अर्थात् सभी अंग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। जब एक अंग के गुणों मे परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव अन्य संघटकों पर भी पड़ता है, तथा

(3) सीमाएँ अर्थात् प्रत्येक व्यवस्था किसी एक निश्चित बिन्दु से प्रारम्भ होती है और एक निश्चित स्थान पर उसका अंत होता है।

'राज व्यवस्था' जैविक या यान्त्रिक व्यवस्था की भांति किसी राजनीतिक जीवन की अन्तरक्रियाओं के निश्चित ढाचे (set) के रूप मे देखने का दूसरा नाम है। यहा राजनीतिक शब्द पर भी दो लाइनें लिखना उचित व संगत होगा। अरस्तू के युग से अब तक राजनीतिक शब्द के भी अर्थ और रूप बदले हैं। आधुनिक शब्दावली मे राजनीतिक के अन्तर्गत शक्ति, नियम और सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाली गतिविधियाँ आती हैं। सारांश यह कि मानवीय सम्बन्धों की कोई भी संरचना (ढांचा) तब राजनीतिक व्यवस्था (राज व्यवस्था) बन जाती है, जब उसके अन्तर्गत शक्ति, नियम और सत्ता के तत्व दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

डेविड ईस्टन के शब्दों मे "राजनीतिक व्यवस्था सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार से विमुक्त किया हुआ अन्तरक्रियाओं का वह समूह है जिसके द्वारा समाज के मूल्यों का आवंटन किया जाता है।"[34]

राबर्ट डहल के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था संबंधों का वह स्थायी संरचना है जिसके अन्तर्गत शक्ति, नियम और सत्ता महत्वपूर्ण मात्रा में अन्तर्ग्रस्त हो।"

आमण्ड व पावेल के अनुसार जब कभी हम राज व्यवस्था की बात करते हैं तो "इसमें उन सब क्रियाओं को शामिल करते हैं जो वैध शक्ति के प्रयोग को प्रभावित करती है और इसलिए राज व्यवस्था मे न केवल व्यवस्थापिका, न्यायालय व प्रशासनिक एजेंसियां जैसी सरकारी संस्थायें ही शामिल होती हैं अपितु सभी संरचनाएँ राजनीतिक पहलू की दृष्टि से शामिल हो जाती हैं। इनमें रक्त सम्बन्ध और जाति समूह जैसी परम्परागत संरचनाएँ भी आती हैं और हत्या, दंगे, उपद्रव, प्रदर्शन जैसे अव्यवस्थित

34 Political System is a set of interactions abstracted from the totality of social behaviour through which values are for society

—David Easton, A Framework of Political pp 74 5

तत्व भी। साथ ही दल, दबाव गुट व संचार साधना जैसे औपचारिक संगठन भी शामिल होते हैं।"[35]

संक्षेप में, राज व्यवस्था एक गतिशील धारणा है। जीवित प्राणी की भांति परस्पर निर्भर अंगों द्वारा इसका निर्माण होता है। राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए हमें उसके विभिन्न अंगों व अंगों के बीच जटिल पारस्परिक निर्भरता की गहराई में जाना होगा। ये अंग स्वयं में महत्वपूर्ण हैं किन्तु राज व्यवस्था में इनका महत्व और भी अधिक हो जाता है क्योंकि समाज में वैध व्यवस्था बनाये रखने और परिवर्तन लाने वाली शक्तियों की उत्पत्ति करने वाले यही (अंग) होते हैं।

राज व्यवस्था की सामान्य विशेषताएँ
(Common characteristics of political system)

राजनीतिक व्यवस्थाएँ भिन्न भिन्न प्रकार के पर्यावरण के अन्तर्गत क्रियाशील रहती हैं। पर्यावरण की विभिन्नता के कारण प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की अपनी विशेषताएँ होती हैं। डहल ने उन विशेषताओं का निम्नांकित ढंग से उल्लेख किया है जो सामान्य रूप से अधिकांश राजनीतिक व्यवस्थाओं में पायी जाती हैं। इन्हें विभिन्न व्यवस्थाओं में पायी जाने वाली समानताएँ भी कहा जाता है—

(1) प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में साधनों का असमान वितरण पाया जाता है—धन, जानकारी, शक्ति की धमकी, मित्रता, सामाजिक स्तर, कानून बनाने का अधिकार, मत आदि साधन कहे जाते हैं। प्रत्येक व्यवस्था में ये साधन लोगों में असमान रूप से वितरित होते हैं। असमानता डहल के अनुसार चार कारणों से होती है—

(अ) प्रत्येक समाज में कार्यों का विशेषीकरण होता है, (ब) जन्म और उत्तराधिकार से लोगों की स्थिति असमान होती है, (स) लोगों के लक्ष्य व प्रेरकों में अन्तर होता है, तथा (द) विभिन्न व्यक्तियों की कार्य पहल करने की क्षमताओं में अन्तर होता है। राजतन्त्रीय और साम्यवादी व्यवस्थाएँ राजनीतिक साधनों पर व्यक्तियों के असमान वितरण की ही प्रतीक हैं।

(2) प्रत्येक राज व्यवस्था में नेताओं का यह प्रयास रहता है कि वे जिन साधनों का प्रयोग कर रहे हैं उन्हें वैध समझा जाए—शासक वर्ग यह प्रयत्न करता है कि शक्ति का प्रयोग करने पर भी नागरिक शक्ति की वैधता के लिए हिंसा, दमन या दण्ड का भय न समझकर, जनता के हित के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक समझें। यह विश्वास ही राज व्यवस्था को वैधता प्रदान करता है और शक्ति के प्रयोग को वैध ठहराता है। इस भावना के अभाव में राजनीतिक व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती। तानाशाही व्यवस्थायें भी इसीलिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका की स्थापना और चुनाव नाटक

35 Almond and Powell, 'Camparative Politics—A Developmental approach.' pp 17 18

रखती हैं।

(3) प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में विरोधी उद्देश्यों के समाधान का प्रयास किया जाता है—प्रायः यह देखा गया है कि एक राजनीतिक व्यवस्था में अनेक विरोधी उद्देश्यों वाले व्यक्ति होते हैं तथा इनके हितों व उद्देश्यों में [illegible] है [illegible] कभी-कभी सन्तुलन बिगड़ कर अस्थायित्व का [illegible] है। [illegible] शक्ति द्वारा, परस्पर विरोधी माँगों में सन्तुलन करके [illegible], प्रत्येक राज व्यवस्था ऐसी स्थिति का प्रयत्न करती है।

(4) प्रत्येक राज व्यवस्था में सदस्यों में [illegible] होती है ताकि वे अपनी इच्छानुसार नियमों का निर्माण [illegible] राज व्यवस्था की यह खास विशेषता है कि [illegible] और अवसरों के अनुकूल राजनीतिक [illegible] है। [illegible] राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक [illegible] रहती हैं।

(5) प्रत्येक राज व्यवस्था में [illegible] है—व्यक्तियों को प्राप्त राजनीतिक [illegible] होने के कारण कुछ लोग राज [illegible] हैं और कुछ असन्तुष्ट। [illegible] शासक वर्ग उस ही मात्रा [illegible] रखने में कभी सहायता [illegible] विरोधियों के साथ में [illegible] राज व्यवस्था में [illegible] है।

(6) [illegible] है—[illegible] राजनीतिक [illegible] विकास प्रत्येक राज [illegible] पृष्ठभूमि [illegible] प्रेरित करता है। [illegible] संघर्ष समूहों का [illegible] विचारधारा [illegible] सकती।

परिवतन है। जब मांगा, विचारा, उद्देश्यो अथवा समूहा की स्थिति म परिवतन जरूरी होता है तो सन्तुलन बनाये रखने के लिए व्यवस्था म परिवतन जरूरी होते हैं। अत प्रत्येक राज व्यवस्था गतिशील (dynamic) और सजीवता (Vitality) से युक्त होती है। स्वय टूटने स बचने के लिए परिवर्तन स्वीकार करती है।

राज व्यवस्था के काय
(Functions of political System)

हेराल्ड लासवेल ने राज व्यवस्था के निम्नांकित काय बताये हैं—

(1) सूचना (Intelligence) (5) क्रियान्वयन (Application)
(2) सस्तुति (Recommendation) (6) मूल्यांकन (Appraisal)
(3) नियम निर्माण (Prescription) (7) इति (Termination)।
(4) आह्वान (Innovation)

डेविड ईस्टन ने राज व्यवस्था के कार्यों को दो वग मे बाँटा है—निवेश (input) और निगत (output)। आमण्ड व पावल भी ईस्टन क इस वर्गीकरण स सहमत हैं और इसके अन्तगत राज व्यवस्था के निम्नांकित कार्यों का उल्लेख करते हैं—

निवेश कार्य (Input functions)	निगत कार्य (Output functions)
1 राजनीतिक सामाजीकरण और भर्ती	5 नियम निर्माण करना
2 हित उच्चारण (Intesest articulation)	6 नियम क्रियान्वयन करना
3 हित समूहीकरण (Iterest aggregation)	7 नियम के अनुसार न्याय करना
4 राजनीतिक सचार	

कार्यों की आमण्ड व पावल ने एक छ सूत्री योजना प्रस्तुत की है, जो निम्नांकित है—

(1) मागो को निर्धारित करना (Interest articulation),

(2) मागा को विभिन्न वैकल्पिक मांगो के रूप मे मिलना (Interest aggregation),

(3) आधिकारिक नियमो को निर्धारित करना,

(4) इन नियमो को लागू करना,

(5) नियमो के लागू किये जाने पर आवश्यकतानुसार निणय लेना, तथा

(6) विभिन्न प्रकार के कार्यों को पद्धति के भीतर और उसके पर्यावरण के बीच सचारित करना।

सभी लेखको का मत है कि सवप्रथम मांगें उत्पन्न होती हैं जो बाद म निवेश के रूप म बदल जाती हैं। राजनीतिक व्यवस्था के दो ही मुख्य काय हैं—निवेश और निगत। राज व्यवस्था स्थिर तभी होती है जब निवेश और निगत म उचित सतुलन होता है। तथा समथन का सयुक्त नाम निवेश है। जब ये निवेश महत्त्वपूण हो जाते हैं, तब इस सम्बन्ध म निणय लेती है। फिर उन निणयो को लागू किया जाता है। लागू

होने के बाद ये निर्णय नयी माँगो और निवेशों की उत्पत्ति (Peedback) करते हैं। इस प्रकार काय सम्पादन की यह क्रिया (निवेश निगत वाली) निरन्तर चलती रहती है अर्थात राज व्यवस्था क्रियाशील रहती है।

राज व्यवस्थाओं के विभिन्न प्रकार
(Types of Political Systems)

राज व्यवस्थाओं के अनेक प्रकार हो सकते हैं। जरूरी नहीं है कि कोई भी दो राज व्यवस्थाएँ एक सी हों फिर भी एप्टर (Apter) ने अध्ययन की सुविधा के लिए राज व्यवस्थाओं को दो वर्गों म बाँटने का सुझाव दिया है—प्रथम, सत्ता के केन्द्रीकरण की मात्रा के आधार पर राज व्यवस्थाओं का स्वरूप, और द्वितीय, उन मूल्यों के आधार पर राज व्यवस्थाओं का वर्गीकरण जि हैं कि सत्ताधिकारी मानते हैं।

वतमान राज व्यवस्थाओं की सरचनाओं (ढाँचो) और सस्कृतियों के आधार पर आमण्ड ने उनका वर्गीकरण कर राज व्यवस्था के चार प्रकार बताये हैं—

(1) आंग्ल-अमरीकी राज व्यवस्थाएँ,
(2) महाद्वीपीय (यूरोपीय) राज व्यवस्थाएँ,
(3) प्राग औद्योगिक अथवा आंशिक दृष्टि से औद्योगिक राज व्यवस्थाएँ, तथा
(4) सर्वाधिकारवादी राज व्यवस्थाएँ।

ब्लाण्डेल ने राज व्यवस्थाओं के पाँच प्रकार बताये हैं—

(1) उदारवादी जनतंत्र
(2) साम्यवादी राज व्यवस्थाएँ
(3) परम्परावादी राज व्यवस्थाएँ
(4) विकासशील राज व्यवस्थाएँ, तथा
(5) सत्ताधारी अनुदारवादी व्यवस्थाएँ।[36]

उनके अनुसार पश्चिमी और गर पश्चिमी राज व्यवस्थाओं मे विशेषीकरण के आधार पर अन्तर किया जा सकता है। वे राज व्यवस्थाएँ जो राजनीतिक दलों के माध्यम से हितों का समूहीकरण करके सरचनात्मक स्वरूप ग्रहण करती हैं, दूसरे प्रकार की व्यवस्थाओं से अलग की जा सकती हैं।

मूल्यांकन और महत्त्व

राज व्यवस्था की अवधारणा इस प्रकार, राजनीति शास्त्र मे नये विकास की सूचक है। राजनीति शास्त्र को वैज्ञानिक और प्रभावशाली बनाने के लिए बहुत दिनों से एक ऐसे विश्लेषण के व्यापक ढाँचे (सरचना) की आवश्यकता थी जो उन सभी तत्वों तथा उन सभी प्रकार के समाजों का (चाहे वे आकार सस्कृति, शैक्षिक स्तर, शासन व्यवस्था, औद्योगीकरण और आधुनिकीरण की दृष्टि से कितने ही भिन्न क्यों न हों) विश्लेषण कर सके जो आज तक के राजनीतिक जीवन का आधार हैं और जिनकी परम्परावादी राजनीति शास्त्र वेत्ताओं ने अवहेलना की है। राज व्यवस्था की अवधारणा इस उद्देश्य की पूर्ति करती है। राज्य, राष्ट्र, सरकार आदि किसी से भी यह शब्द

36 J Blondel, Comparative Political System,' 1971 pp 41-43

अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त राजनीतिक क्रियाएँ आ जाती हैं, चाहे ही उनका सम्बन्ध स्थान विशेष के मानवीय समुदाय की किसी भी संस्था से हो या किसी भी स्थान पर घटित हो।

राजनीतिक क्रियाएँ केवल राज्य या सरकार तक ही सीमित नहीं हैं। वे परिवार, क्लब, धार्मिक ठिकानों और उन संस्थाओं में भी पायी जाती हैं जहाँ व्यक्ति को एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त, राज व्यवस्था से यूरोप और अमरीका के तथाकथित सभ्य राजनीतिक जीवन और उनके विपरीत एशिया व अफ्रीका के विकासशील राजनीतिक जीवन दोनों को एक ही शब्द के अन्तर्गत रखकर अध्ययन करने में सहायता मिलेगी। आमण्ड व पावेल लिखते हैं कि "राज्य शासन और राष्ट्र जैसे पुराने शब्द वैधानिक और संस्थागत अर्थों में सीमित हैं और हमारा ध्यान संस्थाओं के एक विशेष समूह की ओर आकर्षित करते हैं जो सामान्यतः आधुनिक पश्चिमी समाजों में पाया जाता है। लेकिन यह अध्ययन निश्चित रूप से अपूर्ण है। प्रथम, गैर पश्चिमी देशों (साम्यवादी और विकासशील देशों) की राजनीतिक संस्थाएँ पश्चिमी देशों से आधारभूत रूप से भिन्न लेकिन उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी पाश्चात्य संस्थायें। इसके अलावा सभी समाजों में औपचारिक (सरकारी) संस्थाओं की भूमिका का निर्धारण अनौपचारिक समुदायों, राजनीतिक दृष्टिकोणों और विविध प्रकार अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धों से होता है। अतः यदि सभी प्रकार के समाजों में उपलब्ध राजनीतिक विषय सामग्री का विवेचन करने की दृष्टि से राजनीतिक शास्त्र को वास्तव में प्रभावशाली बनाना है तो हम विश्लेषण के लिए एक व्यापक संरचना की आवश्यकता होगी—जो राज व्यवस्था है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 राज्य की परिभाषा दीजिए तथा उसके विभिन्न तत्वों का वर्णन कीजिए। क्या हम निम्नांकित को राज्य कह सकते हैं—मद्रास, श्रीलंका, संयुक्त राष्ट्र, राजस्थान, बंगला देश।

(आगरा 1967, 68,72,82, पंजाब 1962, 63,65, गोरखपुर 1961,63,64, 65, दिल्ली 1963, 66, जोधपुर 1963, 67, 69, राजस्थान 1963 1964, 1976)

2 राज्य की परिभाषा बतलाइये तथा राज्य और समाज और सरकार में अन्तर स्पष्ट कीजिए। (आगरा 1966, जोधपुर 1962, राज 19 9)

3 राज्य तथा अन्य समुदायों में क्या भेद है ? (पंजाब 1962,64 65, राजस्थान 1967), दिल्ली 1963 67, आगरा 1958,61, विक्रम 1965, लखनऊ 1968, गोरखपुर 1964)

4 आपके विचार से एक राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यक विशेषताएँ क्या हैं ? ये किन अवस्थाओं में राज्य से भिन्न होती हैं ? (राजस्थान 1976)

5 राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा का परीक्षण करें, एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों को इंगित करें। (राजस्थान 1978, 79, 80)

6 राज व्यवस्था के कार्य और प्रकार बतायें।

अध्याय ६

राज्य की प्रकृति
(Nature of the State)

"एक वाक्य में राज्य की प्रकृति का अभिप्राय है कि यह अशत यान्त्रिक व अशत सावयवी है कि यह एक मानवीय सस्था है कि यह शक्ति और इच्छा दोनों पर आधारित है तथा सामाजिक समन्वय हेतु यह एक नैतिक व्यवस्था है।"

—इलयास अहमद

राज्य की प्रकृति का निर्धारण एक बडा उलझा हुआ प्रश्न है। समाजशास्त्री राज्य को एक 'सामाजिक वास्तविकता या सघटना' के रूप म देखते हैं तो इतिहासकार उसे 'ऐतिहासिक शक्तियो का स्रोत' मानते हैं। नीतिशास्त्रियो के लिये राज्य 'नैतिक लक्ष्यो की प्राप्ति का अभिकरण है' तो मनोवैज्ञानिको के लिये 'भौतिक नियमो के अनुरूप अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करने वाला सगठन'। विधिशास्त्रियो के लिये राज्य एक 'कानूनी सस्था' है तो राजनीति शास्त्र वेत्ताओ के लिए 'सरकार के उद्देश्यो की पूर्ति के लिये बनाया गया राजनीतिक सगठन'। जीवशास्त्री राज्य को एक जीवधारी वस्तु' मानते हैं तो मार्क्सवादी उसे 'शोषण का साधन'। साराश यह कि प्रत्येक विद्वान् या विद्वानो का वर्ग अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही राज्य की व्याख्या करता है। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे यह मत विभिन्नता उसके उद्देश्यो और कार्यों मे भी मतैक्यता नही आने देती। लेकिन फिर भी राज्य की प्रकृति के विषय मे प्रतिपादित इन विभिन्न सिद्धान्तो का महत्त्व है, क्योकि इनसे हमे राज्य के सही रूप को समझने म सहायता मिलती है। कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नांकित हैं

राज्य का जीवशास्त्रीय या सावयवी सिद्धान्त
(Organic Theory of the State)

राज्य की प्रकृति के विषय मे यह सबसे पुराना और लोकप्रिय सिद्धान्त है। इसकी मान्यता है कि राज्य एक मानव शरीर की भांति है। जिस प्रकार एक शरीर में विभिन्न अग होते हैं तथा पारस्परिक सम्बन्धो के आधार पर वे कार्य करते हैं उसी तरह राज्य भी अनेक अगो से मिलकर बना है। शरीर के रक्तकणो (cells) का जो सम्बन्ध शरीर के साथ है ठीक वही सम्बन्ध मनुष्य का राज्य के साथ है। गार्नर ने जीवशास्त्रीय या सावयवी सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "सावयवी सिद्धान्त एक जीव-वैज्ञानिक धारणा है जो राज्य को एक शरीरधारी व्यक्ति मानता है। इसका

करने वाले व्यक्तियो को जीव-कोष (cells) के समान समझती है तथा राज्य। व्यक्तियो के मध्य ठीक उसी प्रकार अन्योन्याश्रित सम्बन्धो की कल्पना करती है जैसा शरीर और उसके अगो के बीच होता है।"

इस सिद्धान्त का निर्माण मुख्यत सविदा सिद्धान्त' (Contract Theory) के परिणामो को गलत सिद्ध करने के उद्देश्य से किया गया। सावयवी सिद्धान्त को मानने वाले राज्य की गतिविधि को स्वाभाविक मानते हैं, जबकि सविदावादी राज्य को बनावटी और अस्वाभाविक सस्था मानकर उसकी गतिविधियो को यन्त्रवत मानते हैं जिन्हें शासक अपनी इच्छानुसार चलाता है।

सिद्धान्त का विकास—इस सिद्धान्त का आभास सवप्रथम हमे वेदो, शुक्रनीति और महाभारत आदि प्राचीन भारतीय धम-ग्रन्थो मे मिलता है। यूनानी विचारको प्लेटो और अरस्तू ने भी राज्य और मानव-शरीर मे समानता देखी थी। प्लेटो ने अपने गणराज्य (Republic) की तुलना एक बड़े डील डौल वाले मनुष्य से की है तथा राज्य और व्यक्ति के कार्यों को समानान्तर बताया है। अरस्तू ने राज्य के गठन की तुलना आत्मा से की है, जो मानव-शरीर को सचालित करती है। रोमन युग में इस विचार को दाशनिक सिसरो का समथन प्राप्त हुआ जो राज्य के प्रधान को आत्मा की उपमा देता है। मध्ययुगीन यूरोप मे थॉमस एक्विनास, जान ऑफ सलिसबरी, मार्सीलिओ ऑफ पडुआ, ओकहम, अल्यूसियस आदि विद्वानो ने इस सिद्धान्त का समथन किया। इसके उपरान्त हाब्स ने अपने राज्य को लेवियाथन (एक विशालकाय कृत्रिम दानव) की सज्ञा देकर राज्य और प्राणी शरीर में समानता होने की पुष्टि की।

फ्रास की राज्यक्रान्ति के बाद सावयवी सिद्धान्त का महत्त्व घटने लगा, क्योंकि लोग राज्य को एक बनावटी वस्तु मानने लगे थे। १९वीं शताब्दी मे इस विचारधारा को पुन प्रोत्साहन मिला। क्रोस, वेटज, गोरेज, जकारिया, फिक्टे, ब्लटली आदि जमन दाशनिको ने विस्तार के साथ इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ब्लटली का मत था कि मानव शरीर की भाँति राज्य मे भी क्रियाएँ होती हैं। "जिस प्रकार एक तल चित्र तेल के बिन्दुओं का सग्रह मात्र नहीं, उससे कुछ अधिक है, जैसे एक प्रस्तर मूर्ति पत्थर के टुकडो का सग्रह मात्र नहीं है तथा जसे मनुष्य जीव-कोष और रुधिर कोषों का सग्रह मात्र नहीं वरन उसस कुछ अधिक है, उसी तरह राष्ट्र नागरिकों का समूह मात्र नहीं और राज्य केवल वाह्य कानूनो का सग्रह मात्र नहीं, उससे कुछ अधिक है।"

सावयवी सिद्धान्त को सर्वाधिक ख्याति हरबट स्पन्सर द्वारा मिली है जिसने अपना पुस्तक प्रिंसिपल्स आफ सोसियोलाजी' मे इस सिद्धान्त की अत्यधिक व्यापक व्याख्या की है। स्पन्सर के बाद आगस्ट काम्टे, एलबट शफिल टाड डिग्ट, फौले आदि बहुत स दाशनिको ने स्पन्सर द्वारा विकसित सावयवी सिद्धान्त का समथन किया है।

स्पन्सर का सावयवी सिद्धान्त—डार्विन के विकासवाद से प्रभावित होकर स्पन्सर ने जीव शास्त्र क अनेक नियमो को सामाजिक विकास पर लागू किया है। वह सुसगठित समाज और प्राणी शरीर म सगठन और आवश्यक लक्षणो की दृष्टि से समानता मानता है जिसे निम्नाकित ढग स व्यक्त किया जा सकता है —

समाप्त हो जायेगी, परन्तु राज्य के साथ ऐसी सभावना नही है।

द्वितीय, चेतना केन्द्र की अवस्थिति की दृष्टि से भी दोनो मे भेद है। प्राणी शरीर मे चेतना शरीर के एक छोटे से भाग मे केन्द्रित होती है और वही शरीर का ज्ञान-केन्द्र होती है, लेकिन राज्य में ऐसे चेतना-केन्द्र की कमी होती है, उसम प्रत्येक व्यक्ति की अपनी पृथक और स्वतन्त्र चेतना होती है।

तीसरे, प्राणी शरीर और राज्य के उद्देश्यो मे भिन्नता होती है। राज्य का अस्तित्व उसके सदस्यो के लाभ के लिये है सदस्यो का अस्तित्व राज्य के लाभ के लिये नहीं। इसके विपरीत प्राणी शरीर के अगो का लाभ शरीर के लाभ पर ही निभर रहता है।

स्पेंसर के सिद्धान्त से इस प्रकार अतिवादी व्यक्तिवाद की बू आती है। वह नैसर्गिक अधिकारो के सिद्धान्त का पोषक है। प्रो बार्कर ने उसके सावयवी सिद्धान्त में पायी जाने वाली राज्य व शरीर की समानताओ और असमानताओ का मूल्याकन करते हुए ठीक ही लिखा है कि **"स्पन्सर राज्य के सावयवी सिद्धान्त को जहाँ वह उपयोगी होता हैं स्वीकार कर लेता है और जहाँ उपयोगी नहीं होता वहाँ छोड़ देता है।"**

आलोचना

सावयवी सिद्धान्त राज्य को जीवित शरीर की भाँति मानता है। जिस प्रकार शरीर के अग एक दूसरे पर निभर रहते हैं और एक दूसरे के सहयोग से ही सम्पूर्ण शरीर का विकास होता है उसी तरह व्यक्तियो के पारस्परिक सहयोग और कल्याण पर उनके द्वारा बने समाज का विकास व कल्याण सम्भव है। लेकिन इस सिद्धान्त को जब उदाहरण या उपमा के रूप में प्रयोग न करके वास्तविकता मान लिया जाता है तो यह बेतुका बेकार और आलोचना का विषय बन जाता है। सामान्यत निम्नांकित आधार पर सावयवी सिद्धान्त की आलोचना की जाती है —

(१) समता काल्पनिक है—शरीर का निर्माण करने वाले तत्वो तथा समाज का निर्माण करने वाले तत्वो (व्यक्तियो) में केवल काल्पनिक समानता है। प्राणी शरीर के रक्तकण केवल द्रव्य के टुकड़े होते हैं जिनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। इनका अस्तित्व केवल जीवन की सहायता करने के लिये होता है। यदि इन्हें शरीर से पृथक कर दिया जाय तो ये जीवित ही नही रह सकते। राजनीतिक समाज के तत्वो (व्यक्तियो) की दशा इसके विपरीत है। व्यक्ति राज्य के जीवन का भाग होते हुए भी स्वय जीवन का केन्द्र भी है। वह राज्य से पृथक किया जा सकता है। पृथक होकर वह जीवित रह सकता है—यह सम्भव है कि उसका विकास रुक जाय।

दूसरे, शरीर के अवयवो की कोई पृथक् इच्छा व चेतना नहीं होती, वे केवल भौतिक प्रणाली के यान्त्रिक अग होते हैं। जबकि राजनीतिक समाज के घटकों (व्यक्तियों) का पृथक व्यक्तित्व, इच्छा व चेतना होती है।

(२) जन्म, उन्नति और पतन की विधि समान नहीं है—प्राणी शरीर के जन्म लिये स्त्री और पुरुष के सगर्ग की आवश्यकता होती है परन्तु राज्य रूपी शरीर के यह आवश्यक नहीं। प्राणी शरीर नश्वर है। व्यक्ति जवान होता है फिर बूढ़ा

होता है और अन्त मे मृत्यु का शिकार बनकर सदा के लिये लुप्त हो जाता है, लेकिन राज्य रूपी शरीर अजर है, अमर है। उस पर शशव, यौवने, प्रौढ़त्व, वृद्धत्व इत्यादि प्रक्रियाएँ लागू नहीं होती। जलीनेक ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि "उन्नति, पतन और मृत्यु राज्य-जीवन की आवश्यक रीतियाँ नहीं हैं, यद्यपि जीवधारी रचना के जीवन से उन्हें जुदा नहीं किया जा सकता। राज्य एक पौधे या पशु की तरह अपनी उत्पत्ति अथवा पुनरचना नहीं करता।"

(३) अगों के स्थान निर्धारण मे अन्तर—प्राणी शरीर में प्रत्येक अग का स्थान निश्चित होता है, परन्तु राज्य मे ऐसा नहो होता।

दूसरे, शरीर मे एक स्थान पर सोचने विचारने की शक्ति होती है—प्रत्येक अग मे नही। परिणामस्वरूप प्राणी शरीर के सम्बन्ध म इच्छा तथा आदेश का द्वन्द्व नही होता। लेकिन राज्य रूपी शरीर के प्रत्यक अग मे सोचने विचारने की शक्ति होती है और बहुत बार उनके विचारो मे आपसी मतभेद भी होता है। स्वय स्पन्सर ने इस बात को स्वीकार भी किया था कि राज्य अथवा समाज मे किसी एक स्थान पर केन्द्रित चेतना नहीं पायी जाती, वह बटी हुई ही रहती है।

(४) अगों के विस्तार में अन्तर—प्राणी शरीर से राज्य की तुलना करते हुए स्पन्सर ने यह दोष भी अनुभव किया कि जहाँ मानव शरीर के विभिन्न अगो म निकट-तम सम्बन्ध पाया जाता है वहाँ राज्य रूपी शरीर के अग (नागरिक) बहुत विस्तार स फैले हुए रहते हैं।

(५) व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो की सन्तोषजनक व्याख्या का अभाव—आलोचको की राय है कि सावयवी सिद्धान्त न तो व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो की कोई सन्तोषजनक व्याख्या ही कर पाता है और न राज्य के कत्तव्यो की सवमान्य विवेचना ही कर सका है। स्पन्सर व्यक्तिवाद का समथन करने के लिय इस सिद्धान्त का प्रयोग करता है और राज्य के कार्यों को केवल हिंसा तथा धोखे से नागरिको को बचाने तक सीमित रखता है, जबकि जमन लेखक इस सिद्धान्त के माध्यम से उग्र समाजवाद और राज्य के निरकुशवाद का समथन करते हैं। हक्सले भी जमन दार्शनिको से सहमत है। उसकी मान्यता है कि मानव शरीर मे मस्तिष्क सभी अगो पर निरकुश शासन करता है, अत यदि समाज को शरीर माना जाय तो राज्य का कत्तव्य सम्बन्धी सिद्धान्त निरकुशवाद का होगा, व्यक्तिवाद का नही। जलीनेक ने लिखा है कि "हमारे लिये अच्छा तो यही है कि हम पूणत इस सिद्धान्त को रद्द कर दें अन्यथा समता की इसकी बेहद राशि उस अच्छाई को नष्ट कर देगी जो थोडी-सी सचाई इस सिद्धान्त मे विद्यमान है।"

(६) तुलना हास्यास्पद है—अनेक लोगो का मत है कि राज्य और मानव शरीर की तुलना हास्यास्पद है। राज्य के सावयवी सिद्धान्त की अपेक्षा उसे यदि राज्य का मनोवज्ञानिक विचार कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि राज्य या समाज किसी ठोस वस्तु की भाँति दिखायी नही देता, केवल मस्तिष्क मे ही उसकी कल्पना की जा सकती है। बार्कर ने लिखा है कि "राज्य एक जीवधारी नहीं है, किन्तु वह जीवधारी

के समान है। वह जीवधारी नहीं है, क्योंकि उसकी बनावट शारीरिक नहीं है। वह एक मानसिक बनावट है—सामान्य उद्देश्य के लिये यह विभिन्न विभागों का संगठन है।"

महत्त्व

उपर्युक्त आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं कि राज्य की प्रकृति का सावयवी सिद्धान्त सर्वथा महत्त्वहीन है। राज्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इस सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। इस सिद्धान्त के द्वारा अरस्तू के उस तर्क को कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" पर्याप्त बल मिलता है, क्योंकि यह सिद्धान्त मानता है कि सामाजिक संगठन की प्रवृत्ति ही राज्य का निर्माण करती है। यह सिद्धान्त हमें सिखाता है कि समाज व्यक्ति पर और व्यक्ति समाज पर अपने विकास के लिये निर्भर है तथा राज्य के अभाव में सभ्य और व्यवस्थित मानव जीवन की सत्ता सम्भव नहीं है। अट्ठारहवीं शताब्दी के क्रान्तिकारियों की इस यान्त्रिक धारणा का कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है और उसे इच्छानुकूल परिवर्तित किया जा सकता है, इस सिद्धान्त ने खण्डन करके बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कचिन (Kechino) के विचार से "यह सिद्धान्त न केवल सही है, अपितु इसमें सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन के बीज विद्यमान हैं।"

सारांश यह कि सावयवी सिद्धान्त से राज्य के स्वरूप को समझने में मदद मिलती है, परन्तु प्राणी शरीर से राज्य की इस रूप में तुलना करना कि राज्य को एक वास्तविक शरीर मान लिया जाय, युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

विधिशास्त्रीय सिद्धान्त
(The Juridical Theory)

विधिशास्त्री राज्य को एक ऐसी संस्था मानते हैं जो कानूनों का निर्माण, उनकी व्याख्या तथा कानूनों द्वारा ही उन्हें लागू करने का काम करती है। इस सिद्धान्त का जन्म पिछली शताब्दी में हुआ है तथा इसके प्रतिपादन का श्रेय जर्मन विधिशास्त्रियों को दिया जाता है। इनमें स्वाल, स्टीन, गर्बर, जिर्क, ट्रीटस्के, लाबन्द, जैलीनेक आदि मुख्य हैं। विधिशास्त्रियों की मान्यता है कि चाहे कानून की सत्ता राज्य से पुरानी ही क्यों न हो, कानून का एकमात्र स्रोत वर्तमान में राज्य ही है और उसका मुख्य उद्देश्य कानून के अनुसार शासन करना है। जो लोग कानून का उल्लंघन करते हैं राज्य उन्हें दण्ड देने का अधिकारी है तथा राज्य द्वारा स्वीकृत तथा कानूनों द्वारा मान्य कार्य ही वैध कहलायेंगे। संक्षेप में, इसकी मुख्य मान्यताओं को निम्नांकित क्रम में व्यक्त किया जा सकता है —

(१) कानून का एकमात्र स्रोत राज्य है।

(२) कानून निर्माण करना, उसकी व्याख्या करना, उसे लागू करना राज्य का कार्य है।

(३) कानून के निर्माण में राज्य की शक्ति असीमित होती है तथा उसका ... व्यापी होता है।

(४) राज्य की दृष्टि मे केवल वे ही बातें ठीक (विधेय) हैं जो कानून के रूप मे स्वीकृत हैं। यायालय केवल उन्ही को अपनी दृष्टि मे रखते हैं।
(५) राज्य कानून का साधन व साध्य दोनों है। राज्य के आदेश ही कानून हैं।
(६) राज्य की इच्छा एव व्यक्तित्व पृथक होता है।

राज्य का व्यक्तित्व—विधिशास्त्रियो की राय है कि जिस प्रकार व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा व चेतना होती है, वैसी ही राज्य की भी होती है। ब्लशली के शब्दों में उसका "व्यक्तित्व कल्पित न होकर वास्तविक होता है।" कानूनी व्यक्तित्व के रूप मे राज्य अपने नागरिकों पर मुकदमा चला सकता है और नागरिक राज्य पर मुकदमा दायर कर सकते हैं। व्यक्तियों की तरह राज्य भी अपनी सम्पत्ति रख सकता है। उसे खरीद व बेच सकता है। उसका पृथक कानूनी अस्तित्व होता है। उसे न केवल वर्तमान मे अपितु भविष्य म भी अपने नागरिकों के हितों का ध्यान रखना है।

सिद्धान्त की आलोचना

विधिशास्त्रीय सिद्धा त के आलोचको मे लेफर व डिग्वी का प्रमुख स्थान है। लेफर के विचार से विधिशास्त्रीय सिद्धान्त में "कल्पित व्यक्ति की धारणा है, यह समझना सरल है, किन्तु यह समझना मुश्किल है कि एक कल्पित व्यक्ति भी अधिकारो से युक्त हो सकता है।"

डिग्वी के विचार से 'विधिशास्त्रीय सिद्धान्त केवल कपोलकल्पना तथा वास्तविकता से रहित है।"

संक्षेप मे, राज्य को कानूनी संस्था के रूप मे देखना, फिर उसकी मानवीय व्यक्तित्व से समता स्थापित करना तथा उसकी वास्तविक शक्ति व क्षेत्राधिकार की चर्चा करना बड़ा असंगत व हास्यास्पद दिखायी देता है।

महत्त्व

इन कमजोरियों के बावजूद विधिशास्त्रीय सिद्धान्त का एकदम खण्डन नहीं किया जा सकता। राज्य के स्वरूप के विषय में इस सिद्धान्त की एक निश्चित धारणा है। उद्योग, मुकदमेबाजी व सम्पत्ति के क्रय विक्रय के क्षेत्र में राज्य का स्वभाव मानव से मिलता-जुलता है। राज्य के विशिष्ट कानूनी व्यक्तित्व को पूरी तरह अस्वीकार करना मुश्किल है।

यान्त्रिक सिद्धान्त
(Mechanistic Theory)

इस सिद्धा त के अनुसार राज्य एक मशीन (यन्त्र) है। जिस प्रकार मशीन एक पूर्वनियोजित तरीके से विभिन्न पुर्जों के मेल से बनती है और उसम खराबी होने पर बनाने वाला अपनी इच्छा व योग्यता से उस सुधार लेता है, उसी प्रकार मनुष्यो ने

अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिय राज्य की रचना की है। व अपनी इच्छानुसार उसमे सुधार या फेरबदल भी कर सकते हैं। राज्य को यन्त्र या मशीन मानने की इस धारणा के कई निष्कर्ष निकलते हैं —

प्रथम, मनुष्यो ने अपनी इच्छा से जानबूझकर राज्य को बनाया है।

द्वितीय, राज्य की स्थापना के पूर्व मनुष्यो का पुर्जों की तरह पृथक अस्तित्व था।

तृतीय, मनुष्य और राज्य का सम्बन्ध कृत्रिम है।

चतुर्थ, यदि राज्य मे कोई दोष दिखायी दे तो उसे अपनी योजना के अनुसार नये सिरे से सुधार लेना चाहिये।

सिद्धान्त का विकास

सबसे पहले यूनानी सोफिस्टो मे इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। वे मनुष्य को झगडालू और स्वार्थी मानते थे तथा राज्य संस्था को बनावटी समझते थे। उनका विचार था कि दुबलो को सताने और उनके शोषण के लिय शक्तिशाली लोगो ने समझौता करके राज्य की स्थापना की थी। सत्रहवी शताब्दी म थॉमस हाब्स ने इस सिद्धान्त का बडा समर्थन किया। उसका विचार था कि राज्य तभी तक कायम है जब तक उसके शासक मे संगठन करने की योग्यता व शक्ति है। राज्य समाप्त होते ही व्यक्ति मशीन के पुर्जों की तरह बिखरकर पुन प्राकृतिक अवस्था म पहुच जायेंगे। हाब्स के बाद इस विचारधारा को मामूली फेरबदल के साथ जान लाक, थामस पेन व बेन्थम आदि विचारको ने भी स्वीकार किया। भारतीय विद्वानो मे अरविन्द घोष, महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी राज्य को एक यन्त्र माना है। अरविन्द घोष के ही शब्दो मे, 'राज्य एक सावयव नहीं, वरन एक यन्त्र है तथा यन्त्र की भांति ही कार्य करता है—जिसमे कुशलता, सुरुचि, कोमलता तथा अन्तर्ज्ञान नहीं होता।"

मूल्यांकन

यान्त्रिक सिद्धान्त राज्य के प्रति शंका, सन्देह और शत्रुता की भावना म दम्भ है। इसने राज्य को कृत्रिम बताकर उसका बहुत अस्वाभाविक वर्णन किया है। यन्त्रों की भांति राज्य म इच्छानुसार परिवर्तन व सुधार कर लेने की बात करना गले नहीं उतरती। इसे मानने का अर्थ डार्विन के विकासवाद का खण्डन होगा। लेकिन फिर भी राज्य के स्वरूप को समझने के लिय यह एक नया दृष्टिकोण देता है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारो के समर्थन करने वालो ने प्राय इसी सिद्धान्त का सहारा लिया है। पुरातनपोषी दृष्टिकोण के खिलाफ आन्दोलन चलाने वालो तथा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तो के आधार पर नयी शासन-व्यवस्था कायम करने वालो को इस सिद्धान्त से बडी प्रेरणा मिली है।'

आदर्शवादी या प्रत्ययवादी सिद्धान्त
(The Idealistic Theory)

आदर्शवादी या प्रत्ययवादी सिद्धान्त को विद्वानो ने विभिन्न नामो से पुकारा है। बोसांके इस 'दार्शनिक सिद्धान्त' (Philosophical Theory) कहता है तो हॉबहाउस 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Metaphysical Theory)। कुछ अन्य व्यक्ति इसे 'निरकुशतावादी सिद्धान्त' (Absolutist Theory) भी कहते हैं।

यह सिद्धान्त राज्य को एक आध्यात्मिक जीव मानता है जो समाज के लिये नैतिक मापदण्ड निर्धारित करता है, किन्तु स्वय सभी प्रकार के नैतिक बन्धनो से मुक्त होता है। आदर्शवाद राज्य को सर्वोच्च सत्ता मानते हुए व्यक्ति को पूरी तरह इसके अधीन बताता है और उस या किसी भी मानवीय समुदाय को राज्य के विरुद्ध किसी भी प्रकार के अधिकार प्रदान करने का विरोधी है।

इस सिद्धान्त का प्रारम्भिक उल्लेख हमें प्लेटो व अरस्तू की रचनाओ मे मिलता है जो राज्य को सर्वोच्च नैतिक सस्था मानते थे। लेकिन इसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय जर्मन दार्शनिकों—काण्ट व हीगल—को है। काण्ट (१७२४–१८०४) के विचार से राज्य सर्वशक्तिमान, दोषशून्य और ईश्वरीय होता है जिसकी आज्ञा का पालन किया जाना चाहिये। उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह सर्वथा अनुचित है। हीगल (१७७० १८३१) राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण बताता है।[1] डा गार्नर के शब्दो मे 'हीगल की दृष्टि मे राज्य ईश्वरीय राज्य है जो कोई गलती नही कर सकता। राज्य सर्वशक्तिमान है, सभ्रान्त है और अपने हित मे नागरिको के प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। राज्य अपनी श्रेष्ठता और उस त्याग के बल पर, जो वह व्यक्ति से करा सकता है, स्वार्थी प्रकृति वाले व्यक्ति को ऊँचा उठाता है, उसे श्रेष्ठ बनाता है तथा उसे सार्वलौकिक तत्त्व के जीवन मे वापस पहुँचा देता है।"[2] हीगल के कुछ अनुयायियो—बोसाके, नीत्शे, ट्रीटस्के, बर्नहार्डी आदि—ने आदर्शवाद को उग्रवादी ढग से विकसित किया है तो इगलण्ड के प्रसिद्ध विचारक थॉमस ग्रीन (१८३६-१८८२) ने इसकी काफी सयत और उदारवादी व्याख्या की है।

ग्रीन के विचार से राज्य प्राकृतिक, आवश्यक तथा मानवीय सस्थाओ का अन्तिम रूप हैं। वह नैतिकता का निर्धारक नही है और न ही व्यक्ति राज्य का पूरी तरह गुलाम है। राज्य और व्यक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। राज्य के विकास के लिये युद्ध अनिवार्य नही है। राज्य का वास्तविक कार्य अच्छे जीवन के मार्ग मे आने वाली बाधाओ के रास्ते मे रोडे अटकाना है।

आदर्शवादी या प्रत्ययवादी सिद्धान्त की मुख्य मान्यताओ को सक्षेप मे निम्नांकित ढग से व्यक्त किया जा सकता है —

(१) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

---

1 "The State is a march of God upon earth

2. Garner *Political Science and Government* pp 213-4

(२) राज्य एक स्वाभाविक संस्था है, कृत्रिम नहीं।
(३) राज्य एक आध्यात्मिक जीव है।
(४) राज्य प्रभु (ईश्वर) का साकार रूप है।
(५) राज्य नैतिकता का स्रोत है।
(६) राज्य विवेकसम्पन्न और अच्युत है, वह कोई गलती नहीं कर सकता।
(७) राज्य साध्य है, साधन नहीं—साधन है व्यक्ति जिसके हितों को राज्य के हितों के लिये बलिदान किया जा सकता है।
(८) राज्य का अपना पृथक व्यक्तित्व और इच्छा होती है।
(९) राज्य नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों का स्रष्टा व संरक्षक है।
(१०) राज्य व व्यक्ति के हितों में संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं होती, क्योंकि राज्य व्यक्ति की वास्तविक इच्छा (real will) का ही प्रतिनिधित्व करता है।

आदर्शवाद की आलोचना

आदर्शवादी सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई है। इसके आलोचकों में विलियम जेम्स, लास्की, जोड व हॉबहाउस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसके आलोचकों का प्रथम तर्क यह है कि यह सिद्धान्त व्यावहारिकता और भौतिकवाद से दूर केवल आध्यात्मिक व कल्पनावादी है। विलियम जेम्स के विचार से यह सिद्धान्त यद्यपि "अपने को धार्मिक कह सकता है, तथापि यह ठोस सत्यों, सुखों और दुःखों के निश्चित सम्पर्क से बिल्कुल अलग रहता है। यह एक शुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त है।"

दूसरे, आदर्शवाद रूढ़िवादी है। यह प्रगतिशीलता का विरोधी और यथास्थिति का संरक्षक है। हॉब्सन तो इसे "रूढ़िवादिता की एक चाल" (the tactics of Conservatism) बताते हैं।

तीसरे, यह राज्य की निरंकुशता के सिद्धान्त को जन्म देता है। इसी से प्रेरणा पाकर फासीवाद ने निरंकुश शासन की स्थापना की थी और यूरोप को द्वितीय महायुद्ध के दावानल में झोंक दिया था। हॉबहाउस ने लिखा है कि "हीगल की विचारधारा का उद्देश्य स्वतन्त्रता और कानून को एक बनाकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को कुण्ठित कर देना था तथा समानता के स्थान पर अनुशासन की कल्पना स्थापित करके तथा व्यक्ति को राज्य में विलीन करके व राज्य को मानवीय संस्था का सर्वोच्च विकास मानकर मानवता का नाश कर देना था।"

चौथे, आदर्शवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दुश्मन है। यह राज्य को साध्य व्यक्ति को साधन बताकर व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान कर देता है। इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रतिकूल मानता है। डिग्बी के विचार "व्यक्तियों के क्रान्ति के जन्मसिद्ध अधिकार का निषेध ही नहीं करता, अपितु

राज्य की सत्ता अथवा उसके कार्यों के नैतिक औचित्य की जाँच का अधिकार भी जनता को नहीं देता।"

पाँचवें, यह सिद्धान्त युद्ध और हिंसा को प्रोत्साहन देता है। इसकी यह मान्यता विकृत तथा तथ्यतः गलत है कि समस्त राज्यों में यह निर्णय युद्ध द्वारा ही होगा कि उसका कौन सा रूप पूर्ण व सर्वोत्तम है। जोड का विचार है कि इस मान्यता से राज्य को वैदेशिक मामलों में अधिक अनैतिक व अविचारपूर्ण कार्य करने का खतरनाक अधिकार मिल जायेगा।

अन्त में, जोड व मैकाइवर की इस आलोचना में भी कुछ बल है कि आदर्शवाद राज्य, समाज व सरकार में कोई अन्तर नहीं करता। वस्तुतः तीनों पृथक संस्थायें हैं। लेकिन यह आलोचना केवल जर्मन आदर्शवादियों और ब्रिटिश दार्शनिक ब्रडले पर लागू होती है, ग्रीन जैसे संयत आदर्शवादियों पर नहीं।

महत्त्व

आदर्शवाद के विरुद्ध चाहे कितनी ही आपत्तियाँ क्यों न हों तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसके परिणाम कितने ही घातक सिद्ध क्यों न हुए हों, यह मानना पड़ेगा कि इसने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। राष्ट्रीय राज्यों और आधुनिक राष्ट्रवाद की स्थापना में इसका महान् योगदान है। डा. गार्नर ने लिखा है कि "राज्य को अन्य समस्त मानव संघों से श्रेष्ठ मानने, अच्छे जीवन के लिये राज्य को अनिवार्य मानने तथा इस उद्देश्य से नागरिकों की निष्ठा और अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये नागरिकों से बलिदान माँगने का राज्य को अधिकारी मानने, राज्य को विधि और अधिकारों का एकमात्र स्रोत मानने, यह मानने कि राज्य में ही व्यक्ति अपने अस्तित्व या जीवन का उद्देश्य पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकता है तथा यह मानने कि बिना राज्य के मानव प्रगति और मानव सभ्यता असम्भव है"[3]—में आदर्शवाद की मान्यतायें पूर्णतः सही और निर्दोष हैं।

वर्ग सिद्धान्त
(Class Theory)

इस सिद्धान्त के जन्मदाता कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगिल्स हैं। उनके विचार से राज्य एक स्वाभाविक संस्था नहीं है। इतिहास यह बताता है कि समाज में सदा ही दो वर्ग रहे हैं—स्वामी और दास, सामन्त और कृषक, पूँजीपति व श्रमिक आदि। इनमें एक वर्ग का पूँजी या सम्पत्ति के साधनों पर एकाधिकार रहा है और दूसरा केवल अपने श्रम का मालिक होने के कारण उस पहले वर्ग के हाथों बिकने के लिये मजबूर रहा है। जिस वर्ग के हाथ में सम्पत्ति के साधन रहते हैं, राज्य ने सदैव उसका साथ दिया है। संक्षेप में, राज्य 'वर्ग उत्पीड़न' और 'वर्ग शोषण' का एक साधन है।

3 वही, पृ २१८।

मार्क्स व एंगिल्स के शब्दो मे राज्य "शासक के हितों को सुरक्षित रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का साधन या उपकरण मात्र है।" कहने को तो यह निष्प रहकर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने का काय करता है, लेकिन सच्चे अर्थों कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के बहाने यह परम्परागत हितो की रक्षा करा आया है। 'यह मानव जीवन के विकास का उत्तम व स्वाभाविक साधन," "इसे अधिकारो की रक्षा करने वाला" या "उनके कल्याण मे सलग्न" नही है, अपितु इसका उद्देश्य एक विशेष वग की प्रभुता को बनाये रखना और उसे अन्य वर्गों के शोषण को खुली छूट देना है। यह वग आर्थिक उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण स्थापित करके राज्य के बल पर श्रमिक वग पर अपना आधिपत्य दढ बनाता है।

दूसरे शब्दो मे, राज्य पूजीपतियो का समथन करता है। किसी भी राज्य में श्रमिक या साधारण जनता की दशा सुधारने के लिये कुछ नही किया जाता। सेना, पुलिस, यायालय और कानून सब पूजीपतियो के हितो की रक्षा के लिये बने हैं। उन्होंने सदव प्रगतिशील शक्तियो को रोका है। शान्ति के समय सेना ने सदव प्रतिक्रियावादी शक्तियो का पक्ष लेकर उभरती हुई शक्तियो को कुचलने का काय किया है। राज्य जनसाधारण के हितो के प्रतिकूल है। अत समय समय पर जनता को राज्य के विरुद्ध अपनी शक्तियो को सगठित करना पडा है।

इसके अतिरिक्त, श्रमिको पर अपना नियन्त्रण बनाये रखने के लिए राज्य, मार्क्स के विचार से, स्कूलो और धार्मिक सस्थाना का उपयोग भी करता है। राज्य द्वारा सचालित या अनुदान प्राप्त स्कूलो मे विपन्न वर्ग के बच्चों को यह शिक्षा दी जाती है कि उन्हे राज्य के आदेशो का पालन करना चाहिये। मन्दिर, मस्जिद व गिरजाघर यह सिखाते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह पाप है। उनकी दरिद्रता पूर्वजों क पापो के कारण है राज्य या शासन के कारण नहीं।

नयी परिस्थितियो क अनुरूप राज्य का स्वरूप बदलता भी रहता है ताकि उसके उपकरण नये शोषक वग क अनुकूल हो सकें। इस कुत्सित प्रवृत्ति को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि गरीब लोग निरकुशतापूर्वक परम्परागत विशेषाधिकार वाली शक्तियो को कुचल दें। जब वर्ग भेद मिट जायगा तो राज्य की भी कोई आवश्यकता नही रहेगी और वह भी समाप्त हो जायेगा।

सक्षेप म, राज्य की प्रकृति क वग सिद्धान्त की प्रमुख मान्यतायें निम्नांकित है —

(१) राज्य का व। सघष से घनिष्ठ रिश्ता है। इसम एक वग दूसरे वर्ग का शोषण करता है।

(२) राज्य शक्ति पर आधारित है। यह शक्ति द्वारा पूंजीपति-वग क हितों को सुरक्षित रखने का कार्य करता है।

(३) यह प्रगतिशील शक्तियो का विरोधी है और उनके विकास के कार्य में रोड़ अटकाता है।

(४) सामाजिक व्यवस्था बदलने पर इसका स्वरूप अवश्य बदलता दिखायी देता है, परन्तु इसका चरित्र और उद्देश्य नही बदलता।

(५) नाम का यह जनकल्याण का साधन है, परन्तु इसने काय गरीब वग के दमन का किया है।

(६) निजी सम्पत्ति की सस्था के समाप्त होने पर राज्य स्वत लुप्त हो जायेगा।

आलोचना

आलोचको की राय है कि यह सिद्धान्त राज्य की प्रकृति की सही व्याख्या करन म असमथ रहा है। आधुनिक युग की बदलती हुई परिस्थितियो को देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि राज्य पूजीपति वग द्वारा श्रमिका के शोषण का साधन है। श्रमिका के कल्याण के लिये आज विभिन्न राज्यो म जितने कानून बने हैं वे सब इस सिद्धान्त की हँसी उडाते हैं। राज्य वग शोषण की अपेक्षा जनकल्याण का साधन है। रूस, चीन आदि साम्यवादी देशो मे वग भेद मिट गया है, पर राज्य नही मिटा—इसन स्पष्ट है कि मावस व एगिल्स की व्याख्या गलत है।

महत्त्व

सद्धान्तिक रूप से आलोचनायें काफी तकसगत दिखायी दती हैं, परन्तु यथाथ म प्रत्यक शासन व्यवस्था मे चाहे वह राजतन्त्र हो या जनतन्त्र, शक्तियाँ सदव पूजीपति वग के हाथ मे सचित रही हैं। इसमे तनिक सन्देह नही कि आज तक के मानव इतिहास मे राज्य ने सदव निबल वग के विरुद्ध साधन सम्पन्न वग का ही समथन किया है। अत 'वग सिद्धान्त' का कितना भी विरोध क्यो न हो, यह मानना पडेगा कि इस सिद्धान्त में सत्य का पर्याप्त अश है और इसने सभी आधुनिक राजनीतिक आन्दोलनो को प्रभावित किया है।

अभ्यासाथ प्रश्न

१. राज्य के प्रकृति सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तो की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

२ राज्य एक अधिकारी है। —विवेचना कीजिये।
(आगरा १६६१ राजस्थान १६६२ विक्रम १६६२ मगध १६६३ जबलपुर १६६० वाराणसी १६६४ गोरखपुर १६६२ जोधपुर १६६५)

३ राज्य एक जीवित शरीर है।'—इस कथन को समझाइये। आपके विचार से यह मत कहाँ तक ठीक है? (आगरा १६६८)

४ राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तो की समीक्षा कीजिये। मार्क्स के इस कथन का क्या तात्पय था कि राज्य लुप्त हो जायगा। (आगरा १६६६)

५ राज्य के सावयवी सिद्धान्त का वणन व उसकी आलोचना कीजिये।
(आगरा १६७० १६७२ कानपुर १६७१ लखनऊ १६६७ राजस्थान 1982)

६ रा॒य के सावयवी सिद्धा त का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति तथा रा॒य के एकीकरण द्वारा उस विरोध को मिटाने का प्रयत्न करना है। — इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिये तथा इस सिद्धा त के दोष बताइये।

७ राज्य विषयक आंगिक सिद्धा त राज्य के स्वरूप का कोई सन्तोषप्रद सिद्धा त नहीं है और न राज्य के कार्यों का उचित निर्देशक ही। —व्याख्या करें। (कानपुर १९६६)

८ रा॒य की प्रकृति के आदर्शवादी सिद्धा त की व्याख्या कीजिये। (कानपुर १९७२)

९. राज्य के सावयव सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए। इसकी सीमाओं को इंगित कीजिए। (लखनऊ १९६८)

(राजस्थान 1977 1980)

अध्याय ७

राज्य की उत्पत्ति
(Origin of the State)

राजनीतिक चेतना के उदय की परिस्थितियों के विषय में इतिहास से हम बहुत थोडा या बिल्कुल ही नही जान पाते। जहाँ इतिहास विफल हो जाय हमे अनुमान का सहारा लेना चाहिये। —गिलक्राइस्ट

राज्य की उत्पत्ति कब क्यो और कैसे हुई—कोई नही जानता। क्योकि इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई साहित्यिक ऐतिहासिक या पुरातत्त्व विषयक सामग्री हमारे पास नही है। विवश होकर राजनीति शास्त्र वेत्ताओ ने कल्पना का सहारा लेकर इस प्रश्न का समाधान करने की कोशिश की है। मानव सभ्यता के प्रारम्भिक चरण मे राज्य का जन्म किस प्रकार होना सम्भव था, इस विषय में जो विभिन्न विचार प्रचलित है उन्हे निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत रखा जा सकता है —

(१) दैवी सिद्धान्त
(२) शक्ति सिद्धान्त
(३) आनुवंशिक सिद्धान्त
(४) समझौता सिद्धान्त
(५) ऐतिहासिक सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त
(The Divine Origin Theory of the State)

राज्य की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा हुई है, यह विचार सबसे पुराना है। जिस समय विद्वानो के समक्ष कोई निश्चित और तार्किक सामग्री नही थी, उनके लिये यह स्वाभाविक था कि वे राज्य की उत्पत्ति को दैवी इच्छा के अधीन मानते। हिन्दू, मुस्लिम यहूदी, ईसाई आदि सभी जातियो के प्राचीन धर्म ग्रन्थो मे इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति मे कहा गया है कि जगत की रक्षा व कल्याण के लिये ईश्वर ने राजा को बनाया और राज्य की नीव डाली। महाभारत के 'शान्तिपर्व' मे इस बात का वर्णन है कि जब ससार प्राकृतिक और अराजक अवस्था मे था तो लोगो ने ईश्वर के पास पहुचकर प्रार्थना की कि 'हे प्रभो! हम प्रधान के बिना नष्ट हो रहे हैं, हम एक प्रधान दो जिसकी हम पूजा करेंगे और जो हमारी रक्षा करेगा।" ईश्वर ने उन पर

शासन के लिये मनु को नियुक्त किया और राज्य की स्थापना हुई। इसी प्रकार यहूदियों के धर्मग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेण्ट मे इस धारणा के उद्धरण मिलते हैं कि ईश्वर स्वय अपनी प्यारी जनता पर शासन के लिये राजा को चुनता, नियुक्त करता, बरखास्त करता व अवसर पडने पर उसकी हत्या भी करता है। राजा अपने सभी कार्यों के लिये ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। ईसाई धर्म गुरु भी दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त के प्रबल समर्थक रहे हैं। सन्त पॉल का कहना था कि 'प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियो के अधीन रहना चाहिये, क्योकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नही है। सभी सांसारिक शक्तियाँ परमात्मा के द्वारा दी हुई हैं। अत जो उनकी अवज्ञा करता है वह ईश्वर की आज्ञा का उल्लघन करता है, तथा जो भी लोग ऐसा करते हैं उन पर ईश्वर का शाप गिरेगा।'' कुरान मे भी लिखा है कि सभी सत्तायें खुदा के आदेश से बनती हैं। इसलिए भी राज्य को ईश्वरीय सस्था के रूप म देखता है। प्राचीन यूनानी साहित्य मे भी दैवी सत्ता के प्रसग मिलते हैं। इलियड' महाकाव्य मे कवि होमर ने राजसत्ता की दैवी स्थिति को स्वीकार किया है।

सिद्धान्त की व्याख्या

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक दैवी कृति है। इसकी स्थापना ईश्वर के द्वारा हुई है। राजा जिस अधिकार से अपने राज्य पर शासन करता है वह उसे ईश्वर से प्राप्त होता है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता है। ससार म जो भी वस्तुयें पायी जाती हैं, ईश्वर की देन हैं। मनुष्य पशु पक्षी प्रकृति, नक्षत्र, ग्रह सब ईश्वर की देन हैं। ईश्वर ही सृष्टि के प्रारम्भ म मनुष्यो को ज्ञान देता है और समय समय पर अवतार लेकर या पैगम्बर भेजकर लोगो को सत्य का मार्ग दिखाता है। राज्य की उत्पत्ति भी ईश्वर के द्वारा ही हुई है। मानव-कल्याण के लिये उसने ही राज्य बनाया और किसी एक व्यक्ति को राजा के रूप म जनता पर शासन करने के लिये नियुक्त किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा के आदेशो का पालन करना प्रजा का धर्म है। राज्य का विरोध न केवल कानूनी अपराध है, अपितु पाप भी है। राजा प्रजा और विधि दोनो से ऊपर है और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता के सम्मुख उत्तरदायी नही है।

मानव इतिहास मे एक लम्बी अवधि तक राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त रही। प्राचीन मिस्र, चीन जापान, भारत और यूरोप म इस सिद्धान्त के प्रचलन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। मिस्र म राजा को सूर्य पुत्र' समझा जाता था। जापानी लोग आज भी राजा को मिकाडो' (सूर्य-देव का पुत्र) कहते हैं। राबर्ट फिल्मर का कथन है कि आदम (Adam) प्रथम राजा था, तथा वर्तमान राजा उसके उत्तराधिकारी हैं या कहे जाने चाहियें।

मध्य युग म ईसाई चर्च ने इस सिद्धान्त का पूरा समर्थन और प्रचार किया। यही नहीं इस सिद्धान्त की आड म उसने राज्य को चर्च से हेय व नीचा ठहराने का भी किया। धार्मिक सुधारक लूथर और जॉन काल्विन ने इस सिद्धान्त के सहारे

निरकुश राजतन्त्र का समथन किया। सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी के कुछ शक्तिशाली राजाओ ने भी इस सिद्धा त का समथन किया। इनमे इगलण्ड के जेम्स प्रथम और फ्रास के लुई चौदहवें का नाम उल्लेखनीय है। समय के प्रवाह के साथ साथ लोगो के दृष्टिकोण मे परिवत्तन आ गया है। आज के वैज्ञानिक युग म लोगो की इस सिद्धान्त के प्रति आस्था नही पायी जाती।

राजाओ का दवी अधिकार

राज्य की उत्पत्ति के दवा सिद्धा त न धीरे धीरे राजाओ के दैवी अधिकारो के सिद्धा त का रूप ले लिया। दैवी अधिकार का सिद्धा त राज्य की उत्पत्ति की अपेक्षा राजमत्ता के स्वरूप पर प्रकाश डालता है, परन्तु विषय की स्पष्टता और सुविधा के लिये इसका यहाँ सक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है।

राजा के दवी अधिकार का विशद् वणन हमे जेम्स प्रथम की पुस्तक 'स्वतन्त्र एकतन्त्रो का सत्य कानून' (Trew Law of Free Monarchies) मे मिलता है। उसके विचार से "राजा लोग पृथ्वी पर ईश्वर की श्वास लेती हुई मूर्तियाँ हैं और उनके आदेशो की अवज्ञा ईश्वर की अवज्ञा है। जिस तरह परमात्मा के कृत्य का विरोध करना नास्तिकता और ईश्वर निन्दा है, उसी तरह एक प्रजाजन मे यह भाव होना कि राजा क्या कर सकता है अथवा यह कहना कि राजा यह नहीं कर सकता, अधम और ईश्वर-विरोध है। इस धरती पर राजतन्त्र का राज्य सर्वोच्च है, क्योंकि राजा लोग धरती पर भगवान के केवल सहायक और भगवान के सिंहासन पर बठने वाले भगवान के अभिकर्त्ता ही नहीं, प्रत्युत स्वत भगवान द्वारा वे भगवान के रूप कहे जाते हैं।"[1]

इस सिद्धान्त का आधार बनाकर जेम्स प्रथम ने ब्रिटिश ससद मे १ माच १६०३ को घोषणा की कि 'राजा कभी दुराचारी नहीं हो सकता। यदि कोई राजा दुराचारी भी हो तो इसका अथ यह है कि उसको ईश्वर ने जनता को उसके पापों का दण्ड देने के लिये भेजा है। अत यदि जनता ऐसे राजा से छुटकारा पाने की चेष्टा करती है, तो उसका यह काय सवथा अनुचित और कानून विरुद्ध है।" एक अन्य स्थान पर वह लिखता है, "एक दुष्ट राजा के आचरण की जाँच भी ईश्वर के द्वारा ही की जा सकती है, उसके प्रजाजनो या अन्य किसी मानवीय सत्ता द्वारा नहीं।

आश्चय की बात यह है कि प्राचीन भारत मे दवी अधिकार के सिद्धान्त का ऐसा रूप नही था। उस काल मे लोग अच्छ राजा को नि सन्देह ईश्वर का अश मानते थे परन्तु बुरे राजा मे वे राक्षस का अश देखते थे। अच्छे राजा को सब प्रकार का सहयोग व निष्ठा मिलती थी और बुरे राजा के विरुद्ध न केवल विद्रोह करने अथवा उसे गद्दी से उतारने पर जोर दिया जाता था, अपितु उसकी हत्या भी तकसगत ठहराई जाती थी।

सक्षप मे, दवी अधिकार का सिद्धान्त राजाओ की असीमित सत्ता और निरकुशता का समथन करता है। डा फिग्गिस (Figgis) के विचार से इसकी मुख्य मान्यताएँ चार हैं —

---

1 *A Defence of the Rights of Kings in the Political Works* p 248

प्रथम—राजतन्त्र दैवी इच्छा के अनुकूल है।
द्वितीय—वंशानुगत अधिकार अटल हैं।
तृतीय—राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, तथा
चतुर्थ—किसी विधिवत् नियुक्त राजा के प्रति विद्रोह करना केवल अपराध ही नहीं, पाप भी है।[2]

सिद्धान्त का पतन

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस सिद्धान्त की भीषण प्रतिक्रिया हुई। इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने इसकी मान्यताओं को हिला दिया। 'राजाओं के दैवी अधिकार' सिद्धान्त में लोगों को शासकों के स्वार्थ और सत्ता लोलुपता की गन्ध आने लगी। बुद्धिवाद और राजनीतिक चेतना के विकास के परिणाम स्वरूप लोगों में अन्ध विश्वास तथा धर्म के प्रति अन्ध श्रद्धा में कमी आयी और वे इस सिद्धान्त को छोड़कर राज्य की उत्पत्ति के किसी अन्य सन्तोषजनक सिद्धान्त की खोज में जुट गये। गिलक्राइस्ट ने इस सिद्धान्त के पतन के लिये तीन बातों को जिम्मेदार ठहराया है —

(१) सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का उदय तथा उसके अन्तर्गत स्वीकृति (consent) की महत्ता,
(२) आध्यात्मिक शक्ति से पृथक् सांसारिक शक्ति की प्रधानता या दूसरे शब्दों में ईसाई धर्म और राज्य का वियोजन (पृथक्करण), तथा
(३) लोकतन्त्रवाद के अभ्युदय के कारण स्वेच्छाचारी शासन का विरोध और खण्डन।

सिद्धान्त की आलोचना

वर्तमान युग में दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। बर्ट्रेण्ड रसल ने लिखा है कि "यह सम्पूर्ण सिद्धान्त आधुनिक मस्तिष्क को इतना विचित्र लगता है कि यह विश्वास नहीं होता कि लोगों ने कभी गम्भीरता से इसकी व्याख्या की होगी।" उसके विरुद्ध सामान्यतः निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं —

१ अवैज्ञानिक—जे एन फिगिस ने लिखा है कि आजकल लोग दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते, इसका मुख्य कारण यह है कि यह सिद्धान्त केवल आस्था के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है, तर्क के आधार पर नहीं। चार्ल्स डार्विन ने सिद्ध कर दिया है कि विश्व की कोई भी वस्तु ईश्वर निर्मित नहीं है वह स्वाभाविक विकास का परिणाम है। अतः दैवी सिद्धान्त पूर्णतः अवैज्ञानिक है।

२ अनैतिहासिक—मानव-इतिहास में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि राज्य ईश्वर की रचना है। राज्य की उत्पत्ति वस्तुतः मानव जीवन की आवश्यकताओं के कारण हुई है। राज्य को ईश्वर की रचना मान लेना सर्वथा अनैतिहासिक है। यह राज्य को आलोचना तथा परिवर्तन की स्थिति से ऊपर उठा देता है। प्रो

2 J N Figgis, *The Divine Right of Kings* Cambridge (1914) pp 5 6.

चक्रवर्ती के विचार से "१६८८ की क्रान्ति ने इस सिद्धान्त को इतिहास के कूड़े के ढेर मे पहुँचा दिया है।"[3]

३ भ्रामक और धर्मग्रन्थो की गलत व्याख्या पर आधारित—यह कहना कि प्राचीन धर्मग्रन्थो म दैवी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है, सर्वथा गलत है। अनेक धर्मग्रन्थो मे दैवी सिद्धान्त के विरोध म तक मिलते हैं। महाभारत के 'शान्तिपर्व' मे एक अन्य स्थल पर राज्य को मनुष्यो के समझौते का परिणाम बताया गया है। बाइबिल हमे सिखाती है कि 'ज़ार (शासक) की वस्तुयें ज़ार को सौंप दो तथा परमात्मा की परमात्मा को" इससे राज्य की दैवी उत्पत्ति का निर्णय नही होता। गिलक्राइस्ट का विचार है कि "न्यू टेस्टामेण्ट मे बहुत कुछ दैवी सिद्धान्त के विरुद्ध है।"

४ मनुष्य के योगदान की उपेक्षा—राज्य एक मानवीय संस्था है। उसके विकास मे तथा उसके स्वरूप म होने वाले परिवर्तनो मे मनुष्य का बहुत बडा योगदान है—इस सत्य की अवहेलना नही की जा सकती। लेकिन राज्य को ईश्वर की कृति बताकर दैवी सिद्धान्त ने इसके निर्माण और विकास मे मनुष्यो के योगदान की उपेक्षा करने की भारी भूल की है।

५ प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त—यह सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी है। इसे मान लेने का अर्थ मनुष्य की चेतना व चिन्तन शक्ति का गला घोटना होगा। राज्य को ईश्वर की रचना और राजाज्ञा को ईश्वर की आज्ञा घोषित करने से मनुष्य भाग्यवादी बन जायगा, उसका नैतिक मनोबल गिरेगा और राज्य के दमनचक्र का विरोध करने की शक्ति उसमे नही रहेगी। मनुष्य को मूढ और जडवत बनाने का यह एक अच्छा बहाना है।

६ अनुदारता व निरंकुशता का समर्थक—यह सिद्धान्त राजा को देवपुरुष बताकर, उसे सर्वशक्तिमान घोषित करके, तथा जनता को उसके विरुद्ध कोई अधिकार न देकर अन्ततोगत्वा निरंकुशता को प्रोत्साहन देता है। इसका एक उदाहरण लुई चौदहवें का वह वाक्य है कि "मैं ही राज्य हूँ।" इतिहास साक्षी है कि इस सिद्धान्त की आड मे अनेक महत्त्वाकांक्षी शासको ने अपनी जनता पर अकथनीय अत्याचार किये।

७ धर्म और बुद्धि का विरोधी—यदि यह मान भी लिया जाय कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, तो दुराचारी राजा को भगवान की प्रतिमूर्ति बताकर समर्थन देने की बात करके इस सिद्धान्त ने धर्म और विवेक दोनो का अपमान किया है। ईश्वर दयालु जगत् पालक और सर्वज्ञानी कहा जाता है। राजा के दुराचारी होने का अर्थ है कि या तो राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नही है और यदि है तो ईश्वर दयालु, जगत् पालक और सर्वज्ञानी नही है।

८ अतार्किक और एकपक्षीय—दैवी सिद्धान्त सरकार के एकतन्त्रीय रूप की ही व्याख्या करता है। उसके विचार से राजतन्त्र ही सर्वोत्तम व्यवस्था है और ईश्वर ने उसे ही जन्म दिया है। यदि ईश्वर केवल राजतन्त्र का ही समर्थक है तो दुनिया मे दूसरी शासन-पद्धतियाँ कैसे विकसित हो गयी? वर्तमान जनतन्त्रवादी मान्यताओ के साथ यह सिद्धान्त बिल्कुल मेल नही खाता, क्योकि राज्य मे शासन अब वंशानुक्रम की

3 R Chakravarty *Studies in Political Science* p 46

अपेक्षा निर्वाचन विधि से चलता है। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "आधुनिक राष्ट्रपति के लिये जो जनता द्वारा चुना जाता है, इस दावे को स्वीकार करना कठिन हो जाता है कि उसे अपने अधिकार ईश्वर से मिले हैं।"

६ कृत्रिम अशुद्ध व स्वार्थपूर्ण—यह एक बनावटी, शास्त्रीय दृष्टि से दोषपूर्ण और राज्य की गलत व्याख्या करने वाला सिद्धान्त है। सम्भवत कुछ स्वेच्छाचारी शासकों ने मध्य युग मे अपनी सत्ता का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से इसे धर्म के ठेकेदारों के साथ मिलकर रचा है। इसमे शासको के स्वार्थ और अवसरवाद की बू आती है। प्रो. कारपेन्टर के शब्दो में 'यह मात्र एक शारीरिक थकावट है, इसमें पढ़ने योग्य कुछ भी नहीं है।"[4] यहाँ तक कि ब्रिटेन के शासक भी, जहाँ यह सिद्धान्त जन्मा है, इसे नहीं मानते।

महत्त्व

दैवी सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं कि इस सिद्धान्त में कुछ भी सत्य और सारपूर्ण नहीं है। इस सिद्धान्त से हमे बोध होता है कि सभ्यता के आरम्भिक काल मे मानव-जीवन पर धर्म का कितना अधिक प्रभाव था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य मे शान्ति और व्यवस्थित ढग से रहने की एक स्वाभाविक कामना होती है जो अन्तत राज्य को सम्भव बनाती है। राज्य को ईश्वरीय संस्था बताकर इसने अप्रत्यक्ष रूप से उसका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण बताया है।

गैटिल का मत है कि दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त ने मनुष्य को उस समय आज्ञा पालन करना सिखाया जब वह स्वशासन के लिये पूर्णत अयोग्य था। मध्यकालीन यूरोप को इसी सिद्धान्त ने नष्ट होने से बचाया। उस युग की पिछड़ी जनता के हृदय मे इस सिद्धान्त ने ईश्वर का भय दिखाकर उन्हे एकता के सूत्र मे पिरोने की कोशिश की, वहाँ शान्ति बनाये रखने मे सफलता पायी तथा जनसाधारण के प्राणों की रक्षा की। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह जनता में शान्ति प्रियता की भावना तथा कानून के प्रति सम्मान व निष्ठा पैदा करता है जो राज्य की समृद्धि व सुदृढ़ता के लिये बहुत आवश्यक है।

शक्ति-सिद्धान्त
(Force Theory)

वॉ बोर्वा, ह्यूम, ओपेनहाइमर, जक्स आदि विद्वानों का मत है कि राज्य युद्ध अथवा शक्ति प्रयोग का परिणाम है। इसका आरम्भ मनुष्य द्वारा मनुष्य को पकड़ने और उसे दास बनाने से हुआ होगा।[5] अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे राज्य मुख्यत एक सामाजिक संस्था रही होगी जिसे विजयी कबीले ने पराजित लोगों के समूह पर

4 Introduction to John Locke's *Two Treatises of Civil Government* London (1953) p X

5 Leacock, *Elements of Political Science*, p.37

जबरन थोप दिया होगा।[6] जक्स के कथनानुसार "यह सिद्ध करने मे लेशमात्र भी कठिनाई नहीं होती कि आधुनिक ढग समस्त राजनीतिक समुदायों का प्रादुर्भाव सफल युद्धों के परिणामस्वरूप हुआ है।"

राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार यह है कि मनुष्य स्वभाव से एक आक्रामक प्राणी है। उसमे शक्ति प्राप्त करने तथा दूसरो से अपनी शक्ति स्वीकार कराने की एक जन्मजात लालसा होती है। राज्यविहीन अवस्था में जब व्यवस्था और कानून नही होगें किसी महत्त्वाकाक्षी शक्तिशाली व्यक्ति ने अपने साथियो की सहायता से एक बड़े आकार की निश्चित भूमि पर अपना स्थायी आधिपत्य स्थापित कर लिया होगा, जिससे राज्य की उत्पत्ति हुई है।[8]

सक्षेप मे, शक्ति-सिद्धान्त मनोवैज्ञानिकता, विकास के नियम, नियन्त्रण और क्षेत्र की दृष्टि से इतिहास की इस प्रकार व्याख्या करता है कि शक्ति ही राज्य की उत्पत्ति के एक मात्र तत्त्व के रूप में उभरकर सामने आती है। यह सिद्धान्त यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि—

(अ) राज्य की उत्पत्ति शक्ति से ही हुई है। यह शक्तिशाली व्यक्तियो का कमजोर व्यक्तियो पर आधिपत्य स्थापित करने का परिणाम है,

(आ) शक्ति ही न्याय है। 'जिसकी लाठी उसकी भस' यह प्रकृति का नियम है,

(इ) मानव इतिहास मे इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि राज्यो की स्थापना शक्ति का परिणाम है। स्पेन और लोम्बार्डी के राज्य इसी प्रकार स्थापित हुए। नामन लोगों ने नवीं शताब्दी मे रूस मे, दसवी मे नॉरमण्डी तथा ग्यारहवी शताब्दी मे इगलण्ड मे शक्ति के बल पर ही अपना आधिपत्य स्थापित किया था, तथा

(ई) आज भी बाहरी सुरक्षा और आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिये राज्यो को शक्ति पर निर्भर रहना पडता है। जिससे स्पष्ट है कि राज्य शक्ति से ही जन्मा है।

शक्ति-सिद्धान्त का विकास और प्रयोग

दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की भांति राज्य की उत्पत्ति का शक्ति-सिद्धान्त भी बहुत पुराना है। विभिन्न युगो मे विद्वानो ने अपने-अपने राजनीतिक उद्देश्यों का समथन करने के लिये इस सिद्धान्त का सहारा लिया है।

प्राचीन भारत मे शक्ति सिद्धान्त का प्रयोग—प्राचीन भारत मे किसी भी विद्वान ने शक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया, परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण मे इस प्रकार का वणन है कि देवासुर सग्राम मे असुरो से देवता पराजित हुए और इसका कारण

6 State during first stages of its existence is a social institution forced by a victorious group of m n on a defeated group —*Oppenheimer*

7 E Jenks, *A History of Politics* p 71

8 वॉल्टायर लिखता है कि 'प्रथम राजा एक भाग्यशाली योद्धा था।'

उन्होंने राजा का न होना माना। अत उन्होंने राजा को चुनने का संकल्प किया। डा जायसवाल का इस सम्बन्ध में मत है कि आरम्भ में आर्यों ने द्रविडों से राजत्व की संस्था को ग्रहण किया जिन्हें वे असुर कहते थे और स्वयं को सुर या देवता।[9] आदिवासियों के प्रति घृणा व अपने वर्ण व विजित प्रदेश के लिये उत्पन्न चिन्ता ने उनमें आक्रमण की भावना[10] को सुदृढ़ बनाया तथा उन्होंने राज्य के शक्ति पर आधारित होने का समर्थन किया।

सोफिस्टों द्वारा यूनान में प्रयोग—सोफिस्ट वकीलों की तरह पैसा लेकर अपना अधकचरा ज्ञान यूनानी नवयुवकों को देते थे। वे शक्ति का सत्य मानते थे। केलाक्लीज कहता था कि 'बलवान की शक्ति ही न्याय और कानून का स्रोत है, विषमता प्राकृतिक नियम है, निर्बल से बलवान श्रेष्ठ होता है।" अत सोफिस्टों ने राज्य की उत्पत्ति के दो कारण बताये—प्रथम, शक्तिशाली व्यक्ति ने निर्बलों को मार भगाया और दूसरा, शक्तिशाली ने निर्बल व्यक्तियों को अपनी अधीनता में रहने के लिये विवश कर दिया।

चर्च समर्थकों द्वारा प्रयोग—मध्य युग में पश्चिमी यूरोप में राज्य और चर्च के बीच आधिपत्य के लिये संघर्ष चला। चर्च के समर्थकों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने तथा राज्य की निन्दा करने के उद्देश्य से इस सिद्धान्त का प्रयोग किया। उनका कहना था कि राज्य एक निम्न कोटि की संस्था है। इसकी उत्पत्ति उद्दण्डता, लूटमार, हत्या और कपट से हुई है। चर्च इसके विपरीत एक ईश्वरीय संस्था है। यह लोगों की मुक्ति का साधन है। अत आवश्यक है कि राज्य चर्च के नियन्त्रण में रहे और उसकी आज्ञाओं का पालन करे।

आधुनिक युग में व्यक्तिवादियों द्वारा प्रयोग—राज्य के कार्यक्षेत्र को न्यूनतम बनाने के उद्देश्य से, आधुनिक युग में, व्यक्तिवादियों ने इस सिद्धान्त का सहारा लिया है। उनके विचार से चूँकि राज्य शक्ति पर आधारित है, इसलिये मानव हितों के प्रतिकूल है। वे राज्य को व्यक्ति के जीवन में कम-से कम हस्तक्षेप करने और उसे अधिक-से अधिक स्वतन्त्र छोड़ देने की माग करते हैं ताकि व्यक्ति के नैतिक और चारित्रिक गुणों को विकसित होने का पूरा अवसर मिल सके।

मार्क्सवादियों व अराजकतावादियों द्वारा प्रयोग—मार्क्सवादी समाजवादी भी राज्य को शक्तिमूलक संस्था मानते हैं जो पूंजीपतियों की निजी सम्पत्ति की रक्षा करने का एक साधन है। इसने सम्पूर्ण समाज के हितों की रक्षा करने की अपेक्षा सदैव निर्धन वर्ग के शोषण में पूंजीपतियों का साथ दिया है। अत अन्याय, दमन और शोषण के इस साधन की समाप्ति वांछनीय है।

लेकिन मार्क्सवादी राज्य को तत्काल समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं। वे इसे सर्वहारा की तानाशाही के काल तक बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु अराजकतावादी तो इसके कट्टर दुश्मन हैं और तत्काल ही राज्य संस्था को मिटा देने के पक्ष में हैं। वे इस

9 K P Jayaswal *Hindu Polity*, p 23
10 H N Sinha, *The Development of Indian Polity* p 23

'आवश्यक बुराई', सामाजिक नासूर' और व्यथ की संस्था' मानते हैं, जो अपनी शक्ति के बल पर ही मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध काय करने को विवश करता है। अराजकतावाद के अनुसार सेना, पुलिस और न्यायालय मनुष्य को अच्छा बनाने की अपेक्षा अपराधी बनाते है। वे राज्य के मूल मे शक्ति का होना इसका सबसे बडा दुगुण मानते हैं।

फासीवादियो द्वारा प्रयोग—बीसवी शताब्दी के अनेक जमन लेखको, ट्रीटस्के, बर्नहार्डी, सोरल, नीत्शे आदि ने शक्तिशाली का निबल पर शासन एक प्राकृतिक सत्य बताया है तथा शक्ति सिद्धान्त के आधार पर युद्ध को न्यायोचित ठहराया है। ट्रीटस्के लिखता है कि जनता की आक्रमण और प्रतिरक्षा की शक्ति का नाम ही राज्य है और उसका प्रथम कत्तव्य युद्ध का सचालन तथा न्याय की व्यवस्था करना है।" वह आगे लिखता है कि 'इतिहास की शान राष्ट्रो के निरन्तर सघर्ष मे छिपी हुई है तथा शस्त्रो का प्रेम इतिहास के अन्त तक चलता रहेगा।" जनरल फानहार्डी (General Von Bernhardi) युद्ध का प्राणी जगत की सबसे महत्त्वपूण आवश्यकता मानता है। उसके विचार से "शक्ति ही श्रेष्ठ सत्य है और क्या उचित है तथा क्या अनुचित इसका निणय युद्ध के द्वारा ही होगा।" अन्य उग्रराष्ट्रवादियो—नीत्शे व सोरल—ने शक्ति सिद्धान्त के आधार पर लोक अधिनायकवाद का प्रचार किया है। प्रथम महायुद्ध के बाद जमनी मे हिटलर और इटली मे मुसोलिनी ने इनकी शिक्षाओ को व्यावहारिक रूप दिया था तथा कुछ ही वर्षों मे विश्व को द्वितीय महायुद्ध की ज्वाला मे झोंककर शक्ति सिद्धान्त को राज्य का आधारभूत सिद्धान्त सिद्ध करने का प्रच्छन्न प्रयास किया था।

शक्ति-सिद्धान्त की आलोचना

शक्ति सिद्धान्त मे अनेक दोष और सीमायें हैं, जिन्हे निम्नांकित शीषको के अन्तगत व्यक्त किया जा सकता है —

१ शक्ति राज्य की उत्पत्ति का आधार नहीं हो सकती—यह सत्य है कि *प्राचीन काल मे राज्यो के निर्माण मे शक्ति की उल्लेखनीय भूमिका रही है,* लेकिन केवल शक्ति को ही राज्य की उत्पत्ति का आधार मानना गलत है। राज्य का जन्म अनेक तत्त्वो के परिणामस्वरूप हुआ है—जसे रक्त-सम्बन्ध, सम्पत्ति व राजनीतिक चेतना का विकास आदि। शक्ति कभी भी समाज मे एकता की स्वाभाविक भावना का विकास नही कर सकती। मकाइवर ने लिखा है कि "यदि सामान्य इच्छा के अधीन न रखी जाय तो शक्ति हमेशा विघटन ही करती है।" यदि केवल शक्ति के प्रयोग से ही राज्य का निर्माण हो सकता तो समुद्री लुटेरो का जहाज या विद्रोही सेना का क्षेत्र भी राज्य कहलाता।[11] राज्य मे शक्ति के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता, लेकिन अन्तिम रूप मे सामान्य कल्याण की सामूहिक जन भावना ही राज्य को सम्भव बनाती है लीकॉक ने ठीक लिखा है कि "शक्ति सिद्धान्त का दोष यह है कि यह उस वस्तु को

11 MacIver *The State* p 222

सर्वाधिक महत्त्व देता है जो समाज के विकास में केवल एक तत्त्व रही है और उसी को एकमात्र नियामक तत्त्व मान लेता है।[12]

२ शक्ति से उत्पन्न राज्य स्थायी नहीं हो सकता—गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "शक्ति राज्य की आत्मा नहीं, अपितु एक कसौटी है।" यदि यह राज्य की आत्मा मान ली जाय तो राज्य का अस्तित्व उसी समय तक ही रहेगा जब तक कि शक्ति विद्यमान है। न्याय के साथ शक्ति राज्य का स्थायी आधार है, न्याय के बिना शक्ति अधिक-से-अधिक अस्थायी हो सकती है। शक्ति का न्यायपूर्ण ढग से प्रयोग न करने से ही क्रान्तियाँ हुई हैं। अत राज्य सरकार व अन्य मानवीय संस्थायें चेतना से उत्पन्न हुई हैं, पाशविक शक्तियों से नहीं।[13]

३ राज्य का आधार सामान्य इच्छा है—सुप्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक टी एच ग्रीन का मत है कि 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है" तथा इसी सामान्य इच्छा से राज्य की उत्पत्ति हुई है। उसके विचार से प्रत्येक मनुष्य में अपने विकास की स्वाभाविक इच्छा विद्यमान होती है जिसके लिये वह स्वतन्त्रता को आवश्यक समझता है। अधिकारों के अभाव में स्वतन्त्रता की बात करना अर्थहीन है तथा अधिकार केवल राज्य में ही मिलते हैं। अत मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने के उद्देश्य से ही राज्य का जन्म हुआ है और उसका आधार मनुष्य की नैतिक इच्छा है। डा वर्मा ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि "राज्य मनुष्य की एक तीव्र सामाजिक आवश्यकता है। शक्ति समझ, व्यवस्था तथा चरित्र बल से उत्पन्न होती है। अत राज्य का वास्तविक आधार नैतिक भावना है जो स्थायी है।" शक्ति सिद्धान्त का दोष यह है कि इसने राज्य के निर्माण में इच्छा सहयोग तथा नैतिक उद्देश्यों को नजरंदाज कर दिया है।

४ शक्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष भयानक है—आलोचकों की राय है कि शक्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष बहुत भयानक है। यह हिंसा क्रान्ति निरंकुशता आदि निम्न कोटि के गुणों पर बल देता है। इसके मानने का अर्थ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली उक्ति का समर्थन करना होगा। इससे लोगों की स्वतन्त्रता संकट में पड़ जायेगी। जनमत न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना का समाज में कोई स्थान नहीं होगा। इससे व्यक्तियों व समूहों के पारस्परिक संघर्षों तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को प्रोत्साहन मिलेगा, जिसमें कमजोर व निर्बल नष्ट हो जायेंगे और समाज को कायम रखना कठिन हो जायेगा।

शक्ति सिद्धान्त में सत्यांश

शक्ति सिद्धान्त की उपरोक्त आलोचनाएं चाहे कितनी ही तार्किक व प्रखर क्यों न लगें, इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति की ही प्रमुख भूमिका रही है। आलोचकों का दोष यह है कि उन्होंने आधुनिक जनतान्त्रिक, सभ्य और विकसित राज्यों के स्वभाव को ध्यान में रखकर राज्य की उत्पत्ति में शक्ति

12 Leacock *Elements of Political Science* p 33
13 R N Gilchrist *Principles of Political Science* p 77

की भूमिका का मूल्याकन किया है। वे यह भूल जाते हैं कि हजारो वर्ष पूर्व राज्य का जन्म उस समय हुआ था जब मनुष्य अर्द्ध सभ्य, बर्बर व स्वार्थी था। यूनान, मिस्र व राम के राज्य, जिनमे अगणित लोगो को पशुओ की तरह दास के रूप मे खरीदा और बेचा जाता था, क्या सामान्य इच्छा पर आधारित थे ? जारवादी रूस, फासीवादी इटली, नाजीवादी जर्मनी तथा क्यूमिण्टाग चीन क्या जनता की नैतिक इच्छाओ से जन्मे थे ?

इतिहास साक्षी है कि हमे सभ्य राज्य की अवस्था तक पहुँचने के लिये अगणित विद्रोहो, क्रान्तियो और हत्याओ के दौर से गुजरना पडा है। शक्ति ने सदैव ही राज्य बनाये और बिगाडे है। बगला देश का ताजा उदाहरण हमारे सामने है, जिसके निर्माण मे प्रमुख भूमिका शक्ति की रही है, नैतिक इच्छा की नही। इच्छाओ को अत्याचारी शासको ने सदैव सगीनो से कुचला है। इच्छाओं को जब पाशविक शक्ति का समर्थन मिला है, तभी राज्य बने या बिगडे हैं। आज भी राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये सेना और पुलिस की आवश्यकता पडती है। "राज्य हिंसा का केन्द्रीभूत और सगठित रूप है। व्यक्ति के आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्मा से शून्य मशीन है, उसे कभी हिंसा से, जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है, पृथक नही किया जा सकता।"[14] लास्की ने ठीक लिखा है कि **राज्य एक शक्ति-सगठन (power organisation) है जिसे अपनी इच्छाओं को लागू कराने के लिये शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है—शक्ति सिद्धान्त हमें इसी सत्य का ज्ञान कराता है।**[15]

आनुवंशिक सिद्धान्त
(The Genetic Theory)

कुछ राजनीति शास्त्र वेत्ताओ ने राज्य की उत्पत्ति न तो शक्ति द्वारा मानी है और न उसे ईश्वर द्वारा निर्मित ही बताया है। उन्होने राज्य को सामाजिक सगठनो का एक स्वाभाविक चरमबिन्दु माना है। वे परिवार को प्रारम्भिक सामाजिक सगठन मानते है, जिसका निर्माण जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के उद्देश्य से होता है। अरस्तू के विचार से राज्य परिवार का ही विकसित रूप है। क्योकि परिवार में ही मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति के दौरान उनमें पारस्परिक आदान प्रदान व सम्पर्क की प्रवृत्ति का विकास होता है। इस सम्पर्क की प्रवृत्ति से, जिसे हम सामाजिक वृत्ति कहते हैं, दूरस्थ परिवार सश्लिष्ट रूप में बसने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। सश्लिष्टीकरण के इस क्रम मे कुछ समय के उपरान्त सगठित प्रशासन की आवश्यकता अनुभव होती है जिससे राज्य की उत्पत्ति होती है। लीकॉक ने इस विकासक्रम का वर्णन करते हुए लिखा है कि "पहले एक गृहस्थी, फिर एक पितृ प्रधान परिवार, फिर समान नस्ल के व्यक्तियों की एक जाति और फिर अन्त मे एक राष्ट्र—सामाजिक सगठन की श्रृंखला का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।"[16]

14 Mahatma Gandhi Quoted in G N Dhawan, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi* (1957) p 282.

15 Harold Laski, *The State in Theory and Practice* pp 29-30.

16. Leacock *op cit*, p. 380

संक्षेप म, राज्य एक स्वाभाविक संस्था है। यह मनुष्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निर्मित उनकी सामाजिक वृत्तिया का परिणाम है। इसकी प्रारम्भिक इकाई परिवार है। मकाइवर के शब्दो म, परिवार म वे सभी नियन्त्रण व प्रतिबन्ध पाये जाते हैं जो कि सरकार की आत्मा हैं। परिवार के विकासक्रम म नये-नये परिवार बसते हो गये। कुल से 'गोत्र', 'गोत्र' स 'गण' (कबीले), 'गण' से गाँव' और गाँव से, क्रमिक मूल परिवार के वरिष्ठतम सदस्य से अपनी वशावली मानकर कुला के रूप मे सगठित विकास के फलस्वरूप राज्य' बने।

परिवार' का प्रारम्भिक स्वरूप कसा था, इस विषय मे परस्पर विरोधी मत हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार प्रारम्भिक परिवार 'पितृसत्तात्मक' था तो दूसरो क अनुसार मातसत्तात्मक'। चूकि आनुवशिक सिद्धान्त' मानने वाले परिवार को राज्य की आदिम इकाई मानते हैं, अत राज्य की उत्पत्ति के विषय म परिवार के स्वरूप को लेकर दो सिद्धान्त प्रचलित हैं—पितसत्तामक सिद्धा त और मातसत्तात्मक सिद्धान्त।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त (Patriarchal Theory)

पितसत्तात्मक परिवार मे वश-परम्परा पुरुष से मानी जाती है। इस सिद्धान्त के समथको मे सर हेनरी मेन और डिग्बी का नाम प्रमुख है। हेनरी मेन की दो पुस्तको — प्राचीन कानून (Ancient Law, 1861) तथा 'सस्थाओ का प्रारम्भिक इतिहास' (Early History of Institutions, 1875)—मे हमे पितसत्तात्मक सिद्धान्त' का उल्लेख मिलता है।

सर हेनरी मेन के अनुसार प्रारम्भिक सामाजिक सगठन पितसत्तात्मक परिवार है। परिवार के अन्तगत पुरुष, उसकी स्त्री व बच्चे सम्मिलित हैं। प्रारम्भिक परिवार के सभी सदस्य पिता की अधीनता स्वीकार करते थे। बच्चो का विवाह होने पर नये परिवारो का ज म हुआ। ये नये नये परिवार अपने ज्येष्ठ पुरुष की अधीनता को स्वी कार करते रहे। ज्येष्ठ पुरुष 'पुरखा', पूवज' या पित' कहलाया तथा इस आधार पर जो परिवार बने उ हे पितसत्तात्मक परिवार कहा गया। कालान्तर मे पितृसत्तात्मक परिवारों के 'सयोग से वश अथवा जाति का उदभव हुआ। वशों के सहयोग से जन जाति बनी। जनजातियो का समूह ही राज्य है।"[17]

मेन के विचार से यहूदियो, यूनानियो, रोमन लोगो तथा भारतीय आर्यों का प्राचीन पारिवारिक इतिहास व कानूनी प्रथायें इस सिद्धान्त का समर्थन करती हैं। परिवार क ज्येष्ठ पुरुष को असीमित अधिकार प्राप्त थे। कहीं-कहीं तो इस बात के भी प्रमाण हैं कि वह परिवार के अन्य सदस्यो को मृत्युदण्ड तक दे सकता था। पिता ही आगे चलकर राजा बन बैठा। यही कारण है कि प्रारम्भिक राज्य राजतन्त्रात्मक थ और राजा निरकुश होता था।

17 Sir Henry Main Ancient Law p 128.

विशेषतायें

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त' निम्नांकित महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं पर आधारित है —

(१) मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में, समाज व्यक्तियों का समूह न होकर परिवारों का समूह था—अर्थात् परिवार ही समाज की इकाई थे।

(२) प्राचीन लोगों मे भी विवाह-संस्था विद्यमान थी तथा स्त्री पुरुष के अधीन मानी जाती थी।

(३) वंश परम्परा पुरुष से चलती थी, स्त्री से नहीं।

(४) परिवार की सम्पूर्ण शक्ति वयोवृद्ध पिता के हाथ में होती थी किन्तु मरते समय वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को विरासत के रूप में सौंप जाता था।

(५) राज्य ऐसे पितृसत्तात्मक परिवारों का ही समूह है। जिनके सम्मिलन और उनके योग से ही राज्य का विकास हुआ है।

आलोचना

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की आलोचना निम्नांकित आधार पर की जाती है —

१ राज्य की सरलतम व्याख्या—आलोचकों का तर्क है कि यह सिद्धान्त राज्य के प्रारम्भ की बहुत साधारण व सरल व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त से राज्य की उत्पत्ति का बोध नहीं होता। यह केवल वंश और परिवार के प्रारम्भिक विकास की व्याख्या करता है। इसने मनुष्य के प्रारम्भिक परिवारों के स्वरूप की कल्पना प्रस्तुत की है।

एकल या संयुक्त परिवार की भावना। कालान्तर में जब उत्पादन के तरीकों में ... वाले परिवर्तन के फलस्वरूप निजी सम्पत्ति का जन्म हुआ तब विवाह प्रथा और परिवार की उत्पत्ति हुई। आज भी विश्व में दक्षिण भारत के नायर जैसे अनेक समाज पितृसत्तात्मक न होकर मातृसत्तात्मक हैं।

४ मेन द्वारा प्रस्तुत परिवार का विकासक्रम गलत—जक्स की धारणा है कि हेनरी मेन द्वारा प्रस्तुत परिवार से राज्य बनने का विकासक्रम गलत है। उसके विचार से समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार नहीं, कबीला थी। कबीले के टूटने से वंश और वंश के टूटने से परिवार का जन्म हुआ। अपने मत के समर्थन में उसने आस्ट्रेलिया और मलय द्वीप समूह की कुछ आदिम जातियों का उदाहरण दिया है।

५ केवल रक्त-सम्बन्ध ही राज्य की उत्पत्ति का कारक नहीं—इस सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि यह केवल रक्त-सम्बन्ध को ही राज्य की उत्पत्ति का कारण मानता है। राज्य की उत्पत्ति अनेक कारकों के सहयोग से हुई है, उसकी उत्पत्ति का केवल एक कारक—रक्त सम्बन्ध—किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त (Matriarchal Theory)

परिवार का प्रारम्भिक स्वरूप पितृसत्तात्मक नहीं, मातृसत्तात्मक था—इस प्रकार के विचार हमें मकलेनन की 'प्रिमिटिव सोसायटी', मागन की 'एंशियेण्ट सोसायटी' तथा जक्स की 'ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्स' में मिलते हैं। उनके अनुसार प्रारम्भिक समाज में स्थायी वैवाहिक सम्बन्ध नहीं थे। लोग झुण्ड में रहते थे। प्रत्येक झुण्ड का एक टोटम (पशु या वृक्ष आदि का चिन्ह) होता था जो उसके सदस्यों के शरीर पर जन्म के समय गोद दिया जाता था। उत्सव के समय विभिन्न टोटम के लोग मिलते थे और अपनी स्वाभाविक यौन आवश्यकता को पूरा कर लेते थे। लेकिन बर्बर समाज का यह नियम था कि कोई स्त्री या पुरुष अपने ही टोटम वाले पुरुष या स्त्री के साथ सम्भोग नहीं कर सकता था। इससे जो बच्चे होते थे वे अपने पिता को नहीं जान सकते थे क्योंकि माँ के लिये भी यह निर्णय करना कठिन था कि उसे किस पुरुष के संयोग से गर्भ रहा था। अतः ऐसी अवस्था में माता ही प्रमुख थी। वही बच्चे पालती थी और स्विस विद्वान बैखोफ़न के शब्दों में, "न केवल वंश-परम्परा माता से चलती थी तथा सम्पत्ति का अधिकार स्त्री को मिलता था, अपितु समाज में स्त्रियों की स्थिति विशेष महत्वपूर्ण थी।" अतः परिवार का प्रारम्भिक रूप मातृसत्तात्मक ही था।

जक्स का मत है कि कालान्तर में जब उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन हुआ और लोगों ने खेती-बाड़ी व पशुपालन शुरू किया तो घर में पशुओं की देख भाल आदि के उद्देश्य से पुरुष ने सभी सामाजिक उत्तरदायित्वों को स्वयं ले लिया तथा अपनी स्त्रियों को घर पर रखना उपयोगी समझा। इससे समाज में पुरुष का महत्त्व बढ़ा। का अभिप्राय यह है कि प्रारम्भिक सामाजिक इकाई जनजाति थी, परिवार नहीं।

जनजाति के विघटन से वंश और वंशों के विघटन से परिवार बने। आज भी हमारे देश में मालाबार व कांगड़ी की पहाड़ियों में तथा आस्ट्रेलिया व मलय की आदिम जातियों मे प्रारम्भिक परिवारो के मातसत्तात्मक होने के प्रमाण प्राप्त किये जा सकते हैं।

आलोचना

१ राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं—आलोचकों की राय है कि मातृसत्तात्मक सिद्धान्त, पितसत्तात्मक सिद्धान्त की भाँति, राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या नही करता। यह केवल परिवार व वंश का प्रारम्भिक विकास बताता है। विलोबी के शब्दो मे "ये सिद्धान्त राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक परिकल्पनायें हैं।"[18]

२ अनैतिहासिक—इस बात का कोई प्रमाण नही है कि प्रारम्भिक समाज मे बहुस्त्री सम्भोग की प्रथा थी और जन्म देने की प्राकृतिक शक्ति के कारण स्त्री की सत्ता विद्यमान थी। जबकि दृष्टि से स्त्री, पुरुष की अपेक्षा निर्बल होती है, अत यह मानना कठिन है कि प्रारम्भ मे पुरुष उसकी सत्ता मे रहता था।

३ मातृसत्तात्मक परिवार राज्य का पूर्वगामी नहीं—यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रारम्भिक परिवार मातृसत्तात्मक थे, तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि राज्य परिवार का ही विकसित रूप है और उसकी उत्पत्ति परिवार से हुई है। गार्नर का मत है कि 'सार, सगठन, उद्देश्य और कार्यों की दृष्टि से परिवार व राज्य एक दूसरे से भिन्न हैं। अत यह मान लेना आपत्तिजनक है कि एक के विकास से दूसरे का जन्म हुआ होगा अथवा दोनों का आपसी सम्बन्ध रहा होगा।"

आनुवंशिक सिद्धान्त का महत्व

आनुवंशिक सिद्धान्तो—पितसत्तात्मक व मातसत्तात्मक—का अध्ययन शास्त्रीय दृष्टि से चाहे कितना ही दोषपूर्ण क्यो न हो, इसने राज्य की उत्पत्ति मे रक्त-सम्बन्धो की महत्ता को अवश्य स्पष्ट किया है। मकाइवर ने लिखा है कि इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि "रक्त सम्बन्ध समाज का निर्माण करता है और समाज आगे चलकर राज्य की रचना करता है।"[19]

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(The Social Contract Theory)

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, जिसे संविदा सिद्धान्त या अनुबन्धवाद भी कहते हैं, आधुनिक युग का सबसे पहला राजनीतिक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त राज्य का जन्म समाज के समझौते से हुआ बतलाता है। यह इस धारणा को लेकर चलता है कि मानव इतिहास मे एक ऐसी अवस्था थी जब कोई राज्य नही था और लोग अपने

18 Willoughby *The Nature of the State* p 20
19 MacIver and Page *Society* p 45

पारस्परिक सम्बन्धों व कार्यों के लिये प्राकृतिक नियमों पर निर्भर थे। इस अवस्था का समझौतावादी विचारकों ने प्राकृतिक अवस्था के नाम से सम्बोधित किया है।

कालान्तर में प्राकृतिक अवस्था में व्याप्त असुविधाओं से तंग आकर मनुष्यों ने एक समझौता किया, जिसके द्वारा राज्य की उत्पत्ति हुई। समझौते के अन्तर्गत मनुष्यों ने अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रताओं को त्याग दिया और बदले में राज्य द्वारा निर्मित और सुरक्षित नागरिक अधिकार प्राप्त कर लिये। प्राकृतिक कानूनों का स्थान मानवीय कानूनों ने ले लिया और प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर नागरिक अधिकार व कर्तव्य आ गये। संक्षेप में, इस सिद्धान्त ने राज्य को एक कृत्रिम संस्था माना है तथा मानव इतिहास को दो भागों में बांटा है। प्रथम, समझौते से पहले का युग जब राज्य का जन्म नहीं हुआ था (जिसे वह प्राकृतिक अवस्था कहता है), तथा द्वितीय, समझौते के बाद का युग जब राज्य अस्तित्व में आया। इस सिद्धान्त के अन्य दो पक्ष भी हैं—प्रथम पक्ष यह बताता है कि राज्य का जन्म किस प्रकार हुआ, और दूसरा, शासक तथा शासित वर्ग के सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है।

सिद्धान्त का इतिहास

अनेक प्राचीन भारतीय व यूरोपीय ग्रन्थों में हमें सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। महाभारत के 'शान्तिपर्व' में राज्य को मनुष्यों के समझौते से उत्पन्न बताया गया है। आचार्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थ शास्त्र' में लिखा है कि अराजकता से पीड़ित मनुष्यों ने सबसे पहले 'मनु' को अपना राजा बनाया तथा उसे अपने धान्य का छठवां अंश और पण्य व स्वर्ण का दसवां भाग देने का वचन दिया। इसके बदले में 'मनु' ने उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। प्राचीन यूनान में सोफिस्ट लोग इस सिद्धान्त के प्रचारक थे। उनके विचार से राज्य मनुष्यों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये बनाया है। वे मनुष्य को ही समस्त वस्तुओं का मापदण्ड (Man is measure of all things) मानते थे। प्लेटो व अरस्तू ने उनके मत का खण्डन करके राज्य को प्राकृतिक बतलाया, परन्तु बाद में इपीक्यूरियनों (भौतिक सुखवादियों) ने इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित कर दिया। रोम के कानून शास्त्री भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे तथापि उनके चिन्तन में उस समझौते का कोई उल्लेख नहीं था जिसके अनुसार लोगों ने अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता त्यागकर राज्य की रचना की थी।

यहूदी और प्रारम्भिक ईसाई विचारधारा में भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट में समझौते द्वारा राज्य के उत्पन्न होने का कई स्थान पर उल्लेख है। मध्ययुगीन सामन्तवादी समाज में तो एसे अनेक तत्व विद्यमान थे जिनसे इस सिद्धान्त को शक्ति मिली। इस सिद्धान्त के आधार जनता ने निरंकुश शासकों की नीतियों का विरोध किया। ग्यारहवीं शताब्दी में नामक धर्मशास्त्री ने पहली बार इस सिद्धान्त की व्यावहारिक व्याख्या की। उसने लिखा है कि 'यदि राजा उस समझौते का उल्लंघन करे जिसके

अनुसार वह चुना गया था तो जनता उसके आदेशो के कर्त्तव्यपालन के आदश से मुक्त हो जाती है।"

सोलहवी शताब्दी मे इस सिद्धान्त को मानने वालो की बाढ आ गयी। १५७६ मे लैंग्वेट ने इसका समथन किया। इसके उपरान्त बुकानन, मरिना, अल्यूसियस, सौरेज, ग्रोशियस, प्यूफेनडाफ आदि की रचनाओ मे इस सिद्धान्त का समथन किया गया है। सम्भवत रिचड हूकर पहला लेखक था जिसने अपनी पुस्तक लॉज ऑफ एक्लिजियास्टिकल पालिटी (१५९४) मे इस सिद्धान्त की तार्किक व्याख्या की थी। आधुनिक इतिहास मे व्यावहारिक रूप से, इस सिद्धान्त के प्रयोग का एक उदाहरण भी मिलता है। १६३० मे मेफ्लावर नामक जहाज के यात्रियो ने, जो पिलग्रिम फादस के नाम से प्रसिद्ध हैं, यह प्रतिज्ञा की थी कि "हम ईश्वर तथा एक दूसरे के समक्ष परस्पर मिलकर समझौता करके एक राजनीतिक समाज की स्थापना करते हैं।"

सत्रहवी व अठारहवी शताब्दी मे सामाजिक समझौते के आधुनिक व शास्त्रीय स्वरूप का विकास हुआ। हाब्स पहला दार्शनिक था जिसने (१६५१ मे) इस सिद्धान्त को समाजशास्त्रीय रूप प्रदान किया। उसके बाद लाक ने १६९० मे तथा रूसो ने १७६२ मे अपने राजनीतिक दृष्टिकोणो की पुष्टि के लिये इस सिद्धान्त का प्रयोग किया। वत्तमान युग मे सामाजिक समझौत के सिद्धान्त के अध्ययन का आधार इन्ही तीन विचारको की मान्यतायें हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा हाब्स ने निरकुश राजतन्त्र, लॉक ने सीमित राजतन्त्र तथा रूसो ने प्रत्यक्ष जनतन्त्र को न्यायसगत ठहराया है, लेकिन प्राकृतिक अवस्था के विद्यमान होने, समझौता होने तथा राज्य को एक कृत्रिम सस्था मानने के सम्बन्ध मे तीनो विद्वानो के विचारो मे सहमति ह। यहाँ हम विस्तार से उनके मतो की विवेचना करेंगे।

थॉमस हॉब्स
(१५८८-१६७९)

हॉब्स का एक टीकाकार ने 'भय से आतकित दार्शनिक' कहकर पुकारा है। इसका कारण यह है कि प्रथम तो हाब्स, प्राकृतिक अवधि से पूव (premature), भयभीत माता के गभ से जन्मा था। माता के भय का कारण स्पेन के 'अजेय' जलबेडे की १५८८ मे इगलैण्ड पर आक्रमण करने की अफवाह थी। स्वय हाब्स के शब्दो म, "आर्मेडा के वष मे उसकी माता ने एक जुडवाँ—उसे तथा भय—को जन्म दिया।" दूसरे, १६४१ मे शुरू हुए और आठ वष तक चलने वाले इगलण्ड के गहयुद्ध को उसन अपनी आँखो से देखा था। अत उसका दढ़ विश्वास हो गया था कि शक्तिशाली राजा ही समाज मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर सकता है। राज परिवार से सम्बन्धित होने के कारण (वह चाल्स द्वितीय का शिक्षक भी था) राजतन्त्र से न केवल उसकी सहानुभूति थी, अपितु वह उसे स्थिर और श्रेष्ठ व्यवस्था भी मानता था। इन्ही विचारो को उसने अपनी पुस्तको 'दि एलीमेन्ट्स ऑफ ला' (१६४०), 'सिवे' (१६४२) तथा

'लेवियाथन' (१६५१) में व्यक्त किया है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की व्याख्या की दृष्टि से उसकी अन्तिम कृति 'लेवियाथन' ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें समझौते का उल्लेख निम्नांकित ढंग से है।

मानव-स्वभाव—हॉब्स के अनुसार मनुष्य एक असामाजिक, आत्म केन्द्रित, स्वार्थी और सहानुभूतिहीन प्राणी है। उसमें अन्य मनुष्यों के प्रति भय, अविश्वास और घृणा की भावना होती है। इसका प्रमाण साधारण बातों से मिल जाता है। लोग बाहर जाते हैं तो अपने घर में ताला लगाकर, और हाथ में शस्त्र या लाठी लेकर जाते हैं। मनुष्य दुखदायी वस्तुओं से दूर रहना चाहता है और सुख देने वाली वस्तुओं को पाना चाहता है। लेकिन सुख प्राप्ति के मार्ग में एक बड़ी बाधा यह है कि सभी समान रूप से सुख प्राप्ति में संलग्न होते हैं। दूसरे, वे अपने इस उद्देश्य में इसलिये पूरी तरह सफल नहीं हो पाते क्योंकि सभी लोगों में लगभग समान शक्ति होती है। जो शरीर से निर्बल होता है, वह दूसरों की तुलना में अधिक दूरदर्शी व मक्कार हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति ने सबको समान बनाया है।

प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स के अनुसार मनुष्य के इस स्वार्थी स्वभाव के कारण राज्य के जन्म से पूर्व की स्थिति (प्राकृतिक अवस्था) में सभी लोग एक दूसरे के शत्रु बन गये। उसके विचार से इस अवस्था में मनुष्य का जीवन स्वभावतः एकाकी, निर्धन, जंगली और घृणित था। नैतिक-अनैतिक, भलाई बुराई का कोई ज्ञान नहीं था। किसी को बुरा काम करने से रोकने वाली कोई शक्ति या संस्था नहीं थी। लोग निरन्तर लड़ते रहते थे। समाज में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला नियम लागू था। हत्या का भय सभी को लगा रहता है। संक्षेप में, प्राकृतिक अवस्था अत्यन्त असुविधाजनक और असह्य थी।

समझौते का कारण—परन्तु मनुष्य पशु नहीं, उसमें बुद्धि भी होती है। अतः विवेक के विकास ने उसे कालान्तर में यह सोचने के लिये विवश किया कि यदि समाज में शान्ति व सुरक्षा की व्यवस्था हो सके तो उसे अपने परिश्रम का फल भोगने को मिल सकता है। अतः बुद्धि से प्रेरित होकर मनुष्यों ने आपस में एक समझौता करने का निश्चय किया।

समझौते का स्वरूप—उक्त समझौते के अन्तर्गत मनुष्य ने भावुकता को त्याग कर विवेक को अपने जीवन का पथ प्रदर्शक बनाया। लोगों ने आपस में मिलकर जो समझौता किया उसके अन्तर्गत उन्होंने अपनी सारी शक्तियाँ अपने में से किसी एक व्यक्ति या सभा को बिना किसी प्रतिबन्ध या शर्त के सौंप दीं। हॉब्स के शब्दों में समझौता करते समय प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ इस प्रकार की शपथ दुहरायी कि "यदि आप सब लोग भी अपने सारे अधिकारों को इसी भाँति समाप्त करने को तत्पर हों तो मैं भी अपने सभी अधिकारों को इस व्यक्ति या सभा को समर्पित करता हूँ।" इस समारोह के उपरान्त प्राकृतिक स्थिति का अन्त हुआ और राज्य का जन्म हुआ।

इस समझौते में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, राजा स्वयं समझौता

करने वाला मे नही है, अत वह किसी शर्त से बंधा हुआ नही है । दूसरी, समझौता करने वाला न अपने सारे अधिकारो को समझौते के उपरान्त राजा को सौंप दिया है, अत यदि राजा मनमानी भी करे तो जनता उसके विरुद्ध कोई आवाज नही उठा सकती। हाब्स, इस समझौते के द्वारा चुने गये शासक को ही 'लोवियाथन' कहता है, जिसका अर्थ होता है 'विशाल शरीर वाला मानव' या 'समुद्री राक्षस' । हाब्स की उक्त पुस्तक पर जो 'विशाल शरीर वाले मानव' (लोवियाथन) का चित्र है वह बहुत छोटे छोटे शरीरो को मिलाकर बनाया गया है—जिसका अर्थ है कि 'विशाल देहधारी मानव' के व्यक्तित्व मे समाज के सभी लोगो का व्यक्तित्व व शक्तियाँ निहित हैं । 'लेवियाथन' के एक हाथ मे तलवार है जो उसकी राजकीय शक्ति का प्रतीक है। उसके दूसरे हाथ मे धर्मास्त्र है जो बताता है कि वह धर्म का भी संरक्षक व संचालक है। उसकी पृष्ठभूमि में एक नगर, दुर्ग व गिरजाघर भी है, जिससे विदित होता है कि वह इन सबका स्वामी भी है ।

राज्य और सम्प्रभुता—हॉब्स के उपर्युक्त समझौते से उत्पन्न राज्य पूर्णतया निरकुश संस्था है। राज्य पर किसी संधि, नैतिकता या अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का बन्धन नहीं है। राज्य की सम्प्रभुता अखण्ड, स्थायी, अदेय और निरकुश है। वह किसी व्यक्ति, समूह, नियम या मर्यादा द्वारा प्रतिबन्धित नहीं है। व्यक्तियो को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योकि समझौते के अन्तर्गत वे अपने सभी प्राकृतिक अधिकारों को त्याग चुके हैं। प्रजा के प्रति राजा का कोई कर्त्तव्य नहीं है, क्योकि राजा स्वयं समझौते के पक्ष में नहीं था। राजाज्ञा ही नियम है, उसका उल्लंघन करने वाला राज द्रोही है। यदि जनता राजा का विरोध करेगी तो समझौता भग हो जायेगा और उसके भंग होने से समाज पुन भयानक 'प्राकृतिक अवस्था' मे पहुँच जायेगा।

इस तरह हम देखते हैं कि हॉब्स आधुनिक युग का प्रथम अद्वैतवादी दार्शनिक है, जिसने राज्य के कार्यक्षेत्र को बहुत व्यापक तथा उसकी शक्तियो को असीमित बताया है।

हॉब्स के सिद्धान्त की समीक्षा

वेपर ने लिखा है कि "हॉब्स प्रथम आधुनिक विचारक है जिसने राज्य के हितकारी स्वरूप का वर्णन किया। इस अर्थ में वह उपयोगितावादियों का पूर्वगामी है।" उसकी सबसे बड़ी देन यह है कि उसकी पुस्तक में ही हमें सबसे पहली बार सम्प्रभुता की धारणा का वर्णन होता है। उसने राजनीति के विचार-क्षेत्र में तर्क व बुद्धि का समावेश करके उसे मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासों से मुक्त करने की चेष्टा की है। लेकिन हॉब्स के प्रशंसकों की तुलना में उसके आलोचकों की संख्या अधिक है। उनके विचार से हॉब्स के सिद्धान्त में निम्नलिखित दोष हैं—

1 मानव-स्वभाव का एकपक्षीय विश्लेषण—हॉब्स ने मनुष्य को झगड़ालू और दूसरों की बरबादी को उत्सुक बताया है, जो गलत है। मनुष्य और स्वार्थ की भावनाओं के साथ-साथ प्रेम, सहानुभूति और सद्भाव की इच्छा

जाती है। रूसो ने हाब्स द्वारा चित्रित मानव-स्वभाव की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्राकृतिक व्यक्ति कैसा विचित्र जीव रहा होगा जो अपने बच्चों को मारकर सुख पाता रहा हो। यदि ऐसा होता तो मानव-जाति दो पीढ़ियों से अधिक जीवित न रहती। यदि मनुष्य स्वभाव से ही कुत्सित प्रवृत्तियों का होता तो सभ्यता का विकास न होता। लोग अपने बच्चों और भाइयों की मृत्यु पर प्रसन्न होते। जब हम किसी व्यक्ति को सोते या असहाय पाते तो उसकी सहायता करने की अपेक्षा उसकी हत्या करने की भावना हमारे हृदय मे जागृत होती।

२ प्राकृतिक अवस्था अस्वाभाविक—हाब्स की प्राकृतिक अवस्था अशुद्ध, अस्वाभाविक और असम्भव है। यह उसके दिमाग की ही एक कल्पना है। इतिहास में हमें प्राकृतिक अवस्था के ऐसे स्वरूप का वर्णन कहीं भी पढ़ने को नहीं मिलता। फिर प्राकृतिक अवस्था के ऐसे कायाकल्प की बात मनुष्य के दिमाग में कैसे आ गयी—यह भी समझ मे नहीं आता। व्हान (Vaughan) पूछता है कि यह कैसे सम्भव है कि वे मनुष्य जो एक क्षण एक-दूसरे की गर्दन पर छुरी फेंकने को तत्पर थे, दूसरे ही क्षण एक-दूसरे को गले लगाने लगे?

३ सामाजिक समझौता अप्राकृतिक—हॉब्स के समझौते को रूसो ने अप्राकृतिक बताया है। उसके विचार से जीवन और स्वतन्त्रता प्रकृति की देन हैं। स्वतन्त्रता के परित्याग का अर्थ है मनुष्यता का परित्याग। राजा से जनकल्याण या सुशासन का आश्वासन लिये बिना लोग स्वेच्छा से अपने अधिकार उसे देने के लिये कदापि तैयार न हुए होंगे? लास्की लिखता है कि "हाब्स ने अधिकारों के कानूनी स्वरूप का जो वर्णन किया है वह राजनीति दर्शन की दृष्टि से अनुपयुक्त है।"

४ राज्य व सरकार मे भेद नहीं—विलोबी का मत है कि "हाब्स के दर्शन का मूल अवगुण राज्य तथा शासन के सिद्धान्तों मे अन्तर स्पष्ट न कर सकने की असमर्थता है।' समझौते से शासक चुना जाता है और वही राज्य भी बन जाता है। वेपर ने लिखा है कि हाब्स ने 'राज्य की सर्वोच्च सत्ता का सरकार की सत्ता से मिला दिया है वह यह नहीं देखता कि सरकार मे परिवर्तन करना राज्य को भंग करना नहीं है।

५ निरंकुशता का समर्थन—आलोचकों का तर्क है कि साथियों की हिंसा और दमन से बचने के लिये यदि हाब्स के मनुष्य ने समझौता किया था तो यह कैसे सम्भव है कि वह शासक की स्वेच्छा के समक्ष स्वयं को समर्पित कर देता। मनुष्य कभी भी निरंकुशता या दबाव स्वीकार नहीं करता। यह समझ में नहीं आता कि जगली बिल्लियों या लोमड़ियों की शरारत रूपी प्राकृतिक अवस्था से बचने के लिये उसने समझौते द्वारा स्थापित शेर रूपी राजा की स्वेच्छा से शरण ली हो।

उपर्युक्त हाब्स के सिद्धान्त विशेष की आलोचनाओं के अतिरिक्त सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की जितनी आलोचनायें हैं वे भी हाब्स के सिद्धान्त पर लागू होती हैं।

जॉन लॉक
(१६३२-१७०४)

जॉन लॉक का जन्म इंगलण्ड के एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। ऑक्सफोर्ड से एम ए करने के उपरान्त वह वहां अध्यापक नियुक्त हो गया। वह डेकार्ट के दर्शन व अध्यात्म से प्रभावित था। उसके विचारों पर उसके कुछ मित्रो रॉबर्ट बायल, आइज़क न्यूटन तथा ए यानी ऑम्ले (लार्ड शैफ्टसबरी) का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। उसके जीवनकाल में बहुत समय तक ब्रिटेन में सम्राट् व संसद के बीच सर्वोच्चता के लिये संघर्ष चलता रहा जिसमें उसने संसद के अधिकारों का समर्थन किया। १६८८ में संसद् का सेना, प्रशासन व राज्यकोष पर पूरा अधिकार हो गया। कार्यपालिका को संसद् के अधीन माना गया। यह लाक के विचारों की विजय थी–इसीलिये जॉन लॉक का 'रक्तहीन राजक्रान्ति का दार्शनिक' (Philosopher of the Glorious Revolution) कहकर भी पुकारा जाता है।

चूंकि लॉक भी हाब्स की भाँति 'सुव्यवस्था' का समर्थक है और सम्राट की निरकुंशता (जिसका हॉब्स समर्थन करता है) का विरोध करते हुए वह जनता के निर्णय और सीमित राजतन्त्र को न्यायसंगत बताता है, इसलिये यह धारणा चल निकली है कि लॉक का मुख्य उद्देश्य 'लेवियाथन' का खण्डन करना था। लेकिन, लेस्लेट (Laslett) के अनुसार, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि लाक ने हाब्स के 'लेवियाथन' का अध्ययन भी किया हो।[20]

लाक की रचनाओं मे 'सहिष्णुता से सम्बंधित पत्र' (Letter Concerning Toleration, 1689), 'सहिष्णुता पर दूसरा पत्र' (1690), 'सहिष्णुता पर तीसरा पत्र' (1691), 'मानव-जानकारी से सम्बद्ध निबन्ध' (Essay Concerning Human Understanding, 1690), 'शिक्षा सम्बन्धी कुछ विचार' (Some Thought Concerning Education 1693) के नाम लिये जाते हैं, तथापि राजनीति शास्त्र की दृष्टि से उसकी रचना 'नागरिक शासन पर दो लेख' (Two Treatises or Civil Government, 1690) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

मानव स्वभाव—लाक के विचार से मनुष्य एक विवेकशील व सामाजिक प्राणी है। उसमें स्वाभाविक रूप से प्रेम, दया, सहयोग, सहानुभूति व परोपकार के गुण पाये जाते हैं। वह शान्ति से रहना चाहता है तथा दूसरे व्यक्ति के परिश्रम, व्यक्तित्व व सम्पत्ति के प्रति आदर की भावना रखता है क्योंकि प्राकृतिक नियमो में सबसे मुख्य नियम है कि 'तुम अपने पड़ोसी के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि उससे तुम अपने प्रति चाहते हो।"

प्राकृतिक अवस्था—लाक के विचार से प्राकृतिक अवस्था 'शान्ति, सदभावना, पारस्परिक सहयोग व सुरक्षा की अवस्था थी।" इसमे आवश्यकता की सभी वस्तुयें

20 Thomas P Peardon ed *The Second Treatise of Government*, New York 1952 p 5

पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी अतः प्रतियोगिता और संघर्ष का कोई कारण नहीं था। लोगों की स्वतन्त्रता का आदर किया जाता था, परन्तु उन्हें तब तक स्वयं को अथवा अपने अधिकार में किसी जीव के जीवन को नष्ट करने की स्वतन्त्रता नहीं थी 'जब तक कि ऐसा करने की आवश्यकता जिन्दगी बनाये रखने के अतिरिक्त किसी अन्य अच्छे उद्देश्य के लिये न हो।" दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक अवस्था में नैतिकता की भावना विद्यमान थी और विवेक पर आधारित आचरण के नियम भी लागू थे, जिन्हें लॉक ने 'प्रकृति के नियम' या 'प्राकृतिक कानून' (Laws of Nature) के नाम से पुकारा है।

समझौते का कारण—प्रश्न यह उठता है कि यदि प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्भावना और सुरक्षा की अवस्था थी तो सामाजिक समझौते द्वारा इस अवस्था को बदलने की आवश्यकता क्यों उठ खड़ी हुई? लॉक के विचार से इसका मुख्य कारण तीन असुविधायें थीं। प्रथम यह कि लोग विवेकशील और सामाजिक होते हुए भी निष्पक्ष नहीं थे। सर्वमान्य नियमों और कानूनों के अभाव में वे मनमानी करने के लिये स्वतन्त्र थे। द्वितीय, इन नियमों की व्याख्या करने के लिये किसी निष्पक्ष न्यायालय की सत्ता नहीं थी। तीसरे, इन नियमों को लागू करने के लिये भी कोई सत्ता नहीं थी। मनुष्य अपने झगड़ों में स्वयं न्यायकर्त्ता बन बैठते थे। ऐसी दशा में निष्पक्ष न्याय की आशा व्यर्थ थी।

अतः लॉक के विचार से, मनमानी करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देने के उद्देश्य से तथा ऐसे कानूनों के निर्माण के लिए जिनका सभी लोग समान रूप से अपने जीवन में पालन करें, समझौते की आवश्यकता पड़ी। अपने अधिकारों की रक्षा के लिये लोगों ने यह आवश्यक समझा कि वे पारस्परिक सहयोग द्वारा एक नयी सुविधाजनक अवस्था का निर्माण करें।

समझौते का स्वरूप—सामान्यतः यह माना जाता है कि लॉक के मतानुसार दो समझौते हुए। एक समझौता साधारणतः व्यक्तियों के बीच हुआ जिससे एक नागरिक समाज की स्थापना हुई तथा दूसरा समझौता जनता और सरकार के बीच हुआ जिससे राज्य की स्थापना हुई। यह धारणा गलत है। लॉक की पुस्तक में दूसरे समझौते का उल्लेख कहीं पर भी नहीं है। लॉक के विचार से, इस प्रकार, केवल एक ही समझौता हुआ जिसके द्वारा सभ्य समाज का जन्म हुआ, राज्य का नहीं। राज्य और सरकार की स्थापना धीरे धीरे आवश्यकतानुसार हुई।

समझौता दो बराबरी वाले पक्षों में होता है। लॉक को यह मंजूर नहीं था कि सरकार नागरिक समाज के समान स्तर की समझी जाय। वह सरकार को समाज के अधीन बनाना चाहता था, उसमें सेवक और स्वामी का सम्बन्ध चाहता था। अतः उसने कहीं भी सरकार को समझौते से उत्पन्न नहीं बताया। सरकार, लॉक की धारणा के अनुसार, सामाजिक आवश्यकताओं से बनती है। ऐसा होने पर जनता उसे केवल दो, कानून बनाने तथा न्याय करने के, अधिकार सौंपती है। यदि सरकार अपने इन अधिकारों का ठीक से प्रयोग नहीं करती तो जनता (जिसके पास प्राकृतिक अधिकार पहले से निहित हैं) सरकार को उसके पद से हटा सकती है।

राज्य व सम्प्रभुता—लॉक का राज्य सम्प्रभुता-सम्पन्न नही है। 'सम्प्रभु' (Sovereign) शब्द उसकी पुस्तक 'शासन पर दो लेख' म कही भी नही मिलता। उसकी सरकार सीमित है। वह न तो निरकुश है और न हो ही सकती है क्योकि वह जनता के प्राकृतिक अधिकारो (वयक्तिक सम्पत्ति के अन्तगत आने वाले तीन अधिकारो—जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार) पर आघात नही कर सकती, यदि सरकार ऐसी कुचेष्टा करे तो लाक के विचार से जनता को उस सरकार के हटाने और उसके स्थान पर नयी सरकार की स्थापना करन का पूण अधिकार है। साविधानिक विरोध पर्याप्त न होने पर लॉक जनता को हिंसात्मक विराध करन की भी अनुमति देता है। लॉक का समझौता इस प्रकार हाब्स के समझौते के बिल्कुल विपरीत है। हाब्स के अनुसार सरकार भग होने से समाज भग हो जायगा और प्राकृतिक अवस्था वापस आ जायगी परन्तु लॉक के विचार से सरकार भग करना समाज को भग करना नही है। यदि सरकार को हटा दिया जाय तो व्यक्ति सभ्य समाज म रहगे, प्राकृतिक स्थिति म नही।

लॉक न इस प्रकार साविधानिक राजतत्र का समथन किया है। 'सम्प्रभुता' उसके सिद्धात मे जनता और सरकार के मध्य बॅटी हुई मालूम होती है, जिसका व्यावहारिक अथ यह लगाया जा सकता है कि 'सम्प्रभुता मुख्यत जनता के पास ही रहती है किन्तु उसका प्रयोग सरकार द्वारा किया जाता है। जब तक सरकार जनता द्वारा निधारित सीमाआ का उल्लघन नही करती तब तक जनता कुछ नही बोलती, किन्तु जब सरकार सत्ता का दुरुपयोग करना शुरू करती है, सभ्य समाज उस सरकार को हटाकर दूसरी सरकार की नियुक्ति कर देता है और सम्प्रभुता उसे सौप देता है। यहा यह ध्यान देने योग्य है कि लाक का यह सिद्धात इगलण्ड की रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) से सम्बधित है। ससद ने जेम्स द्वितीय का इसलिये राजपद से अलग किया था कि उसन उन सीमाआ का उल्लघन किया था जो १६६० म 'ब्रेडा की घोषणा द्वारा राजतत्र ने स्वीकार की थी। उसके स्थान पर विलियम और मेरी साविधानिक शासक के रूप म इगलण्ड क राजपद पर लाये गये थे।

लॉक के सिद्धान्त की समीक्षा

जान लॉक एक प्रगतिशील विचारक है। वह आधुनिक जनवाद का दाशनिक है। "उसकी दष्टि मे," लास्की के शब्दा म 'सतकता ही स्वतन्त्रता की भगिनी है।" उसने बताया कि राज्य व्यक्ति के लिए है। व्यक्ति राज्य के लिए नही। इस प्रकार वह जनतन्त्र व उदारवाद का अग्रदूत है। माण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के तत्त्व उसकी रचनाआ मे निहित है। उसकी प्राकृतिक अधिकारो की धारणा चाहे कितनी ही त्रुटिपूण क्यो न हो, उसने आधुनिक युग की मौलिक अधिकारो की धारणा के आधार का काम किया है। सयुक्त राज्य अमरीका के स्वतन्त्रता सग्राम (१७६५-७१) फ्रास की राज्यक्रान्ति (१७८९) की [illegible] लाक का हाथ था। लेकिन इतना सब होने पर भी लॉक का दशन दोषमुक्त नही है।

तो उसके विरुद्ध निम्नांकित आपत्तियाँ हैं —

१ मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का विश्लेषण काल्पनिक अवैज्ञानिक और अशास्त्रीय क्रम—यह समझ में नहीं आता कि यदि प्रारम्भिक मानव शान्त और नैतिक था तो उसमें आलस्य और पक्षपात जैसे दोष कैसे पैदा हुए, जिनसे समाज असुविधाजनक बन गया। यदि उसके मानव स्वभाव आदि के विश्लेषण को स्वीकार भी कर लें तो यह समझ में नहीं आता कि मनुष्य ने शान्ति व सहयोग से युक्त अपनी प्राकृतिक अवस्था को छोड़ने की भूल क्या की?

२ राज्य के कार्य क्षेत्र सम्बन्धी धारणा त्रुटिपूर्ण—लॉक के राज्य का काम केवल प्राकृतिक नियमों के अनुसार नियम बनाना है, नागरिकों को सुसंस्कृत और नैतिक बनाना उसके कार्य क्षेत्र से बाहर है। राज्य को नैतिक प्रगति तथा शिक्षा प्रसार आदि के कार्यों से वंचित करना आधुनिक युग में उचित नहीं कहा जा सकता। लॉक के विचार व्यक्तिवादी होते हुए भी इस प्रकार मानव प्रगति के विरोधी हैं।

३ अनिश्चितता से युक्त—लॉक के दर्शन में कोई भी संस्था स्थायी रूप से प्रधान नहीं है। प्राकृतिक नियम और सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार राज्य की प्रधानता को सीमित करते हैं तो व्यक्ति की प्राकृतिक विशेषता—अपरिवर्तनशीलता—समाज तथा व्यक्ति की प्रधानता को सीमित करता है। इसके अतिरिक्त नागरिकों को ही सरकार के आचरण को परखने का अधिकार दे दिया गया है। ऐसी स्थिति में लॉक का दर्शन नागरिकों के लिये 'विद्रोह का लाइसेंस' बन जाता है तथा सरकार के पास अपनी रक्षा का कोई साधन नहीं रहता।

४ सम्प्रभुता की धारणा अस्पष्ट—लॉक ने सम्प्रभुता का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। वह सरकार व नागरिकों में बटी हुई लगती है। उसके ग्रन्थों में कानूनी प्रभुता का उल्लेख भी नहीं है। गिलक्राइस्ट लिखता है कि 'हॉब्स ने राजनीतिक सत्ता का अस्वीकार करते हुए कानूनी राजसत्ता का प्रतिपादन किया है, लॉक ने राजनीतिक राजसत्ता की शक्ति को स्वीकार किया है तो कानूनी राजसत्ता को मान्यता नहीं दी है। लॉक यह देखने में भी असफल रहा है कि क्रान्ति चाहे कितनी ही वांछनीय क्यों न हो कभी कानूनी नहीं होती।"[21]

जाँ जॉक रूसो
(Jean Jacques Rousseau)
(१७१२-१७७८)

रूसो का जन्म स्विट्ज़रलैण्ड के जिनेवा नामक नगर में हुआ था। उसका समुचित पालन-पोषण नहीं हो सका। शिक्षा की कमी, बुरी आदतों और गन्दे वातावरण के कारण वह जीवन भर भटकता रहा। अनेक स्त्रियों से उसने यौन-सम्बन्ध बनाये, लेकिन विवाह किसी से भी नहीं किया। शराब की दुकान की एक बदसूरत नौकरानी

21 *Principles of Political Science* p 61

से उसके पाच स ताने हुइ लेकिन उसने उनम से किसी को भी स्वीकार नही किया। आवारा और बदचलन होते हुए भी वह कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा का धनी था। उसकी मुख्य पुस्तकें निम्नलिखित हैं —

(१) कला और विज्ञान के नतिक परिणामो पर निबन्ध (The Discourse on the Moral Effects of Arts and Science, 1751),
(२) लागो मे असमानता की उत्पत्ति और आधार पर निबन्ध (The Discourse on the Origin and Foundation of Inequalities of Men, 1754),
(३) राजनीतिक अथ शास्त्र का परिचय (The Introduction to Political Economy, 1758),
(४) सामाजिक समझौता (The Social Contract 1762), तथा
(५) येमिल (The Emile, 1762)।

जैसा नाम से स्पष्ट है, 'सामाजिक समझौता' राजनीति शास्त्र की दृष्टि से सबस महत्त्व पूण पुस्तक है। 'यमिल' उसकी सबसे क्रान्तिकारी रचना है जिसके कारण उसे फ्रांस छोडकर दर दर भटकना पड़ा था। यह सामन्त व्यवस्था पर बडा तीखा प्रहार करती है। पादरियो ने इस पुस्तक की एक एक प्रति खोजकर जलवायी थी और सामन्ती सरकारो ने उनका साथ दिया था। जीवन के अन्तिम काल म उसने अपनी जीवनी The Confessions' लिखी थी तथा पोलण्ड व कार्सिका के लिये आदश सविधानो की रचना भी की थी।

रूसो की जीवनी से उसके विचारो को समझने म सहायता मिलेगी। प्रजातन्त्र क देश स्विटजरलण्ड म पदा होन के कारण उस पर प्रजातन्त्र के उदात्त सिद्धान्तो का प्रभाव था। उसने विधिवत् शिक्षा प्राप्त नही की तथा वह अद्धविक्षिप्त सा था, फिर भी उस अपने निबन्ध पर डिजॉन एकादमी का पुरस्कार मिला, इसस उसने बुद्धि की अपक्षा अत प्रज्ञा (Intuition) को महत्त्वपूण समझा। जवानी उसने आवारागर्दी म बितायी। इसके लिये वह सामाजिक परिस्थितियो को दोषी मानता रहा। बदचलन और निकम्मा होत हुए भी मित्रो ने उसकी सदव सहायता ही की, इससे उसकी यह धारणा प्रबल हो गयी कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है लेकिन समाज उसे बुरा बना देता है। बचपन म उसका बाप उससे कहा करता था कि "जाँ जॉक रूसो! अपन देश को प्यार करो!" जीवन पयन्त इसलिये वह जिनेवा को नही भूला और उसका आदश राज्य जिनेवा का प्रतिबिम्ब है। जनतन्त्र और राष्ट्रवाद के बीज इसीलिये उसकी रचनाओ म कूट कूटकर भरे हैं।

मानव स्वभाव—जसा ऊपर लिखा जा चुका है, रूसो मानव स्वभाव को मूलत अच्छा मानता है। अपनी पुस्तक 'असमानता की उत्पत्ति' म उसने प्राकृतिक मनुष्य को एक 'नेक जगली' (Noble Savage) बताया है। यह शान्तिप्रिय है। व सुखी रहना चाहता है। दया और परोपकार की भावना उसम जन्मजात है।

प्राकृतिक अवस्था—प्राकृतिक अवस्था को रूसो ने तीन भागो म बाँटा है। प्रथम चरण मे मनुष्य सुखी, एकाकी, स्वस्थ और सन्तुष्ट थे। न निजी घर था न सम्पत्ति न विवाह की प्रथा थी न कुटुम्ब का झमेला। कोई वस्त्र-समस्या भी न थी। आवश्यकतायें बहुत सीमित थी। शारीरिक कष्ट और भूख प्यास के अलावा लोग किसी दु ख को नही जानते थे। जनसख्या के विकास से मनुष्य दूसरे चरण म प्रवेश करता। भोजन प्राप्त करने के लिय प्रतियोगिता होन लगी, जिसके फलस्वरूप मिलकर काम करने, कुटुम्ब बनाकर रहन की प्रवृत्ति का विकास हुआ। मनुष्य को भविष्य की चिन्ता ने सताना शुरू किया और मेरे तेर की भावना का श्रीगणेश हुआ। इसी अवस्था के तीसरे चरण मे लोग पशु पालन और खेती करना सीखते हैं। उनमे गर्व की भावना घर करने लगती है तथा वे अपनी बुद्धि का प्रयोग अपनी आकाक्षाओ और अभिलाषाओ की पूर्ति के लिये करना शुरू कर देत है।[2] सम्पत्ति की नीव सुदृढ होने लगती है। लोग जमीन के मालिक बन बैठते हैं। धनी और निर्धन का भेद शुरू होता है। पारस्परिक वमनस्य बढता है। मनुष्य युद्ध और तनाव की स्थिति म आते है और प्राकृतिक अवस्था का पतन शुरू हो जाता है।

समझौते का कारण—मानव जाति प्राकृतिक अवस्था से कसे सभ्य समाज के लिय समझौता करने की ओर बढी इस विषय पर अपनी पुस्तक 'असमानता की उत्पत्ति और आधार पर निबन्ध' मे रूसो लिखता है "एक व्यक्ति ने, जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेरने के पश्चात यह सोचा और कहा कि यह मेरा है, दूसरे व्यक्तियो को अपनी बात मानते देखा—उसी व्यक्ति ने सभ्य समाज की नींव रखी।" दूसरे शब्दो मे, प्राकृतिक अवस्था के तीसरे चरण म धीरे धीरे लोगो ने यह अनुभव किया कि जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना कठिन हो रहा है। अत उनके लिये एसे सगठित समाज का बनाने की आवश्यकता हुई जो पूरी शक्ति से उस समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति तथा उसकी सम्पत्ति की रक्षा कर सके। साथ ही यह प्रश्न भी था कि समाज का सदस्य होते हुए व्यक्ति पुराने कानूनो का पालन करता रहे तथा उतना ही स्वतन्त्र रहे जितना कि वह पहले था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था को त्यागकर मनुष्य समझौते द्वारा सभ्य समाज म पहुँच।

समझौते का स्वरूप—रूसो के अनुसार यह समझौता लोगो के निजी स्वरूप और सामूहिक स्वरूप के मध्य हुआ। अ ब स, द आदि ने अपने अधिकारो को अ+ब+स+द के सामूहिक स्वरूप को सौंप दिया। इसमे किसी की हानि नही, सबका लाभ ही होता है। क्योकि जब उनमे से किसी एक के व्यक्तिगत अधिकारो पर आक्रमण होता है तो उसकी रक्षा के लिय सारा समाज उपस्थित हो जाता है।[23] रूसो का कथन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने समझौते को इन शब्दो म स्वीकार किया है कि हम सब मे से हर एक अपने व्यक्ति व और शक्तियो को सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशाधीन रख कर सबके समान स्थापित करता है और इस सामूहिक रूप से हम प्रत्येक व्यक्ति को अपने अविभाज्य

22 Lord Principles of Politics London p 40
23 कारोबीन्म् राजनीति शास्त्र अपर इण्डिया लखनऊ १९६२ प ८१।

अश के रूप मे स्वीकार करते हैं।" उसके ही शब्दो मे "सामाजिक समझौते से मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता को और अपनी पसन्द की सारी वस्तुओ को अपने कब्जे मे कर लेने के असीमित अधिकार को खो देता है। इसके बदले म उसे नागरिक स्वतन्त्रता मिलती है और अपनी सम्पत्ति पर अधिकार मिलता है।" हमे प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता का अन्तर तथा कब्जे द्वारा प्राप्त वस्तु और सम्पत्ति मे फर्क समझ लेना चाहिये ताकि मूल्याकन मे भूल न हो। व्यक्ति की अपनी शक्ति की सीमा के अलावा प्राकृतिक स्वतन्त्रता की कोई सीमा नही होती, लेकिन नागरिक स्वतन्त्रता 'सामान्य इच्छा' द्वारा सीमित होती है। कब्जे का आधार किसी वस्तु को अपनी ताकत से हथिया लेना है। सम्पत्ति का आधार एक निश्चित स्वत्व (अधिकार) होता है जिसे सब स्वीकार करते हैं।[24]

राज्य और सम्प्रभुता—ऊपर लिखा गया है कि समझौते द्वारा मनुष्यो न अपने पृथक व्यक्तित्व व अधिकार को एक ही राशि या ढर मे मिला दिया और स्वय समझौते के बाद उस राशि या ढेर का अविभाज्य अग बन गया। इस राशि या समूह का नाम ही राज्य है। सरकार रूसो के विचार से राज्य की कार्यपालिका है। राज्य एक सम्प्रभुता-युक्त सवाग है जबकि सरकार उसके अधीन एक सस्था। रूसो राज्य को एक 'नैतिक व्यक्ति' (Moral Person) मानता है। व्यक्ति कानून निर्माता भी है और कानून का पालन करने वाला भी। स्विट्ज़रलण्ड के प्रत्यक्ष जनतन्त्र का प्रभाव यहाँ रूसो के विचारों पर स्पष्ट है। उसकी आस्था यहाँ सावजनिक प्रभुता मे प्रगट होती है। क्योंकि व्यक्ति ही शासक है और वही प्रजा है। हॉब्स की भाँति रूसो भी सम्प्रभुता को असीमित, अविभाज्य, अपृथककरणीय और अदेय मानता है, लेकिन जहाँ हॉब्स सम्प्रभुता का निवास राजा मे बताता है वहाँ रूसो उसका निवास सम्पूर्ण राजनीतिक समाज—सामान्य इच्छा—मे मानता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
(Theory of General Will)

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सामान्य इच्छा' मे निहित होती है इसलिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि 'सामान्य इच्छा' क्या है?

रूसो ने मनुष्य में दो प्रकार की इच्छायें बतायी हैं—'भावना प्रधान इच्छा' (Actual Will) और 'वास्तविक इच्छा' (Real Will)। 'भावना प्रधान इच्छा' स्वार्थी, अविवेकपूर्ण, सकुचित, अस्थिर और आत्म विरोधी होती है। [illegible] का अपेक्षा इसमे व्यक्तिगत हिता के लाभ की कामना रहती है। 'वास्तविक इच्छा', इनके विपरीत, विवेकशील, स्थायी और सामाजिक [illegible] होती है एक कक्षा मे विद्यार्थियो की भावना प्रधान इच्छा है [illegible] की मांग करना [illegible] लडाना, उनकी 'वास्तविक इच्छा' है [illegible]

24 वही प ७८.

भावना प्रधान इच्छा है बातचीत करना या नकल करना, उनकी वास्तविक इच्छा' शान्तिपूर्वक प्रश्नोत्तर लिखना। 'सामान्य इच्छा' (General Will) नागरिकों की 'वास्तविक इच्छा' ही है। यह न तो 'सब की इच्छा' (Will of All) है और 'बहुमत की इच्छा' (Will of Majority)। यह उन लोगो की 'वास्तविक इच्छा' है जो राजनीतिक इकाई के रूप मे कार्य रहे हैं और समस्त समाज की भलाई चाहते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यदि व्यक्ति और राज्य के मध्य कोई सीधा सम्बन्ध हो तो यह 'सामान्य इच्छा' कैसे सम्भव हो सकती है ? मनुष्य की सद्भावना पर रूसो को अटूट विश्वास था। वह मनुष्य को मूलत अच्छा मानता है। अत उसे पूरा था कि आदर्श नागरिक सदैव 'वास्तविक इच्छा' को ध्यान मे रखेंगे और उससे सबका कल्याण पायेंगे।

सामान्य इच्छा की विशेषतायें—'सामान्य इच्छा' को समझने के लिये उसकी निम्नांकित विशेषताओ पर ध्यान देना आवश्यक है —

(१) सामान्य इच्छा न तो सबकी इच्छा है और न बहुमत की इच्छा। न लोगो की वास्तविक इच्छा है जिसमे सारे समाज के कल्याण की भावना होती है।

(२) सामान्य इच्छा का पालन करने वाला स्वयं अपनी ही वास्तविक इच्छा का पालन करता है।

(३) सामान्य इच्छा सर्वश्रेष्ठ है। इसे सम्प्रभुता भी कह सकते हैं। यदि कोई सामान्य इच्छा का पालन करना अस्वीकार करे तो उसे, दबाव डालकर, इसका पालन करने के लिये विवश किया जा सकता है।

(४) सामान्य इच्छा न तो कोई भूल कर सकती है और न पृथक् ही की जा सकती है। वह अविभाज्य है।

(५) सामान्य इच्छा निरकुश है। उस पर न तो व्यक्ति के अधिकारों, व्यक्तिगत सघ, न दैवीय, नैसर्गिक या लौकिक नियमो का कोई प्रतिबन्ध है।

(६) सामान्य इच्छा गुणात्मक है, मात्रात्मक नहीं।

(७) सामान्य इच्छा स्वयं कार्यपालिका नहीं है। लोगों ने इसकी कार्यपालिका शक्ति इसके प्रतिनिधि—सरकार या राजा—को सौंपी हुई है।

(८) सामान्य इच्छा स्वतन्त्रता का प्रतीक है। जो नागरिक सामान्य इच्छा (अपनी वास्तविक इच्छा) के अनुसार जीवन-यापन नहीं करता वह भ्रम में है या विपथगामी है, क्योंकि वह अपना सच्चा हित नहीं जानता और स्वतन्त्र नहीं है। उसे 'सामान्य इच्छा' के पालन के लिये बाध्य करना वस्तुत उसे स्वतन्त्र बनाना है। कक्षा में विद्यार्थी को चुप रहने के लिये विवश करना उसे स्वतन्त्र होने के लिए विवश करना है।

सामान्य इच्छा की आलोचना—सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की टीकाकारों ने कई प्रकार से आलोचना की है —

(१) सामान्य इच्छा की धारणा अस्पष्ट है। यह अति भावात्मक और संकुचित है। यह खोजना बहुत कठिन है कि समाज में 'सामान्य इच्छा' कहाँ विद्यमान है।

भावनात्मक और वास्तविक इच्छायें कभी कभी इतनी मिल जाती हैं कि उनमे भद करना मुश्किल होता है।

(२) सामान्य इच्छा निरकुशता का समथन करती है। यह कथन कि सामान्य इच्छा का पालन करना स्वतन्त्रता है व्यक्ति को सरकार के आदेशा का पालन करने के लिए विवश करता है, उसे विद्रोह का अधिकार नही देता।

(३) सामान्य इच्छा म सामाजिक हित की भावना रहती है। लेकिन सामाजिक हित की व्याख्या करना मुश्किल है। शासक अपनी चालबाजी से उन अनेक हितो को सामाजिक हित सिद्ध कर सकता है जो वास्तव मे व्यक्तिगत हाते हैं।

(४) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त भारत या चीन ऐसे बडे बड़े राज्यों पर लागू नहीं हो सकता। उसकी उपस्थिति छोटे छोटे सजातीय राज्यो मे ही सभव है। आज के बडे बड़े राष्ट्रीय राज्यो मे नहीं।

(५) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त व्यथ है। वेपर लिखता है कि "जब रूसो हमे सामान्य इच्छा का पता ही नहीं दे सकते तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? रूसो ने हमें एक ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे मे अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"[25]

रूसो के सिद्धान्त की समीक्षा

यद्यपि रूसो स्वय क्रान्ति का पक्षपाती नही था, तथापि उसकी रचनाओ ने क्रान्ति की ज्वाला को भड़काया और यूरोप का राजनीतिक चित्र ही बदल डाला। उसने जनता के हृदय की बात को इतने साधारण ढग और शैली मे कहा कि वह जनसाधारण के मस्तिष्क म घर कर गयी। प्राकृतिक अवस्था को आदर्श बताकर उसने उदासीन जनता की सादगी को गौरवान्वित किया। यह सिद्ध करके कि तथाकथित सभ्य समाज ने मनुष्य को व्यभिचारी, दु खी, पतित और दास बना दिया है, उसने जनता को दासता की जजीर तोड़ने के लिये तैयार किया। जनवाणी ही देववाणी है, सर्वोत्तम शासन स्वशासन है, नतिक और वास्तविक जनतन्त्र 'सामान्य इच्छा' पर आधारित जनवादी राज्य मे ही सम्भव है इत्यादि बातें कहकर उसने 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' (Popular Sovereignty) की आधारशिला रखी और राजनीति दशन मे एक नयी महत्वपूण क्रान्ति का श्रीगणेश किया। नपोलियन बोनापाट ने स्वीकार किया था कि रूसो के बिना फ्रास की राज्यक्रान्ति (१७८९) ही न हुई होती। राब्सपीयर (Robespierre) तो रूसो को 'फ्रांस की राज्यक्रान्ति का देवता' कहता है। उसके विचारा का प्रभाव फ्रास और सयुक्त राज्य अमरीका के सविधानो पर स्पष्ट देखा जा सकता है। लेकिन 'सामान्य इच्छा' के उसके सिद्धान्त के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तिया के अलावा भी रूसो के दशन म कुछ अन्य कमजोरियाँ हैं।

आलाचका का कहना है कि रूसो का ऐतिहासिक दृष्टिकोण त्रुटिपूण है। मानव

25. राजदर्शन का स्वाध्ययन, पृ १७१।

जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, परन्तु रूसो ने उसे पतन का इतिहास बना दिया है। मनुष्य पहले भला था, अब बुरा हो गया—मनुष्य का केवल एकपक्षीय चित्र है। मनुष्य एक जटिल (complex) प्राणी है, उसमें भलाई और बुराई दोनों इस साथ रही हैं।

दूसरे, रूसो जनवादी के साथ साथ अधिनायकवादी भी है। उसने 'सामान्य इच्छा' के नाम पर व्यक्तित्व का हनन किया है। ऐसे समाज में व्यक्ति न तो स्वतन्त्र रूप से चिन्तन-मनन कर सकता है और न जीवन-यापन ही। 'सामान्य इच्छा' से बना उसका राज्य स्वयं साध्य बन जाता है और व्यक्ति उसका साधन। वॉहन (Vaughan) ने ठीक लिखा है कि "रूसो व्यक्तिवाद का ही नहीं, व्यक्तित्व का भी शत्रु है।"

अन्त में, रूसो का वर्णन तर्कसंगत व युक्ति युक्त नहीं है। एक ओर तो वह समझौता व्यक्ति और समाज के बीच हुआ बताता है और दूसरी ओर वह स्वयं समाज को समझौते द्वारा उत्पन्न बताता है। जोन्स के शब्दों में "रूसो के विचार अत्यन्त परस्पर विरोधी हैं तथा उग्र घोषणाओं व भावुकता के आशाहीन टेढ़े-मेढ़े मार्ग हैं जो विभिन्न दिशाओं की ओर ले जाते हैं।[26]

कुछ भी हो, यह मानना पड़ेगा कि रूसो का दर्शन उसके युग में क्रान्तिकारी था। उसने काण्ट तथा अन्य आदर्शवादियों का पथ प्रदर्शन किया। उसकी सबसे बड़ी देन यह है कि उसने हमें सिखाया कि "राज्य मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं पर आधारित है। हम राज्य के प्रति इसलिये आज्ञाकारी होना चाहिये क्योंकि वह हमारे व्यक्तित्व का ही विस्तृत रूप है।'

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना

रूसो हाब्स तथा लाक दोनों के विचारों से प्रभावित है। एक विद्वान का मत है कि 'वह (सिर्फ) हॉब्स के आधार वाक्यों और स्वभाव को लाक के निर्णयों से मिला देता है।' रूसो तथा हाब्स और लाक के विचारों की तुलना में हमें निम्नांकित भेद दिखाई देते हैं —

(१) रूसो हाब्स के इस विचार से सहमत है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों में सामाजिकता का अभाव था, लेकिन वह यह स्वीकार नहीं करता कि वे एक दूसरे के शत्रु थे।

(२) रूसो हाब्स की भाँति व्यक्ति में आत्म केन्द्रीयता की भावना को स्वीकार करते हुए उसमें दया और सहानुभूति के भावों की अवस्थिति को भी स्वीकार करता है जबकि लाक मनुष्य को सम्मान और सद्भावनाओं से युक्त मानता है।

(३) रूसो हाब्स से सहमत है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य में नैतिक भावनाएं नहीं थीं लेकिन लाक के विचार में उसमें नैतिक भावनाएं विद्यमान थीं।

(४) रूसो और हॉब्स के अनुसार राज्य में एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता का होना जरूरी है लेकिन लाक इसे नहीं मानता।

26 W T Jones Masters of Political Thought Vol II p 253

(५) हाब्स का प्रधान उद्देश्य नागरिक सुरक्षा है, इसलिये वह समझौते में असीम सत्ता की उपस्थिति और आज्ञा पालन पर विशेष बल देता है, लेकिन लॉक और रूसो का उद्देश्य शासन का जनहित में निर्माण करना है, अतः वे नागरिकों के हितों के प्रति अधिक सजग हैं।

(६) हाब्स और लाक के समाज की कल्पना यन्त्रवत् है, जबकि रूसो ने ऐसे समाज की स्थापना की बात की है जिसमें सामाजिक एकता और समन्वय पाया जायेगा।

(७) हॉब्स के अनुसार नागरिकों को विद्रोह करने की छूट नहीं है, लॉक के अनुसार उन्हें विद्रोह करने का अधिकार है लेकिन केवल उसी दशा में जबकि सरकार उनके हितों की रक्षा करने में असमर्थ हो। रूसो, इसके विपरीत, सरकार बदलना एक साधारण बात मानता है।

(८) सम्पत्ति के विषय में तीनों में मतभेद है। हॉब्स के विचार से प्राकृतिक अवस्था में सम्पत्ति नहीं थी। लॉक के विचार से सम्पत्ति एक प्राकृतिक अधिकार है जिसकी रक्षा के लिये समझौता किया जाता है। रूसो के विचार से व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण ही विषमतायें उत्पन्न हुई हैं और समाज का पतन हुआ है। प्राकृतिक अवस्था के प्रारम्भिक चरण में निजी सम्पत्ति का नामोनिशान नहीं था।

(९) हॉब्स के अनुसार समझौते द्वारा नागरिक अपने समस्त अधिकार शासक को सौंप देते हैं, लॉक के विचार से वे केवल प्राकृतिक अधिकारों के संरक्षण का अधिकार ही सौंपते हैं, रूसो के विचार से केवल एक नैतिक परिवर्तन होता है। व्यक्ति स्वच्छन्दता खोकर सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है।

(१०) रूसो हॉब्स की भाँति सम्प्रभुता को अविभाज्य, अदेय और निरंकुश मानता है। वह हॉब्स की भाँति यह भी मानता है कि सरकार स्वयं उस समझौते में भागीदार नहीं थी जिसे जनता ने आपस में किया था। लेकिन प्राकृतिक अवस्था तथा मानव स्वभाव के वर्णन में वह लॉक का अनुसरण करता है। लॉक की तरह वह राज्य व सरकार में भेद करता है और सम्प्रभुता को जन सत्ता बनाकर हॉब्स के सम्प्रभु का सिर ही काट डालता है।[27] वह लॉक की तरह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्त्व देता है और उसकी रक्षा के लिये व्यवस्था भी करता है। लेकिन जहाँ लॉक, हॉब्स की तरह, नागरिक जीवन के व्यक्तिगत पक्ष पर बल देता है वहाँ रूसो ने उसके सामाजिक पक्ष पर बल दिया है।

संक्षेप में, रूसो ने हॉब्स और लॉक के सिद्धान्तों में अच्छे लगने वाले तत्त्वों को ग्रहण किया है। उसने हॉब्स की सम्प्रभुता की निरंकुशता की धारणा को लिया क्योंकि प्रशासन की दृढ़ता और स्थिरता के लिये यह आवश्यक है तो लॉक से यह विचार लिया कि एक अच्छे शासन का मापदण्ड यही है कि उसने जनता की भलाई के लिये क्या किया है। उसकी सामान्य इच्छा में इन दोनों का समन्वय (synthesis) है। लॉर्ड ने ठीक लिखा है कि "रूसो की आवाज लॉक की है, परन्तु हाथ हॉब्स के हैं।"

27 'रूसो का सम्प्रभु हॉब्स का लेवियाथन है जिसका सिर काट दिया गया है।"

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की आलोचना

टीकाकारो ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की अपने-अपने ढंग से आलोचना की है जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं —

यह सिद्धान्त अनैतिहासिक है—नयी सरकारें (जैसे १९४७ में भारत) अवश्य समझौते से बनी हैं, लेकिन इतिहास मे समझौते द्वारा राज्य के जन्म होने का कोई प्रमाण नही मिलता।[28] ह्यूम के विचार से "शासक और शासितों के सम्बन्धों के आधार के रूप मे (भी) समझौता असगत है तथा इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।" इस सिद्धान्त के समर्थक अपने पक्ष मे जो नवम्बर १६२० के 'मेफ्लावर पैक्ट' का उदाहरण देते हैं व यह भूल जाते हैं कि मेफ्लावर पैक्ट ऐसे लोगो द्वारा हुआ जो नागरिक थे, प्राकृतिक स्थिति मे नहीं थे। सर हेनरी मेन जैसे विद्वानो ने प्राचीन रीति रिवाज, कानून आदि का अध्ययन करके यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन काल मे समझौते की कोई प्रथा ही नही थी।

यह सिद्धान्त समाजशास्त्रीय दृष्टि से गलत है—आज सभी अरस्तू की इस धारणा को मानते हैं कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है", लेकिन यह सिद्धान्त मनुष्य को असामाजिक मानता है। हॉब्स और रूसो दोनो के विचार से प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य सामाजिक नही था, उसमे परिवार तक की भावना नहीं थी। अत समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आधार दोषपूर्ण है।

यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है—यदि हम सामाजिक समझौते के सिद्धान्त मे वर्णित प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार भी कर लें तो भी यह बात समझ में नही आती कि सामाजिक और राजनीतिक चेतना से शून्य व्यक्ति ने अकस्मात् समझौता कैसे कर लिया। कहावत है कि 'एक रात मे चीता अपना रंग नही बदलता।' १२ बजे तक प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य, हॉब्स के विचार से, एक दूसरे के प्राणों के प्यासे थे लेकिन १२ बजकर एक मिनट पर वे समझौते के द्वारा भ्रातृपूर्ण और दोषरहित शासक के सेवक बन गये। लाक के मनुष्य ने समझौता करके बहुमत प्रथा को अपना लिया जो वास्तव मे एक लम्बे समय के सांविधानिक अनुभव की देन है। रूसो के अनुसार क्षण-भर मे ही ऐसे नैतिक और आदर्श नागरिको का जन्म हो गया जो शासित तक शासित रहने के बावजूद स्वयं शासक बनने की योग्यता प्राप्त कर लेंगे। ऐसा परिवर्तन केवल उपन्यासो, पौराणिक कथाओं और हिन्दी फिल्मों मे मिलता है, वास्तविक जीवन में नहीं। अत समझौते के सिद्धान्त का आधार काल्पनिक है, इसमे मनोवैज्ञानिकता का अभाव है।

राजनीति शास्त्र की दृष्टि से यह सिद्धान्त मान्य नही है—ह्यूम का मत है कि

---

28 "इतिहास में कोई भी ऐसा प्रामाणिक उदाहरण [illegible] अनुसार ए[illegible] व्यक्तियों के द्वारा किन्हीं धर्म का [illegible] किया, [illegible] स्थापना [illegible] हो।"—गार्नर, पूर्वोक्त पृ [illegible]

यह सम्भव हो सकता है कि राज्य का जन्म समझौते से हुआ हो लेकिन राज्य का आधार समझौता नही, उपयोगिता है।" एडमण्ड बर्क की भी यही धारणा है और उपयोगितावादी विचारको बेन्थम आदि की भी। डा गणेश प्रसाद लिखते हैं कि इस सिद्धान्त का "राज्य को मानवीय एव कृत्रिम सस्था बताना उसकी देन थी और कमजोरी भी। देन इस नाते कि इससे जनवाद को प्रश्रय मिला, कमजोरी इस नाते कि इसने राज्य को व्यक्तियो की स्वेच्छा की वस्तु बनाया। व्यक्ति सोचने लगे कि राज्य उन्होंने बनाया है, वे उसे परिवर्तित भी कर सकते हैं। यही विचारधारा १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति तथा १७८६ की फ्रासीसी क्रान्ति की पीठिका बनी। स्वभावत ऐसा दृष्टिकोण राज्य के महत्त्व तथा स्थायित्व के लिये घातक है।"[29]

इस सिद्धान्त का राजनीति शास्त्र की दृष्टि से एक दोष यह भी है कि यह राज्य को 'व्यापारी वृत्ति' का परिणाम बताता है। इस सिद्धान्त से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य जनता और शासक मे हुई 'सौदेबाजी' (Haggling and Bargaining) की सन्तान है। इस धारणा से नागरिको की राज्य के प्रति स्वाभाविक निष्ठा एवम विश्वास डिगने लगता है।

कानूनी दृष्टिकोण से गलत—कानूनी दृष्टिकोण से भी सामाजिक समझौते का सिद्धान्त दोषपूर्ण है। प्रथम इसलिये कि किसी भी समझौते को उस समय तक मान्यता नही मिल सकती जब तक कि उसे राज्य का समर्थन मिला हुआ न हो। लेकिन प्राकृतिक अवस्था मे, ग्रीन के अनुसार, राज्य का अस्तित्व न होने के कारण कोई ऐसा समझौता किया ही नही जा सकता था जिसका रूप वैधानिक हो।

दूसरे, कानूनी दृष्टि से कोई समझौता उन्हीं लोगो पर लागू हो सकता है जिन्होंने उसे किया हो। डा आशीर्वादम लिखते हैं कि "यदि पूवजो ने खट्टे अगूर खाये तो बच्चो के दाँत क्यो उतरें।" लेकिन सकडो पीढ़ियाँ बीतने के बाद भी लोग समझौते द्वारा उत्पन्न राज्य का पालन करते हैं—कानूनी बन्धन के कारण नही, आवश्यकता के कारण क्योकि उन्हें राज्य की आज्ञा के पालन मे ही अपना भला दिखायी देता है।

यह सिद्धान्त भ्रामक है—प्रथम, यह सिद्धान्त राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धो की उचित व्याख्या करने मे असफल रहा है। वॉन हेलर लिखता है कि "यह कहना कि व्यक्ति और राज्य मे समझौता हुआ उतना ही युक्तिसगत है जितना यह कहना कि व्यक्ति और सूय मे इस प्रकार का समझौता हुआ कि सूय व्यक्ति को गर्मी दिया करे।"

दूसरे, इस सिद्धान्त का तर्क है कि लोग प्राकृतिक अवस्था मे प्राकृतिक अधिकारो और स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। समाज के बिना अधिकार कहाँ से आये यह समझ में नहीं आता। ग्रीन लिखता है कि "समझौते के सिद्धान्त मे वास्तविक दोष यह है कि यह समाज से स्वतन्त्र (पृथक) अधिकारों व उत्तरदायित्वों की सम्भावना से युक्त है।"

---

29 पूर्वोक्त पुस्तक, पृ ६६।

लाइबर उचित ही लिखता है कि "इस सिद्धान्त को अपनाने से अराजकता फलने का भय है।" यह सिद्धान्त न तो हमें इतिहास के विषय में और न ही राजनीतिक दर्शन के विषय में सन्तोषजनक उत्तर प्रदान करता है।

महत्त्व

यद्यपि सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अनेक दोषों से युक्त है, तथापि राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में इसका पर्याप्त महत्त्व है। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का हमेशा के लिये अन्त कर दिया। इसने व्यक्ति की महत्ता को बढ़ाया। यह सिद्ध किया कि अन्ततः जनता ही सम्प्रभु है और राजनीतिक सत्ता पर अन्तिम अधिकार उसका है। यह सिद्धान्त बताता है कि सामाजिक संस्थायें मानवीय प्रयत्नों का परिणाम हैं और मानवीय प्रयत्नों से ही उन्हें सुधारा जा सकता है। इसने विश्व में आधुनिक जनतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया है तथा इस सत्य की संस्थापना का कार्य किया है कि राज्य का आधार शासक की शक्ति नहीं अपितु जनता की इच्छा है—सहमति है।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त
(The Historical or Evolutionary Theory)

ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक स्वीकृत सिद्धान्त है। अभी तक जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है वे राज्य की उत्पत्ति के विषय में सन्तोषजनक उत्तर देने में असमर्थ रहे हैं, क्योंकि वे एकपक्षीय हैं और उनके प्रतिपादकों ने वास्तविक तथ्यों की अपेक्षा कल्पना का सहारा लेकर अपने सिद्धान्तों को खड़ा करने की कोशिश की है। विकासवादी सिद्धान्त राज्य को मानव सभ्यता के क्रमिक विकास का परिणाम मानता है। इसके अनुसार "राज्य न तो ईश्वरीय देन है और न ही मनुष्य द्वारा जानबूझकर किया गया कार्य। इसकी उत्पत्ति अतीत की उस परछाईं में छिपी हुई है जिसमें अचेतन रूप से सामाजिक संस्थायें जन्म ले रही थीं तथा विकास क्रम के सामान्य नियमों के आधार पर इसका विकास हुआ है।"[30] यह कोई आविष्कार नहीं। तात्पर्य यह कि अज्ञात मानव-इतिहास में विकास की धीमी प्रक्रिया का परिणाम है।[31] जैसे जैसे मनुष्य सभ्य होता गया वैसे-वैसे उसकी सामुदायिक भावना विकसित होती गयी। परिस्थितियों और उसकी अन्तर्जात प्रवृत्तियों ने उसे सामाजिक और राजनीतिक संगठनों के विकास की ओर मोड़ा। यह बताना कि सबसे पहले राज्य कब दिखायी दिया उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार कि यह कहना कि कब नैतिक कानून बने या बालक कब जवान हुआ अथवा युवक कब प्रौढ़ बना।[32] प्रो॰ गार्नर ठीक लिखते हैं कि 'राज्य एक ऐतिहासिक गौरव है और

30. गैटिल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ ६६।
31. Leacock, *Elements of Polit al Science*, p 37
32. Sumner and Keller, *The Science of Society* Vol I, p 695

राज्य के विकास मे उत्तरदायी तत्व

गैटिल का मत है कि "उन भौगोलिक परिस्थितियो और वातावरण तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओं—जिन्होंने मनुष्य को अलग अलग स्थान पर समूह बनाकर रहने तथा एक-दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखने की प्रेरणा दी—के अतिरिक्त चार अन्य तत्त्व राज्य की उत्पत्ति और विकास मे मुख्य रूप से सहायक रहे हैं। ये चार तत्त्व हैं—रक्त-सम्बन्ध धर्म, उद्योग धन्धे और युद्ध।" गिडिंग्स ने अपनी पुस्तक मे राज्य के विकास के लिए सैनिक, धार्मिक, कानूनी, आर्थिक व नैतिक तत्त्वो को उत्तरदायी माना है। आधुनिक राजनीति शास्त्र वेताओ ने इन विभिन्न तत्त्वो का समीकरण करके राज्य के विकास के लिये निम्नांकित तत्त्वो को उत्तरदायी बताया है—

(1) रक्त-सम्बन्ध (Kinship)
(2) धर्म (Religion)
(3) शक्ति (Force)
(4) आर्थिक आवश्यकतायें (Economic needs)
(5) राजनीतिक चेतना

रक्त-सम्बन्ध—इस बात को प्राय सभी विद्वान् मानते हैं कि रक्त सम्बन्ध अथवा सजातीयता राज्य की उत्पत्ति व विकास का प्रमुख तत्त्व है। मनुष्यो के प्रारम्भिक इतिहास का जो अन्वेषण किया गया है उससे सिद्ध होता है कि सभी प्रारम्भिक सामाजिक सस्थाओ का आधार रक्त-सम्बन्ध था।[33] मनुष्य अति प्राचीन काल मे रक्त सम्बन्ध के आधार पर ही भिन्न भिन्न स्थानो पर समूह बनाकर रहते थे। इन समूहो से ही आगे चलकर जाति, कुल, समाज आदि सस्थाओ का जन्म हुआ। मैकाइवर ने लिखा है कि "रक्त-सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और समाज अन्तत राज्य को।[34] "रक्त-सम्बन्ध ही,' गिलक्राइस्ट के शब्दो मे, "एकता का सबसे पहला तत्त्व था, अन्य स्वतन्त्र सम्बन्ध बाद मे आये।

गैटिल की राय मे पहले मातप्रधान परिवार बने तथा जब खेतीबाडी, पशुपालन आदि शुरू हुए तो पितृप्रधान परिवारो का युग शुरू हुआ। पितृप्रधान परिवार का मुखिया पिता होता था। उसकी पत्नी व बच्चे उसके अधीन होते थे, जिन्हे जीवन रक्षा के अतिरिक्त अन्य अधिकार बिना पिता की आज्ञा प्राप्त नही होते थे। इस प्रकार परिवार बढता गया। परिवार से कबीला, कबीले से गाव और गाव से प्रान्त तथा अन्त मे प्रान्तो से असगठित राज्य का जन्म हुआ। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने रक्त-सम्बन्धियो के बीच अधिक सुरक्षा का अनुभव करता है। रक्त सम्बन्ध से ही

---

33 Henry Maine *The History of Institutions* pp 64-65
34 *The Modern State* p 34

लाइबर उचित ही लिखता है कि "इस सिद्धान्त को अपनाने से अराजकता फलने का भय है।" यह सिद्धान्त न तो हमें इतिहास के विषय में और न ही राजनीतिक दर्शन के विषय में सन्तोषजनक उत्तर प्रदान करता है।

महत्त्व

यद्यपि सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अनेक दोषों से युक्त है, तथापि राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में इसका पर्याप्त महत्त्व है। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने राज्य के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का हमेशा के लिये अन्त कर दिया। इसने व्यक्ति की महत्ता को बढ़ाया। यह सिद्ध किया कि अन्ततः जनता ही सम्प्रभु है और राजनीतिक सत्ता पर अन्तिम अधिकार उसका है। यह सिद्धान्त बताता है कि सामाजिक संस्थायें मानवीय प्रयत्नों का परिणाम हैं और मानवीय प्रयत्नों से ही उन्हें सुधारा जा सकता है। इसने विश्व में आधुनिक जनतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया है तथा इस सत्य की स्थापना का कार्य किया है कि राज्य का आधार शासक की शक्ति नहीं अपितु जनता की इच्छा है—सहमति है।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त
(The Historical or Evolutionary Theory)

ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक स्वीकृत सिद्धान्त है। अभी तक जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है वे राज्य की उत्पत्ति के विषय में सन्तोषजनक उत्तर देने में असमर्थ रहे हैं, क्योंकि वे एकपक्षीय हैं और उनके प्रतिपादकों ने वास्तविक तथ्यों की अपेक्षा कल्पना का सहारा लेकर अपने सिद्धान्तों को खड़ा करने की कोशिश की है। विकासवादी सिद्धान्त राज्य को मानव सभ्यता के क्रमिक विकास का परिणाम मानता है। इसके अनुसार "राज्य न तो ईश्वरीय देन है और न ही मनुष्य द्वारा जानबूझकर किया गया कार्य। इसकी उत्पत्ति अतीत की उस परछाईं में छिपी हुई है जिसमें अचेतन रूप से सामाजिक संस्थायें जन्म ले रही थीं तथा विकास क्रम के सामान्य नियमों के आधार पर इसका विकास हुआ है।"[30] यह कोई आविष्कार नहीं। ज्ञात व अज्ञात मानव इतिहास के विकास की धीमी प्रक्रिया का परिणाम है।[31] जैसे जैसे मनुष्य सभ्य होता गया वैसे-वैसे उसकी सामुदायिक भावना विकसित होती गयी। परिस्थितियों और उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों ने उसे सामाजिक और राजनीतिक संगठनों के विकास की ओर मोड़ा। यह बताना कि सबसे पहले राज्य कब दिखायी दिया उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार कि यह कहना कि कब नैतिक कानून बने या बालक कब जवान हुआ अथवा युवक कब प्रौढ़ बना।[32] प्रो लास्की ठीक लिखते हैं कि "राज्य एक ऐतिहासिक गौरव है और

30 गैटिल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ ६६।

31 Leacock, *Elements of Political Science*, p 37

32. Sumner and Keller, *The Science of Society*, Vol I, p 695

राज्य के विकास मे उत्तरदायी तत्त्व

गटिल का मत है कि "उन भौगोलिक परिस्थितियो और वातावरण तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओ—जिन्होने मनुष्य का अलग अलग स्थान पर समूह बनाकर रहने तथा एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखने की प्रेरणा दी—के अतिरिक्त चार अन्य तत्त्व राज्य की उत्पत्ति और विकास मे मुख्य रूप से सहायक रहे हैं। ये चार तत्त्व हैं—रक्त-सम्बन्ध धर्म, उद्योग धन्धे और युद्ध।" गिडिंग्स ने अपनी पुस्तक म राज्य के विकास के लिय सैनिक, धार्मिक, कानूनी, आर्थिक व नैतिक तत्त्वो को उत्तरदायी माना है। आधुनिक राजनीति शास्त्र वेत्ताओ ने इन विभिन्न तत्त्वो का समीकरण करके राज्य के विकास के लिये निम्नांकित तत्त्वो को उत्तरदायी बताया है—

(1) रक्त सम्बन्ध (Kinship)

(2) धर्म (Religion)

(3) शक्ति (Force)

(4) आर्थिक आवश्यकतायें (Economic needs)

(5) राजनीतिक चेतना

रक्त-सम्बन्ध—इस बात को प्राय सभी विद्वान मानते हैं कि रक्त सम्बन्ध अथवा सजातीयता राज्य की उत्पत्ति व विकास का प्रमुख तत्त्व है। मनुष्यो के प्रारम्भिक इतिहास का जो अन्वेषण किया गया है उससे सिद्ध होता है कि सभी प्रारम्भिक सामाजिक संस्थाओ का आधार रक्त सम्बन्ध था।[33] मनुष्य अति प्राचीन काल म रक्त सम्बन्ध के आधार पर ही भिन्न भिन्न स्थानो पर समूह बनाकर रहते थे। इन समूहो से ही आगे चलकर जाति, कुल, समाज आदि संस्थाओ का जन्म हुआ। मैकाइवर ने लिखा है कि "रक्त सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और समाज अन्तत राज्य को।[34] "रक्त-सम्बन्ध ही,' गिलक्राइस्ट के शब्दो मे, "एकता का सबसे पहला तत्त्व था, अन्य स्वतन्त्र सम्बन्ध बाद मे आये।'

गटिल की राय मे पहले मातृप्रधान परिवार बने तथा जब खेतीबाडी, पशुपालन आदि शुरू हुए तो पितृप्रधान परिवारो का युग शुरू हुआ। पितृप्रधान परिवार का मुखिया पिता होता था। उसकी पत्नी व बच्चे उसके अधीन होते थे, जिन्हे जीवन रक्षा के अतिरिक्त अन्य अधिकार बिना पिता की आज्ञा प्राप्त नहीं होते थे। इस प्रकार परिवार बढता गया। परिवार से कबीला, कबीले से गाँव और गाव से प्रान्त तथा अन्त म प्रान्तो से असगठित राज्य का जन्म हुआ। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने रक्त-सम्बन्धियो के बीच अधिक सुरक्षा का अनुभव करता है। रक्त सम्बन्ध स ही

33 Henry Maine *The History of Institutions* pp 64-65

34 *The Modern State*, p 34

मनुष्य को आज्ञा पालन करने तथा अनुशासित जीवन बिताने की शिक्षा मिलती है, क्योकि परिवार म छोटे बडा की आज्ञा का पालन करते हैं तथा उनके अनुशासन म रहते हैं। सुरक्षा, आज्ञा पालन और अनुशासन राज्य के प्रमुख नियम हैं।

धम—रक्त सम्ब ध के साथ राज्य की उत्पत्ति म धम का बडा महत्त्वपूण योगदान रहा है।[35] धम का प्रारम्भिक स्वरूप हम प्रह्मवाद और जादू टोने म मिलता है। आदिम मनुष्य अपनी सकीण बुद्धि क कारण जिन बातो को समझने म असमथ रहता था उ हे वह किसी दवी या प्राकृतिक शक्ति का रूप मानकर पूजता था। यही कारण है कि तूफान, वर्षा, बिजली आदि की पूजा हुआ करती थी। परिवार अथवा कबीले के मुखिया को धम का सरक्षक समझा जाता था। 'पितृ उपासना' धम का ही अग थी। लोगो का विश्वास था कि पितरो (पूवजो) को पूजने से अनिष्ट का नाश होता है। प्रारम्भिक समाज अ धविश्वास से परिपूण था। जो व्यक्ति जादू टोना जानता था उसमे सभी डरते थे। व समझते थ कि उसके पास कोई अपूव शक्ति है। इसी वजह स वे उसका सम्मान करते थे। आगे चलकर य ही जादूगर और ता त्रिक अपने अपने कबीले के शासक बन बैठे। गिलक्राइस्ट लिखता है कि "मुख्य जादूगर से राजा बनना सरल है।'[36] जादूगरो की इस शक्ति पर बाद म पुरोहितो का अधिकार हो गया। सुमेरियन सभ्यता का इतिहास इस बात का प्रमाण है जिसम राजा को पुरोहित भी माना गया है। हजरत मुहम्मद ने धम के आधार पर ही अरब की बिखरी हुई जातियो को एकता क सूत्र म पिरोया था। गुरु नानक और गुरु गोवि दसिह ने धम के नाम पर सगठन का जो काय शुरू किया था उसी के फलस्वरूप रणजीतसिह के काल म सिख साम्राज्य की स्थापना हुई थी। धम का प्रभाव आज भी कम नही है। धम के आधार पर ही पाकिस्तान की रचना और इस्राइल का ज म हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि धम एकता, सगठन और निष्ठा का प्रभावशाली तत्त्व रहा है। राज्य क विकास म इसके योगदान का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है।

शक्ति—ओपेनहीमर का मत है कि 'युद्ध मे विजय के परिणामस्वरूप राज्य की स्थापना हुई।" प्रत्यक जनजाति या कबीले मे सगठन की एकता शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिये एक शक्तिशाली नेता या सरदार की आवश्यकता स्वाभाविक है। इसी शक्तिशाली सरदार या मुखिया ने धीरे धीरे अ य कबीलो को अपने वश म कर लिया होगा और उनका मुखिया बन बैठा होगा। काला तर मे वही मुखिया या सरदार राज बना। राज्य इस प्रकार, शक्ति या युद्ध की देन है। इतिहास इस बात का समथन करता भी दिखायी देता है। युद्धो के द्वारा अनेक राज्यो का पतन और नये राज्यो का ज म हुआ है। अमरीका के उपनिवेशो ने मिलकर सम्राट जाज ततीय के विरुद्ध स्वत त्रता की घोषणा कर दी थी जिसक फलस्वरूप सयुक्त राज्य अमरीका का ज म हुआ।

---

35 गैटिल लिखता है कि "रक्त सम्ब ध और धम एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता व उसकेक तथ्यो को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।'—पूर्वोक्त पुस्तक पृ 64।

36 *Principles of Political Science* p 87

लेकिन शक्ति या युद्ध को राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र तत्त्व मानना गलत होगा।[37] यद्यपि शक्ति ने राज्य के विकास मे उल्लेखनीय भूमिका निभायी है, तथापि राज्य के निर्माण मे शक्ति के अतिरिक्त कई अन्य तत्त्वो का भी हाथ रहा है।

आर्थिक आवश्यकतायें—राज्य के उदय मे आर्थिक आवश्यकताओ का विशेष महत्त्व रहा है। गैटिल लिखता है कि **"प्रारम्भिक मनुष्यो की आर्थिक गतिविधियों ने अनेक प्रकार से राज्य की उत्पत्ति मे योग दिया है। सम्पत्ति व व्यवसाय की भिन्नता ने जातियो और सामाजिक वर्गों की रचना की तथा एक वर्ग का दूसरे पर आर्थिक शोषण के लिये आधिपत्य सरकार के उदय मे एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। जैसे जैसे सम्पत्ति बढ़ी तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार का विकास हुआ, सम्पत्ति के अधिकारो के नियमन व सरक्षण तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों के निपटारे के लिये कानूनो की आवश्यकता पड़ी।**[38] कार्ल मार्क्स तथा कुछ अन्य विद्वानो ने भी राज्य को आर्थिक कारणो से उत्पन्न बताया है। मार्क्स की "इतिहास की आर्थिक व्याख्या" तो आर्थिक आवश्यकताओ को निर्णायक तत्त्व मानती है जो समाज की उत्पादन व वितरण प्रणाली, मान्यताओ, साहित्यिक प्रवृत्तियो, अवस्थाओ विचारधारा, सस्थाओ सभी को प्रभावित करती है।

राजनैतिक चेतना—राज्य के उदय और विकास मे अन्तिम महत्त्वपूर्ण तत्त्व राजनीतिक चेतना है। गिलक्राइस्ट के विचार से **राज्य के निर्माण मे सभी दूसरे तत्त्वों की तह मे जिनमे रक्त सम्बन्ध और धर्म भी शामिल हैं, राजनीतिक चेतना सबसे प्रमुख तत्त्व है।"**[39] लेकिन राजनीतिक चेतना क्या है, इसके विषय म गिलक्राइस्ट की धारणा स्पष्ट नही है। इसके अन्तर्गत उसने अनेक बातो को लिया है। राजनीतिक चेतना का सामान्य अर्थ मनुष्यो की वह भावना है जिसके अनुसार उनके कुछ उद्देश्यो की पूर्ति राजनीतिक सगठन के बिना नही हो सकती। यह भावना प्रारम्भिक समाज म केवल अचेतन रूप से रही होगी। जसे जैसे सामाजिक जीवन मे जटिलता आयी, लोगो को सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव हुई वे अपना भला बुरा समझने लगे, उद्योग धन्धे विकसित हुए तथा सभ्यता को बनाये रखने के लिये सगठित शक्ति को जरूरी समझा गया वैसे वसे लोगो ने सचेत होकर राजनीतिक सस्थाओ का विकास किया जिसम सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य है।

विकासवादी सिद्धान्त की समीक्षा

ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त इस प्रकार गार्नर की उस युक्ति का समर्थन करता है कि **'राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्च कोटि की शारीरिक**

---

37 "राज्य का उदय शक्ति के द्वारा नहीं हुआ है, तथापि उसके विस्तार की प्रक्रिया में निःसन्देह शक्ति की भूमिका रही है। —MacIver, *The Modern State*, p 222

38 Gettell, *op cit*, pp 65 66

39 Gilchrist, *Principles of Political Science*, p 88

शक्ति का परिणाम है न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। राज्य आविष्कार की हुई बनावटी मशीन मात्र नहीं, वरन् एक संस्था अथवा ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है।[40] अधिकतर विद्वान इसी मत को मानते चले आये हैं और आधुनिक युग में इसे ही राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता है।

परन्तु कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिन्होंने राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त का खण्डन किया है। इनमें डा० सत्यनारायण दुबे का नाम मुख्य है। डा० दुबे राज्य के वर्तमान स्वरूप को विकास का परिणाम तो मानते हैं, लेकिन यह मानने को तैयार नहीं कि राज्य का मुख्य लक्षण संगठित शक्ति भी विकास का परिणाम है। रक्त सम्बन्ध या धर्म के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि राज्य स्वाभाविक है। उनके ही शब्दों में ' राज्य स्वाभाविक नहीं है। हर समाज का कायम रखने के लिए बाध्यकारी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। अभी तक संसार में अनेक ऐसी जनजातियाँ विद्यमान हैं जिन्हें अपने को राज्य के रूप में संगठित करने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई है। जब किसी समाज में संगठित शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तभी वह राज्य का रूप धारण करता है, और संगठित शक्ति की आवश्यकता तभी पड़ती है जब कि समाज ऐसे वर्गों में विभक्त हो जाय जिनके हित एक दूसरे के विरुद्ध हों। अतः राज्य की उत्पत्ति और विकास में वर्ग भेद और शक्ति का ही सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी है।"[41] डा० दुबे के इस तर्क में पर्याप्त बल है। कार्ल मार्क्स ने अनेक वर्षों के परिश्रम के उपरान्त उपरोक्त दो तत्वों को विकास के आधार के रूप में खोजा है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन इससे विकासवादी सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं हो जाता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त और उसके ऐतिहासिक विकास का वर्णन कीजिये। यह सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है ?
(आगरा 1967, 72, राजस्थान 1965, 1974, गोरखपुर 1963, 66 68)

2 राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त का वर्णन कीजिये। इस सिद्धान्त के ह्रास होने के क्या कारण थे और आज इसका क्या महत्त्व रह गया है ? (आगरा 1969)

3 राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त का विस्तृत और आलोचनात्मक वर्णन कीजिये। (कानपुर 1970, उदयपुर 1969, आगरा 1962, 68, राजस्थान 1967, 1981, गोरखपुर 1962, 65)

4 राज्य न तो शक्ति पर और न ही संविदा पर, वरन् सहयोग की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित है।' उपयुक्त कथन की समीक्षा कीजिये।
(आगरा 1960, कानपुर 1968)

---

40 Garner *op cit*, p 87

41 सत्यनारायण दुबे, राजनीति शास्त्र प्रवेशिका, आगरा, 1963, पृ० 89।

5 राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे पतृक और मातृक सिद्धान्तो का सक्षेप मे वणन कीजिये। (राजस्थान 1968)

6 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की विवेचना कीजिय और 'प्राकृतिक अवस्था', 'सामाजिक समझौते' एव 'शासकीय समझौते' के विषय म हॉब्स, लाक और रूसो के विचारा की व्याख्या कीजिय।
(आगरा 1961, 62, 66, सागर 63, विक्रम 1961, 64, 66)

7 हाब्स के प्राकृतिक दशा तथा प्राकृतिक विधि सम्बन्धी विचारो का सक्षेप मे वणन कीजियें। (गोरखपुर 1964, 66)

8 रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त की व्याख्या करें। (कानपुर 1971)

9 सामाजिक समझौता सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये। यह राज्य की उत्पत्ति की कहाँ तक सही व्याख्या करता है।
(आगरा 1964, 66, 71, राजस्थान 1972, विक्रम 1961, 69, देहली 1968, गोरखपुर 1969, जोधपुर 1963, 66)

10 "राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप म सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अब पूण रूप से अपदस्थ हो गया है।"—क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं? (कानपुर 1969)

11 "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त गलत इतिहास, गलत तक और गलत कानून है।"—इस कथन की समीक्षा करें।
(कानपुर 1972, राजस्थान 1980)

12 राज्य की उत्पत्ति का कौन सा सिद्धान्त सबसे अधिक स्वीकाय है और क्यो? उस सिद्धान्त का वणन कीजिये। (आगरा 1971)

13 "आधुनिक राजनीति शास्त्र मे राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त सबस अधिक स्वीकृत सिद्धान्त है।'—विवेचना कीजिये। (आगरा 1973)

14 राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिये। (गोरखपुर 1961, राजस्थान 1962, 1975, 1979, विक्रम 1967 68, सागर 1964 65, 67, जोधपुर 1964, 67, 69,)

15 "राज्य का विकास हुआ है, निर्माण नही। —इस कथन की व्याख्या कीजिये तथा राज्य का विकास जिन तत्त्वो के सहयोग से हुआ है उनका विवरण दीजिये। *(आगरा 1971, विक्रम 1963, 65, जीवाजी 1965)*

16 राज्य की उत्पत्ति क सबध म हाब्स, लॉक व रूसो के विचारो की विवेचना कीजिए। आप इस कथन से कहा तक सहमत हैं कि सामाजिक समझौते का सिद्धान्त न तो हमे इतिहास के बारे मे और न ही राजनीतिक दशन के बारे म सतोषजनक सतोष देता है। (वाहा) (राजस्थान 1971)

19 "सामाजिक समझौते क सिद्धान्त ने लोकतत्र के लिए माग का निर्माण किया। इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिए। (राजस्थान 1973)

18 "राज्य का आधार शक्ति नही इच्छा है (ग्रीव)। उपयुक्त कथन को राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त क स दभ म समझाइये।
(राजस्थान 1974, 1975, 1962)

□□

अध्याय ८

राज्य का ऐतिहासिक विकास
(The Historical Development of the State)

> हम राज्य के विभिन्न स्वरूप और आकारो के विकास को स्पष्ट यथार्थ रूप में खोज सकते हैं निश्चय ही विकास की कोई सरल और एक सी अवस्था नहीं रही है विभिन्न प्रणालियाँ साथ साथ विद्यमान रही हैं और आज भी विद्यमान हैं।
>
> —सोल्टाऊ

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में जिन सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट है कि राज्य एक विकासशील संस्था है। देश और परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होता रहा है तथा अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के लिए यह विकास की अनेक अवस्थाओं से गुजर चुका है। यहाँ हम राज्य संस्था के इसी ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करेंगे।

आदिवासी सगठन
(The Tribal Formations Proceeding the State)

समाज शास्त्रियो का मत है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में राज्य एक आदिवासी सगठन के रूप मे था, जिसके विषय में अधिकारपूर्वक कुछ कहना मुश्किल है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि क्षेत्र की दृष्टि से यह सगठन बहुत छोटा था। इसमे एक ही जाति अथवा वश के लोग रहते थे। वश का वरिष्ठ पुरुष उसका मुखिया होता था, जिसने धीरे धीरे राजा का पद प्राप्त कर लिया था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आदिवासी सगठनो में लोग धार्मिक आदेशो का पालन करते थे। उनके रीति रिवाज उन्हे एकता के सूत्र में बाँधे रखते थे। राजा का मुख्य कार्य राज्य में शान्ति बनाये रखना और युद्ध के समय अपनी जन जाति का सचालन करना होता था। लेकिन राजा अथवा मुख्य की स्थिति सभी सगठनो में एक जसी नही थी। कही पर वह निरकुश था तो कही पर उसकी शक्ति परामशदात्री समिति द्वारा सीमित थी। कुछ जन-जातियो मे चुनाव की प्रथाएँ भी थी। "इस प्रकार के राज्यो का सबसे अच्छा उदाहरण ऋग्वेद के युग के आर्य जनपद थे। आर्यों की सबसे छोटी इकाई परिवार थी। कई परिवारो से मिलकर गोत्र बनता था। कई गोत्र मिलकर जन का निर्माण करते थे। जन से विकसित होकर विश' बना तथा सम्पूर्ण 'विशो' को मिलाकर एक राष्ट्र का निर्माण हुआ। प्रारम्भ में राष्ट्र की प्रजा मिलकर अपने में से एक राजा का चुनाव करती थी। चुनाव दो संस्थाओ, सभा तथा समिति, द्वारा होता था। समिति पूरे विश या प्रजा की सस्था थी। इसमे राजनीतिक। सामाजिक समस्याओ पर विचार होता था। इसके सभापति को 'ईशान' कहते

थे।"[1] आधुनिक युग मे भी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के कुछ क्षेत्रो मे इसी प्रकार के आदिवासी सगठन पाये जाते हैं।

पूव के प्राचीन साम्राज्य (The Ancıont Oriental Empires)—राज्य के विकास की दूसरी अवस्था हमे पूव के साम्राज्यो के रूप मे देखने को मिलती है। इस प्रकार के साम्राज्या का उदय बडी बडी नदियो से सीचे जाने वाले पूव के गम और उपजाऊ मैदानो म तथा मैक्सिको तथा पेरू पठारो मे हुआ। ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर भारत म सिन्धु तथा सरस्वती नदी की घाटियो,[2] उत्तर अफ्रीका मे नील नदी की घाटी, चीन म 'ह्वांग हो' तथा 'यांग् त्सी क्यांग' नदियो की घाटियाँ तथा पश्चिम एशिया मे दजला और फरात नदियो के मैदान मे इस प्रकार के साम्राज्या का उदय हुआ था। ये ऐसे प्रदेश थे जहा कम मेहनत से अधिक उत्पादन सम्भव था, यहाँ की जलवायु अच्छी थी और पानी प्रचुर मात्रा म उपलब्ध था। यहाँ जनसख्या तेजी से बढी और लोग शीघ्र ही रीति रिवाजो पर आधारित जन जातियो और आदिवासी सगठन को पार करके नई राजनीति अवस्था मे आ गये।

आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण इन साम्राज्यो मे वग-भेद, कठोर प्रथाआ और निरकुश शासन का जन्म हुआ। जिन लोगो के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति हो गई वे आराम स जीवन बिताने लगे। दूसरी ओर, उत्पादन का बोझ सम्पत्ति-हीन लोगो पर आ पडा। सम्प न वग मे शासक, सैनिक और पुरोहित आते थे। धम और राजनीति मिले जुले थे, जिसक कारण पुरोहित वग का शासन पर पयाप्त प्रभाव था। राजा की आज्ञा और धम की स्वीकृति राज्य के नियम थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाम नही था। राजा की आज्ञाओ का पालन नागरिक सम्मान और गव के साथ किया करते थे।

चूकि सम्पत्ति और सनिक शक्ति इन राज्यो का आधार थी अत युद्ध द्वारा राज्य की सम्पत्ति और शक्ति मे विस्तार करना सामान्य बात थी, जिससे पूव म विशाल साम्राज्यो का उदय हुआ। डॉ० आशीर्वादम लिखते हैं कि इन सभी साम्राज्यो, "सुमेरियन, असीरियन, पर्सियन या फारस का साम्राज्य, मिस्र और चीन के साम्राज्य नगरों को केन्द्र बनाकर विकसित हुए। फारस के साम्राज्य को छोडकर अन्य सभी साम्राज्यों का भौगोलिक सम्ब ध व सगठन बहुत कमजोर था। उनकी सत्ता भय और निरकुशता पर ही टिकी हुई थी। फारस के साम्राज्य में ही एकता और स्थिरता कुछ हद तक पाई जाती थी। अन्य सभी साम्राज्यों का काम अधिकतर राजस्व वसूल करना तथा सनिक भर्ती करना था।'[3]

यद्यपि सगठन की दृष्टि स पूर्वी साम्राज्य दुबल थे, तथापि अपने राज्य के विकास मे इनका महत्त्वपूण योगदान रहा है। गटिन ने लिखा है कि "इन विशाल

---

1 दुबे, राजनीति शास्त्र प्रवेशिका, पृष्ठ 90 91

2 राजस्थान म हनुमानगढ़ क निकट काली बगा म होने वाली खुदाई म इस प्रकार के अवशेष मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सरस्वती की घाटी म यूनानी राज्यों से पूव व्यवस्थित राज्यो का उदय हो चुका था।

3 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, पृ० 64-5

साम्राज्यों ने संस्कृति की आधारशिला रखने, जन जातीय संगठन के संकीर्ण स्थानीय आधार को तोड़ने तथा मनुष्य जाति को व्यापक सत्ता से परिचित कराने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।"[4] इन्हीं साम्राज्यों में सबसे पहले मानव सभ्यता ने जन्म लिया और इन्हीं साम्राज्यों ने लोगों को आज्ञा पालन करने का आदी बनाया।

यूनान के प्रारम्भिक नगर राज्य (The Early Greek City States)—राज्य के विकास की तीसरी अवस्था हमें यूनान के प्रारम्भिक नगर राज्यों में देखने को मिलती है। समुद्रों और पहाड़ों द्वारा विभक्त यूनान यूरोप के दक्षिण पूर्व में भूमध्य सागर पर स्थित एक छोटा सा प्रायद्वीप है। पर्वतों और समुद्र ने इन छोटे-छोटे क्षेत्रों में बाँट रखा है। इसमें अनेक द्वीप तथा घाटियाँ हैं जो प्राकृतिक सीमाओं द्वारा सुरक्षित हैं। यूनान का जलवायु समशीतोष्ण है और भूमि अधिक उपजाऊ है। प्राकृतिक देन से भाग्यशाली और आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर यूनान में राज्य संस्था के उस स्वरूप का विकास हुआ जिसे हम नगर-राज्य कहते हैं।

इन नगर राज्यों का चरित्र बड़ा ही विलक्षण और स्वरूप बड़ा निराला था। वे एक दूसरे से बिल्कुल अलग थे। प्रत्येक नगर राज्य स्वतन्त्र राजनीतिक रूप में संगठित था और उसे अपनी स्वतन्त्रता पर गर्व था। अपने अस्तित्व का किसी अन्य नगर राज्य में विलय करना यूनानी स्वभाव के विपरीत था। यही कारण था कि यूनान के नगर राज्य जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटे थे। प्रत्येक राज्य की अपनी स्वतन्त्र शासन-व्यवस्था, सेना, राज कर्मचारी और कानून होते थे। यूनानी नागरिक अपने राज्य के प्रति बहुत वफ़ादार थे। सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से अपने राज्य के शासन में हाथ बँटाते थे। वे व्यक्ति को राज्य का एक अंग मानते थे। उनके लिए समाज और राज्य दो नहीं थे। यूनान का नगर एक ही समय में राज्य, चर्च और शिक्षालय था। इसमें व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन निहित था। राज्य का लक्ष्य सभी नागरिकों के लिए अच्छे जीवन की प्राप्ति करना था, इसलिए राज्य के सभी आदेशों को उचित और न्यायशील माना जाता था। राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और नैतिक विषयों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया जाता था। व्यक्ति और राज्य के हितों में एकरूपता थी। प्रत्येक सामाजिक बात राजनीतिक और राजनीतिक बात सामाजिक थी। समाज और राज्य में आपसी विरोध न होने के कारण इन नगर-राज्यों ने कला, विज्ञान और व्यवसाय के क्षेत्र में असीम उन्नति की। इन राज्यों ने आदर्श जीवन, स्वायत्त और स्वावलम्बी शासन के अनमोल सिद्धान्तों की रचना की और आने वाले युग के लिए महत्त्वपूर्ण दार्शनिक व राजनीतिक ज्ञान की विरासत भेंट की। 'बर्क' ने इन राज्यों के सामूहिक नागरिक जीवन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है कि 'मानव जीवन के प्रत्येक पहलू में, विज्ञान में, कला में, गुणों में और पूर्णता में यह एक सर्वतोमुखी साझेदारी थी।' इन सभी राज्यों में विकास के तत्त्व निहित थे। केवल 'स्पार्टा' का नगरराज्य ही बराबर रूढ़िवादी

4 गैटिल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 80

केन्द्रीय स्थिति के कारण यह बहुत शीघ्र ही एक प्रधान राज्य बन गया। यहाँ के निवासियों में एक सामान्य धार्मिक उपासना होने के कारण एकता की भावना दृढ़ हो गई। सात पहाड़ियों के प्रदेश को पार कर पहले रोम ने सम्पूर्ण लैटिन भाषा-भाषी प्रदेश पर अधिकार किया, फिर समस्त इटली पर, और फिर सिसली, सार्डीनिया, कोर्सिका, अफ्रीका, स्पेन तथा फ्रांस पर अपना अधिकार कर लिया। पूर्व की ओर मकदूनिया, यूनान तथा सीरिया आदि प्रदेश उसके अन्तर्गत आ गए और 26 ई० पू० में रोम का गणतन्त्र रोमन साम्राज्य बन गया।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, प्रारम्भ में रोम एक राजतन्त्रीय नगर राज्य था। यह लगभग 653 ई० पू० से 510 ई० पू० तक चला। राजा की नियुक्ति का आधार आनुवंशिक था। राजा केवल शासक ही नहीं, अपितु न्यायकर्ता और धर्मगुरु भी था। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी। पहला धनी अथवा कुलीन वर्ग जिसे 'पेट्रीशियन' (Patrician) कहते थे और दूसरा, साधारण वर्ग जिसे 'प्लीबियन' (Plebeian) की संज्ञा दी गई थी। 'पेट्रीशियन' अधिकारसम्पन्न थे। शासन सत्ता में उनका भाग था। किन्तु प्लीबियन केवल कर्त्तव्यों का पालन करते थे, उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। दोनों ही वर्गों के लोगों को सेना में भरती होने का अधिकार था। अतः दोनों ने मिलकर 509 ई० पू० रोम में पनप रहे निरंकुश राजतन्त्र का अन्त कर दिया। यह लगभग वही समय था जब यूनान के नगर राज्यों में भी निरंकुशता का नाश हुआ था।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए रोम वासियों ने दो न्यायाधीशों को नियुक्त करके देश में गणतन्त्र की स्थापना की। इन न्यायाधीशों को 'प्रिटर्स' अथवा नेता कहा जाता था, किन्तु बाद में उन्हें 'कांसल' अथवा साथी कहा जाने लगा। उनकी सहायता के लिए वृद्धों की एक सभा, जिसे 'सीनेट' कहते थे की स्थापना भी की गई। गणतन्त्र के अन्तर्गत इसका कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। इसमें केवल कुलीन वर्ग के ही प्रतिनिधि थे। साधारण वर्ग के लोगों को इसमें प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। अतः कालान्तर में स्वाभाविक रूप से रोम में गृह कलह का जन्म हुआ। अन्त में, ये दोनों वर्ग मिलकर एक नागरिक समाज में परिणत हो गए जिसमें दोनों को ही समान राजनीतिक तथा नागरिक अधिकार प्राप्त थे। इस परिवर्तन से सरकार में भी परिवर्तन हुआ, जिसके अनुसार अब दो 'कौंसल्स' में से एक का साधारण वर्ग से होना नियम बना दिया गया। इस प्रकार गणतन्त्र में नये रक्त का संचार हुआ और रोम ने अपनी राज्य वृद्धि की ओर कदम बढ़ाया सबसे पहले उसने पड़ोसी इटैलियन राज्यों को जीतकर अपने क्षेत्र में मिला लिया।

इटली को जीतने के बाद उसने कारथेज नगर और उसकी सभ्यता को खाक में मिला दिया। धीरे धीरे उसने फ्रांस स्पेन इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, यूनान, एजियन सागर के विभिन्न द्वीपों, मिस्र और एशिया माइनर आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी के समाप्त होते होते नगर राज्य विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो चुका था।

इतने विशाल साम्राज्य के शासन प्रबन्ध के लिए रोम ने एक अत्यन्त प्रभावशाली केन्द्रीय शासन की व्यवस्था की, जो उस समय के समार के लिए बिल्कुल नवीन थी। जीते हुए भू भाग को प्रदेशा म बाँट दिया गया। हर प्रदेश के लिए एक गवनर, (जिसे प्रोकॉन्सल' कहते थे) नियुक्त किया गया। उसका काय साम्राज्य के हितो की देख-रेख करना था। साम्राज्य क समस्त स्वाधीन व्यक्ति स्वय को रोम का नागरिक कहते थे तथा सारे साम्राज्य म एक ही कानून (रोमन लॉ) का पालन करते थे। कानून की एकता के साथ साथ भाषा, धम एव सस्कृति की एकता स्थापित करने का भी प्रशासकीय प्रयत्न किया गया था। पुलिस, सडकें और सचार के साधनों की व्यवस्था भी की गई थी।

रोमन जाति का वैभव और विस्तृत विजयो की प्रतिक्रिया साम्राज्य के भविष्य के लिए बडी घातक सिद्ध हुई। वास्तविक शक्ति दूरस्थ प्रदेशो म स्थित गवनरो के हाथो म चली गई, जो सेना का नेतृत्व भी करते थ, और जिन पर केवल एक ही अकुश था कि कही अपने काय स अवकाश ग्रहण करने क उपरान्त उन पर अभियोग न लगाया जाय। इन सेनापतियो के स्वाथ ने रोमन शब्द को रिश्वतखोरी और निन्दा का पर्याय बना दिया। इन बुराइयो का परिणाम रोम को अन्तत भुगतना ही पडा। स्वय रोम म गणतत्र का स्थान राजतत्र ने ल लिया। लोक सभाओ ने काय करना बन्द कर दिया और अन्त म सम्राट के आदेश ही कानून माने जाने लगे। सम्राट् की सत्ता ईश्वर से प्राप्त मानी जाने लगी। इस प्रकार प्राचीन जनतान्त्रिक नगर राज्य राजतन्त्रीय विश्व साम्राज्य बन गया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जनतन्त्रात्मकता की हत्या कर डाली गई जिसका परिणाम यह हुआ कि रोम का विशाल साम्राज्य लोगो मे राज्य के प्रति भक्ति की उस भावना को प्रदीप्त करने म सवथा असफल रहा जो जनतन्त्र द्वारा उत्पन्न होती है। यूनान तथा रोम की अपूणता की चर्चा करते गेटिल ने ठीक ही लिखा है, "यूनान ने एकता रहित जनतन्त्र का विकास किया और रोम ने जनतन्त्र रहित एकता प्राप्त की।"[5]

यद्यपि रोम के साम्राज्य का पतन हो गया, फिर भी उसने विश्व के समक्ष एक श्रेष्ठ प्रशासित राज्य का आदश प्रस्तुत किया। 'आशीर्वादम' ने लिखा है, "रोमन साम्राज्य की व्यवस्था पद्धति के अनुसार कथोलिक धमसघ (Church) ने अपना सगठन किया। रोम की व्यवस्था को ही देखकर पूरे मध्य युग मे विश्वव्यापी साम्राज्य की भावना लोगों के मस्तिष्क मे घूमती रही। रोम की विधि, उसके उपनिवेश और नगरपालिकाओ की शासन व्यवस्था आधुनिक युग को विरासत के रूप मे मिली है। सम्प्रभुता और नागरिकता के सुगठित आदश और विभिन्न जातियो मे राजनीतिक एकता स्थापित करने की पद्धतियां रोम को कुछ महत्वपूर्ण सफलताए हैं।"[6]

---

5 Greece had developed democracy without unity Rome secured unity without democracy '—Gettle op cit p 86

6 आशीर्वादम, पृ० 68

सामन्ती राज्य (The Feudal States)—रोम के पतन के साथ साथ पश्चिमी यूरोप मे 'राज्य सस्था' का ही अन्त हो गया। दूरस्थ प्रदेशो के सेनापतियो ने अपनी हुकूमत कायम कर ली और अपने सम्बन्ध रोम के सम्राट् से तोड लिये। छोटे छोटे सामन्त जो कभी रोमन सम्राट् के 'कासलर' थे अब स्वतन्त्र बन बैठे और अपने प्रदेश पर स्वय शासन करने लगे। प्रत्येक सामन्त एक सत्ता बन गया और उसने अपने अधीन प्रदेश को छोटे छोटे जागीरदारो मे बाटकर अपने चारो ओर एक समाज की रचना कर डाली। सामन्ती समाज का सगठन एक शृखला के समान था, जिसकी सबसे ऊँची कडी पर राजा का स्थान था और सबसे नीची कडी पर किसान का, जो भूदास (सर्फ) कहलाते थे। जब कोई विजेता सरदार किसी प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता था तो वह उस प्रदेश को अपने साथियो मे जागीर के रूप मे बाट देता था। जागीर प्राप्त करने वाले लोग सामन्त कहलाते थे। वे अपनी भूमि के पूर्ण स्वामी होते थे। कुछ भूमि पर वे स्वय खेती करते थे और कुछ भूमि अपने किसानो को दे देते थे। किसानो को सप्ताह मे कुछ दिन सामन्त के खेत पर मुफ्त काम करना पडता था और प्रतिवर्ष कई प्रकार के कर देने पडते थे। किसानो की सेवाओ के बदले मे सामन्त उनकी रक्षा करते थे। वे अपनी स्वतन्त्र सेनाएँ रखते थे, अपनी अदालतें चलाते थे तथा प्रजा के मनमाने कानून बनाते थे। छोटे सामन्त बडे सामन्तो का आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे, उन्हे वार्षिक कर तथा आवश्यकता पडने पर सैनिक सहायता देते थे। इस प्रकार सामन्तो के अनेक वर्ग थे। सबसे ऊपर राजा था। जब कभी राजा को सैनिक सहायता की आवश्यकता होती थी तो ये सामन्त अपनी सेवाएँ भेज दिया करते थे। राजा भी इस प्रकार न एक सामन्त ही था, जो सैनिक सहायता के लिये अपने अधीनस्थ सामन्तो पर निर्भर था। अतएव राजा की स्थिति सदैव डॉवाडोल रहती थी। कभी कभी कुछ शक्तिशाली सामन्त मिलकर उसके विरुद्ध विद्रोह भी कर दिया करते थे।

सामन्ती राज्य मे प्रत्येक वर्ग अपने ऊपर के वर्ग का सेवक और उसके प्रति निष्ठावान होता था। इस सकुचितनिष्ठा का फल यह हुआ कि उस काल मे लोग ऐसी सर्वोच्च सत्ता की कल्पना ही नहीं कर पाये जिसका सार्वभौमिक प्रभुत्व हो। रोमन लोगो ने बडी मेहनत से एक समान और निष्पक्ष कानून व्यवस्था का निर्माण किया था, किन्तु सामन्तिक युग मे लोग पुन रीति रिवाजो को ही कानून की तरह मानने लगे और रोम के लोगो की सारी मेहनत बेकार गई। राजनीतिक सत्ता विभाजित हो गई तथा सामाजिक व राजनीतिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

राजनीतिक सत्ता के विभाजन के फलस्वरूप यूरोप मे धार्मिक सत्ता का अभ्युदय हुआ। इसाइयो ने रोम की साम्राज्यीय व्यवस्था के आधार पर अपने चर्च का सगठन किया। ईश्वर का भय दिखाकर पोप ने लोगो को डराना शुरू किया और धीरे-धीरे जनता ही नही, वरन् राजाओ को भी चर्च-सगठन के अधीन कर लिया गया। सामन्तिक-युग की लम्बी अवधि मे चर्च ने राज्य पर अपना नियन्त्रण रखा, नास्ति

और सुव्यवस्था कायम की तथा वह स्वयं एक सासारिक सत्ता बन गया जिसके पास पर्याप्त धन, विशेषकर भूमि सम्पत्ति थी। फिग्गिस ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "मध्य युग में चर्च एक राज्य ही नहीं था परन्तु वास्तविक राजसत्ता के स्थान पर भी वही आसीन था। राज्य के नाम से पुकारी जाने वाली जो राज्य की सत्ता थी (क्योंकि चर्च से अलग किसी दूसरे समाज की स्थिति तो स्वीकार ही नहीं की जाती थी), वह वास्तविकता में इस चर्च का पुलिस विभाग मात्र थी।" अपने सही अर्थों में राज्य राज्य ही नहीं था। लोगों की स्वामीभक्ति पग पग पर विभाजित थी। न कोई सर्वमान्य नागरिकता थी और न ही सर्वमान्य विधि। न एकता के दर्शन होते थे और न ही स्वतन्त्रता के। संक्षेप में, "सामन्तशाही प्रथा अपूर्ण तथा एक सगठित अव्यवस्था थी।"

सामन्तशाही की आलोचना करना और राज्य संस्था के विकास में इसके महत्त्व को कम करने का कार्य तो सरल है, किन्तु रोम के पतन के उपरान्त जब यूरोप में अराजकता फैल गई थी तब इसने ही लोगों को शान्ति और सुरक्षा प्रदान की थी। यह रोमन साम्राज्यवाद और आधुनिक राष्ट्रवाद के मध्य अन्तर्कालीन व्यवस्था थी *जिसने राज्य-यन्त्र को बनाए रखा और राज्य संस्था को भविष्य में राष्ट्रीय राज्य के रूप में विकसित होने में मदद दी।*

आधुनिक राष्ट्रीय राज्य(The Modernal Nation State)—शक्तिशाली राजनीतिक संस्थाओं के अभाव में रोम का पोप सम्पूर्ण इसाई जगत् का सम्राट बना हुआ था। लोगों में उसके प्रति अन्ध श्रद्धा थी। फलस्वरूप मध्य युग में राज्य के स्थान पर चर्च का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। किन्तु 15वीं शताब्दी के उपरान्त चर्च का प्रभुत्व घटने लगा। इसके कई कारण थे। इनमें प्रथम, सांस्कृतिक जागरण (Renaissance) था और दूसरा धर्म सुधार आन्दोलन (Reformation)। सांस्कृतिक जागरण के परिणामस्वरूप यूरोप में न केवल साहित्य, कला और संगीत का विकास हुआ, अपितु दर्शन व चिन्तन के सिद्धान्तों में भी महत्वपूर्ण क्रान्ति हुई। धर्म सुधार आन्दोलन ने चर्च की शक्ति पर घातक प्रहार किये। धर्म सुधार आन्दोलन के नेताओं लूथर और कालविन ने चर्च में फैले भ्रष्टाचार व विलासिता की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया और लोगों को पोप की मनमानी के विरुद्ध चेतावनी दी। परिणाम यह हुआ कि लोगों में पोप के प्रति घृणा व असतोष की भावना पैदा हुई। इन्हीं दिनों व्यापार की वृद्धि के फलस्वरूप यूरोप में एक नये शक्तिशाली व्यापारी वर्ग का उदय हो चुका था। यह व्यापारी वर्ग शक्ति व व्यवस्था का इच्छुक था जो सामन्तिक राज्य में सम्भव नहीं थी। बारूद के आविष्कार राष्ट्रीय राजस्व में वृद्धि और स्थाई सेना के निर्माण के कारण राजाओं को अपने सामन्तों के ऊपर आश्रित रहने से छुटकारा मिला। इसके अतिरिक्त, शताब्दियों से एक निश्चित प्रदेश में साथ साथ रहने, एक ही धर्म का पालन करने, और सामान्य रीति रिवाजों के कारण जनता में समान धर्म, इतिहास, भाषा, सभ्यता और संस्कृति का विकास हो गया था। *लोग यह अनुभव करने लगे थे कि फ्रांसीसी, अंग्रेज,* जर्मन अथवा स्पेनिश हैं। उनका पृथक् देश, पृथक् भाषा व पृथक् संस्कृति है। दूसरे शब्दों में, उनमें राष्ट्रीय भावना करवटें लेने लगी थी।

इस प्रकार मध्य युग की सामन्ती सीढ़ी पार करके म वाद जब राज्य ने आधुनिक युग म कदम रखा तो उसका एक नया रूप उत्पन्न हुआ जो राष्ट्रीयता के बन्धना के आधार पर प्राकृतिक सीमाओं द्वारा बलिष्ठ था। संक्षेप म, आधुनिक राष्ट्रीय राज्य का जन्म हुआ, जिसके लक्षण इस प्रकार हैं 'यह सीमाबद्ध है अर्थात यह कोई नगर-राज्य अथवा प्राचीन काल का आदिवासी शासन नहीं, बल्कि एक देश राज्य है। यह उत्सुक आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना स ओत प्रोत एक राष्ट्रीय राज्य है।'

आधुनिक राष्ट्रीय राज्य निरकुश राजतन्त्रा की भाँति प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले इग्लैण्ड म और उसके उपरान्त स्पन, फ्रांस, रूस आदि देशा म निरकुशतावाद पर आधारित राष्ट्रीय राज्यो का निर्माण हुआ। राजाओं ने साम तो क गढ़ा को नष्ट करके, उनक न्यायालयो को भग करके शक्तिशाली स्थायी सनाओ का निर्माण किया तथा सारे देश के लिए एक-स कानून और एक प्रकार की न्याय व्यवस्था की स्थापना की। उन्होंने पोप से अपने सम्ब ध तोड लिय, चच की भूमि पर राज्य का दावा जमाकर उस अपने अधिकार म कर लिया। कोई कोई राजा तो स्वय धर्माध्यक्ष भी बन बठा। धम-सुधार आन्दोलन के नेताओं ने निरकुश राजतन्त्र का समथन किया। उ होने जनता को सिखाया कि राजा दवी अधिकार से राज्य करता है। उनके उपदेशा का इग्लैण्ड और फ्रांस म तो ऐसा प्रभाव पडा कि इग्लण्ड के स्टुअट राजा अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझने लगे और फ्रांस के लुई चौदहवें ने तो यहाँ तक कह डाला कि "मै ही राज्य हूँ।" तात्कालिक राजनीतिक विचारको ने भी उनका समथन किया। 'मकियावली ने उन्हें उन मर्यादाओं से मुक्त घोषित कर दिया जो सावजनिक नतिकता द्वारा उन पर आरोपित थी।" हाब्स ने अपने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त द्वारा उनका जोरदार समथन किया। इन सब बातो का लाभ यह हुआ कि राज्य म व्याप्त विघटनकारी शक्तियो का राजाओं ने दमन करके राष्ट्रीय एकता स्थापित की तथा पोप की सत्ता से मुक्त करा कर राज्य के राष्ट्रीय प्रभुत्व को कायम किया।

निरकुश राजतन्त्रीय व्यवस्था भी चिरकाल तक न टिक सकी। जसे ही जनता को अपनी शक्ति और अपने महत्त्व का ज्ञान हुआ वैसे ही वह राज्य के आदेशा का चुपचाप पालन करन के बजाय उन पर सन्देह करने लगी तथा अधिकाधिक राजनीतिक सुविधाओं और अधिकारो की माँग करने लगी। परिणामस्वरूप जनता और राजाओं के संघर्ष का युग प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले ब्रिटेन मे स्टुअट राजाओं और पालियामण्ट के बीच सघष हुआ। चाल्स प्रथम को मार डाला गया और जेम्स द्वितीय को गद्दी स उतार दिया गया। शासन पर पालियामेण्ट का अधिकार हो गया। फ्रांस म इस सघष ने एक हिंसक क्रान्ति का रूप ले लिया और जनता को स्वतन्त्रता, समानता और विश्व बन्धुत्व के तीन लोकप्रिय आदश दिय। धीरे धीरे जनतन्त्र और राष्ट्रवाद की यह लहर सारे पश्चिमी यूरोप मे फैल गई। राजाओं ने जनता की इच्छा के आगे घुटन टेक दिये। निरकुश राजतन्त्र के स्थान पर जनतान्त्रिक राज्यो की स्थापना हुई।

किन्तु यूरोप म जनतान्त्रिक राज्यो के उदय के बावजूद समुद्र पार उपनिवेशवाद

की प्रवृत्ति भी चलती रही। यूरोप के अनेक राष्ट्रीय राज्यों ने एशिया, अफ्रीका और विश्व के अनेक भागों में अपने उपनिवेश स्थापित किये। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त यूरोपीय शक्तियों का प्रभाव क्षीण हो जाने के कारण तथा एशिया व अफ्रीका में पुनर्जागरण होने के कारण उपनिवेशवाद लगभग समाप्त हो गया है और वह दिन दूर नहीं जब दुनिया से इसका नामोनिशान मिट जायेगा।

राज्य का भविष्य विश्व राज्य (The Future World State)—आधुनिक युग राष्ट्रीय राज्यों का युग है लेकिन यह राज्य के विकास की अन्तिम अवस्था है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय राज्यों की पारस्परिक स्पर्धा, उनके मध्य द्वेष की भावना ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्षों को जन्म दिया है। इसके परिणामस्वरूप दो महायुद्ध हुए और लाखों जानें तथा अरबों की सम्पत्ति राख हो गई। संचार और यातायात के साधनों के अत्यधिक विकसित हो जाने के कारण दुनिया बहुत छोटी हो गई जिससे लोग भविष्य में राष्ट्रीय राज्यों के एक विश्व राज्य में विलीन हो जाने का अनुमान लगाने लगे हैं। आवश्यकताओं और परिस्थितियों को देखते हुए यह कपोल कल्पना नहीं कही जा सकती। राज्य के विकास क्रम की विशेषताओं को देखते हुए भी यह नितान्त स्वाभाविक लगता है। जैसे जैसे राज्य का विकास सरलता से जटिलता की ओर होता रहा है, उसके क्षेत्र और उसकी जनसंख्या में वृद्धि होती रही है। सम्प्रभुता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समन्वय के निरन्तर प्रयास होते रहे हैं, और अन्त में, जैसा टॉयनबी कहते हैं कि राज्य का स्वरूप यातायात के साधनों पर निर्भर रहता है, उसे देखते हुए तो विश्व राज्य के निर्माण में कोई सन्देह ही नहीं है। घोड़ा और बैलों के युग में नगर राज्य थे, समुद्री जहाजों के युग में विशाल साम्राज्य बने, मोटर और रेलगाड़ियों के युग में राष्ट्रीय राज्य हैं तो ध्वनि से भी तेज रफ्तार से दौड़ने वाले विमानों के युग में यदि विश्व राज्य स्थापित हो जाये तो आश्चर्य ही क्या है?

भारत में राज्य संस्था का विकास (The Development of State in India)—अभी तक राज्य के ऐतिहासिक विकास का जो वर्णन किया गया है उसका सम्बन्ध यूरोप से है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दुनिया के सभी देशों में राज्य संस्था के विकास का क्रम एक जैसा ही रहा है। यहाँ पर भारत में राज्य-संस्था के विकास के सम्बन्ध में संक्षेप में वर्णन करना अनुपयुक्त न होगा।

पिछले पृष्ठों में ऋग्वैदिक काल के जनजातीय राज्यों के विषय में लिखा जा चुका है। उत्तर वैदिक युग में अनेक पराक्रमी राजाओं ने भारत में अनेक जनजातीय राज्यों को जीतकर साम्राज्यों का निर्माण किया था। 'यह परम्परा भारतवर्ष में निरन्तर चलती रही, किन्तु इस युग के साम्राज्य संगठन की दृष्टि से शिथिल थे और इसलिए अस्थाई सिद्ध हुए। इनमें सुव्यवस्थित शासन प्रणाली का भी विकास नहीं हो पाया।" यूरोप में यूनानी नगर राज्यों के पतन के बाद और रोम के विश्व साम्राज्य की स्थापना के पूर्व के काल में भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। यह मगध अथवा पाटलिपुत्र का साम्राज्य था जिसका उत्थान ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व माना जाता

है। यह खेद की बात है कि पश्चिमी विद्वानों ने राज्य के विकास में इस महत्त्वपूर्ण साम्राज्य के योगदान की उपेक्षा की है।

चौथी शताब्दी ई० पू० के अन्त में विख्यात सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने पश्चिमोत्तर भारतवर्ष से यूनानियों को मार भगाया था और फिर मगध के पुराने राजवंश का अन्त करके पाटलिपुत्र की गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया था। आगे चलकर उसने सैल्यूकस को हराकर अफगानिस्तान का समस्त प्रदेश अपने कब्जे में ले लिया। आसाम से अफगानिस्तान तक और कश्मीर से लेकर मैसूर तक का समस्त इलाका उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। दूसरी शताब्दी ई० पू० तक पाटलिपुत्र के साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त मौर्य के वंशजों का अधिकार रहा। विश्व इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य पहला सम्राट था जिसने इतने विशाल और संगठित साम्राज्य का निर्माण किया था। उसके उपरान्त गुप्तवंश के राजाओं ने एक सुसंगठित साम्राज्य की रचना की जो पांचवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें पाटलिपुत्र के साम्राज्य की शासन व्यवस्था का वर्णन मिलता है। रोम के विश्व साम्राज्य की भांति पाटलिपुत्र के साम्राज्य में एक ही प्रकार का कानून नहीं था। साम्राज्य के कानून विभिन्न जनपदों के स्थानीय कानूनों को दृष्टि में रखकर बनाए जाते थे, ताकि विभिन्न कुलों और जनपदों के नागरिक अपने को अधिक स्वतन्त्र अनुभव कर सकें। इस प्रकार पाटलिपुत्र के साम्राज्य में केन्द्रीय नियन्त्रण व स्थानीय स्वशासन का उचित समन्वय था। शासन की दृष्टि से भी पाटलिपुत्र का साम्राज्य रोम के साम्राज्य की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित था। शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों में बँटा हुआ था। यद्यपि इन प्रान्तों में शासन कार्य चलाने के लिए राजवंश के कुमारों की नियुक्ति की जाती थी, तथापि वास्तविक सत्ता सम्राट् के हाथ में ही होती थी। सम्पूर्ण साम्राज्य पर उसका प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता था। उसके शासन कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए एक परिषद होती थी। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए विशाल सेना थी। न्याय की समुचित व्यवस्था थी। नागरिक सम्राट् से मिल सकते थे और अपनी फरियाद कर सकते थे। राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक था। राज्य व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक और नैतिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता था।

पाँचवीं शताब्दी के बाद भारतीय इतिहास का मध्ययुग आरम्भ हुआ। इस युग में अनेक देशी और विदेशी शासकों ने भारत पर शासन किया। कितने ही राज्य व साम्राज्य बने और नष्ट हुए। यह परम्परा 16वीं शताब्दी के मध्य अर्थात् उस समय तक चलती रही जबकि शेरशाह सूरी ने आधुनिक ढंग के केन्द्रीकृत राज्य की नींव डाली। अकबर ने उसके छोड़े हुए काम को पूरा किया। स्थानीय स्वायत्तता को कायम रखते हुए उसने शासन का केन्द्रीयकरण किया और राज्य को धर्म के क्षेत्र में निरपेक्ष बनाया। राज्य संस्था का यह स्वरूप 16वीं शताब्दी के अन्त तक रहा। उसके उपरान्त भारत पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए अनेक शक्तियों ने आपस में संघर्ष किया जिनमें

युद्धो, षडयत्रों और कुचक्रो के बाद अग्रेज विजयी हुए। उन्होंने सम्पूण भारत को एक राजनीतिक सूत्र मे बांधने का प्रयास किया और सम्पूण भारत मे एक से कानून और एक शासन प्रणाली को लागू किया। किन्तु वे सम्पूर्ण भारत मे राष्ट्रीय एकता स्थापित नही कर सके क्योकि देश का एक बडा भाग नवाबो व राजाओ महाराजाओ के अधीन था जिनकी अपनी अपनी स्वतत्र शासन व्यवस्थायें थीं। 1947 मे भारत स्वाधीन हुआ। उसके उपरान्त जब देशी राज्यो का विलीनीकरण हुआ तभी भारत का राजनीतिक व प्रशासनिक एकीकरण सम्पन्न हुआ और सच्चे अर्थों मे भारत मे एक स्वतत्र राज्य की स्थापना हुई।

अभ्यासाथ प्रश्न

1 राज्य के विकासक्रम की सामन्त प्रवृत्तियो का उल्लेख कीजिए।

2 "राज्य का विकास साम्राज्यवाद से जनतत्र की ओर हुआ है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

— ० —

अध्याय ९ | राज्य के उद्देश्य और कार्य
(Purpose and Functions of the State)

"राज्य के कार्यों को लेकर निरन्तर मतभेद बना रहता है। ये दलीय संघर्ष के मामले हैं। एक राज्य से दूसरे राज्य में, एक युग से दूसरे युग से यहाँ तक कि एक वर्ष से दूसरे वर्ष में इनमें भिन्नता पायी जाती है। इस प्रश्न के समाधान को लेकर पूँजीवादी और साम्यवादी राज्य दो विरोधी खेमों में बंट हुये हैं। उदारवादी व फासीवाद राज्य परस्पर विरोधी उत्तर देते हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य तो सारे कार्य हड़प लेते हैं।

—मकाइवर व पेज

राजनीति शास्त्र में सबसे गम्भीर समस्या है कि राज्य का नियन्त्रण किस सीमा तक हो तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का क्या दायरा हो ? युगों से राजनीति शास्त्र वेत्ता इसका उचित हल ढूंढने के लिए प्रयत्नशील हैं। उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किये हैं वे राज्य के उद्देश्य और कार्यों की अपने अपने ढंग से व्याख्या करते हैं। यही कारण है कि राज्य के उद्देश्य और कार्यों के विषय में कोई ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता जो सर्वमान्य या अन्तिम हो। विभिन्न युगों, प्रदेशों व विचारकों की इस विषय में संक्षिप्त मीमांसा के उपरान्त हम राज्य के उद्देश्य व कार्यों के निर्धारण की चेष्टा करेंगे।

राज्य का उद्देश्य

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण—प्रजा का सर्वांगीण विकास प्राचीन भारत में राज्य का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) को प्रोत्साहित करने का उल्लेख राज्य के उद्देश्यों के रूप में प्राचीन धर्मग्रन्थों में बहुधा प्राप्त होता है। कामन्दक, नीतिसार और महाभारत के अनुसार राज्य का उद्देश्य धर्म पालन, शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा व न्याय की स्थापना करना है। रंगा अयंगर ने लिखा है कि 'राज्य का प्रथम उद्देश्य धर्म, विशेषतः साधारण और वर्णाश्रम धर्म, को स्थिर रखना था। राज्य के इस दायित्व को धार्मिक भावना से प्रेरित लेखकों तथा मनुस्मृति के रचयिता ने ही नहीं अपितु कौटिल्य जैसे अन्य लेखकों ने भी—जो राजनीति को लौकिक दृष्टिकोण से देखते थे—माना है।"[1]

यूनानी दृष्टिकोण—यूनानी विचारकों—प्लेटो व अरस्तू—ने राज्य का उद्देश्य 'व्यक्तियों का नैतिक उत्थान' करना बताया है। प्लेटो के विचार से राज्य मनुष्य की

---

1 रंगा अयंगर, सम आस्पेक्टस आफ इण्डियन पॉलिटी, पृ० 52।

आत्मा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है तथा राज्य के सदस्य के रूप म ही व्यक्ति अपने जन्मजात गुणो का विकास तथा कत्तव्यो का समुचित पालन कर सकता है। उसके शब्दो मे "राज्य का मुख्य उद्देश्य नागरिको को सदाचारी व सच्चरित्र बनाना है" तथा उनके कार्यों को इस ढग से नियोजित करना है कि वे अपनी योग्यता के अनुरूप काय करने का अवसर पा सकें।

अरस्तू ने राज्य का लक्ष्य 'सर्वोच्च सत् की प्राप्ति' बताया है। उसके विचार स केवल सम्पत्ति, जीवन और न्याय की रक्षा के लिए ही राज्य नही बना है। यदि ऐसा होता तो पशु भी राज्य का निर्माण कर लेते। "राज्य का मुख्य उद्देश्य जीवन को सुन्दर व शुभ बनाना है।" ऐसी परिस्थितियो का निर्माण करना है जिनमे रहकर मनुष्य अपने सद्गुणो का विकास कर सके।

मध्ययुगीन दृष्टिकोण—मध्यकालीन ईसाई विचारको की धारणा थी कि राज्य पाप की सन्तान है। जब मनुष्य अपनी स्वाभाविक अच्छाइयो से भटकने लगा तो ईश्वर ने उसकी आसुरी वृत्तियो पर अकुश रखने के लिए तथा पापो के लिए दण्ड की व्यवस्था करने के उद्देश्य से राज्य की रचना की थी। अत मध्ययुगीन ईसाई विचारको के लिए राज्य का कोई नतिक महत्व नही है। राज्य का मुख्य उद्देश्य उनके विचार स अपराधियो को दण्ड देना, समाज म शान्ति व सुरक्षा की व्यवस्था करना तथा ईसाई धम की रक्षा व उसके प्रसार म योग देना है।

आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक युग म राज्य के उद्देश्यो के विषय मे मुख्यत निम्नाकित तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं—

(1) राज्य अनावश्यक है उसे समाप्त कर देना चाहिए।
(2) राज्य एक साध्य है।
(3) राज्य एक साधन है।

राज्य अनावश्यक है या उसे समाप्त कर देना चाहिए

राज्य के उद्देश्यो से सम्बधित यह दृष्टिकोण अराजकतावादियों का है। वे राज्य को एक सवथा दूषित और अवाछनीय सस्था मानते हैं। उनके विचार से राज्य सवसाधारण की स्वतन्त्रता का अपहरण करके कुछ थोडे से लोगो के स्वाथ की रक्षा करता है। यह हिंसा और शोषण का प्रतीक है तथा समाज मे अशान्ति, अन्याय और असमानता का सबसे बडा कारण है। अत सवथा अनावश्यक और अनुपयोगी होने के कारण इसका केवल एक ही उद्देश्य है कि यह अपनी मौत के परवाने पर हस्ताक्षर करे और मर जाये।

व्यक्तिवादी राज्य को 'आवश्यक बुराई' मानते हैं, लेकिन अराजकतावादियों के लिए राज्य सिफ 'बुराई' है, जिसकी न तो जरूरत है और न उपयोगिता या महत्ता। आन्तरिक और बाह्य क्षेत्र मे शान्ति व व्यवस्था के लिए भी अराजकतावाद राज्य को

स्वीकार नहीं करता। वह तो ऐसे वर्गविहीन व राज्यविहीन समाज का समर्थक है जो लोगों की स्वेच्छा से गठित समुदायों का एक वृहद् रूप होगा। राज्य के प्रति अराजकतावादियों के ऐसे दृष्टिकोण के कारण अराजकतावाद में राज्य के कार्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। गांधी, टालस्टाय या बाकुनिन सभी अराजकतावादियों की राय है कि राज्य का सिर्फ एक ही लक्ष्य है कि वह बस लुप्त हो जाय।

राज्य एक साध्य (End) है

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि राज्य किसी अन्य उद्देश्य का साधन न होकर स्वयं ही साध्य है—साधन है व्यक्ति। इस विचार का समर्थन कुछ जर्मन और अंग्रेज आदर्शवादियों ने किया है जिनमें हीगल का नाम प्रमुख है। उसने व्यक्ति की इच्छा शक्ति की राज्य की इच्छा शक्ति के साथ एकरूपता स्थापित की है। उसने राज्य को ईश्वर के भव्य स्वरूप के समान एक सामूहिक व्यक्ति माना है, जिसका अपना जीवन होता है तथा जिसकी पूर्ण विचारशक्ति अथवा विवेक की अभिव्यक्ति है। अपने व्यक्तित्व को पूर्ण बनाना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य है तथा अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपने नागरिकों का उपयोग कर सकता है। दूसरे शब्दों में, राज्य नागरिकों के लिए नहीं, अपितु नागरिकों का अस्तित्व राज्य के लिए है। राज्य के प्रति नागरिकों का केवल कर्तव्य होता है, उसके विरुद्ध उनके किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं हो सकते। राज्य साधारण नैतिक नियमों से ऊपर है, उसकी आज्ञाओं के पालन में ही हमारे जीवन की सफलता व सार्थकता सम्भव है, अतः राज्य को भला या बुरा कहना व्यर्थ है, उसके प्रति हमारी निष्ठा पूर्ण व असीम होनी चाहिए। बीसवीं शताब्दी में फासीवादी विचारकों—विशेष रूप से जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी—ने इसी विचारधारा का समर्थन किया है। समूहवादी (collectivists) और समाजवादी भी यद्यपि खुले तौर पर राज्य को साध्य नहीं बताते तथापि परोक्ष रूप से राज्य को यह अधिकार देते हैं कि वह जिस प्रकार चाहे नागरिकों का अपनी अभिवृद्धि और पूर्णता के लिए प्रयोग करे।

राज्य साधन (Means) है

राज्य के उद्देश्य के विषय में तीसरा दृष्टिकोण यह है कि राज्य एक मानवीय संस्था है जिसका निर्माण मनुष्यों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीवन को पूर्ण बनाने के लिए किया है, अतः राज्य एक साधन है—साध्य है मानव जीवन का कल्याण। मनुष्य राज्य व समाज सभी से श्रेष्ठ है। राज्य अथवा समाज का जो भी महत्व है वह केवल इसलिए है कि उससे मनुष्यों के हितों की पूर्ति में सहायता पहुँचती है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि राज्य मनुष्यों के हितों की पूर्ति का साधन है तो वे कौन से हित हैं जिनकी पूर्ति करना उसका उद्देश्य है ?

लॉक इसका उत्तर देते हुए लिखता है कि राज्य का सबसे महान् व महत्वपूर्ण

उद्देश्य लोगो की सम्पत्ति की रक्षा करना है।[2]

एडम स्मिथ के विचार से राज्य के तीन उद्देश्य हैं—(1) अन्य स्वतन्त्र राज्यो की हिंसा व आक्रमण से समाज की रक्षा, (2) राज्य के प्रत्येक सदस्य की अन्य सदस्यों के अन्याय व अत्याचार से रक्षा, तथा (3) ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना व कार्यों का सम्पादन जिन्हें कोई व्यक्ति अकेला अथवा कुछ थोडे से व्यक्ति मिलकर नहीं कर सकते।[3]

ब्लशली के विचार से राज्य के दो उद्देश्य हैं—प्रत्यक्ष व परोक्ष। प्रत्यक्ष रूप से राज्य का उद्देश्य है राष्ट्रीय जीवन को उन्नत तथा राष्ट्रीय शक्ति को सुदृढ बनाना। परोक्ष रूप से राज्य का उद्देश्य है नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा उसे शासन व दूसरे लोगो के अतिक्रमण से बचाना।[4]

विलोबी के अनुसार राज्य के उद्देश्यो को हम तीन भागो म बाँट सकते हैं—"प्रथम, राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करना व व्यवस्था बनाये रखना, द्वितीय, अधिकाधिक स्वतन्त्रता को उपलब्ध कराना और उसकी रक्षा करना, तथा तृतीय राज्य का सर्वोत्तम उद्देश्य है, नागरिकों का आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करना।"[5]

डा० गानर न भी राज्य के उद्देश्यो को तीन भागो म बाटा है—प्रारम्भिक सामान्य व सर्वोच्च। उनके शब्दो मे "राज्य का मौलिक, प्रारम्भिक व तात्कालिक उद्देश्य है राज्य मे शान्ति, सुरक्षा तथा न्याय की स्थापना करना। इसमे वैयक्तिक अधिकारों को परिभाषित एव सुरक्षित रखने तथा वयक्तिक स्वत त्रता के अधिकार क्षेत्र को निर्मित करने के लिए एक कानूनी राज्य की सस्थापना निहित है। द्वितीय, राज्य को वयक्तिक आवश्यकताओ से बडी सामाजिक आवश्यकताओ पर ध्यान देना है। इसे सामान्य कल्याण और राष्ट्रीय प्रगति की वृद्धि की ओर ध्यान देना चाहिए, जो सामान्य हित के लिए अपेक्षित ह अन्ततोगत्वा राज्य का अन्तिम और सर्वोच्च उद्देश्य तो मानव जाति की सभ्यता की वृद्धि करना है।"[6]

बर्गेस ने राज्य के उद्देश्यो को प्राथमिक गौण और अन्तिम उद्देश्यो के रूप म वर्गीकृत किया है। उसके विचार से राज्य का "प्राथमिक उद्देश्य सरकार और स्वतन्त्रता की स्थापना तथा उनका समन्वय करना है। गौण उद्देश्य, राष्ट्रीय प्रतिभा का विकास करना तथा अन्तिम उद्देश्य ह मानव की पूर्णता।"

निष्कर्ष

इस तरह हम देखते हैं कि राज्य के उद्देश्यो के विषय म कोई अन्तिम निर्णय नही लिया जा सकता। समय, देश परिस्थितियो और समाज की प्रकृति के अनुसार

2 Locke, *Two Treatises of Government*, Ch IV
3 Smith, *Wealth of Nations* Book IV, Ch IX
4 Bluntschli *The Theory of the State*, V Book Ch IV
5 Willoughby, *The Nature of the State*, Ch XII
6. Garner, *op, cit*, pp 316 17

राज्य के उद्देश्यों मे परिवर्तन होता रहता है। सामन्तवादी समाज मे राज्य के उद्देश्य जनतान्त्रिक या उदारवादी समाज से भिन्न होंगे, आदर्शवादी समाज मे व्यक्तिवादी समाज से तथा पूँजीवादी समाज मे समूहवादी या समाजवादी समाज से भिन्न होंगे। विलोबी ने ठीक लिखा है कि यदि हम शुद्ध व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखें तो वह केवल एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा मानवता का चरम विकास सम्भव है। लेकिन यदि राज्य को एक ऐसी संस्था के दृष्टिकोण से देखा जाए जो नागरिको द्वारा निर्मित होने पर भी उनसे भिन्न इकाई है तो राज्य निश्चय ही एक पूर्ण उद्देश्य ठहरता है। अत प्रोफेसर लास्की की यह युक्ति ठीक लगती है कि राज्य की "परीक्षा इसके सैद्धान्तिक रूप से नहीं, अपितु उन कार्यों से होती है जिन्हें यह सम्पादित करता है।"[7] यदि राज्य का एक उद्देश्य निर्धारित करना आवश्यक ही हो तो यह कहा जा सकता है कि राज्य का मुख्य उद्देश्य सभ्यता का विकास करना है। जीवन की रक्षा, विकास और स्वतन्त्रता आदि की बातें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं।

राज्य के कार्य
(Functions of the State)

'राजनीतिक सिद्धान्त की सभी समस्याओं मे राज्य के कार्यक्षेत्र के निर्धारण की समस्या सबसे कठिन है।"[8] राज्य नियन्त्रण और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे कहाँ रेखा खींची जाए इस विषय पर कोई दो विद्वान एकमत नही हो सकते। व्यक्तिवादी यदि राज्य के नियन्त्रण को कम-से-कम बनाने के पक्ष मे हैं तो समाजवादी उसके नियन्त्रण के क्षेत्र का अधिकाधिक प्रसार चाहते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्तिवादी राज्य के कार्य बहुत सीमित होंगे और समाजवादी राज्य के बहुत व्यापक। दूसरी विचारधाराओं वाले विद्वानो की राज्य के कार्यों की धारणाएँ इन्ही दोनो के मध्य झूलती हुई दिखायी देती हैं। अत राज्य के कार्यों के विषय मे कोई स्थिर नियम नही बनाया जा सकता। अधिक से अधिक मैकाइवर के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "राज्य का कार्यक्षेत्र इस आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिये कि राज्य अपनी क्षमता के अनुसार क्या कर सकता है।"

प्रो० विलोबी और गटिल ने राज्य के कार्यों को दो शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया है—अनिवार्य और ऐच्छिक। अनिवार्य कार्य वे हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं तथा ऐच्छिक कार्य वे हैं जिनका करना या न करना राज्य की इच्छा पर निर्भर है।

अनिवार्य कार्य
(Essential Functions)

राज्य के अनिवार्य कार्यों को निम्नांकित क्रम मे रखा जा सकता है—

1 सुरक्षा—अपनी जनता और भूमि की विदेशी आक्रमण से रक्षा करना राज्य

7, Laski *A Grammar of Politics* Ch 1
8 Coker, *Recent Political Thought*, p 381

का प्रथम अनिवाय कत्तव्य है। जब तक कोई राज्य अपने नागरिको के जीवन की सुरक्षा का आश्वासन नही देता तब तक राज्य कहलाने का अधिकारी ही नही हो सकता। प्रादेशिक अखण्डता राज्य के अस्तित्व के अतिरिक्त उसके सम्मान का विषय भी है। इसके लिए आवश्यक है कि राज्य सवप्रथम अपने सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों पर ध्यान दे।

2 **आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था की स्थापना** – मैकाइवर ने लिखा है कि राज्य का एक अनिवाय कत्तव्य समाज मे शान्ति स्थापित करना है ताकि व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपनी पूणता के साधनो की खोज कर सकें। परन्तु व्यवस्था केवल व्यवस्था के लिए नहीं होती, अपितु व्यवस्था का उद्देश्य सुरक्षा, सरक्षण और प्रगति को निश्चित बनाना होता है। दूसरे शब्दो म, राज्य का यह कत्तव्य है कि वह अपने नागरिको के जीवन की स्वतन्त्रता व सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए देश मे आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था की स्थापना करे।

3 **न्याय की व्यवस्था**—नागरिक जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा निष्पक्ष और भावना शून्य न्याय पर निभर है। व्यक्तियो के पारस्परिक स्वाथ उनमे तथा व्यक्ति और राज्य के बीच विवाद का विषय बन सकते हैं। अत राज्य का यह कत्तव्य है कि अपने नागरिको को न्यायालय का सरक्षण प्रदान करे ताकि कोई भी व्यक्ति अथवा वग दूसरे किसी व्यक्ति या वग का शोषण न कर सक।

4 **वैदेशिक सम्बन्ध**—दूसरे देशो से राज्य के सम्बन्ध स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय हितो का विकास करना भी राज्य का अनिवाय कत्तव्य है। आधुनिक युग म कोई भी राज्य दूसरे देशो के सहयोग के बिना अपना आर्थिक, सैनिक व सांस्कृतिक विकास नही कर सकता। वैदेशिक सम्बन्धो की सफलता पर ही उसका भविष्य निभर रहता है। अत दूसरे देशा के साथ अपने सम्बन्धो को सुदृढ बनाना राज्य का अनिवाय उत्तरदायित्व है जिसकी अवहेलना नही की जा सकती।

ऐच्छिक काय
(Optional Functions)

ऐच्छिक कार्यों की दृष्टि से प्रत्येक राज्य का स्वरूप भिन्न होता है, क्योकि ऐच्छिक काय उस व्यवस्था पर निभर करते हैं जिसे कोई राज्य अपने देश मे लागू करता है। व्यक्तिवादी राज्य म ऐच्छिक कार्यों के लिए कोई स्थान नही होता, किन्तु सर्वाधिकारवादी राज्य म राज्य अपनी इच्छा से नागरिक जीवन के सभी पहलुओ को समेट लेता है, परिणामस्वरूप उसके ऐच्छिक कार्यों का क्षेत्र बहुत बढ जाता है अत राज्य के ऐच्छिक कार्यों की गणना नही कराई जा सकती। भूतपूव अमरीकी राष्ट्रपति **वुडरो विल्सन** ने राज्य के निम्नांकित दस ऐच्छिक काय बताये हैं —

(1) व्यापार और उद्योग धन्धा का नियन्त्रण जिसमे सिक्के चलाना, बाटो और नापो का प्रतिमान (स्टैण्डड) निश्चित करना, व्यापारियो को लाइसेन्स देना तथा शुल्क दर निश्चित करना आदि काय शामिल हैं।

(2) श्रम का नियमन।
(3) राजमार्गों का निर्माण तथा सुरक्षा, रेलपथों व वायुपथों का प्रबन्ध भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है।
(3) डाक व तार विभाग की स्थापना और प्रबन्ध।
(5) गैस का निर्माण करना, उसे बांटना तथा वाटर वर्क्स (जल कल विभाग) की स्थापना।
(6) शिक्षा।
(7) सफाई।
(8) दरिद्र व अपाहिजों की देखभाल।
(9) वनों की उन्नति और देखभाल तथा नदियों आदि को मछलियों से सचित करना।
(10) सामाजिक उन्नति के लिए नियम बनाना, जैसे मद्य निषेध आदि।"[9]

सामान्यत राज्य के एच्छिक कार्यों को दो भागो म बाँटकर अध्ययन करने की प्रवृत्ति है—'सामाजिक काय' और 'असामाजिक काय'।

सामाजिक काय—राज्य के ऐच्छिक सामाजिक कार्य वे हैं जिनका सम्पादन व्यक्ति स्वय कर सक्ते हैं किन्तु उन्हें व्यक्तिगत नियन्त्रण की बुराइयों से पूरी तरह अथवा अशत मुक्त कराने के लिए राज्य इन्ह अपने अधिकार मे ले लता है। इनके अन्तगत सडको, रलमार्गों तथा नहरों व पुलो का निमाण व उनमें सुधार, डाक तार व टेलीफून व्यवस्था का प्रबन्ध, तथा मुद्रा प्रचलन, बकिग व सिक्के ढालना आदि आते हैं। बिजली, पानी, विश्वविद्यालय, अजायबघर आदि की व्यवस्था और देखभाल भी सामाजिक कार्यों का अग है।

असामाजिक काय—वे काय जो व्यक्ति के निजी उत्साह के क्षेत्र को तो सीमित नही करते, लेकिन उन्हें यदि व्यक्तिगत नियन्त्रण मे छोड दिया जाय तो शायद वे कभी पूरे न हो या आशिक रूप से ही पूरे हो, असामाजिक कार्यों की श्रेणी म आते हैं। सावजनिक उद्यानो, पुस्तकालयो की व्यवस्था, दरिद्र और अपाहिजो की देखभाल, असहाय और वृद्ध व्यक्तियो की पेन्शन, आवश्यक वस्तुओ के मूल्यो का निर्धारण आदि ऐसे कार्यों क सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

आधुनिक युग मे औद्योगीकरण क विकास ने राज्य के ऐच्छिक कार्यों के इस वर्गीकरण को लगभग अर्थहीन सिद्ध कर दिया है क्योंकि सैद्धान्तिक रूप से सामाजिक और असामाजिक कार्यों मे रेखा खींचना अब सम्भव नही है, फिर भी राज्य के ऐच्छिक कार्यों का इस विधि से अध्ययन करके हम तो जान ही सक्ते है कि राज्य कितना समाजवादी है अर्थात् कोई राज्य कितने सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वहन कर रहा है तथा कितने अन्य असामाजिक काय उसके नियन्त्रण से प्रभावित हैं।

9 Woodrow Wilson, *The State* p 614

राज्य के कार्यक्षेत्र के सिद्धान्त
(Theories of the State Functions)

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवाद, समाजवाद और लोकहितकारी राज्य के सिद्धान्त मुख्य हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है—

व्यक्तिवाद
(Individualism)

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यूरोप में लगभग सभी देशों की सरकारों द्वारा व्यापार व वाणिज्य पर अनेक प्रकार के कर व प्रतिबन्ध लगाये गये थे, जिनसे वहाँ का आर्थिक जीवन अस्त व्यस्त हो गया था। व्यापार और उद्योग की स्वतन्त्रता का समर्थन करने वाले कुछ विचारकों ने इन प्रतिबन्धों की समाप्ति की माँग पर बल दिया और माँग की कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उनका नारा था 'यद्भाव्य-तद्भवतु' (Laissez faire Laissez allez), जिसका अर्थ है कि व्यक्ति को अपने हितों की पूर्ति के लिए खुला छोड़ देना चाहिये और उस पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहियें।

इस सिद्धान्त की जन्मभूमि फ्रांस है और इसके प्रतिपादन का श्रेय पदार्थवादी सम्प्रदाय (Physiocratic School) के नेता, फ्रांसीसी विद्वान क्वीसन (Quesnay), को है। इसकी व्याख्या हमें अंग्रेज अर्थशास्त्रियों, विशेष रूप से एडम स्मिथ, कायर्न्स (Cairnes), रिकार्डो तथा माल्थस, की रचनाओं में मिलती है। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इसे राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में, व्यक्तिवाद के नाम से, विकसित व प्रतिष्ठित करने का श्रेय जान स्टुअर्ट मिल व हरबर्ट स्पेंसर को है।

व्यक्तिवादी राज्य के कार्य

प्रो० गिलक्राइस्ट ने व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों को निम्नांकित चार भागों में बाँटा है—

(1) विदेशी आक्रमण से रक्षा।
(2) व्यक्तियों को एक दूसरे के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करना—जैसे शारीरिक हानि, मानहानि, पराधीनता आदि से बचाना।
(3) लूटपाट तथा अन्य प्रकार की हानियों से सम्पत्ति की रक्षा करना।
(4) व्यक्तियों को झूठे समझौतों से तथा 'समझौतों के भंग होने (breaches of contracts)' से बचाना।

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं अतः उसके कार्यों को केवल आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा प्रदान करने तथा समाज में हिंसा व विश्वासघात के दमन करने तक ही सीमित रखते हैं। कुछ व्यक्तिवादी इस बात के भी समर्थक हैं कि राज्य को अपाहिजों की रक्षा तथा हैजा, प्लेग आदि महामारियों की रोकथाम का काम भी

करना चाहिये। लेकिन हरबर्ट स्पेन्सर इसके विरुद्ध है। उसकी धारणा है कि 'योग्यतम को ही जीवित रहने का अधिकार है,' अत आन्तरिक और बाह्य आक्रमण से व्यक्ति को बचाने के अतिरिक्त राज्य को कुछ नहीं करना चाहिये।

व्यक्तिवाद पूरी शक्ति से राज्य के कार्यों को अधिकाधिक सीमित करने और नागरिक स्वतन्त्रता को अधिक से अधिक बढ़ाने की माँग करता है। वह राज्य का यह परम कर्तव्य मानता है कि वह व्यक्तियों को उनकी इच्छानुसार कार्य करने की पूरी छूट दे, बशर्ते स्वतन्त्रता भोगने वाले व्यक्ति दूसरे लोगों की उसी प्रकार की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे।

व्यक्तिवाद की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को खूब अच्छी तरह पहचानता है और यदि उसे अपने हितों को प्राप्त करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वह आसानी से अपने हितों की प्राप्ति कर लेगा। व्यक्तिवाद के अनुसार ससार में एक अदृश्य शक्ति विद्यमान है जो लोगों का मार्गदर्शन करती है और उन्हें अपने हितों की प्राप्ति करने की योग्यता प्रदान करती है। अत राज्य को व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

व्यक्तिवाद आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध है। उसके अनुसार राज्य जब भी आर्थिक सस्थाओं का प्रबन्ध करता है वह सदैव अकुशल, अति व्ययशील और अयोग्य सिद्ध होता है। राज्य को अर्थव्यवस्था के प्रबन्ध करने का अधिकार देना आर्थिक अव्यवस्था को आमन्त्रित करना है।

सक्षेप में, व्यक्तिवाद राज्य को नकारात्मक कार्य सौंपने के पक्ष में है। वह राज्य का कर्तव्य व्यक्ति को दूसरों के स्वार्थ और हिंसा से बचाना मात्र बताता है। राज्य के सकारात्मक कार्यों में उसका विश्वास नहीं है। वह राज्य को जनकल्याण की अभिवृद्धि का साधन नहीं मानता।

व्यक्तिवाद के पक्ष में तर्क

व्यक्तिवाद के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों को गिलक्राइस्ट ने तीन श्रेणियों में रखा है—

(1) नैतिक तर्क।
(2) आर्थिक तर्क।
(3) वैज्ञानिक तर्क।

नैतिक तर्क का सार यह है कि एक निश्चित न्यूनतम सीमा से परे राज्य का हस्तक्षेप मनुष्य के चरित्र और उसकी कर्तव्य भावना को कमजोर बनाता है तथा उसमें नेतृत्व की स्वाभाविक योग्यता का नाश करता है। उच्चतम सभ्यता का विकास, व्यक्तिवादियों के अनुसार, व्यक्तिवादी समाज में ही हुआ है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर लगाये गये प्रतिबन्धों का परिणाम सदैव बुरा ही हुआ है। जो लोग अपने विकास और कल्याण के लिए सरकार का मुँह ताकते हैं उनकी योग्यताओं का केवल अध विकास है। पूर्ण स्वतन्त्र समाज में ही आत्म निर्भरता, आत्मविश्वास और औद्योगिक

प्रगति सम्भव है। लेकी के शब्दों में, राज्य के हस्तक्षेप के कारण 'निजी उद्यम अथवा साहस तथा दानशीलता का ह्रास हो जाता है, व्यक्ति के भीतर उत्तरदायित्व अनुभव करने की भावना कम हो जाती है, स्वतन्त्रता का प्रेम घट जाता है, अधिकारियों की संख्या अधिकाधिक बढ़ जाती है समाज की एक ऐसी अवस्था का निर्माण हो जाता है जिसमें अधिकांश लोग अपनी आजीविका के लिए राज्य के अनुदानों पर निर्भर रहने लगते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि आत्मविश्वास स्वतन्त्रता, दृढ़ निश्चय आदि गुणों के मूल स्रोतों को भारी हानि पहुँचती है तथा व्यक्ति का निर्णय करने का स्वभाव तथा उसका चरित्र कमजोर हो जाता है।

आर्थिक तर्क का आधार यह है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता में मूल्य, पूर्ति और माँग के नियम के अनुसार निर्धारित होते हैं। स्वतन्त्र आर्थिक समाज उत्पादकों को कम मूल्य पर वस्तुओं का उत्पादन करने के योग्य, उपभोक्ताओं को कम से कम दामों पर वस्तुएँ खरीदने के योग्य, तथा श्रमिकों को अपने श्रम को अधिक से अधिक मूल्य पर बेचने के योग्य बनाता है। *सुमनर का कहना था कि "प्रकृति के साथ छेड़खानी मत* कीजिये, वह अन्त में स्वयं दुर्गुणों तथा आलस्य का नाश कर देगी। प्रतियोगिता प्रकृति का नियम है"।[10] मूल्यों के नियम, आयात निर्यात करों के आरोपण, आर्थिक सहायता और अनुदान प्रदान करने, श्रम की दशाओं के नियमन आदि के रूप में होने वाला सरकारी हस्तक्षेप, गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "अर्थव्यवस्था के उस यन्त्र के क्रिया-वयन में बाधा डाल देता है जो यदि स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय, तो सुचारु रूप में और व्यवस्थित रीति से चलता रहता है।'[11]

वैज्ञानिक तर्क डार्विन के विकासवादी नियम पर आधारित है। इसके समर्थकों में हरबर्ट स्पेंसर का नाम अग्रगण्य है। स्पेंसर की मान्यता है कि समाज में जीवन के अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जिसमें शक्ति और सामर्थ्यवान प्राणी ही जीवित रहते हैं तथा अयोग्य और निर्बल व्यक्तियों का अन्त हो जाता है। अत राज्य को दरिद्र, कमजोर, अज्ञानी, अयोग्य व अकुशल लोगों को बचाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक विकास के नियम को बदलना होगा। जीवन और प्रगति के लिये होने वाले संघर्ष में यही आवश्यक है कि 'योग्यतम ही जीवित रहे' ताकि समाज श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँच जाय। गैटिल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, 'यदि बाहरी रुकावटों को दूर कर दिया जाय तो उसका परिणाम स्वतन्त्र प्रतियोगिता होगी। ऐसी स्वतन्त्र प्रतियोगिता प्रत्येक व्यक्ति को उसकी सर्वोत्तम योग्यता के अनुसार कार्य देने, अयोग्य तत्त्व को कम करने तथा इस प्रकार सभी प्राणियों के कल्याण में वृद्धि करने से, सदैव सम्भावित मानवीय उच्चतम गुणों का विकास करती है।"[12]

व्यक्तिवाद का समर्थन कुछ विद्वानों ने राजनीतिक अनुभवों के आधार पर भी

10 William Graham Sumner *The Challenges of Facts and other Essays* New Haven (1914) p-25-

11 R N Gilchrist, *Principles of Political Science*, p 438

12 Gettel, *op. cit*, pp 399 400

किया है। उनका तर्क है कि सरकारी कर्मचारियों की अयोग्यता, काम की प्रक्रिया में जटिलता तथा लालफीताशाही के दुर्गुणों से प्रत्येक शासन व्यवस्था ग्रस्त है, क्योंकि राज्य को कार्य भार से इतना दबा दिया गया है कि वह व्यवस्थित ढंग से काम करने की स्थिति में ही नहीं रहा है। इतना ही नहीं, अज्ञानी और अयोग्य लोगों के निर्वाचित होकर विधान सभा में पहुँच जाने के कारण भी राज्य ठीक प्रकार से शासन प्रबन्ध करने में असमर्थ है, क्योंकि विधान सभा के अधिकांश सदस्य अर्थशास्त्र व अन्य तकनीकी विषयों की कोई जानकारी नहीं रखते। उनके निर्णय विवेक की अपेक्षा भावना, पक्षपात अथवा नौकरशाही की स्वेच्छाचारिता से प्रभावित होते हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरण सर्वत्र भरे पड़े हैं जब राज्य द्वारा निर्मित आर्थिक व सामाजिक जीवन सम्बन्धी नियम अपने उद्देश्यों में असफल रहे हैं।

व्यक्तिवाद के विपक्ष में तर्क

प्रो. गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में 'इंग्लैण्ड के राजनीतिक व औद्योगिक जीवन में व्यक्तिवादी सिद्धान्त को अपनाये जाने के फलस्वरूप जो व्यावहारिक अनुभव सामने आये, वे इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़े प्रमाण हैं। कारखानों के बढ़ जाने के कारण अनेक दोष उत्पन्न हो गये तथा बड़े नगरों की स्थापना के कारण शासकीय नियन्त्रण का एक नया युग शुरू हुआ। भीड़ भाड़ और संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए आवश्यक कानून, बालकों द्वारा परिश्रम कराये जाने और कम से कम मजदूरी पर अधिकतम काम कराने के विरुद्ध श्रम कानून, असुरक्षित यन्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने व जीवन की रक्षा के लिए बनाये गये फैक्ट्री कानून तथा इसी प्रकार के अनेक कानूनों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी।'[13] इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिवाद की कुछ मौलिक धारणायें दोषपूर्ण हैं।

प्रथम, यह सत्य नहीं है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। राज्य वर्तमान अवस्थाओं में एक सकारात्मक अच्छाई है जिसके अभाव में श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति दुर्लभ है। यदि राज्य बुराई होता तो कब का नष्ट हो गया होता।

दूसरे, यह सदैव आवश्यक नहीं कि व्यक्ति अपने हितों को भली प्रकार पहचान सके। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही प्रकार की योग्यता अथवा दूरदर्शिता नहीं होती। अनुभव बताता है कि अनेक बार राज्य मनुष्य की मानसिक, नैतिक तथा अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने में उस व्यक्ति की तुलना में श्रेष्ठ निर्णायक सिद्ध हुआ है।

तीसरे, यह भी सही नहीं कि मनुष्य के अन्दर एक ऐसी अदृश्य शक्ति होती है जिसके निर्देश पर वह अपने हितों की स्वतः पूर्ति कर सकता है अथवा दूसरे व्यक्तियों के शोषण से बच सकता है। प्रत्येक समाज में निहित स्वार्थ वाले ऐसे अनेक शक्तिशाली वर्ग होते हैं जो निर्बल व्यक्तियों को उनके परिश्रम का पूरा फल नहीं मिलने देना चाहते। यदि राज्य उनकी दुराकांक्षाओं पर प्रतिबन्ध न लगाये तो समाज में 'मात्स्य न्याय' स्थापित हो जायेगा।

13 R N Gilchrist, *op cit* p 444

चौथे, व्यक्ति के अधिकांश कार्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से समाज के दूसरे सदस्यों को भी प्रभावित करते हैं। व्यक्ति को खुली छूट देने (अहस्तक्षेप की नीति) का परिणाम उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के इंगलैण्ड व फ्रांस में दमन, उत्पीडन, शोषण, अत्याचार, व संक्रामक रोगों के भयानक प्रसार के रूप में सामने आया है, जिससे सबक लेना चाहिये।

पांचवें, उत्पादन व वितरण की आधुनिक दशाओं के अन्तर्गत राजकीय नियमन व नियन्त्रण अनिवार्य हो गया है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को खुली छूट देने से भयानक दोष उत्पन्न होंगे जिनसे उपभोक्ताओं का अहित होगा।

छठें 'योग्यतम की विजय' के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन करना भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। लीकॉक ने लिखा है कि "यदि 'योग्यतम की विजय' की प्रमुख परीक्षा अतिजीविता के तथ्य में निहित है तो सेंध लगाकर चोरी करने वाला समृद्ध व्यक्ति प्रशंसा का पात्र बन जाता है और भूख से मरने वाला शिल्पकार घृणा का।"[14] हक्सले की युक्ति ठीक है कि "हमारा उद्देश्य योग्यतम व्यक्तियों को जीवित रखने की अपेक्षा सभी जीवित व्यक्तियों को योग्य बनाना होना चाहिये।"

सातवें, व्यक्तिवाद का यह तर्क गलत है कि सरकार ने भूतकाल में अनेक गलतियाँ की हैं इसलिए उस पर भविष्य के लिए विश्वास नहीं किया जा सकता। निजी निकाय भी गलती करते हैं भूल और सुधार की एक अनवरत प्रक्रिया मानव जीवन के हर क्षेत्र में चलती रहती है। निजी निकाय की अपेक्षा सरकार की भूलों को सुधारना सरल है। हक्सले लिखता है कि "सरकार एक शीशे के मकान में रहती है जिससे हम उसके समस्त कार्यों तथा दोषों को प्रत्यक्षतः देख लेते हैं, लेकिन निजी साहस अपारदर्शक ईंटों की चहार दीवारी में रखा जाता है जहाँ जनता उसके कार्यों की ठीक जानकारी प्राप्त नहीं कर पाती।"

अन्त में, व्यक्तिवाद की यह धारणा असत्य है कि समाज एकान्तवासियों तथा असम्बन्धित प्राणियों का समूह है। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। आत्म केंद्रित व पूर्णतः आत्मसेवी व्यक्ति केवल कपोल कल्पना है। यथार्थ में न तो कोई सामान्य व्यक्ति ऐसा हुआ है और न हो सकता है। सभी को सामाजिक सम्पर्कों तथा राज्य के संरक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

निष्कर्ष

व्यक्तिवाद के दोनों पक्षों के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह राज्य के कार्य क्षेत्र का एक बहुत अव्यावहारिक और अनुपयोगी सिद्धान्त है। व्यक्तिवादी राजकीय नियन्त्रण और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को, जैसा प्रो० रिशी ने स्पष्ट किया है रोकड़ बही के लेन देन वाले दो पक्ष मान बैठे हैं जिनमें एक की वृद्धि आवश्यक रूप से दूसरे की घटोतरी बन जाती है। आधुनिक संसार की जटिलताओं और व्यक्ति की राज्य पर निर्भरता को

14 Leacock, *Elements of Politics* p 346

देखते हुए उनकी धारणा असगत और अर्थहीन लगती है। वर्तमान परिस्थितियाँ राज्य के नियंत्रण को कम करने की अपेक्षा उसे बढाने की माँग करती दिखाई देती हैं।

समाजवाद
(Socialism)

आधुनिक युग समाजवाद का युग है। समाजवाद ने इस युग म जितनी धूम मचायी है उतनी राजनीतिक विचारधाराओ के सम्पूर्ण इतिहास मे सम्भवत किसी अन्य शब्द ने नही मचाई। मोटे तौर पर, समाजवाद उत्पादन और वितरण के साधनों पर निजी स्वामित्व की अपेक्षा सामूहिक स्वामित्व का समर्थन करने वाली एक आर्थिक व सामाजिक विचारधारा है। इसका जन्म यूरोप म व्यक्तिवादी व्यवस्था की बुराइयों से समाज को बचाने के उद्देश्य से हुआ था। इसके अनेक रूप पाये जाते हैं। निजी स्वामित्व के स्थान पर समाज के नियन्त्रण की बात करने वाला कोई भी सिद्धान्त 'समाजवाद' की श्रेणी मे आ सकता है। जोड ने इस लचीलेपन को देखते हुए समाजवाद की तुलना एक ऐसे टोप से की है जिसकी आकृति बिगड चुकी है, क्योंकि हर कोई इसे पहन लेता है।

डा० अप्पादोराय ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि "समाजवाद एक सिद्धान्त और आन्दोलन है जो उत्पादन और विनिमय के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व और सामूहिक नियन्त्रण द्वारा जनसाधारण के हित के लिए लोक समाज का सगठन चाहता है।"

कोल के मतानुसार "समाजवाद का अर्थ चार सम्बन्धित बातो से होता है— समस्त मनुष्यों का भ्रातृत्व जिसमे वर्गभेद न हो, ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें कोई व्यक्ति अपने पडोसियों से अधिक मालदार तथा अधिक दरिद्र न हो जिससे वे समानता के आधार पर एक दूसरे से मिल सकें, समस्त उत्पादन के साधनो पर सामूहिक स्वामित्व तथा समस्त नागरिको की अपनी पूर्ण क्षमता के अनुसार एक दूसरे की सेवा करना है।"

सक्षेप मे, पीगू के शब्दो मे "उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत अधिकार को पूंजीवाद कहते हैं और इन साधनों पर सामाजिक अधिकार को समाजवाद कहते हैं।"

समाजवादी राज्य के कार्य
(Functions of a Socialist State)

राज्य के कार्यों के दृष्टि से समाजवादी दो वर्गों बँटे हुये हैं—राज्य समाजवादी और वैज्ञानिक समाजवादी। राज्य समाजवादी विद्यमान पूँजीवादी व्यवस्था म परिवर्तन राज्य के माध्यम से लाना चाहते हैं। उनके समाज म सारे कार्य राज्य के नियन्त्रण व निरीक्षण म ही सम्पादित होगे अत राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक होगा। इसके विपरीत वैज्ञानिक समाजवादी, जिन्हें साम्यवादी भी कहा जाता है राज्य को केवल अन्तरिम काल के लिए ही बनाये रखना चाहते हैं—केवल उस समय तक जब तक कि विश्व म साम्यवाद की स्थापना नही हो जाती। वे राज्य को हिंसा, शोषण, वर्ग उत्पीडन और वर्ग भेद को बढाने वाला साधन मानते हैं। लेकिन कुछ आधुनिक समाजवादियो ने

अब राज्य की उपयोगिता को स्वीकार करना शुरू कर दिया है और उसे अनिवार्य संस्था के रूप मे बनाये रखने की बात करने लगे है।

राज्य क्या कार्य करे, इसके विषय मे वैज्ञानिक समाजवादियों को छोडकर शेष समाजवादियो की निश्चित धारणायें हैं —

समाज की सर्वांगीण उन्नति—समाजवादी राज्य को अत्यधिक व्यापक कार्य सौंपने के पक्ष में हैं। *उनके विचार से राज्य का काम केवल शांति और व्यवस्था बनाये* रखना ही नही अपितु समाज का सर्वांगीण विकास करना है। उनका विचार है कि राज्य व्यक्ति की सामुदायिक उन्नति का साधन है। अत वे सारे कार्य करने चाहियें जो मनुष्य की सामुदायिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं। इसके अन्तर्गत वे सारे कार्य आ जाते हैं जिन्हे हम राज्य के अनिवार्य व ऐच्छिक कर्त्तव्यो के अन्तर्गत पहले लिख आये हैं, *जैसे आन्तरिक व बाह्य आक्रमण से सुरक्षा, सामाजिक न्याय की स्थापना, विदेश सम्बन्ध,* शिक्षा, रोजगार की व्यवस्था आदि।

व्यक्ति के सामुदायिक जीवन का नियन्त्रण—*व्यक्ति के सामुदायिक जीवन को* नियन्त्रित व मर्यादित करना तथा व्यक्तिगत व सामुदायिक हितो मे सामंजस्य स्थापित करना राज्य का कर्त्तव्य है। मानव जीवन के अनेक पहलू होते हैं—सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक आदि। आपस म घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वे सब समाजवादी व्यवस्था मे राजनीतिक व आर्थिक पहलू के अन्तर्गत आ जाते हैं। चूंकि राजनीतिक और आर्थिक पक्ष राज्य के सीधे नियन्त्रण मे होते हैं अत समाजवाद व्यक्ति के जीवन के सभी क्षेत्रो मे कार्य करने का अधिकार राज्य को दे देता है।

लेकिन समाजवाद को विभिन्न देशो म किस प्रकार लागू किया जाय इसके *विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। परिणामस्वरूप कुछ देशो म समाजवादी भोजनालय* और मनोरंजन के साधनो तक को राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत सौंप देना चाहते हैं, जबकि दूसरे देशो के समाजवादियो का कहना है कि केवल उन उद्योगो पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए जिनम पूंजी या वेतन के आधार पर श्रमिको को लगाया जाता है—जैसे रेल, डाक तार, रेडियो टेलीफोन आदि बड़े उद्योगो पर राज्य का नियन्त्रण हो *तथा छोटी मोटी दूकानो इत्यादि को व्यक्तिगत नियन्त्रण म छोड दिया जाय। एशिया* और अफ्रीका के विकासशील देशो मे दूसरी विचारधारा वाले समाजवादी अधिक मिलेंगे, जबकि यूरोप म पहली विचारधारा वाले।

समाजवाद के पक्ष मे तर्क

असमानता का अन्त—सभी प्रकार की विषमताओ का अन्त करके समाज मे सभी व्यक्तियो को अवसर की समानता प्रदान करना समाजवाद का लक्ष्य है। लैस्की ने लिखा है कि "समाजवाद सबको बराबर कर देने वाला यन्त्र है।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समानता से अभिप्राय निरपेक्ष या पूर्ण समता नही है। पूर्ण समता स्थापित करना असम्भव है। समता से आशय यह है कि समाज मे सबको योग्यता प्राप्त करने के समान अवसर उपलब्ध हो ताकि कोई किसी का शोषण न कर सके।

समाज की सावयवी एकता पर बल—समाजवाद समाज की प्रांगिक एकता पर बल देता है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित मे समाज का निर्माण करना चाहता है। यह मानता है कि जिस प्रकार शरीर के एक भाग की पीड़ा का असर सम्पूर्ण शरीर पर होता है उसी तरह एक व्यक्ति की पीड़ा का असर समाज पर होता है।

पूंजीवाद का शत्रु—समाजवाद पूंजीवाद को सारी बुराइयों की जड बताता है। उसके विचार से पूंजीवादी व्यवस्था मे फिजूलखर्ची होती है, बहुत सा धन विज्ञापनों तथा प्रचार कार्य मे खर्च होता है जिससे समाज को कोई लाभ नही होता। पूंजीपति श्रमिकों के जन्मजात शत्रु हैं। पूंजीवाद के कारण ही वर्गभेद तथा आर्थिक विषमता बनी हुई है। अत समाज को पूंजीपतियों के दुष्ट चंगुल मे मुक्त कराना समाजवाद का उद्देश्य है।

व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त—समाजवाद भूमि आदि पूंजी के साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त करना चाहता है। उसके विचार से भूमि जल तथा अन्य प्राकृतिक साधन ईश्वर की देन हैं जिन पर अपनी बपौती जमा लेने का किसी को अधिकार नही है। रॉबर्ट ब्लेचफोर्ड ने लिखा है कि "कोई भी मनुष्य उस वस्तु को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति उस समय तक नहीं कह सकता जब तक कि उसने स्वयं उसका निर्माण न किया हो। सम्पूर्ण भूमि पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है क्योंकि उसकी उत्पत्ति ईश्वर ने की है।"

सामाजिक हित पर बल—सम्पूर्ण समाजवादी व्यवस्था इस आदर्श पर आधारित है कि समाज के हितों के लिये व्यक्ति हितों को बलिदान भी करना पड़े तो कोई बात नहीं क्योंकि समाज के हित में व्यक्ति का हित स्वाभाविक रूप से निहित है। रोशर ने लिखा है कि "समाजवाद उन सभी प्रवृत्तियों के पक्ष में है जो मनुष्य की इच्छानुकूल बातों की अपेक्षा सार्वजनिक सुख के सम्मान की अधिक मांग करते हैं।"

उत्पादन के साधनों पर समाज का नियन्त्रण—समाजवाद मे कल कारखानों पर राज्य का नियन्त्रण होगा। इनमे उत्पादन उपभोक्ताओं की इच्छाओं व आवश्यकताओं के अनुसार होगा। जनकल्याण के लिये उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण उचित ही नही, अपितु आवश्यक है, क्योंकि इसी से सम्पूर्ण समाज का भला होगा।

आर्थिक स्वतन्त्रता का समर्थक—समाजवाद आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता को अर्थहीन मानता है। जब तक किसी समाज मे लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े, भूखे या दरिद्र होंगे पूंजीवादी पैसे के बल पर उनके राजनीतिक अधिकारों को खरीद लेंगे। अत समाजवाद सबको रोटी, कपड़ा, मकान आदि की चिन्ताओं से मुक्त करके उन्हें सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र बनाना चाहता है।

समाजवाद के विपक्ष मे तर्क

शास्त्रीय दृष्टि से दोषपूर्ण—समाजवाद एक अस्पष्ट विचारधारा है। इसका निश्चित दर्शन नही है। पूर्ण समानता असम्भव है। अत समाजवाद शास्त्रीय

दृष्टि से दोषपूर्ण है। प्रो० हर्नशा ने लिखा है कि "समाजवाद की ओर आकृष्ट होने वाले केवल दो ही हैं—एक सनकी अथवा पागल वर्ग और दूसरा अपराधी वर्ग।"

समाजवाद का अर्थ है सत्तावाद—आलोचकों की राय है कि समाजवाद में सारी व्यवस्था राज्य के इशारों पर नाचेगी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त हो जायगा। नौकरशाही के कार्यों में वृद्धि हो जायेगी और पिछले द्वार से शासकों की निरंकुश सत्ता समाज में स्थापित हो जायेगी।

उत्पादन में कमी—जब उत्पादन व्यक्ति की अपेक्षा समाज के लाभ के लिये होगा तो उसमें व्यक्तियों की निजी रुचि कम हो जायेगी जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा और गति दोनों में गिरावट आयेगी।

एक द्वेषपूर्ण सिद्धांत—समाजवाद में गरीबों की उन्नति की अपेक्षा धनवानों के अपमान पर अधिक बल दिया जाता है बार्कर का मत है कि "समाजवाद का आकर्षण इसमें है कि वह जनसाधारण को यह वचन देता है कि धनिकों का नाश करके उनकी सम्पत्ति का साधारण विभाजन कर दिया जायेगा।"

उपभोक्ताओं का अहित—खुली प्रतियोगिता के कारण पूंजीवादी व्यवस्था में उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुएँ सहज सुलभ हो जाती हैं। लेकिन प्रतियोगिता की समाप्ति पर समाजवाद में उपभोक्ताओं का अहित होगा। उन्हें आवश्यक वस्तुयें मुश्किल से तथा महँगी मिलेंगी।

प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ—गैटिल के विचार से "समाजवाद में प्रशासन सम्बन्धी कार्य की कठिनाइयां बहुत अधिक बढ़ जायेंगी, जैसे औद्योगिक विभाग में कर्मचारियों की नियुक्ति, वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करना, श्रमिकों के कार्यों की दशा निर्धारित करना आदि।

समय और सम्पत्ति का अपव्यय—समाजवादी व्यवस्था में समय और धन दोनों का अपव्यय होगा। एक पूंजीपति जो कार्य 10 आदमियों से आसानी से करवा सकता है, वही काम समाजवादी व्यवस्था में करने के लिये 30 40 आदमियों की आवश्यकता होगी। कार्य मन लगाकर न किये जाने के कारण अच्छा भी नहीं होगा और देर भी लगेगी तथा कार्यकुशलता में भी कमी आयेगी।

एक व्यवस्थित लूट—समाजवाद को कुछ आलोचक एक व्यवस्थित लूट मानते हैं। उनके विचार से इस व्यवस्था में एक व्यक्ति की जेब काटकर दूसरे की जेब भरी जाती है। डेविडसन की यही धारणा है। वह समाजवाद को एक संगठित लूट मानता है जिसमें धनिकों को गरीबों के बराबर करने के लिये उनका धन छीनकर एक योजनाबद्ध तरीके से गरीबों में बाँटा जायेगा जो लूट या डाकेजनी से कम नहीं है।

निष्कर्ष

यद्यपि समाजवाद की उपर्युक्त आलोचनायें बड़ी भयानक लगती हैं, तथापि आधुनिक परिस्थितियों में समाज के पुनर्निर्माण के लिये समाजवाद के अतिरिक्त अन्य

कोई विकल्प भी नही दिखायी देता। इसमे व्यक्ति को जागृत करने की भावना, उसे योग्यतानुसार साधन प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करने तथा आर्थिक व राजनीतिक समानता, स्वतन्त्रता और न्याय दिलाने की जो शक्ति विद्यमान है उसे झुठलाया नहीं जा सकता। यह व्यक्तित्व के दमन का नही, अपितु उसे साधक बनाने का साधन है।

लोक हितकारी राज्य का विचार
(The Concept of a Welfare State)

लोकहितकारी या लोककल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त राज्य के कार्यक्षेत्र का एक आधुनिक सिद्धान्त है। यह शब्द सामान्यत उस राज्य के लिए प्रयुक्त होता है जो अपने नागरिको के लिए केवल न्याय व सुरक्षा की व्यवस्था करके ही सन्तोष नहीं कर लेता, अपितु उनके कल्याण की अभिवृद्धि के लिये जीवन के सभी पक्षों के विकास पर ध्यान देता है। व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों को समाज के आधुनिक विकास और मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपर्याप्त समझकर इस सिद्धान्त का विकास हुआ है। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था के व्यापक व कठोर नियन्त्रण तथा व्यक्तिवादी समाज म पायी जाने वाली उच्छृखल स्वतन्त्रता के मध्य समझौते का यह एक साहसिक प्रयास है।

इस सिद्धान्त की जन्मभूमि इग्लैण्ड है और इसके जन्म का श्रेय लार्ड बीवरिज को दिया जा सकता है जिसने अपने प्रतिवेदन (1942) म देश म सामाजिक सुरक्षा की एक व्यापक योजना प्रस्तुत की थी। बीवरिज रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश ससद् ने 1946 म चार प्रमुख अधिनियम—राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम, राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, राष्ट्रीय सहायता अधिनियम तथा बाल अधिनियम—पारित किये, जिनके फलस्वरूप पहली बार विशिष्ट अर्थों म किसी लोकहितकारी राज्य की स्थापना हुई। यही कारण है कि समाज शास्त्र ज्ञान कोष (Encyclopaedia of Social Sciences) मे 1948 से पहले लोकहितकारी राज्य का कोई उल्लेख नही मिलता।

परिभाषाएँ

केण्ट के शब्दो म "लोकहितकारी राज्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है जो अपने नागरिकों के लिये विभिन्न प्रकार की व्यापक सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है। ये सेवायें कई रूप ले सकती हैं, वे शिक्षा, स्वास्थ्य, बेकारी, वृद्धावस्था में पेन्शन व अन्य कार्यों का प्रबन्ध करती हैं। उनका प्रारम्भिक उद्देश्य नागरिको को सुरक्षा प्रदान करना होता है।"[15]

समाज शास्त्र के ज्ञान-कोष म लोकहितकारी राज्य को ऐसा राज्य बताया गया है "जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझता है।"

डा अब्राहम के विचार से लोकहितकारी राज्य वह है 'जिसमे राज्य की शक्ति

15 T W Kent, *The Welfare State*, p 2

को जानबूझकर आर्थिक शक्तियों के प्रवाह की गति को इस प्रकार नियन्त्रित करने मे प्रयोग किया जाता है ताकि प्रत्येक नागरिक के लिये आय का अधिक से अधिक समान वितरण प्राप्त हो सके और उसे कम से कम वह आय मिल सके जो उसके काय करने की योग्यता तथा उसकी सम्पत्ति के बाजारू मूल्य के अनुपात से अधिक हो।"

डेडी चिनिमिनी के शब्दो मे "लोकहितकारी राज्य से तात्पय ऐसे राज्य से होता है जो अपने नागरिकों की तात्कालिक सामाजिक व आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है—मुख्यत पर्याप्त भोजन, कपडा और मकान।"[16]

लोकहितकारी राज्य के काय

कार्यों की दृष्टि से लोकहितकारी राज्य बहुत महत्त्वपूण है, क्योकि उसके काय ही यह निणय करते हैं कि राज्य को लोकहितकारी राज्य की श्रेणी मे रखा जा सकता है अथवा नही। लोकहितकारी राज्य से निम्नाकित कत्तव्यो के निभाने की आशा की जाती है—(1) सामाजिक सुरक्षा, (2) सामाजिक न्याय, (3) शिक्षा, (4) पूण रोजगार, (5) सावजनिक बीमा तथा (6) बच्चो की देखभाल। लोकहितकारी राज्य के इन कत्तव्यो का आधार केवल दो धारणाये हैं—"प्रथम तो यह मान्यता कि समुदाय का प्रत्येक सदस्य चूकि वह मानव है अत कम से कम न्यूनतम जीवन स्तर का तो अधिकारी है, दूसरे लोकहितकारी राज्य सावजनिक नीति द्वारा समर्थित सामाजिक लक्ष्यो मे सर्वोपरि पूण रोजगार प्रदान करने के लिये बाध्य है।"[17]

सामाजिक सुरक्षा—सामाजिक सुरक्षा एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तगत अनेक बातें आती हैं, किन्तु रोटी, कपडा और मकान उनम प्रमुख हैं। एक लोकहितकारी राज्य का यह प्रथम कत्तव्य है कि वह अपने नागरिका की रोटी, कपडा और मकान की समस्याओ को हल करे। वह उनके लिये कम से कम एक न्यूनतम आय की व्यवस्था करे जिससे ऐसे लोगो को जीवन सुरक्षा मिल सके जिन्ह अचानक विपत्ति या आकस्मिक आवश्यकताओ ने आ घेरा हो। वह अपने नागरिको के लिये इतनी मात्रा म रोटी, कपडा और मकान का प्रबन्ध कर दे जिससे उनका जीवन सम्भव हो सके और वे आवश्यक चिन्ताओ से मुक्त राष्ट्र के निर्माण म अपना योगदान कर सकें।

सामाजिक न्याय—एक लोकहितकारी राज्य अपने नागरिको को सामाजिक न्याय प्रदान करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। वह रूप, रग, जाति, लिंग, वण, धम आदि के आधार पर अपने नागरिको मे कोई भेदभाव नही करता। सबको समान राजनीतिक, नागरिक और सामाजिक अधिकार प्रदान करता है। यदि नागरिक समान योग्यता रखते हैं तो उन्हे समान रूप से सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है तथा उनके लिये समान वेतन की व्यवस्था होता है।

शिक्षा—शिक्षा लोकहितकारी राज्य का आधार स्तम्भ है। लोकहितकारी राज्य अपने नागरिको की सन्तानो के लिये एक निश्चित आयु तक अनिवाय शिक्षा की

---

16 Daddy M Chinimini, *Illustrated Weekly of India*, 11 June, 1961

17 Ebenstein, *Today s Isms*, p 179

व्यवस्था करता है। वह इस प्रकार की भी व्यवस्था करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने के लिये सभी आवश्यक साधन उपलब्ध हो सकें। इसके अतिरिक्त जहाँ सर्वाधिकारवादी राज्य विद्यार्थी के लिये यह निश्चित करते हैं कि उसे किस प्रकार की शिक्षा दी जाय वहां लोकहितकारी राज्य विद्यार्थी को अपनी रुचि के विषय चुनने की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

पूर्ण रोजगार—लोकहितकारी राज्य बेकारी अथवा बेरोजगारी को नष्ट करता है। वह ऐसी व्यवस्था करता है जिससे सभी काम कर सकने योग्य व्यक्तियों को रोजगार मिल सके। उन्हें व्यवसाय से लगाने अथवा नौकरी दिलाने का उत्तरदायित्व वह स्वयं वहन करता है। जब तक राज्य किसी व्यक्ति को रोजगार नहीं दिला पाता तब तक वह नागरिकों को जीवनयापन के लिये नियमित रूप से कुछ आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इंगलण्ड मे सहायता की यह राशि प्रति व्यक्ति एक पौण्ड छः शिलिंग प्रति सप्ताह है।

सार्वजनिक बीमा—लोकहितकारी राज्य दुर्घटना अथवा विपत्तियों का शिकार होने वाले नागरिकों तथा उन पर आश्रित लोगों के लिये सार्वजनिक बीमे की व्यवस्था करता है। अनाथ और जरूरतमन्द लोग इस योजना से लाभ उठा सकते हैं। नागरिकों को बीमारी अथवा बुढ़ापे के भय से यह योजना छुटकारा दिलाती है।

बच्चों की देखभाल—अन्त में, लोकहितकारी राज्य बच्चों के देखभाल की जिम्मेदारी भी लेता है। बच्चे राष्ट्र के कर्णधार होते हैं। वे राष्ट्र की भावी आशायें होते हैं। बच्चे के सही रूप मे विकास का उत्तरदायित्व लेकर लोकहितकारी राज्य अन्ततोगत्वा अपने भविष्य को सुरक्षित रखता है। वह बच्चों के विकास के लिये सभी आवश्यक साधन जुटाता है। इंगलण्ड में प्रत्येक माता को बच्चे के कल्याण के लिये सहायता के तौर पर दस शिलिंग प्रति सप्ताह मिलते रहे हैं।

लोकहितकारी राज्य की समस्याएँ
(Problems of a Welfare State)

लोकहितकारी राज्य का निर्माण सरल काम नहीं है। इसके मार्ग में अनेक संकट व समस्यायें उपस्थित रहती हैं।

आर्थिक साधनों की समस्या—सबसे पहली समस्या आर्थिक साधनों की है। लोकहितकारी राज्य निःशुल्क शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, बीमा आदि की सुविधायें देता है जिसके लिये विशाल धनराशि की आवश्यकता होती है। गरीब देश जिनके नागरिकों को इन सेवाओं की सर्वाधिक आवश्यकता होती है आर्थिक साधनों के अभाव में लोकहितकारी राज्य स्थापित नहीं कर सकते।

स्वेच्छाचारी शासन को बढ़ावा—लोकहितकारी राज्य में कार्यक्षेत्र का विस्तार हो जाने के कारण अधिक शासनाधिकारियों और कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है जिससे नौकरशाही में पाये जाने वाले दोषों को बढ़ावा मिलता है। अनेक देशों में नौकरशाही अयोग्य, भ्रष्ट और सत्ता लोलुप है जिससे जनता के कल्याण का आदर्श

फलीभूत नही हो पाता। हॉबमैन ने लिखा है कि "लोकहितकारी राज्य मे थोड़े-थोड़े अधिकार प्राप्त अफसरो की अधिकता होती है और बहुधा उनका दृष्टिकोण पूर्णत विभागीय हो जाता है।"

स्वतन्त्रता व नैतिक गुणों का ह्रास—लोकहितकारी राज्य जनता के आत्मबल को गिराता है। जब व्यक्ति की हर परेशानी राज्य की परेशानी बन जाय तथा हर वस्तु बनी बनाई व सुगमता से मिलने लगे तो यह असम्भव नही कि व्यक्ति के उद्यम करने की शक्ति ही क्षीण हो जाय और वह सभी वस्तुओ की प्राप्ति के लिये राज्य पर निर्भर रहने लगे। इसके अतिरिक्त राज्य जितना अधिक नागरिको के लिये करता है उतना ही अधिक वह उनके व्यक्तिगत जीवन मे प्रवेश पा जाता है, तथा निजी जीवन म जितना अधिक राज्य का हस्तक्षेप बढ जाता है उतनी ही मात्रा मे स्वतन्त्रता घटने लगती है। लोकहितकारी राज्य में यह पूरी सम्भावना है कि व्यक्ति अपना निजत्व खो दे और आलस्य तथा बौद्धिक दासता का शिकार हो जाय।

दलगत राजनीति का कुप्रभाव—लोकहितकारी राज्य और जनतन्त्र साथ-साथ चलते हैं। अत दलगत राजनीति के सभी सकट और दोष लोकहितकारी राज्य म पाये जाते हैं। नागरिक को राज्य या दल का स्थायी गुलाम बनना पडता है और उसका नागरिक व सास्कृतिक जीवन पूरी तरह उनके अधीन हो जाता है।

लोकहितकारी राज्य का विचार और भारत

वर्तमान युग म इगलैण्ड के अतिरिक्त स्वीडन, न्यूजीलण्ड, आस्ट्रेलिया व इजराइल लोकहितकारी राज्य के अच्छे उदाहरण हैं। हमारे देश मे भी स्वतन्त्रता के उपरान्त सत्ताधारी काग्रेस दल ने अपने अजमेर तथा नासिक अधिवेशन (1954) मे लोकहितकारी राज्य की स्थापना अपना लक्ष्य घोषित किया था। यद्यपि सविधान की भूमिका अथवा नीति निर्देशक तत्वो म कही पर भी देश मे लोकहितकारी राज्य की स्थापना का उल्लेख नही है, तथापि अनेक नेता और विद्वान् बार बार यह दुहराते रहे हैं कि देश मे लोकहितकारी राज्य की स्थापना का प्रयास किया जा रहा है। अपने मत के समर्थन म वे सविधान की भूमिका तथा देश मे लागू की गयी पचवर्षीय योजनाओ व उनकी उपलब्धियों का हवाला देते हैं। सविधान म निहित मूलाधिकारो के क्रियान्वयन और श्रम विधियो का उल्लेख भी इसके समर्थन मे किया जाता है। यह भी बताया जाता है कि धन के केन्द्रीकरण को रोकने के लिये सरकार ठोस कदम उठा रही है। बेरोजगारी को मिटाने के प्रयास जारी हैं। श्रमिकों को बुढ़ापा, रोग, दुर्घटना आदि से सुरक्षा प्रदान करने के लिये योजनायें बनी हैं—जैसे, राज्य बीमा अधिनियम, कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम, न्यूनतम वेतन अधिनियम आदि। लगभग प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री व पुरुष को समान कार्य के लिये समान वेतन दिया जा रहा है। प्रत्येक राज्य मे चौदह वर्ष तक के बच्चो को निःशुल्क शिक्षा दिलाने की दिशा म प्रयास चल रहे हैं। मकानों की समस्या को सुलझाने के लिये अनेक गृह-योजनायें (Housing Schemes) लागू की गयी है। सार्वजनिक स्वास्थ्य योजनायें भी चल रही हैं। मलेरिया और प्लेग जैसे भयानक

की रोकथाम की जा चुकी है। चेचक, तपेदिक, कोढ आदि के नियन्त्रण के लिए अनेक योजनाएँ चालू हैं। देश की औसत आयु बढ़ी है। जमींदारी का उन्मूलन कर दिया गया है और अनेक राज्यों में भूमि कर की प्रथा भी समाप्त कर दी गयी है।

परन्तु भारत का एक लोकहितकारी राज्य बनाना सरल कार्य नहीं है। देश में जनसंख्या बढ़ते-बढ़ते 80 करोड़ हो गयी है। प्रशासनिक दशायें बहुत दोषपूर्ण हैं। भाई भतीजावाद और भ्रष्टाचार का सर्वत्र बोलबाला है। लोगों में इतनी चारित्रिक गिरावट और उत्तरदायित्वहीनता है कि यदि यहाँ सरकार बेरोजगार व्यक्तियों को भत्ता देना शुरू कर दे तो अनेक व्यक्ति जिन्दगी में काम करने की अपेक्षा भत्ते पर ही गुजारा करने का निश्चय कर लेंगे। खाद्यान्न व अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन कई गुना बढ़ा है, लेकिन उनकी कीमतें भी गिरने की अपेक्षा बढ़ती चली गयी हैं। उच्च शिक्षा निर्धन व ग्रामीण के लिये स्वप्न है। बेरोजगारों की संख्या घटने की अपेक्षा बढ़ती जा रही है। विकास कार्यों में अनुमानित प्रगति नहीं हुई है। लोकहितकारी राज्य के नागरिकों को अपने शिक्षा, रोजगार आदि के अधिकार प्राप्त करने के लिये जो कर्त्तव्य निभाने चाहियें—जैसे, राज्य के प्रति निष्ठा, आज्ञापालन, समय पर करों की अदायगी, करों की चोरी न करना, मताधिकार का उचित उपयोग, सार्वजनिक कार्यों के लिये तत्परता आदि—वे नागरिकों द्वारा ईमानदारी से निभाये ही नहीं जा रहे। फलस्वरूप देश का ढाँचा चरमरा रहा है और जीवन स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है। ऐसी दशा में तथा आर्थिक साधनों के भयानक अभाव में इस देश में लोकहितकारी राज्य की स्थापना कैसे हो सकती है—समझ में नहीं आता।

इसके अतिरिक्त देश में लोकहितकारी राज्य की स्थापना सरकार का उत्तरदायित्व है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आजादी से लेकर अब तक केन्द्र में सत्तारूढ़ है। प्रारम्भिक वर्षों में तो इसने देश में लोकहितकारी राज्य स्थापित करने का नारा दिया था, लेकिन अब तो यह स्वयं अपने उस मार्ग से हट गयी है। 1955 के अवाडी अधिवेशन में इसने समाजवादी व्यवस्था पर आधारित समाजवाद की स्थापना अपना लक्ष्य बताया और 1962 के भुवनेश्वर अधिवेशन से निरन्तर जनतान्त्रिक समाजवाद की रट लगाये है। ऐसी अवस्था में भारत में लोकहितकारी राज्य की स्थापना की बात सोचना एक मृग मरीचिका है।

संक्षेप, में अपने विशिष्ट अर्थों में भारत एक लोकहितकारी राज्य नहीं है और न भविष्य में इसके लोकहितकारी राज्य बनने की सम्भावना ही है। लोकहित में किये जाने वाले इसके कार्यों को देखकर अधिक से अधिक इसे सामान्य अर्थों में लोकहितकारी राज्य कहा जा सकता है, लेकिन इस अर्थ में तो दुनिया के लगभग सभी देश लोकहितकारी राज्य की श्रेणी में आ जायेंगे।

राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमायें

राज्य के उद्देश्य, कार्य तथा कार्यक्षेत्र के आधारभूत सिद्धान्तों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट उभर कर आती है कि मानव जीवन के कुछ पक्ष ऐसे हैं जिन पर शासकीय

सभ्य राज्य अतिक्रमण नही करता। इन्हे हम राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमाओ के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे।

नैतिकता—नैतिकता का निर्धारण एक विवाद की वस्तु हो सकता है, लेकिन उन नियमो और सिद्धान्तो को जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्त करण से होता है—राज्य अपने कार्यक्षेत्र के बाहर रखता है। नैतिकता सदव व्यक्तिगत होती है। राज्य मनुष्य को नैतिक बनने के लिये बाध्य नही कर सकता। राज्य द्वारा निर्धारित नैतिकता वास्तविक नही होती। मकाइवर लिखता है कि "कानून नतिकता को निर्देश नहीं दे सकता, वह अधिक से अधिक बाहरी क्रियाओ को आदेश दे सकता ह, अत राज्य को केवल उन क्रियाओ की आज्ञा देनी चाहियें जिनके पीछे समाज कल्याण की भावना हो। सभी नैतिक आदेशों को वधानिक आदेशो मे बदलना नैतिकता का विनाश होगा।"[18]

स्वतन्त्र विचार शक्ति—राज्य मनुष्य के सोचने और विचार करने की शक्ति पर अपना नियन्त्रण स्थापित नही कर सकता तथा राज्य को ऐसा करना भी नही चाहिये। क्योकि यदि व्यक्तियो की इस शक्ति को कुचला गया तो वे वास्तविक नागरिक ही नही रहेंगे और इससे समाज का विकास रुक जायेगा। कुछ राज्यो ने प्रक्षालन (brain washing) करके अपने नागरिको के विचारो को एक दिशा देने का प्रयास किया है, राज्य के हित की दृष्टि से ऐसा हो सकता है, परन्तु सोचने विचारने की शक्ति को कुंठित करना, प्रथम तो राज्य की सीमा से परे है और दूसरे इससे भीषण परिणामो की सम्भावना है।

रीति रिवाज—रीति रिवाज या प्रथाओ को बनाने व मिटाने की शक्ति भी राज्य के बाहर है। रीति रिवाजो के पीछे समाज की इच्छाओ की शक्ति होती है, उनके बदलने की कोशिशें राज्य के अस्तित्व के लिये गम्भीर चुनौतियाँ बन जाती हैं। इतिहास बताता है कि अत्यधिक निरकुश शासक भी राज्य के रीति रिवाजो के परिवतन मे सफल नहीं हुए। मकाइवर ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि, "यदि रीति रिवाजों को चोट पहुँचाई जाय तो वे भी कानूनों को उल्टी चोट पहुचाते हैं—किसी एक कानून मात्र को नहीं, अपितु कानून पालन की भावना को भी, और जो सबसे महत्त्वपूण है उस सामान्य इच्छा के ऐक्य को भी।"[19]

फशन—रीति रिवाज ही नही, फैशन पर भी राज्य का बस नही चलता। बड़े बालो का फैशन जो अमरीका मे हिप्पीवाद की देन है, भारत ही नहीं सोवियत सघ जैसे देशो मे भी चल पडा है जहाँ सामाजिक आचरण मे बहुत समानता पायी जाती है। प्रो० मैकाइवर ने इस विषय मे लिखा है कि "लोग उन फैशनों का बड़े उत्साह से अनुकरण करते हैं जिनकी घोषणा एक सीमित वग द्वारा लन्दन, पेरिस तथा न्यूयार्क के अज्ञात स्थानों मे होती ह। यदि राज्य इतने महत्त्वपूण परिवतनों की घोषणा स्वय करे, तो यह एक पाशविक क्रूरता होगी, जिसका परिणाम क्रान्ति हो सकती है।"[20]

18 MacIver, *The Modern State* p 156
19 MacIver, *op cit*, p 161
20 *Ibid*

संस्कृति—संस्कृति को भी राज्य के कार्यक्षेत्र के बाहर माना जाता है। इसे व्यक्तियों की आत्मा या विशेष युग की अभिव्यक्ति बताया गया है। राज्य केवल इसे प्रतिबिम्बित करता है, इसे बनाता नहीं।[21] लेकिन आधुनिक समाजशास्त्रीय खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि राज्य के कानूनों का संस्कृति और यहां तक कि प्रथाओं पर भी प्रभाव पड़ने लगा है और उन्हें देखा जा सकता है।[22]

धर्म—समाज में अधिकांश लोग किसी न किसी प्रकार के धर्म में आस्था रखते हैं। धर्म के प्रति कुछ लोगों का इतना दृढ़ लगाव होता है कि वे उसकी रक्षा के लिये मरने मारने को तैयार हो जाते हैं। यही कारण है कि धर्म की निष्ठा तथा राज्य शक्ति में विरोध उत्पन्न करने वाली परिस्थितियां समाज में सदैव विद्यमान रही हैं। यदि राज्य किसी धर्म विशेष का समर्थन या पालन करता है तो दूसरे धर्म वाले उसके इरादों के प्रति शंकित हो जाते हैं। इसलिये धर्म के क्षेत्र में राज्य के लिये सावधानी बरतना आवश्यक हो जाता है। आधुनिक राजनीति शास्त्र वेत्ताओं की राय है कि धर्म का क्षेत्र राज्य की परिधि से बाहर है। राज्य को धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

प्राचीन व मध्ययुग में धर्म के प्रति ऐसी धारणा नहीं थी। हिन्दू शास्त्रों व स्मृतियों में तो धर्म का पालन करना तथा उसे लागू करना राज्य का मुख्य कर्त्तव्य बताया गया है। ब्लेकस्टोन की मान्यता थी कि धर्म पर ही मनुष्य कृत कानून टिके हुए हैं अतः कानूनों को धार्मिक नियमों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। संत थॉमस एक्विनास की भी यही धारणा थी कि मनुष्यकृत नियमों का आधार व कसौटी ईश्वरकृत नियम हैं। प्रोटेस्टैण्ट विचारक भी ऐसा ही मत रखते थे।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने इस धारणा को बदल दिया है। लोगों को धर्म और राज्य दोनों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान हो गया है। राजनीति में धर्म और धर्म में राज्य के हस्तक्षेप के कितने गम्भीर परिणाम हो सकते हैं ये यूरोप के धर्म युद्धों और भारत में औरंगजेब आदि शासकों के इतिहास से स्पष्ट हैं। यूरोप के देशों का राष्ट्रीय राज्यों के रूप में गठन तभी हुआ जब उन्होंने धर्म के क्षेत्र में सहिष्णुता की नीति अपनायी। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता ने जहां मुगल साम्राज्य को दृढ़ बनाया वहां औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ने उसकी जड़ों को खोखला करके उसके पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। डा० लंका सुन्दरम ने इस विषय में लिखा है कि 'यदि विश्व इतिहास स्थायी महत्त्व का कोई पाठ पढ़ाता है तो वह यह है कि यदि धर्म को जीवित रखना है और यदि राजनीति किसी जनसमुदाय के न्यायोचित अधिकारों को बनाये रखना चाहती है तथा उसे सुदृढ़ व प्रतिष्ठित बनाना चाहती है तो धर्म को राजनीति से नहीं मिलाना चाहिये।"[23]

लगभग सभी प्रगतिशील राज्यों ने अब धर्म के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप न

---

21 *Ibid* p 162

22 Pennock and Smith *Political Science An Introduction* pp 121 2

23 Lanka Sundaram, *A Secular State for India*, p 2

करने की नीति को स्वीकार कर लिया है। इसे हम धर्मनिरपेक्षता के नाम से पुकारते हैं और जो राज्य इस नीति का अनुसरण करता है उसे धर्मनिरपेक्ष राज्य कहते हैं।

धर्मनिरपेक्ष राज्य का सिद्धांत
(The Concept of a Secular State)

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि धर्म को राज्य से पृथक मानने वाली नीति को हम धर्म निरपेक्षता कहते हैं, धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ हुआ वह राज्य जो अपनी ओर से न तो किसी विशेष धर्म को मान्यता दे अथवा विरोध करे, अपितु सभी धर्मों को समान मानते हुए अपने नागरिकों को बिना किसी भेद भाव के अपने अपने धर्मों का पालन करने व प्रचार करने की पूरी सुविधा व स्वतंत्रता दे।

'धर्मनिरपेक्ष' (सेक्युलर) लेटिन भाषा के शब्द secular से बना है जिसका अर्थ उस भाषा में 'सांसारिक' होता है। वाक्य विन्यास की दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ हुआ वह राज्य जो व्यक्तियों के जीवन को अच्छा बनाने के लिये सभी सांसारिक अथवा लौकिक साधन जुटाए। उसके सम्बन्ध, इस प्रकार, सांसारिक या लौकिक होने चाहियें, पारलौकिक नहीं। राज्य को केवल सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक पक्षों में सम्बन्ध रखना चाहिए, उसे धर्म के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिये।

परिभाषायें

प्रो० डोनाल्ड स्मिथ के अनुसार "धर्मनिरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जिसके अन्तर्गत धर्म विषयक व्यक्तिगत व सामूहिक स्वतन्त्रता सुरक्षित होती है। जो व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय धर्म को बीच में नहीं लाता, जो संवैधानिक रूप से किसी धर्म से सम्बन्धित नहीं है और न किसी धर्म की उन्नति की चेष्टा करता है और न ही किसी धर्म के मामले में हस्तक्षेप करता है।"

लक्ष्मीकान्त मेहता के शब्दों में "धर्मनिरपेक्ष राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो धर्म अथवा जाति के आधार पर किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध भेदभाव नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि राज्य की ओर से किसी भी विशिष्ट धर्म को मान्यता प्राप्त नहीं होगी।"

वेंकटरमन के शब्दों में धर्मनिरपेक्ष राज्य "न धार्मिक होता है, न धर्म विरोधी। यह धार्मिक क्रियाओं तथा मत मतान्तरों से परे और इस प्रकार धार्मिक विषयों में तटस्थ रहता है।"

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के विचार से धर्मनिरपेक्ष राज्य का "अर्थ यही है कि राज्य किसी भी धर्म को न निरुत्साहित करेगा और न उसका विरोध करेगा। इसका धर्म और विचारों के प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण होगा। ऐसा राज्य इस बात को मानने से इन्कार करता है कि विभिन्न धर्म विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण करते हैं अथवा राज्य का कोई विशेष धर्म होना चाहिये।'

विशेषताएँ
(Characteristics)

धार्मिक तटस्थता—धमनिरपेक्ष राज्य धम के क्षेत्र म तटस्थ रहता है। यह न तो किसी धम का समथन करता है और न किसी का विरोध। इसका अथ यह नही कि यह धम विरोधी अथवा नास्तिक होता है। धम के क्षेत्र म तटस्थ रहते हुए यह उच्चादर्शों व नैतिक नियमो की साधना करता है। हरिविष्णु कामथ ने ठीक लिखा है कि "एक धम निरपेक्ष राज्य न तो परमात्मारहित राज्य होता है न धम रहित और न धमविरोधी।"

धम राज्य से पथक—धमनिरपेक्ष राज्य धम को व्यक्ति के जीवन से सम्बधित मानते हुए भी अपने कायक्षेत्र से बाहर की वस्तु मानता है। डोनाल्ड स्मिथ ने निम्नाकित त्रिभुज द्वारा इस स्थिति को समझाया है

धर्म और राज्य पृथक होते हुए भी शीषस्थ व्यक्ति से सम्बधित हैं। एक से उसे नागरिक अधिकारो की अपेक्षा है तो दूसरे क्षेत्र मे वह पूण स्वतन्त्रता की आशा करता है।

व्यक्ति

स्वतनता

नागरिक अधिकार

धम पृथक्ता राज्य

गर सर्वाधिकारवादी—धम निरपेक्ष राज्य सर्वाधिकारवादी नही होता, क्योकि यह व्यक्ति की धम के क्षेत्र म पूण स्वतन्त्रता की स्वीकारोक्ति है। यह सिद्धात इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य का अधिकार व कायक्षेत्र असीमित न होकर प्रतिबधित है। धमनिरपेक्ष राज्य इस मत को नही मानता कि राज्य व्यक्ति के जीवन पर छाया रहे, क्योकि इसम उस व्यक्तित्व के विकास को कुठित होने की सम्भावना दिखायी देती है।

बहुजातीयता पर आधारित—धमनिरपेक्ष राज्य धार्मिक विभिन्नता को स्वीकार करता है तथा विभिन्न धर्मों के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाकर उन्हे अपने रास का समुचित अवसर प्रदान करता है। एस देशो म जहाँ अनेक धम, सम्प्रदाय व

जाति वाले लोग रहते हो धमनिरपेक्ष राज्य का ग्रादश राष्ट्रीय एकता बनाए रखने मे सहायक होता है।

धम के क्षेत्र मे ग्रात्मनिणय का समथक—धमनिरपेक्ष राज्य धार्मिक मामलो मे लोकतान्त्रिक दष्टिकोण ग्रपनाता है। वह सभी धर्मों को समान समझता है। सभी को प्रचार व प्रसार की पूरी स्वतन्त्रता देता है, बशर्ते वह स्वतन्त्रता राष्ट्र की शान्ति और व्यवस्था म बाधक न बने। इसके ग्रन्तगत प्रत्येक नागरिक को यह स्वतन्त्रता है कि वह जिस धम को चाहे ग्रगीकर करे ग्रथवा छोडे। उसे यह भी ग्राजादी है कि वह धम को माने या न माने। इस तरह धम निरपेक्षवाद धम के क्षेत्र मे व्यक्ति के आत्मनिणय के सिद्धान्त को मानता है।

धमनिरपेक्ष राज्य का उदाहरण भारत

धमनिरपेक्ष राज्य के ग्रादश का ग्राधुनिक राज्यो पर बडा प्रभाव पडा है। सभी पश्चिम यूरोपीय तथा लेटिन ग्रमरीकी देश जो कभी धार्मिक कट्टरता की नीति ग्रपनाते थे ग्राज ग्रपने नागरिको के साथ धम के ग्राधार पर कोई भेदभाव नही करते। राज्य की ग्रोर से सभी लोगो को विश्वास, ग्रभिव्यक्ति ग्रौर उपासना की स्वतन्त्रता प्राप्त है। साम्यवादी देशो मे भी यद्यपि उपासना ग्रादि की स्वतन्त्रता नागरिका को मिली हुई है, तथापि सरकार धम का समाज विरोधी मानती है तथा उसकी प्रगति मे कोई योगदान नही करती। भारत धमनिरपेक्ष राज्य का एक उत्तम उदाहरण है। यहाँ हम सैद्धान्तिक ग्रौर व्यावहारिक रूप म भारत की धमनिरपेक्षता का ग्रध्ययन करेंगे।

यह कहा जाता है कि हमारे सविधान निर्माता धमनिरपेक्ष राज्य के ग्रादश से बहुत प्रभावित तथा भारत म वे ऐसे राज्य के निर्माण के लिये उत्सुक थे, लेकिन वर्तमान भारतीय सविधान मे एक भी उपबन्ध ऐसा नही है जो इस बात की ग्रोर सकेत करता हो कि भारत एक धमनिरपेक्ष राज्य होगा। सविधान सभा के कुछ सदस्यो ने प्रयास भी किया कि देश के सविधान मे धमनिरपेक्ष शब्द को स्थान दिया जाय लेकिन उद्देश्य प्रस्ताव (Objective Resolution) मे भी इस शब्द को स्थान नही मिला। फिर भी सविधान के उपबन्धों तथा सरकार की नीतिया व स्वातन्त्र्योत्तर काल के भारतीय इतिहास को देखते हुय कहा जा सकता है कि भारत एक धमनिरपेक्ष राज्य है। श्री छागला ने इस विषय मे लिखा है कि "हमारे सविधान का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह एक धमनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है। हमारा कोई राज्य धम नहीं है तथा हमारे देश मे सभी धर्मों के साथ समानता का व्यवहार होता है। ग्रात्मा की स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र ग्रभिव्यक्ति, व्यवहार व धम के प्रचार की गारण्टी दी गयी है ग्रौर श्रेष्ठ से लेकर निम्नतम पद तक प्रत्येक समुदाय के सभी सदस्यो के लिये खुले हैं। भाषा के ग्राधार पर भी किसी के साथ पक्षपात न हो इसका भी समान रूप मे ख्याल रखा जाता है। भारत विभिन्न धर्मों ग्रौर भाषाग्रो वाला देश है तथा इसकी ग्रनेक सस्कृतियो को बाह्य विभिन्नताग्रो के बावजूद एकता का सुनहरा धागा बाँधे हुये है।"[24]

24 M C Chagla, *The Individual and the State*, p 38

सविधान की प्रस्तावना मूलाधिकारों तथा नीतिनिर्देशक तत्वों मे धर्मनिपेक्षता की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। प्रस्तावना म लिखा है कि "सभी नागरिको को विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म व उपासना की स्वतन्त्रता" प्राप्त कराने का प्रयास किया जायेगा। ससद् ने 1955 म जो भारतीय नागरिकता अधिनियम पारित किया उसम जाति, धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर नागरिकता की शर्तों मे कोई भेद नही किया।

मूलाधिकारो और नीति निर्देशक तत्वों म भी धर्मनिरपेक्षता की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अनुच्छेद 15 1 मे लिखा है कि "राज्य धर्म के आधार पर नागरिको मे भेदभाव नही करेगा। किसी भी व्यक्ति को धर्म के आधार पर किसी सावजनिक स्थान म प्रवेश के लिये रोका नही जायेगा (15 2)। "धर्म के आधार पर किसी नागरिक के लिये सरकारी नौकरी या पद के लिये अयोग्यता नही होगी' (16)। "सावजनिक हित म राज्य द्वारा आवश्यक सेवा के लिये धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा' (23)। "शैक्षणिक सस्थायें जो राज्य से पूर्ण या आशिक अनुदान प्राप्त करती है (उनम) धर्म के आधार पर प्रवेश निषेध नहीं किया जा सकता' (29) साथ ही अनुदान देते समय "राज्य धर्म या भाषा के आधार पर कोई भेदभाव नही करेगा' (30 2)। अनुच्छेद 17 के अन्तगत छुआछूत को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है तथा अनुच्छेद 25 के अधीन व्यक्ति को किसी भी धर्म को मानने व उसका प्रचार करने की छूट है।

सामाजिक कल्याण व एकता की दृष्टि से इन स्वतन्त्रताओ पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने की भी व्यवस्था है, लेकिन ये प्रतिब ध धर्मनिरपेक्षता मे बाधक नही हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इन प्रतिबन्धो के कारण ही अपने देश मे धर्मनिरपेक्षता को सही रूप म लागू किया जा सका है।

व्यवहार मे भारत मे न तो सरकार ने किसी धर्म को प्रोत्साहित किया है न निरुत्साहित। हिन्दू बहुल राष्ट्र होते हुए भी उसने अन्य सभी धर्मों का केवल सम्मान ही नही किया है, अपितु उनके विकास मे शासकीय व वित्तीय सहायता भी दी है। उदाहरण के लिए 1956 मे दिल्ली मे आयोजित बौद्ध धर्म सम्मेलन तथा 1964 मे बम्बई म आयोजित ईसाई सम्मेलन को सफल बनाने के लिए सरकार ने न केवल पर्याप्त सहायता दी वरन प्रशासनिक सहयोग भी प्रदान किया। अजमेर (राजस्थान) म प्रतिवर्ष होने वाले ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के उर्स मे सरकार मेले से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण व्यवस्थायें करती है।

इससे स्पष्ट है कि भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य का एक अच्छा उदाहरण है, जो केवल मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो की ही देखभाल करता है उसे धर्म अथवा मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धो से कोई मतलब नही है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य आलोचनात्मक मूल्याकन

धर्मनिरपेक्ष राज्य की निम्नांकित चार आधारो पर आलोचना की जाती है —

(1) इसमे व्यक्ति के नैतिक हितों की प्राप्ति नहीं हो पाती।

(2) यह सिद्धान्त राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है।

(3) धर्मनिरपेक्ष राज्य लोककल्याणकारी नहीं हो सकता।

(4) धर्मनिरपेक्ष राज्य सरलता से तानाशाही का रूप ग्रहण कर सकता है।

प्रथम तर्क के समर्थक डा पुन्ताम्बेकर हैं जो इस राज्य को अति भौतिकवादी मानते हैं। उनके विचार से धर्मनिरपेक्ष राज्य में नैतिक मूल्यों के विकास की सम्भावना नहीं है। परन्तु डा पुन्ताम्बेकर यह भूल जाते हैं कि नैतिक व आध्यात्मिक हितों की प्राप्ति अन्य सभी व्यवस्थाओं की तुलना में सर्वाधिकारवादी राज्य में ही अधिक सम्भव है, क्योंकि राज्य स्वयं कोई धर्म या नैतिकता आरोपित नहीं करता। दूसरे, नैतिकता का सम्बन्ध राज्य के पारलौकिक चरित्र की अपेक्षा आर्थिक परिस्थितियों से होता है। जिस अनुपात में समाज की आर्थिक दशा सुधरती जाती है उसी अनुपात में नागरिकों का नैतिक उत्थान होता जाता है।

दूसरे तर्क के आलोचक धर्म को राष्ट्रीय एकता के लिये आवश्यक मानकर एक बड़ी भूल करते हैं। धर्म के आधार पर स्थापित राष्ट्रीय एकता के कुपरिणाम अभी तक यूरोप व मध्य पूर्व भोग रहा है। अनेक धर्मों वाले राज्य में धर्मनिरपेक्षता राष्ट्रीय एकता की सबसे बड़ी कड़ी सिद्ध हुई है। भारत का उदाहरण सामने है।

तीसरे वर्ग के आलोचकों की यह मान्यता कि धर्मनिरपेक्ष राज्य लोकहितकारी नहीं हो सकता, भ्रान्तियों तथा लोकहितकारी राज्य की गलत धारणाओं पर टिकी है। लोकहितकारी राज्य का सिद्धान्त राज्य के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कार्यों का सिद्धान्त है, इसे धर्म से क्या लेना देना? लगता है आलोचकों ने यह तर्क या तो अज्ञान के कारण अथवा 'तर्क के लिए तर्क' के उद्देश्य से ढूंढ लिया है।

अन्त में, धर्मनिरपेक्षवाद में सत्तावाद की आशंका ढूंढना अंधेरे में लट्ठ मारना है। न तो यह तर्क इतिहास से सिद्ध होता है और न स्वविवेक से। देखने में आया है कि धर्मावलम्बी (Theocratic) राज्य ही अधिनायकवादी होते हैं धर्मनिरपेक्षता तो जनतन्त्र की आधारभूत विशेषता, सहिष्णुता, का प्रथम लक्षण है। इतिहास बताता है कि धर्मप्रधान राष्ट्रों ने ही झूठी राष्ट्रीयता की भावना को भड़का कर जनता का शोषण किया है और अल्पसंख्यकों पर अत्याचार किये हैं।

अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। न तो इसके प्रयोग से समाज के नैतिक मूल्यों में गिरावट आयेगी, न किसी देश की राष्ट्रीय एकता खण्डित हो जायेगी, और न ही इससे देश में फासीवादी या सर्वाधिकारवादी शक्तियों का उदय होगा। धर्मनिरपेक्ष राज्य आधुनिक युग का आदर्श ही नहीं, अपितु आवश्यकता भी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 राज्य के लक्ष्यों का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन कीजिए। (दिल्ली ¹

2 कल्याणकारी राज्य का अर्थ और उसकी विशेषताएँ बताइए।

अथवा

लोकहितकारी राज्य की धारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
(कानपुर 1969, 70, आगरा 1966, 67, गोरखपुर 1966, 68, जोधपुर 1968)

3 आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्यों की व्याख्या कीजिए और इस सम्बन्ध में लोककल्याणकारी राज्य की कल्पना का महत्व बताइए।
(आगरा 1965, कानपुर 1971)

4 राज्य के कार्यों के विषय में व्यक्तिवादियों और समाजवादियों के विचारों का संक्षिप्त निरूपण कीजिए। आपके मतानुसार राज्य के कार्यों की क्या सीमा होनी चाहिए? (आगरा 1968)

5 राज्य के कार्यों के मुख्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।
(जोधपुर 1968)

6 "वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।"—यह कथन राज्य के कार्यक्षेत्र की किस सीमा तक सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत करता है? (गोरखपुर 1967, उदयपुर 1970)

7 राज्य के कार्यक्षेत्र के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।

अथवा

"व्यक्तिवादी विचारधारा असत्य मान्यताओं पर आधारित है।"—इस सिद्धान्त के तर्कों की समीक्षा कीजिए।
(राजस्थान 1963, 1967, लखनऊ 1965, 67 69, गोरखपुर 1965, 1969, राजस्थान 1961, 1975)

8 राज्य के अनिवार्य व वैकल्पिक कार्यों में आप किस प्रकार भेद करोगे? क्या आधुनिक युग में इस भेद का कोई मूल्य है? (विक्रम 1961)

9 राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में समाजवादी दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए। (लखनऊ 1966)

10 'राज्य एक आवश्यक बुराई है," "राज्य एक निश्चित अच्छाई है'—आप इनमें से किस विचार से सहमत हैं और क्यों? (गोरखपुर 1961)

11 समाजवादियों के अनुसार आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए और समाजवादी राज्य तथा लोककल्याणकारी राज्य में भेद बताइए।
(कानपुर 1968)

12 लोककल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं? इस प्रकार के राज्य द्वारा कौन से कार्य किए जाने चाहिएँ?
(राजस्थान 1962, 1977, विक्रम 1967, गोरखपुर 1963)

13 लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अपने नागरिकों को प्रदत्त अधिकारों का वर्णन कीजिए और इन अधिकारों से सम्बन्धित कर्त्तव्य भी बताईये।
(राजस्थान 1963)

14 'प्रत्येक राज्य की पहचान उसके द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों से होती है।' व्याख्या कीजिए। लोककल्याणकारी राज्य के लिये किन अधिकारों की गारंटी आवश्यक है ?

15 धर्मनिरपेक्ष राज्य पर टिप्पणी लिखिए।
(जोधपुर 1965, राजस्थान 1967, 68, 1972, 74, 1975, कानपुर 1969)

16 भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य में अल्पसंख्यकों के अधिकार और कर्त्तव्यों का वर्णन कीजिए। (जोधपुर 1 63)

17 'आधुनिक राज्य लोककल्याणकारी राज्य है।' इस कथन को ध्यान में रखते हुए लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख गतिविधियों (कार्यों) का विवेचन कीजिए तथा यह समझाइये कि क्या भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य है।
(राजस्थान 1979)

18 आप किन आधारों पर राज्य के कार्यों को सीमित करना पसन्द करेंगे ?
(राजस्थान 1980)

— o —

अध्याय १०

सम्प्रभुता और बहुलवाद
(Sovereignty and Pluralism)

"जहाँ इसका (सम्प्रभुता का) वास होता है उस स्थल पर अंगुली रखना बड़ा मुश्किल है लेकिन यह कहीं न कहीं सदैव विद्यमान रहता है।'

—गानर

सम्प्रभुता, जिसे प्रभुता या प्रभुसत्ता भी कहते हैं, अंग्रेजी के सॉवरेन्टी (Sovereignty) का हिन्दी रूपान्तर है जो लैटिन भाषा के शब्द सुपेरान (Superanus) से बना है। सुपरान का शाब्दिक अर्थ है, सर्वोच्च या सर्वश्रेष्ठ। स्ट्रांग के अनुसार "जब इस शब्द का प्रयोग राज्य के साथ किया जाता है तो इसका एक विशेष अर्थ—कानून बनाने वाली सर्वश्रेष्ठ शक्ति हो जाता है।"[1] इस प्रकार, सम्प्रभुता या प्रभुसत्ता राज्य की 'सर्वोच्च शक्ति' का ही दूसरा नाम है। यही ऐसा लक्षण है जिसके कारण राज्य अन्य समुदायों से भिन्न होता है। इसी के आधार पर राज्य को अधिकार होता है कि उसके द्वारा बनाये हुए नियमों का सब लोग अनिवार्य रूप से पालन करें। निश्चित प्रदेश का कोई भी व्यक्ति या समुदाय राज्य के इस बन्धन से मुक्त नहीं होता।

सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक सम्प्रभुता से अभिप्राय राज्य की उस शक्ति से होता है जिसके आधार पर राज्य व्यक्तियों तथा समुदायों से श्रेष्ठ होता है। उसकी इच्छा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। इसके बल पर वह नागरिकों व अन्य समुदायों को आदेश दे सकता है तथा उनका पालन करा सकता है। गानर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि "सम्प्रभुता राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त होती है तथा उस राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्ति और समुदाय इसके अधीन होते हैं।'

बाह्य सम्प्रभुता, गैटिल के शब्दों में, "अधिकारों की वह पूर्णता है जिसके द्वारा विदेशी राज्य से व्यवहार के विषय में आन्तरिक सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति होती है।" बाह्य सम्प्रभुता से अभिप्राय है कि राज्य किसी अन्य देश या शक्ति के नियन्त्रण में नहीं है। विदेशी राष्ट्रों के साथ सन्धि करना और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना तो इसकी स्वयं स्वीकृत सीमाएं हैं जिसे वह अपनी इच्छा से लागू करता है।

परिभाषा और विकास—सम्प्रभुता के सिद्धान्त की विधिवत व्याख्या करने वाले प्रथम लेखक जीं बोदाँ (Jean Bodin) हैं। उन्होंने इसे नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति बताया है जिसे कानून द्वारा मर्यादित नहीं किया जा सकता। बोदाँ से पहले प्लेटो, अरस्तू ने सम्प्रभुता से मिलते-जुलते एक यूनानी शब्द का प्रयोग किया था, लेकिन यूनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों में यह आवश्यकता अनुभव नहीं हुई कि

1 C F Strong, Modern Political Constitutions,' Calcutta, 63 p 7

सम्प्रभुता के द्योतक किसी विशिष्ट शब्द को गढ़ा जाये। इसी प्रकार रोमन साम्राज्य तथा सामंतिक मध्यकाल मे भी इस बात की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई कि राज्य शक्ति की सर्वोच्चता को व्यक्त करने के लिए किसी नये शब्द को ढूढ़ा जाय, क्योकि सामंतो और सम्राट की शक्तिया स्पष्ट तथा सवमान्य होती थी और उन्हें चुनौती देने का अर्थ युद्ध अथवा विद्रोह होता था।

मैक्यावेली के ग्रंथो मे पहली बार सम्प्रभुता की भावना दृष्टिगत होती है। लेकिन जसा लिखा जा चुका है इसे शास्त्रीय रूप देने का श्रेय बोदा को ही है। बोदा के बाद ग्रोशियस ने सम्प्रभुता की व्याख्या की है। उसके विचार से "सम्प्रभुता उस व्यक्ति मे निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कृत्य अन्य किसी पर आश्रित न हो तथा जिसकी आज्ञा का उल्लघन न किया जा सकता हो।" ग्रोशियस की विशेषता यह है कि उसने सम्प्रभुता के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर भी बल दिया है तथा एक न्यायाधीश होने के कारण सम्प्रभुता की विधिसम्मत व्याख्या की है। ग्रोशियस के उपरान्त लगभग सभी आधुनिक राज्यशास्त्र वेत्ताओ और न्यायशास्त्रिया ने सम्प्रभुता के विषय मे अपने अपने मत व्यक्त किये है। उनके योगदान से ही राज्य की सर्वोच्च शक्ति की परिकल्पना ने एक पूण विकसित सिद्धान्त का रूप ले लिया है। आधुनिक युग मे सम्प्रभुता एक बहुत महत्वपूण सिद्धान्त है इसके व्यापक विश्लषण विवेचन से राज्य और व्यक्ति, राज्य तथा अन्य राज्य, राज्य तथा कानून आदि विषम प्रश्नो का समाधान खोजा जाता है। सम्प्रभुता की कुछ लोकप्रिय परिभाषाएं निम्नाकित हैं

बर्गेस के शब्दा म, "राज्य के सब व्यक्तियों व व्यक्तियों के समुदायों के ऊपर जो मौलिक, सम्पूण और असीम शक्ति है, वहीं सप्रभुता है।"

पोलक के अनुसार, "सप्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थाई होती है, और न वह किसी अन्य द्वारा प्रदत्त ही होती है, और न वह किसी ऐसे नियमो से बधी हुई होती है, जि हे वह स्वय न बदल सके और न ही पृथ्वी पर वह अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी होती है।"

डिग्वी के विचार से ' सम्प्रभुता राज्य की आदेश देने वाली शक्ति का [illegible] है। यह राज्य के रूप मे सगठित राष्ट्र की इच्छा होती है।"

जैलीनेक के शब्दो मे "सम्प्रभुता राज्य की वह विशेषता है [illegible] राज्य को उसकी अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से [illegible] नहीं बांधा जा सकता और जिसे उसकी अपनी शक्ति के अतिरिक्त अन्य [illegible] शक्ति से सीमित नहीं किया जा सकता।"

अमरीकी विद्वान विलोबी ने सम्प्रभुता [illegible] शब्दो मे [illegible] उसके अनुसार "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।"

इसी प्रकार सोलटाऊ ने सम्प्रभुता [illegible] द्वारा शासन करने [illegible] कानून शक्ति" बताया है।

सप्रभुता के लक्षण
(Attributes of Sovereignty)

सप्रमुता के सिद्धा त के परम्परागत रूप से निम्नांकित लक्षण बताये जाते हैं—

1 स्थायित्व (Permanence)
2 सवव्यापकता (Comprehensiveness)
3 अदयता (Inalienability)
4 अालोपना (Imprescriptability)
5 अविभाज्यता (Indivisibilty)
6 परम पूणता (Absoluteness)

स्थायित्व—राज्य की प्रमुता स्थाई हाती है। इसका निवास राज्य के जीवन के साथ होता है। सत्ता का प्रयोग करने वालो के परिवतन से इसम कोई अतर नही आता। राजा या राष्ट्रपति की मृत्यु से सप्रमुता समाप्त नही होती सरकार म परिवतन हो सकता है, किन्तु राज्यो मे निवास करने वाली सप्रमुता सुरक्षित रहती है। गार्नर के शब्दो म "स्थायित्व से अभिप्राय यह है कि जब तक राज्य कायम रहता है तब तक सप्रभुता कायम रहती है। प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालिन पदच्युत तथा राज्य के पुनगठन के कारण सप्रभुता का नाश नहीं होता।"

सवव्यापकता—सवव्यापकता का अथ यह है कि सप्रमुता का नियत्रण राज्य की सीमा के अतगत रहने वाले सभी व्यक्तियो पर होता है। समस्त समुदाय उसके अधीन होत हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भी आधार पर राज्य के नियत्रण से मुक्त नही होता। मुख्यरूप से यही एक ऐसा लक्षण है जिससे राज्य अन्य समुदायो से भिन्न कहा जाता है। समुदायो की सदस्यता सीमित होती है तथा सुरक्षा पर आधारित होती है, किन्तु राज्य की सदस्यता अनिवाय होती है। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति राज्य की सदस्यता छोड नही सकता।

इस सम्बध म आलोचको ने एक अपवाद की ओर सकेत करके यह बताने का प्रयास किया है कि राज्य की सत्ता सवव्यापक नही हो सकती। प्रत्येक राज्य म अन्य राज्यो के दूतो के निवास के लिए निर्दिष्ट भूमि प्रदान की जाती है। इस निर्दिष्ट प्रदश म निवास करने वाले दूतावास के सदस्य राजकीय कानूनो के नियत्रण से मुक्त होते हैं। उनके राज्य के ही कानून उन पर लागू होत हैं, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह छूट उन्हें राज्य की स्वेच्छा स प्रदान की जाती है। राज्य सप्रमुता के आधार पर किसी भी समय इन भू प्रदेशो पर दूसरी सरकार के दूतो के अधिकार को समाप्त कर सकता है। इस प्रकार, इन प्रदेशो की स्थिति का सप्रभुता की सवव्यापकता पर कोई प्रभाव नहीं पडता।

अदेयता—सप्रमुता का तीसरा लक्षण अदेयता है। अदेयता से हमारा अभिप्राय," गार्नर के शब्दो म, "राज्य को उस विशेषता से है जिसके कारण यह अपने मूल तत्वों से, आत्मनाश किये बिना, पृथक नही हो सकता। यह सर्वोच्च शक्ति

है और इसे पृथक् करना आत्महत्या करने की भांति होगा।"[2] लाइबर के अनुसार, सम्प्रभुता को पृथक् करने का परिणाम राज्य का नाश होता है। उसका कथन है कि जिस प्रकार एक वक्ष अपने विकसित होने का अधिकार नही छोड सकता अथवा कोई भी व्यक्ति अपने प्राणा को दूसरे को देकर जीवित नही रह सकता उसी प्रकार राज्य भी सप्रभुता का त्याग करके अपने अस्तित्व को बनाये नही रख सकता।[3]

प्रो० रिशी (Ritchie) ने इस लक्षण की कटु आलोचना करते हुए बताया है कि अदेयता इतिहास के तथ्यो से प्रमाणित नही होती। उसका कथन है कि राज्यो ने अपने कुछ क्षेत्रो पर सप्रभुता का समय-समय पर स्वेच्छा अथवा विवशता से त्याग किया है। इसी प्रकार शासको ने भी जनता के जागरण के कारण समय-समय पर सप्रभुता को जनप्रतिनिधियो को प्रयाग के लिये सौंपा है। इतिहास के ये तथ्य पर्याप्त शक्तिशाली है, किन्तु इनसे सप्रभुता की अदेयता पर कोई प्रभाव नही पडता। इसका कारण यह है कि इन भू प्रदेशो पर सप्रभुता समाप्त हो जाने से भी शेष प्रदेश मे सप्रभुता उसी रूप मे सुरक्षित रहती है। दूसरे शब्दो मे, राज्य का क्षेत्र घट बढ सकता है, लेकिन उसकी सप्रभुता की पूणता म कोई कमी नही आती। वह अदेय है, उसे दिया नही जा सकता।

रिशी की तरह कुछ अन्य विद्वान भी, जिनमे सोरेज, ग्रोशियस, वुल्फ तथा हाब्स प्रमुख हैं, सप्रभुता को देय बताते हैं। उनका तक है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे जनता अवश्य सप्रभुता सम्पन्न थी, किन्तु कालान्तर मे उसने इसे राजा को सौंप दिया। सौंप देने के कारण अब जनता का राजा पर कोई अकुश नही है। लेकिन यह तक भी विवादास्पद है। एसमीन तथा डिग्वी ने इसकी आलोचना करते हुये सप्रभुता को अदेय ही सिद्ध किया है। उनके अनुसार, प्रारम्भिक अवस्था म जनता को ऐसा कोई अधिकार नही था कि वह सप्रभुता को अलग करती और उसे राजा को सौंपती। लगभग सभी विधिशास्त्री सामान्यरूप से यही मानते हैं कि सप्रभुता अदेय होती है और राज्य अपनी सप्रभुता को किसी को भी नही सोपता।

आलोचना—सप्रभुता की चौथी विशेषता यह है कि यह प्रयोग के अभाव मे लोप नही होती। इस पर व्यक्तिगत कानून का यह सिद्धान्त लागू नही होता कि किसी अधिकार का दीघ समय तक प्रयोग न करने से वह नष्ट हो जाता है। प्राय प्रदेशा के माग पर यह नियम लागू होता है। उदाहरण के लिय, यदि किसी व्यक्ति की भूमि पर स अन्य

2 "By inalienability we mean that attribute of State by virtue of which it cannot cade away any of its essential elements without self destruction It is the Supreme Power and to alienate it would de tentamount of committing Suicide"—Garner, op cit.

3 "Sovereignty can no more be alienated than a tree can alienate its right to Sprout or a man transfer his life or responsibility without Self-destruction" —Leiber, "Political Ethics," vol I, P

व्यक्ति अनेक वर्षों से मार्ग बनाकर आते जाते हैं और भूमि का स्वामी कोई आपत्ति नहीं उठाता तो क़ानून के अनुसार उसका अनेक व्यक्तियों के मार्ग को रोकने का अधिकार नष्ट हो जाता है। इसी तर्क के आधार पर मोरेज तथा हाब्स ने यह मत रखा था कि जनता के द्वारा सम्प्रभुता का प्रयोग न किये जाने के कारण उसका सम्प्रभुता का अधिकार नष्ट हो गया है और राजा को उन पर निरंकुश शासन करने का पूरा पूरा अधिकार है। किन्तु यह मान्य नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत कानून की इस धारणा को राज्य पर आरोपित करना मिथ्या है। सभी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि सम्प्रभुता का किसी भी कारण से लोप नहीं होता चाहे उसका प्रयोग किया जाय अथवा नहीं।

अविभाज्यता—सम्प्रभुता को विभाजित भी नहीं किया जा सकता। समूची शक्ति राज्य में निवास करती है। राज्य के अन्तर्गत कोई भी ऐसा समुदाय या वर्ग नहीं होता जिसमें राज्यप्रभुता का निवास हो सके। इस प्रकार की धारणा को प्रोत्साहन संघात्मक सरकारों से मिला। विशेष रूप से अमेरिका के संविधान में यह प्रश्न चर्चा का विषय बना। अमेरिका के स्वतन्त्र राज्यों ने मिलकर एक संघात्मक संविधान का निर्माण किया। इसके अन्तर्गत कुछ अधिकार संघात्मक सरकार को सौंपे गये और शेष सब अधिकार राज्य सरकारों में सुरक्षित रहे। इस स्थिति से यह समस्या उत्पन्न हुई कि सम्प्रभुता को क्यों न विभाजित मान लिया जाय? प्रमुख विधि शास्त्री कूले, स्टोरी, हुड आदि ने इस मत का समर्थन किया कि सम्प्रभुता का विभाजन राष्ट्र (Nation) तथा अन्य राज्य सरकारों के बीच हुआ है। उनके अनुसार संघ तथा राज्य सरकारें दोनों सम्प्रभु है, केवल उनके क्षेत्र सीमित हैं। किन्तु इस मत का अन्य व्यक्तियों (जिनमें विशेष रूप से न्यायाधीश कैल्हून (Chuon है) ने जोरदार खंडन किया है और बताया कि सम्प्रभुता अविभाज्य है। निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि सम्प्रभुता अविभाज्य ही होती है। इसका कारण यह है कि प्रयोग के लिए किये गये शक्तियों के विभाजन से राज्य की सम्प्रभुता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस अविभाज्य सम्प्रभु (अमेरिका की जनता) ने संविधान द्वारा शासन की सत्ता का वितरण किया है। जनता कभी भी इस संविधान को बदल कर संघ व राज्य सरकारों के अधिकारों में परिवर्तन कर सकती है। कैल्हून (Calhoun) ने इस दृष्टि से विचार करके यह तर्क दिया है कि 'सम्प्रभुता एक समग्र वस्तु है, इसे विभाजित करने का अर्थ है इसे नष्ट करना। यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। आधी सम्प्रभुता की बात करना आधे चतुर्भुज या आधे त्रिभुज की बात करने की भांति है।" जलिनक लिखता है कि 'विभाजित, टूटी हुई बटी हुई सीमित तथा सापेक्ष सम्प्रभुता परस्पर विरोधी शब्द है। वास्तव में अविभाज्यता निरंकुशता से ही निकला हुआ लक्षण है।' गेटिल के अनुसार "यदि सम्प्रभुता निरंकुश नहीं है तो राज्य भी नहीं हो सकता यदि यह विभाजित है तो एक से अधिक राज्य बन जाते हैं। सम्प्रभुता को विभाजित करना उसे नष्ट करना है। हाँ! इसकी शक्ति के प्रयोग के विषय में बटवारा अवश्य हो सकता है, जैसा कि संघ राज्य में होता है। जस राज्य एक इकाई है, सम्प्रभुता भी एक इकाई जितने सम्प्रभु होंगे उतने ही राज्य भी होंगे।

साराश यह है कि सप्रभुता अविभाज्य होती है। सघ राज्य मे वही सप्रभु होता है जो सघ तथा इकाई की शक्तियों को निर्धारित करें। यह शक्ति न तो केन्द्र के पास होती है और न इकाइयो के पास। यह उन दोना के ऊपर है तथा जिनके पास यह है वही सप्रभु है।

परमपूणता—सप्रभुता के उपयुक्त पाँचो लक्षणो को यदि एक शब्द मे व्यक्त किया जाये तो उन्हे 'परमपूणता' का नाम दिया जा सकता है। परमपूणता का अभिप्राय यह है कि सप्रभुता श्रेष्ठ व निरकुश होती है उसके आदेशो का पालन करने के लिए सभी बाध्य होते है। राज्य के अन्दर कोई ऐसी दूसरी सस्था नही होती जिस उसे बनाये गये कानून को परिभाजित या निषिद्ध करार देने का अधिकार हो। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रत्येक राज्य को अन्य राज्यो के साथ सम्बन्ध निर्धारित करने म किसी भी प्रकार की नीति का अनुसरण करने की स्वतन्त्रता होती है। परमपूणता के कारण राज्य आन्तरिक तथा बाह्य क्षेत्र म निस्सीम शक्ति सम्पन्न होता है। किसी भी सस्था को उन पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नही होता।

इस लक्षण के सम्बध म भी विद्वानो ने अनेक आपत्तिया उठाई हैं। उनका कहना है कि सप्रभुता परिपूण नही हो सकती। उस पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। आन्तरिक क्षेत्र म वह जनमत, प्राकृतिक नियमो, परम्पराओ प्रथाओ, सविधान आदि से नियन्त्रित होती है। बाह्य क्षेत्र मे उस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नियन्त्रण रहता है। ब्लश्ली और गिलक्राइस्ट न इस मत को बडी दढता के साथ व्यक्त किया है। गिलक्राइस्ट लिखता है कि "पूण स्वतन्त्रता ऐसी कोई वस्तु नहीं होती—यहा तक कि राज्य भी समग्र रूप से सवशक्तिमान नहीं होता, क्योंकि बाह्य रूप से यह दूसरे राज्यो के अधिकारो द्वारा सीमित होता है और आन्तरिक रूप से अपने व्यक्तिगत स्वभाव और सदस्यो के अधिकारों द्वारा।[4]"

इसमे कोई सन्देह नही कि राज्य के व्यवहार तथा उसकी नीतिया पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं, लेकिन इनसे सप्रभुता की परमपूणता नष्ट नही होती। इसका कारण यह है कि ये समस्त प्रतिबन्ध राज्य अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करता है और इससे भी बडा कारण यह है कि उनका कोई काननी रूप नही होता। वे अप्रत्यक्ष रूप से केवल उस पर प्रभाव डाल सकते हैं, कानूनी रूप से कोई बाधा खडी नही कर सकते। अत इन प्रतिबन्धो के होते हुए भी सप्रभुता की परमपूणता को मान्यता देनी होगी।

सप्रभुता के विभिन्न स्वरूप
(Types of Sovereignty)

राज्य म सप्रभुता या सर्वोच्च शक्ति का निवास किसी-न किसी रूप म सदैव ही रहा है लेकिन उसके स्वरूप म समय समय पर होने वाले परिवत्तनो के कारण सप्रभुता की अनेक किस्मे बन गई हैं। यहा सप्रभुता के उन विभिन्न रूपा की विवेचना की जा रही है।

4 Gilchrist, op cit 109

नाममात्र की सम्प्रभुता
(Titular Sovereignty)

प्राचीन तथा मध्ययुग में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति प्रायः राजा के हाथ में होती थी। जनतन्त्र के उदय के कारण जब राजाओं की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा तो उनके अधिकार नाममात्र के रहे गये। लेकिन कानूनी दृष्टि से राज्य की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग उन्हीं के नाम पर होता रहा और इंग्लैण्ड आदि देशों में आज भी हो रहा है। इस प्रकार की कार्यपालिका को, जो कानून की दृष्टि से सर्वोच्च मानी जाय लेकिन अधिकारों के प्रयोग करने की स्वतन्त्रता उसकी अपेक्षा संसद् अथवा मन्त्रिमण्डल को हो, नाममात्र की सम्प्रभुता कहलाती है। आजकल प्रत्येक मन्त्रिमण्डलात्मक शासन प्रणाली में अध्यक्ष के पास इस प्रकार की सम्प्रभुता ही होती है। उदाहरण के लिए, इंग्लण्ड के सम्राट अथवा सम्राज्ञी अथवा भारत का राष्ट्रपति नाममात्र के सम्प्रभु हैं। प्राचीन काल में इंग्लण्ड का सम्राट जिन अधिकारों का प्रयोग करता था उनका प्रयोग वहाँ की संसद् या उसके सदस्य से बना मन्त्रिमण्डल करता है। भारत में भी यद्यपि सत्ता का प्रयोग राष्ट्रपति के नाम पर होता है, तथापि नीतिनिर्धारण करने और उसे लागू करने का अधिकार मन्त्रिमण्डल के पास है। संक्षेप में, भारत के राष्ट्रपति के पास नाममात्र की सम्प्रभुता है। लावेल ने इस सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर युक्ति दी है कि "संविधान के पुराने सिद्धान्तों के अनुसार मन्त्री राजा के सलाहकार होते थे। उनका काम था सलाह देना और यह राजा पर निर्भर था कि उनकी सलाह माने या न माने। अब उनके कार्य बदल गये हैं। अर्थात अब राजा सलाह देता है और मन्त्री निर्णय लेते हैं।"

वैधानिक सम्प्रभुता
(Legal Sovereignty)

डीले के विचार से 'आधारभूत कानून में अपनी इच्छा की आवाज को अभिव्यक्त करने वाले राज्य के अभिकरण वैधानिक सम्प्रभु कहा जाता है।' वैधानिक सम्प्रभुता राज्य की वह शक्ति है जिसे अनिवार्य रूप से नियम बनाने का अधिकार होता है। इन नियमों का पालन न करने पर दण्ड की व्यवस्था की जाती है। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति इन नियमों को बलपूर्वक मनवाने में प्रयोग में लाई जाती है। यह सम्प्रभु निश्चित व निस्सीम होता है। इसका निवास एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की सभा में होता है। वैध सम्प्रभु राज्य का वह संगठित वर्ग है जिसकी आज्ञाओं को न्यायालय मान्यता प्रदान करता है और जिस पर कोई दूसरी आज्ञाएं नहीं हो सकती। गार्नर ने लिखा है "वैध सम्प्रभु वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशों को वैध रूप में कर सके वह सत्ता जो दैवी कानून, नैतिक सिद्धान्तों तथा जनमत की उपेक्षा कर सके।" उदाहरण के लिए, प्रत्येक राज्य में राजा या संसद होती है जिसको कानून बनाने का अधिकार होता है इंग्लैंड में ऐसा सम्प्रभु संसद्मय सम्राट है। डायसी ने व्याख्या करते हुए लिखा है कि "संसद इतनी सब शक्ति सम्पन्न है। कि वैधानिक रूप से एक बालक को पूरी आयु का व्यक्ति घोषित कर सकती है।" भारतवर्ष में संसद किसी

सीमा तक वैध सप्रमु कही जा सकती है। इसके बनाये हुए नियमो को न्यायपालिका मान्यता प्रदान करती है। पूण वैध सप्रमु इसलिए नही कह सकते क्योकि इसके अधिकार सविधान द्वारा सीमित कर दिये गये है। वैव सप्रमु इसलिये कहा जाता है कि ससद के बने हुए नियमो के ऊपर किसी दूसरे वग को नियम बनाने का किसी को अधिकार नही है।

राजनैतिक सप्रभुता
(Political Sovereignty)

सप्रभुता के आज्ञा पालन मे दो तत्वो का योग होता है—शक्ति तथा सहयोग समाज के अधिकाश व्यक्ति अपनी समझ तथा स्वभावगत धारणा के कारण राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। प्रत्येक समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो व्यवस्था भग की चेष्टा करते हैं। राज्य इस वग को नियन्त्रित करने के लिए दण्ड का प्रयोग करता है। यदि राज्य द्वारा बल का प्रयोग न किया जाय तो अन्य शान्ति प्रिय नागरिक भी उच्छ खल होने का निणय कर सकते हैं। राज्य के इस अनुशासन के अभाव मे सारी शान्ति व्यवस्था नष्ट हो सकती है। राजनतिक सप्रमु समाज के वे आज्ञापालक सहयोगी शान्तिमय नागरिक हैं जो वैध राज्य प्रमु पर प्रभाव डालते हैं तथा उनका निर्माण करते हैं। इस प्रकार निर्वाचक मडल राजनतिक सप्रमु कहा जा सकता है। राज्य की शक्ति का आधार यह राजनैतिक सप्रमु ही होता है। अधिकार सत्ता का यह राज्य प्रमु अन्तिम स्रोत होता है। इसके निणय के विरुद्ध कोई अपील नही होती। डायसी के शब्दो मे "वही शक्ति राजनतिक सप्रभु है जिसकी इच्छा का अन्तिम रूप से राज्य के नागरिक पालन करते हैं।" गिलक्राइस्ट के शब्दों मे "राजनतिक सप्रमुता राज्य की वह समस्त प्रभावक शक्ति है जो कानून के पीछे छिपी रहती है।"

राजनैतिक और सवैधानिक सप्रभुता मे सबध

प्रो० रिशी लिखते हैं कि 'श्रेष्ठ शासन की समस्या अधिकाश मे वैधानिक सप्रमु तथा राजनीतिक सप्रमु के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है।"कभी जनमत, कभी सम्पूण जनसमूह तो कभी निर्वाचक मण्डल को राजनतिक सप्रभु माना जाता है। दूसरे कुछ विद्वान राजनतिक सप्रमु को मान्यता ही नही देते। उनका कहना है कि तथाकथित राजनतिक सप्रमु वैधानिक सप्रमु पर केवल प्रभाव डालता है। इसके निणयो को न्यायालय द्वारा मान्यता नही दी जाती, क्योकि इनके द्वारा बनाए गये निणय या कानून उस समय तक कोई महत्व नही रखते जब तक कि वैध सप्रमु उनकी घोषणा न करें। इस दृष्टि से राजनीतिक सम्प्रभु का कोई अस्तित्व ही नही होता। किन्तु यह दृष्टिकोण बडा सकुचित है। यह स्पष्ट है कि वैधानिक सप्रमु निस्सीम नही होता है। उसका निर्वाचन मतदाताओ द्वारा होता है। उसे जनमत का ध्यान रखना पडता है, जिससे राजनैतिक सप्रमु के अस्तित्व का स्वाभाविक बोध होता है। प्रत्यक्ष जनतन्त्र मे वैधानिक और राजनतिक प्रमुता दोनो ही व्यवहार मे मिल जाती हैं किन्तु आधुनिक राज्य मे ये भिन्न भिन्न होती हैं। राजनीतिक सप्रमु का सगठन वैधानिक सप्रमुता को

है। दोनों ही सम्प्रभुता के ऐसे दो पक्ष हैं जो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। गि इसे बड़े दुर्भाग्य की बात समझते हैं कि प्रभुता शब्द का दो विभिन्न तत्वों के लिए प्रयं किया जाता है। वे यह सुझाव देते हैं कि सम्प्रभुता शब्द का केवल वैध प्रभुता के लि ही प्रयोग किया जाना चाहिए, तथा दूसरे के लिए 'लोकमत" या "सामान्य इच्छा का।

राजनैतिक सम्प्रभु की इच्छा का विरोध वैधानिक सम्प्रभु अधिक समय तक नहीं कर सकता। इन दोनों सम्प्रभुओं का द्वन्द्व अस्थाई होता है। इस द्वन्द्व की अवस्था को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष में राष्ट्रीय जागृति हो जाने के कारण ब्रिटिश शासन में यह द्वन्द्व उत्पन्न हो गया था। विधि निर्माण का सर्वोच्च अधिकार इंगलैंड की संसद को था जो भारत के लिए वैध सम्प्रभु थी। भारत के जागरुक व्यक्ति जो स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे राजनैतिक सम्प्रभु कहे जा सकते हैं। 1946 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के साथ इस द्वन्द्व की समाप्ति हो गई। स्वतन्त्र भारत में वैधानिक सम्प्रभुता राजनैतिक सम्प्रभु के प्रति उत्तरदायी है।

लोकप्रिय सम्प्रभुता
(Popular Sovereignty)

गिलक्राइस्ट के शब्दों में "लोकप्रिय सम्प्रभुता का अर्थ व्यक्तिगत शासन अथवा उसके वर्ग की सत्ता की तुलना में जनता की शक्ति से होता है। इसमें सार्वभौम मताधिकार और जनता के प्रतिनिधियों द्वारा विधानपालिका पर नियन्त्रण निहित होता है।" संक्षेप में, लोकप्रिय सम्प्रभुता से जनता की सत्ता का बोध होता है। शासकों के निरंकुश शासन के प्रतिकूल अल्यूसियस, बुकानन, मर्सीलिओ ऑफ पडुआ तथा विलियम ने यह मत प्रकट किया था कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता जनता में निवास करती है। राजाओं ने इस सत्ता का बहुत अधिक समय तक प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु उस दीर्घकालीन प्रयोग से उस सत्ता पर उनका अधिकार नहीं हो सकता। इस मत के आधार पर शासक पर नियन्त्रणों का समर्थन किया गया तथा व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा की गई। इस प्रकार लोकप्रिय सम्प्रभुता जनता की सत्ता का ही दूसरा नाम है।

इस सत्ता का अर्थ निश्चित करने में वे सब कठिनाइयाँ आती हैं जो राजनैतिक सम्प्रभु के अर्थ को स्पष्ट करने में आई थीं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या 'जनता' शब्द की व्याख्या है। जनता के दो अर्थ हो सकते हैं—पहला असंगठित विशाल जनसमूह, तथा दूसरा—निर्वाचक वर्ग। गार्नर के अनुसार—निर्वाचक वर्ग को ही जनता मान लिया जाना चाहिए। इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर राजनैतिक तथा लोकप्रिय प्रभुता में विशेष अन्तर नहीं रहता। लोकप्रिय सम्प्रभुता का सामान्य अर्थ अस्पष्ट तथा अनिश्चित है। किन्तु इसका अस्तित्व बड़े महत्व का है। इसके द्वारा यह स्पष्ट रहता है कि शासन का उद्देश्य जनता की सेवा करना और शासन उसके प्रति उत्तरदायी है। इसी प्रकार शासन पर जनता के रोष का अंकुश रहता है। जनता की इच्छाओं के प्रतिकूल पर क्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है। क्रान्ति के समय चाहे लोकप्रिय सम्प्रभु के

अस्तित्व का पता न लगे, कि तु घोर अ याय तथा निरकुश शासन के विरोध म जनता का विप्लव लोकप्रिय सप्रभुता के स्वरूप को प्रकट कर देता है।

कानूनी तथा यथार्थ सप्रभुता
(De Jure and De Facto Sovereignty)

सप्रभुता म इस प्रकार का भेद उस समय उत्प न होता है जब एक ही सत्ता के दो अधिकारी होते हैं एक उसका यथाय मे प्रयोग करता है और दूसरा अपने कानूनी अधिकार को प्राप्त करने का प्रयास करता है। ब्राइस के शब्दा म, "यथाथ सप्रभु वह है जिसकी आज्ञाओ और आदेशों का वास्तव मे पालन होता हो, चाहे उसकी प्रभुता का आधार कानूनी हो अथवा नहीं।" इसके विपरीत, कानूनी सप्रभु वह होता है जिसे न्यायालय मा यता प्रदान करते हैं। व्यवहार म, यथाथ सप्रभु तथा कानूनी सप्रभु म भेद अधिक समय तक नही चल सकता। यह भेद कुछ विशेष अवस्थाओ मे ही उत्पन्न होता है और शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। कानूनी और यथाथ सप्रभु का बोध हम विद्रोह के समय होता है। यथाथ सप्रभु क्रा ति का फल होता है, जिसका उद्देश्य शासन व्यवस्था मे परिवतन करना होता है। उदाहरण के लिए, 1973 तक शाह जहीरशाह अफगानिस्तान के कानूनी तथा यथाथ सप्रभु थे। लेकिन 27 जुलाई, 1973 को सरदार मुहम्मद दाऊद ने उ हे अपदस्थ करके सत्ता पर अधिकार कर लिया। दूसरे शब्दा म, वे यथाथ सप्रभु बन बैठे। ऐसा अनेक बार होता है जब काई अधिनायक या सेनापति शक्ति के बल पर सत्ताधारी को हटाकर अपनी सरकार स्थापित कर लेता है। चूंकि यथायत शक्ति अथवा सप्रभुता पर अधिकार हो जाता है, अत थोडे समय उपरा त सविधान म परिवतन करके अथवा अ य किसी प्रकार जनता की स्वीकृति प्राप्त करता है एव अ तर्राष्ट्रीय मा यता प्राप्त करके वह कानूनी सप्रभुता भी प्राप्त कर लता है। मुहम्मद दाऊद इसी प्रकार अब केवल यथाथ सप्रभु नही है, अपितु व्यापक जनसमथन प्राप्त करक कानूनी सप्रभु भी बन चुके हैं।

सप्रभुता का वास
(Location of Sovereignty)

चिपमन ग्रे ने लिखा है कि 'समाज के वास्तविक शासक छिपे ही रहते हैं।" इसका अथ यह है कि सप्रभुता राज्य म किस व्यक्ति वग या समुदाय मे रहती है इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। सप्रभुता के वास के सम्ब ध म विभि न युग म हम विभि न विचार मिलते हैं। इनम प्रमुख निम्नांकित हैं—

1 **सप्रभुता राजा के पास होती है**—16वें शताब्दी मे यह विचार बहुत प्रचलित था कि सप्रभुता का वास राजा मे होता है। फ्रांसीसी शासक लुई 14वा कहा करता था कि 'मैं ही राज्य हू (I am the State)।' राजत त्र का आधार यही है, लेकिन जनत त्र के अभ्युत्य के बाद यह सिद्धान्त पुराना पड गया है।

2 **सप्रभुता जनता मे निहित होती है**—17वी शताब्दी मे लॉक और समझौतावादी विचारको ने इस मत को प्रतिपादित किया था कि सप्रभुता

निहित होती है, अत शासन को जन स्वीकृति पर आधारित होना चाहिए। उसके पहले रोमन विद्वान सिसरो भी इस मत का सृजन कर चुका था। फ्रांस और अमेरिका की क्रान्तियों द्वारा इस विचार को बहुत प्रोत्साहन मिला। आधुनिक युग में यह सिद्धान्त ही सर्वाधिक लोकप्रिय है। लेकिन इस सिद्धान्त को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम यह कि असंगठित जन समुदाय को सम्प्रभु नहीं माना जा सकता, क्योंकि सम्प्रभुता के लिए आवश्यक है कि समुदाय आवश्यक रूप से संगठित हो। दूसरे, निर्वाचकों को भी सम्प्रभुता का अधिकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी भी देश में निर्वाचक जनसंख्या का एक छोटा सा भाग ही होता है। अधिक से अधिक जनता को राजनीतिक सम्प्रभुताधारी कहा जा सकता है, वैधानिक सम्प्रभुता से युक्त नहीं।

3 *सम्प्रभुता संविधान निर्मात्री सभा में होती है*—कुछ न्याय विशारदों का मत है कि सम्प्रभुता संविधान निर्मात्री सभा में निहित होती है, क्योंकि वही देश के सर्वोच्च कानून का निर्माण करती है। लेकिन इस तर्क के विरुद्ध दो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। प्रथम यह कि सम्प्रभुता राज्य का एक स्थाई लक्षण है जबकि संविधान निर्मात्री सभा अस्थाई होती है और संविधान बनाने के बाद उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। दूसरे, इसे अधिक से अधिक वैधानिक सम्प्रभु कहा जा सकता है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से राजनीतिक सम्प्रभु ही सर्वोच्च होता है।

4 *सम्प्रभुता विधान मंडल में निवास करती है*—कुछ लोग सम्प्रभुता का वास विधान मंडल में मानते हैं, क्योंकि उसके सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं, और उनका कार्य कानूनों का निर्माण करना होता है। लेकिन यह तर्क भी सर्वथा दोषमुक्त नहीं है। इसका प्रथम कारण यह है कि विधान मंडल भी कानून बनाते समय जनमत, रीति-रिवाज, धार्मिक परम्पराओं, निर्वाचन, संविधान आदि की शर्तों को ध्यान में रखता है और पूर्णत स्वतन्त्र व सर्वोच्च नहीं होता। दूसरे, संघात्मक सरकारों में शक्ति विभाजन के कारण तथा केन्द्र और इकाइयों के कानूनों में गतिरोध होने की अवस्था में किसी एक के कानूनों को श्रेष्ठता प्रदान करने के कारण विधान मंडलों को सम्प्रभुता से युक्त नहीं कहा जा सकता।

5 *कानून निर्माण करने वाली सभी संस्थाओं के योग में सम्प्रभुता का वास होता है*—चूँकि सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च व निस्सीम शक्ति होती है और कानूनों के माध्यम से उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति होती है इसलिए गैटिल आदि कुछ विद्वान सम्प्रभुता का वास कानून बनाने वाली समस्त संस्थाओं—प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्थाओं, न्यायालय, कार्यपालिका निर्वाचक मंडल, सम्मेलन व सभाओं—में मानते हैं। गैटिल का यह मत वस्तुत ऊपर बताए गए धारा सिद्धान्तों का समन्वय है। इसके अन्तर्गत सम्प्रभुता के वैधानिक, राजनीतिक आदि सभी पक्ष आ जाते हैं। अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह अधिक सही प्रतीत होता है।

आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त अद्वैतवाद की व्याख्या
(Austin's Theory of Soverignty Monism Defined)

इंग्लैण्ड के प्रमुख विधिशास्त्री जान ऑस्टिन (1790-1859) ने अपनी पुस्तक 'विधानशास्त्र पर व्याख्यान' (Lectures on the province of the jurisprudence Determined) मे सम्प्रभुता के सिद्धान्त की सर्वाधिक मौलिक, सटीक और विधिसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है। इसमे सम्प्रभुता के इस परम्परावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक तार्किक विवेचन किया गया है कि सम्प्रभुता श्रेष्ठ अदेय, परमपूर्ण और अविभाज्य होती है। दूसरे शब्दो मे, सम्प्रभुता अद्वैतवादी है, इसके समान या इससे श्रेष्ठ राज्य मे कोई दूसरी शक्ति नही होती। ऑस्टिन के सिद्धान्त को समझने से पूर्व यह बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है कि आस्टिन ने अपने सिद्धान्त की रचना ऐसे समय मे की थी जबकि इंग्लैण्ड में ससद की प्रधानता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ससद के कार्यों मे राजा का कोई हस्तक्षेप नही था। नीतिशास्त्र के आधार पर बथम कानूनो म सुधारो की माग कर रहा था और ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी जिसके आधार पर ससद द्वारा बनाये गये कानूनो का परिमाजन हो सके। विधिशास्त्री होने के कारण आस्टिन का सिद्धान्त राजनीतिक या सामाजिक पक्ष की अपेक्षा सम्प्रभुता के न्यायिक पक्ष पर विशेष बल देता है।

सम्प्रभुता की परिभाषा करते हुए आस्टिन लिखता है कि **"यदि कोई ऐसा निश्चित, श्रेष्ठ अधिकारी हो जिसे वैसे ही किसी अन्य अधिकारी की आज्ञापालन का अभ्यास न हो और जिसकी आज्ञा का पालन किसी समाज के लोग आदत वश करते हो, तो वह अधिकारी उस समाज में सम्प्रभुत्वधारी है और वह समाज एक स्वतन्त्र तथा राजनैतिक समाज है।"[5] उसने आगे लिखा है कि कानून सम्प्रभु का आदेश होते हैं जो उस समाज के सभी व्यक्तियो को दिये जाते हैं।**

इस सयत परिभाषा का विश्लेषण करने पर सम्प्रभुता के नीचे लिखे प्रगट होते हैं।

(1) सम्प्रभुता राज्य का प्रमुख लक्षण—वही समाज राज्य कहा जा सकता है जिसमे किसी न किसी वग म सम्प्रभुता का निवास हो। सम्प्रभु हीन समाज को राज्य नही माना जा सकता।

सम्प्रभु निर्दिष्ट (Sovereign Detersmined)—आस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता जनमत, लोकेच्छा आदि अस्पष्ट केन्द्रो म निवास नही करती। इस सत्ता को धारण करने वाला वग निश्चित होना है जो एक व्यक्ति या वग कोई भी हो सकता है। यह वग दिखने वाला तथा प्रार्थना के लिए प्राप्त होना चाहिए। इसकी स्थिति निर्दिष्ट होती है। इसी

---

5 If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is the sovereign in that society and the society including the sovereign is a society political and independent'

—Austin, Quoted in Garner op cit, p. 165.

कारण जनता को सप्रभु नही माना गया है, क्योंकि उसका कोई निश्चित सगठन नही होता।

(3) मानव अधिकारी—ऑस्टिन के अनुसार सप्रभु कोइ मानव अधिकारी ही हो सकता था। सप्रभुता मनुष्य के निश्चित रूप से सगठित वग में ही निवास कर सकती है। उस समय आस्टिन क सम्मुख इग्लैण्ड की ससद इसका प्रत्यक्ष उद हरण थी। यह प्रभुता किसी निर्जीव तथा विचारात्मक पदार्थों म नही रह सकती। पूववर्ती लेखको ने सप्रभुता का निवास परमात्मा, धम, याय आदि म बताया था। आस्टिन ने इस विचारधारा का खडन किया और सप्रभुता का स्रोत केवल मानव अधिकारी को स्वीकार किया।

(4) सप्रभु सर्वोच्च अधिकारी—सप्रभु की सत्ता सर्वोच्च मानी गयी है। समाज म एसा कोई भी अ य वग नही होता जिसक आदेशा का पालन सप्रभु करता हो। आस्टिन ने सप्रभु पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार का नियत्रण नहीं माना है। समाज क सभी क्षेत्रा म अ तिम और सर्वोच्च आदेश देने का अधिकार उसका ही है।

(5) स्वभावगत आज्ञापालन—आस्टिन के सिद्धा त मे व्यक्तिया द्वारा आज्ञा पालन स्वभावगत माना गया है। समाज की वास्तविक स्थिति को देखकर यह कहा गया है कि आज्ञापालन का कोइ नतिक अथवा तार्किक आधार नही है। आस्टिन समझौते क सिद्धान्त मे विश्वास नही रखता था। इसलिए उसने दार्शनिक दृष्टि से यह नही बताया कि व्यक्ति सप्रभु की आज्ञाओ का पालन किस उद्देश्य स करते हैं। उसका तक यह है कि लाग राज्य की आज्ञा का पालन केवल स्वभाववश करते है, अन्य किसी वजह से नही।

(6) अधिकाश व्यक्तियों द्वारा आज्ञापालन—प्रत्येक समाज म एस व्यक्ति या तत्त्व होते हैं जो समाज के सदस्य होते हुए भी समाज के हिता अथवा नीतिया का क्षति पहुँचाते रहते हैं। इस प्रकार क लोगा को ध्यान म रखते हुए ही आस्टिन न यह बताया है कि सप्रभु के लिए सब व्यक्तियो द्वारा आज्ञापालन जरूरी नही है। समाज क अधिकाश व्यक्तियों (bulk Society) द्वारा आज्ञा का पालन सप्रभु की स्थिति के लिए पर्याप्त है।

(7) सप्रभुता अविभाज्य—सप्रभुता का मुख्य लक्षण अविभाज्यता है। सप्रभुता के विभाजन का अथ है उस नष्ट करना आस्टिन के विचार से प्रत्यक समाज केवल एक ही ऐसा के द्र होता है जहाँ से सब को सर्वोच्च आदेश दिय जाते हैं और जिस किसी अ य अग के आदेश मानना आवश्यक नही होता।

(8) सप्रभु के आदेश ही कानून—आस्टिन ने कानून को नैतिक तत्त्व स पृथक कर दिया तथा यह मत रखा कि सप्रभु क आदेश ही कानून हैं। व्यक्ति के नतिक अधिकार प्राकृतिक नियमा आदि को उसन कानून का आधार नही माना। यहाँ तक कि समाज की स्थिति और परम्पराओं को भी उसने कानून पर अवलम्बित कर दिया। इस दृष्टि म व ही प्रथायें और परम्परायें प्रयाग म रह सकती हैं जिनके पालन की स्वीकृति राज्य द्वारा दी गई हो।

(9) **सप्रभु व प्रजा मे असमानता**—आस्टिन के सिद्धा त म सप्रभु की स्थिति सर्वोच्च मानी गयी है। इसका अथ यह हुआ कि आज्ञापालक (प्रजा) सत्ता के अधीन है उसके समकक्ष नहीं। कानून का आधार, आस्टिन क अनुसार, बल या शक्ति मालूम होता है, रूसो की भाति इच्छा' (Will) नही। जनता शक्तिहीन या विवश होन के कारण आज्ञापालन करती प्रतीत होती है। इस तरह आस्टिन का सिद्धा त समाज म 'शासक' (सप्रभु) और नासित' दो वग मानता है। शासक का काय है आज्ञा देना और शासित का आज्ञा पालन। इसके अतिरिक्त, दोना क मध्य पारस्परिक सम्ब धो का अन्य कोई आधार नही है। शासक की सत्ता म शासित का कोई नियत्रण नही है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आस्टिन ने सम्प्रभुता के केवल विधिशास्त्रीय दष्टिकाण को रखा है। उसकी परिभाषा सयत व युक्तियुक्त है, कि तु सैद्धा तिक सत्य का अभाव उसमे खटकता है। यही कारण है कि आधुनिक युग के प्राय सभी राजनीति जनतान्त्रिक समाजो मे यह सिद्धा त ठीक से लागू नही हो पाता। आधुनिक शास्त्रवेत्ताओ न उसके सिद्धा त की आलोचना की है।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Austin's Theory)

(1) **आस्टिन का सप्रभु अधिकाश राज्यों मे नहीं मिलता**—यह कथन तो सत्य हो सकता है कि राज्य के लिए सप्रभुता आवश्यक है, कि तु आस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभु राज्यो म नही मिलता। अमेरिका जैसे राज्य म भी वास्तविक सम्प्रभु को खोजना कठिन है। मैकाइवर के विचार से "आस्टिन की विचारधारा उपनिवेशो के राजनीतिक जीवन पर लागू होती है, क्योकि उस विचारधारा की विषय वस्तु स्वामी और दास के सबधो की व्याख्या मात्र है।" आधुनिक राज्यो म आस्टिन परमपूण सप्रभु का कोई उदाहरण नही मिलता। यदि सेना के बल पर तानाशाह सम्प्रभु बने हुए हैं तो जनता उसकी आज्ञा का स्वाभाविक रूप स नही वरन विवशता या भय के कारण पालन करती है। चिपमैन ग्रे की बात सही लगती है कि 'समाज के वास्तविक शासक अभी खोजे जाने हैं।"

(2) **निर्दिष्ट सप्रभु की अदृश्यता**—प्रत्येक राजनतिक समाज मे सप्रभुता के निवास का स्थान निश्चित नही किया जा सकता। समाज का कोई भी वग आस्टिन की परिभाषा के अनुकल पूण शक्तिशाली नही होता जिसस सप्रभु कहा जा सके। हैनरीमेन ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ अर्ली इ स्टीट्यूशस' म पूव के अनेक देशो का अध्ययन करके स्पष्ट किया कि आस्टिन की परिभाषा के अनुसार किसी भी देश को राज्य नही कहा जा सकता। उसने सिक्खो के शासक रणजीतसिंह का उदाहरण लिया जिनका समाज पर बडा अकुश था और जिनकी आज्ञा का उल्लघन करने का किसी को साहस न होता था। किन्तु रणजीतसिंह ने कभी ऐस कानून बनाने का साहस भी नही किया जिसस उन्हें अनावश्यक रूप स जनता के रोष का सामना करना पडता। उन्होने प्रथाओ को चुनौती नही दी। हैनरीमेन ने स्पष्ट लिखा है कि रणजीतसिंह न अपने पूण शासन म एक भी

आना नही दी जिसको आस्टिन के अनुसार कानून कहा जा सके। लास्की ने मेन के मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि आधुनिक राज्यों में विशेष रूप से सघात्मक शासन विधानों में, सम्प्रभु को निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। जनतान्त्रिक राजनैतिक समाज में सम्प्रभुता अवश्य रूप से जनता में निवास करती है किन्तु आस्टिन अदृश्य सम्प्रभुता की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इन समाजों में निर्दिष्ट सम्प्रभु की यदि खोज भी की जाय तो उसमें कोई लाभ नहीं, क्योंकि सच्चा सम्प्रभु जनता अथवा जनमत निर्दिष्ट नहीं कहे जा सकते।

(3) मानव अधिकारी की पूर्णसत्ता अमान्य—आस्टिन ने सम्प्रभु का निवास मानव में माना है किसी काल्पनिक अथवा अदृश्य पदार्थ में नहीं। हेनरीमेन ने यह तो स्पष्ट कर ही दिया कि इतिहास में ऐसा कोई भी मानव नहीं हुआ जो सत्ता के प्रयोग के आधार पर आस्टिन के अनुसार सम्प्रभु कहा जा सके। लास्की ने इस तथ्य पर दार्शनिक दृष्टि से विचार कर उसकी निरर्थकता बतायी है। उन्होंने कहा है कि क्या इस प्रकार की सम्प्रभुता किसी मानव वर्ग में होना वाञ्छनीय है। उनका मत है कि सत्ता कभी भी परम पूर्णता के किसी शासक को नहीं दी गई। क्योंकि शासक मानव है और मानव भूल कर सकता है तथा शोषण का मार्ग अपना सकता है। इसी रहस्य को ध्यान में रखकर शासकों पर अवधि का नियन्त्रण रखा गया है। किसी भी शासक को शासन का स्थायी अधिकार देना अत्याचारों को आमन्त्रित करना है।

(4) सर्वोच्चता अनुचित—प्राय सभी लेखकों ने सम्प्रभु की सर्वोच्चता का निरकुशता का प्रतिरूप माना है। विशेष रूप से लास्की ने सम्प्रभुता की सर्वोच्चता पर आपत्ति उठाई है। उसका मत है कि राज्य व्यक्तियों के सामान्य हितों की रक्षा करता है। इन हितों के अतिरिक्त व्यक्तियों के अनेक व्यक्तिगत विशेष हित होते हैं जिनकी पूर्ति वे किसी न किसी समुदाय के सदस्य बनकर करते हैं। उदाहरण के लिए, घड़ीसाज अपने व्यवसाय के हितों की रक्षा घड़ी साजों के समुदाय का सदस्य बनकर कर सकता है राज्य उसके सामान्य हितों का रक्षा करेगा जिनमें उसकी व्यक्ति रूप में आवश्यकताओं को लिया जा सकता है। खाना, कपड़ा, ईधन, मकान, सफाई तथा सम्पत्ति सम्बधी विवादों में व्यक्ति को राज्य की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में राज्य उस व्यक्ति के समूचे हितों के बारे में अंतिम निर्णय देने का अधिकारी नहीं हो सकता। व्यक्ति को राज्य की विशेषताओं पर विचार करके यह देखने का अधिकार होगा कि राज्य द्वारा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है या नहीं। जिन विषयों में राज्य को नियन्त्रण लगाने का अधिकार है उनमें भी राज्य पर यह उत्तरदायित्व होगा कि वह व्यक्तियों के अनुभव के अनुकूल हो। यदि राज्य सर्वोच्चता के नाम पर व्यक्तियों की सुविधाओं की अपेक्षा करेगा तो उसका अस्तित्व नैतिक दृष्टि से असम्भव हो जावेगा। में प्रत्येक व्यक्ति को उसका विरोध करना होगा। इतिहास में क्रान्तियों का वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि उत्तरदायित्वहीन राज्यों की सत्ता का नाश किया गया और जनता ाति हुई। सर्वोच्चता को मान लेने का अर्थ है राजनैतिक सम्प्रभु, जनमत, प्रथायें आदि

अनेक नियन्त्रणो की अस्वीकृति। यह धारणा बडी ही भाव सूक्ष्म है और इसम दार्शनिक पक्ष पर बिल्कुल विचार नही किया गया है। राजनैतिक दशन मे राज्य की सर्वोच्चता को मान्यता नही दी जा सकती। इसी सर्वोच्चता की भ्रामक धारणा के कारण राज्य आन्तरिक एव बाह्य क्षेत्र मे सुख शान्ति का घातक सिद्ध हो रहा है। आन्तरिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सकट मे रहती है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र अनियन्त्रित रहने के कारण अराजकता मची हुई है। इस प्रकार सर्वोच्चता का विचार न तो इतिहास द्वारा प्रभावित होता है और न व्यावहारिक विचार द्वारा। राज्य समाज के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए है। उसको उसके प्रति उत्तरदायी रहना ही होगा। उसकी सत्ता अन्तिम तथा सर्वोच्च न है, न हो सकती है और न होनी ही चाहिए। इसी पक्ष को ध्यान मे रखकर लास्की ने यह मत प्रकट किया कि सम्प्रभुता के सम्पूर्ण सिद्धान्त को तिलाजलि देना ही राजनीति शास्त्र के हित म है। राजनैतिक दशन मे सम्प्रभुता की वैधानिक सर्वोच्चता को मान्यता नही दी जा सकती।

(5) **स्वभावगत आज्ञापालन अवैज्ञानिक**—ऑस्टिन के सिद्धात मे इस प्रश्न पर विचार ही नही किया गया कि व्यक्तियो का विशाल समुदाय थोडी सख्या वाले शासको की आज्ञापालन किन नैतिक उद्देश्यो से करते हैं? राज्य की सत्ता अकुश प्रधान है। वह *व्यक्तियो को कुछ करने और कुछ न करने के आदेश देती है। अवज्ञा होने पर दण्ड दिया* जाता है। राज्य के इस अकुश की मान्यता का कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। ऑस्टिन ने आज्ञापालन की अवस्था को स्वभावगत कह कर मूल प्रश्न को टाल दिया है। वह सम्प्रभुता का सिद्धान्त जो आज्ञापालन के आधार का उचित उत्तर नही देता, अवास्तविक है। इस सिद्धान्त म विरोधाभास भी है। एक ओर कहा गया है कि राज्य प्रभु की आज्ञा ही मान्य होती है दूसरी ओर आज्ञापालन का भाव स्वभावगत माना गया है दोनो मे स एक बात हो सकती है। या तो व्यक्ति राज्य के दण्ड के भय से आज्ञा का पालन करते हैं अथवा आज्ञापालन उनका स्वभाव बन गया है और उनम राज्यप्रभु की आज्ञा के अकुश का कोई महत्त्व नही है। ऑस्टिन ने स्वय स्वीकार किया है कि राज्यप्रभु की बिना आज्ञाओ के अनेक प्रथाओ एव परम्पराओ का पालन होता रहता है। किन्तु उसने अपने सिद्धान्त की पुष्टि यह कह कर दी कि सम्प्रभु जिस प्रथा के पालन की अनुमति दे देता है वही उसकी आज्ञा है। (What Sovereign permits, he commands) इस प्रकार आज्ञापालन के भाव का इसमे कोई विश्लेषण नही मिलता।

(6) **अल्प सख्यकों की उपेक्षा**—ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभु को समाज के बहु-सख्यक (Bulk of Society) व्यक्तियो का आज्ञापालन स्वभावगत अभ्यास से प्राप्त होता है। शेष व्यक्ति क्यो कर आज्ञा का पालन करेंगे? अल्पसख्यको की समस्या तभी हल हो सकती है जबकि आज्ञापालन का नैतिक आधार माना जाय। यह तो सत्य है कि सत्ता बहु सख्यक वग के हाथ म होती है किन्तु सत्ताधारी वग को अल्प-सख्यकों का सहयोग प्राप्त करना पडता है। उसे ऐस हित का प्रबन्ध करना पड़ता है जिनम सख्यक वग भी सुविधा प्राप्त करते हैं। ऑस्टिन के इन अल्पसख्यकों की

ध्यान नही दिया है यदि वह अल्पसंख्यकों के प्रति उदासीन रहता है तो जनतान्त्रिक समाज आस्टिन की धारणा वाले सप्रभु को कभी भी सत्ता नही दी जा सकती।

(7) राज्य प्रभुता विभाज्य,—कुछ आलोचकों ने, जिनमे लार्ड प्रमुख है, यह आक्षेप है कि सप्रभुता अविभाज्य नही हो सकती है। इनके अनुसार राज्य के तीनों अंगों को वैधानिक सप्रभु समझा गया है। किन्तु आलोचकों का यह दृष्टिकोण सत्य प्रतीत नही होता क्योंकि राज्य की इच्छा का विभाजन नही होता, केवल प्रयोग मे इच्छा के कार्यों का विभाजन होता है। विभाजन की समस्या सप्रभुता के भिन्न भिन्न स्वरूपों के कारण अवश्य उत्पन्न हो जाती है। वैधानिक सप्रभुता और राजनीतिक सप्रभुता एक ही प्रभु के दो अंग हैं। इन दो अंगों की दृष्टि मे आस्टिन स्वयं ग्रेट ब्रिटेन मे सप्रभुता की स्थिति का दृढ़ता से भिन्न भिन्न वर्गों को सप्रभु बताया है। उसने लिखा—

1 संसद राज्य प्रभु है।
2 राजा, सामन्त तथा निर्वाचक मंडल राज्य प्रभु है।
3 संसद के भंग होने पर निर्वाचक मंडल राज्य प्रभु है।
4 जनसाधारण राज्य प्रभु है जो न्यास से मुक्त है और न्यासधारी भी है।

इस सम्बन्ध मे आस्टिन के विचार स्पष्ट नही थे। सत्य तो यह है कि उसका ठीक रूप मे आरोपित नही किया जा सका। जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था मे सप्रभुता का निवास निर्दिष्ट नही किया जा सकता है। गिलक्राइस्ट ने आस्टिन की इस कठिनाई राजा, सामन्त तथा लोक सभा मे है। दूसरी ओर यह मत भी प्रकट करते हैं कि संसद के भंग हो जाने पर यह सप्रभुता निर्वाचक मंडल मे आ जाती है। वे यह भी लिखते हैं कि निर्वाचक मंडल यह सत्ता प्रतिनिधियों को परमपूर्ण तथा निस्सीम अधिकारों के साथ दे देती है। तो फिर यह सप्रभुता निर्वाचक मंडल को क्या लौट जाती है? और प्रतिनिधियों के पास किस रूप मे रहती है? आस्टिन का कथन है कि प्रतिनिधि न्यासधारी मात्र हैं। इस प्रकार स्वयं आस्टिन इंगलैण्ड मे सप्रभु को स्पष्टता से निर्दिष्ट नही कर सके। भिन्न-भिन्न स्वरूपों को ध्यान मे रखकर कहा जा सकता है कि सप्रभुता, कई भागों मे बँट जाती है जैसे कानूनी सप्रभुता, राजनैतिक सप्रभुता लोकप्रिय सप्रभुता राष्ट्रीय सप्रभुता आदि। आस्टिन के समर्थन मे यह बात स्पष्टता से दोहराई जा सकती है कि सच्चे रूप मे सप्रभु तो वही है जिसे कानून बनाने का पूरा अधिकार है। राज्य की इच्छा परमपूर्ण है। केवल उसके प्रयोग का विभाजन होता है। आशीर्वादम ने इसी दृष्टि से यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि "राज्य एक आत्म विरोधी ढंग से काम नही कर सकता। उद्देश्य एक ही होना चाहिए वह चाहे जितना मिश्रित क्यों न हो। इस दृष्टि से व्याख्या करने पर यह सत्य है कि सप्रभुता अविभाज्य है।" इस प्रकार वैधानिक दृष्टिकोण से सप्रभुता को विभाज्य नही कहा जा सकता।

(8) कानून आदेश मात्र नहीं—आलोचकों की विशेष आपत्ति आस्टिन के इस तर्क पर है कि कानून सप्रभु का आदेश मात्र है। आस्टिन ने नैतिकता एवं परम्पराओं को कानून से भिन्न बताते हुए स्पष्ट बताया था कि सारे कानून आदेश मात्र हैं। वे परम्परायें

जिनको सप्रभु ने आदेश नही दिया वे भी आदेश मान लिये गये। उसका कथन था कि यदि सप्रभु किसी प्रथा या परम्परा के पालन की अनुमति दे देता है तो वह भी उसका आदेश ही है। लास्की ने इसकी आलोचना करते हुए इसे बेहूदेपन का कथन बताया है। अनेक एम कानून होते हैं जिनका पालन अनिवार्य नही होता। उनको किसी भी अर्थ मे आदेश नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए इगलण्ड का मताधिकार अधिनियम किसी भी प्रकार आदेश नही कहा जा सकता। इनके अतिरिक्त कानून का वह बहुत बडा भाग जो प्रथा पर आधारित है किसी भी प्रकार आदेश नही माना जा सकता। गानर इसी मत से सहमत है। उसने आस्टिन के इस मत की आलोचना की है कि प्रत्येक कानून आदेश मात्र है। गानर ने अपने मत की पुष्टि मे प्रथा पर आधारित विशाल कानूनो की ओर सकेत किया है। समाज शास्त्रियो ने कानून की प्रकृति का विश्लेषण करके यह सिद्ध कर दिया कि कानून का वास्तविक निर्माण समाज मे होता है। राज्य तो केवल उनका स्वीकार कर उनकी घोषणा करता है। राज्य किसी भी प्रकार कानून की विषय सामग्री के निर्माण की क्षमता नही रखता। हैनरीमेन ने इसी मत की पुष्टि करते हुए लिखता है कि कानून का ज म व विकास जनता के साथ होता है समाज के अनेक प्रभावो के परिणामस्वरूप कानून का निरूपण होता है। वह एक मात्र सप्रभु की देन नही कहा जा सकता। ड्यिवी ने कानूनो को सामाजिक व्यवस्था की धुरी बताया है। ये वे नियम होते हैं जिनके बिना समाज के कार्यों का शाति पूर्वक निर्वाह नही हो सकता। लास्की इसी मत के समथन मे लिखते हैं कि "कानून राज्य की आज्ञा के स्थान पर उसकी सत्ता का आधार है। कानून तभी रह सकते हैं जब तक उनको जनता का समथन प्राप्त हो। ससद की सत्ता उसी क्षण नष्ट हो जायेगी जबकि वह नागरिको की चेतना के प्रतिकूल कानूनो की उदघोषणा करेगी।" क्रेब का कथन है कि "कानून का आधार व्यक्तियो की आत्म चेतना है। उनकी वह विवेकपूण भावना है जिससे वे सत्य और असत्य की परीक्षा करते हैं। इस प्रकार कानून एक मात्र आदेश न होकर सामाजिक चेतना व व्यक्तिगत अधिकारो की भावना स बने नियम हैं। इनकी अवज्ञा होने पर राज्य दण्ड द्वारा दु खद तथा कष्टदायक परिस्थितियो को जन्म देकर अवज्ञाकारी को यातना पहुचा सकता है। किन्तु व्यक्ति आत्म चेतना के आधार पर इनका विरोध कर इनको नगण्य कर सकता है। चरमतम योजनाओ को सहन कर भी वह कानून को मानने से इ कार कर सकता हैं। भारतवष के स्वत त्रता आ दोलन मे महात्मा गाधी ने यह सब प्रत्यक्ष कर दिखाया था। व्यक्तिगत आत्म चेतना के आधार पर किये गये सत्याग्रह के सम्मुख राज्य का बल निरथक हो गया था। राज्य के नियमों मे दण्ड देने की शक्ति (Validity) हो सकती है किन्तु उसका नतिक मूल्य (Value) तो नागरिको की चेतना पर आधारित होता है। कानूनो के स्थायी पालन के लिए आवश्यक है कि वे व्यक्ति की आत्म चेतना के तथ्यो पर आधारित हो।

दण्ड देने की शक्ति कटुता एव व्यापन दोनो मे सीमित है। यदि राज्य सख्या मे व्यक्तियो को दण्ड देता है तो दण्ड का मूल्य घट जाता है। दण्ड का हो जाता है। वतमान जनतात्रिक समाज मे सप्रभु के आदेश का प्रश्न ही

जनता ही सप्रभु है। ऐसी स्थिति म कानून को सप्रभु की आज्ञा मात्र मानना बडी भ्रांति है। यह सत्य है कि कानून के रूप देने का काय राज्य का है। नियम कितना भी अच्छा हो वह स्वय कानूनी रूप लेने की क्षमता नही रखता। किन्तु राज्य का स्थायित्व इसी आधार पर है कि वह समाज के इन सब नैतिक नियमो को यथाशक्ति कानूनी रूप देता रहे।

(9) सप्रभु व शासित मे कोई भेद नहीं—आधुनिक जनतात्रिक समाज म सब नागरिको की राजनैतिक स्थिति समान मानी गई है। सभी व्यक्तियो को केवल एक मत देने का अधिकार होता है। शिक्षा, सम्पत्ति अथवा प्रतिष्ठा के आधार पर किसी को एक स अधिक मत देने की स्वतन्त्रता नही है। इसी प्रकार राज्य द्वारा व्यवस्थित सुविधाओं मे सब नागरिको का समान अधिकार होता है। जाति, धम, वग के आधार पर किसी भी व्यक्ति को किसी सुविधा से वंचित नही किया जा सकता। इसस भी अधिक ध्यान देन की बात यह है कि आधुनिक राज्य समानता लाने के लिए विशेष प्रयत्न करता है। इस प्रकार, वतमान समाज समान व्यक्तियो का है। इनमे न कोई स्थाई रूप से शासक हो सकता है और न शासित। शासित शासक बन सकता है और वह फिर शासित हो सकता है। ऐसी स्थिति म इस समाज म आस्टिन की धारणा का सप्रभु हो ही नही सकता। इस समाज म कोई भी व्यक्ति या वग ऐसा नहा हो सकता जो अन्य व्यक्तियो को अधीनस्थ मानकर उनको आज्ञा दे।

(10) सप्रभुता असीमित नहीं होती—आस्टिन के अनुसार सप्रभु अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा सीमित नहा है। पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के आधुनिक विचार ने इसे कठिन बना दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे कोई एक निश्चित व्यक्ति उच्च नही है। सभी राज्य समान हैं एव सप्रभु हैं। यदि राज्य आस्टिन के द्वारा दी हुई बाह्य प्रभुता की परिभाषा का पूणत पालन करे तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व की समस्याओ का सुलझाने की कोई भी सम्भावना न रह जायगी। अतएव आस्टिन के प्रभुता के विचार को अब न केवल एक कानूनी कल्पना समझा जाता है अपितु वह कुतक माना जाता है जिसको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय स निकाल देना चाहिए। शीत युद्ध के इस युग म राज्य अकेला नही रह सकता है। लास्की यह अच्छी तरह जानते हैं कि प्रभुता सम्पन्न ऐसे स्वतन्त्र राज्य जो कि एक दूसरे के साथ शत्रुता रखत हो विश्व शांति एव विश्व एकता के लिए घातक हो सकते हैं।

सिद्धात की समीक्षा—उपरोक्त आपत्तियो स यह स्पष्ट हो जाता है कि आस्टिन की धारणा क सप्रभु का कोई अस्तित्व नही है। दाशनिक तक के अनुसार ऐसा सप्रभु होना भी नही चाहिये। किन्तु यह सारी आलोचना तभी ठीक कही जा सकती है जबकि वधानिक तथा लोकप्रिय सप्रभुता का अथ अलग अलग न समझा जाय। चूकि आस्टिन ने राजनैतिक सप्रभुता को स्वीकार नहीं किया था। इसलिए उसके सिद्धान्त की विस्तार स आलोचना हुई। पर वैधानिक दृष्टि स प्रभुता के सब लक्षण आज भी विद्यमान हैं। प्रत्येक समाज म ऐसे कानून का रूप देने वाला एक ही वग होता है। उसकी आज्ञापालन म स्वभाव

पहले आता है तक बाद म। इसका अथ यह है कि जब तक तक एव आन्दोलन के द्वारा ससद को कानून बदलने के लिए उचत नही कर लिया जाता, कानूनो का पालन अनिवाय होता है। अवज्ञाकारियो को दण्ड देकर अनेक दु खद परिस्थितियो मे रखा जाता है। लगभग सभी विद्वानो ने इस सत्य को स्वीकार किया है। गानर ने स्पष्ट रूप से लिखा कि आस्टिन की भूल केवल यही है कि उसने सप्रभुता के कानूनी पक्ष का अति-शयता से प्रतिपादन किया। अप्पादोराय ने इस सिद्धान्त के सब दोषो को बताकर अन्त म यह स्वीकार किया है कि इसमे सम्प्रभुता के वैधानिक स्वरूप को बडी स्पष्टता तथा युक्ति से प्रगट किया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि उसकी परिभाषा आधुनिक समाज के राज्यो पर लागू नही होती किन्तु आज भी उसका कानूनी पक्ष सत्य है। गिलक्राइस्ट ने भी इसके वधानिक पक्ष की महत्ता को स्वीकार किया है। लास्की ने भी आस्टिन के सिद्धा त के प्रतिपादन की कुशलता को स्वीकार किया है। हा! उसन यह अवश्य लिखा है कि यह सिद्धा त बडा सकीण है। इसमे केवल अधिवक्ता का दृष्टिकोण है। आशीर्वादम ने इस मत की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "वैधानिक दृष्टिकोण से आस्टिन का सिद्धा त पूण है। यह सिद्धान्त स्पष्ट और तक सगत है, यद्यपि उसम विवेचन अधिक गम्भीर नही किया गया उस सिद्धान्त की बहुत सी आलोचनायें भ्रान्त आशकाओ और भ्रान्त धारणाओ के कारण की गई हैं।"

सक्षेप मे, आस्टिन का प्रमुख दोष यह है कि उसने सप्रभुता के केवल वैधानिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल दिया, और उन शक्तियो तथा तत्वा की अवहेलना की जो किसी कानून की पृष्ठ भूमि मे रहते हैं। यह विधि शास्त्रियो या वकीलो के लिए स्वाभाविक भूल है। हां! इसम स देह नही कि कानून क दष्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धान्त स्पष्ट व तक सगत है।

बहुलवाद
(Pluralism)

सप्रभुता के जिस सिद्धान्त का अभी विवचन किया गया है, बहुलवाद उसका विरोधी है। यह राजनतिक आदशवाद और सप्रभुता के अद्वैतवादी सिद्धान्त (जिसका मुख्य प्रतिपादक आस्टिन है) के सवव्यापी दावा के विरुद्ध एक विद्रोह है। आदशवादी और अद्वैतवादी सप्रभुता क विचारक राज्य को सातवें आसमान तक उठा दते हैं। शब्द जाल द्वारा वे राज्य की सत्ता को श्रेष्ठ और व्यक्ति को दास तुल्य बना दते हैं। बहुलवाद इसी सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण और प्रभुसत्ता की परम्परागत धारणा पर आघात करता है। बहुलवादियो का दावा है कि मानव जीवन बहुमुखी है तथा "मानव-प्रकृति अनेक प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक आदि अनेक ध्येयो की प्राप्ति म सलग्न समुदायो म अभिव्यक्त होती है और इनम से कोई भी समुदाय दूसरा से नतिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठ नही है।"[6] राज्य न तो सर्वशक्तिमान है, न सवव्यापी और न सवश्रेष्ठ। मनुष्य की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति राज्य अकेले नही कर सकता। राज्य भी अन्य मानवीय

की भांति एक है। अतः इसे सम्प्रभुता पर एकाधिकार करने की इजाजत नहीं दी जा सकती। संक्षेप में बहुलवाद राज्य को समाज के लिए आवश्यक मानते हुए भी, नागरिकों के कल्याण के लिए राज्य से उनकी प्रभुसत्ता छीन लेना चाहता है।

बहुलवाद का जन्म और प्रचार—बहुलवाद के जन्म और प्रचार का श्रेय ब्रिटेन के वामपंथी विचारकों को है। यह विचारधारा प्रथम महायुद्ध के वातावरण में जन्मी और फैली थी। युद्ध में संलग्न राष्ट्रों के नेताओं ने भोली-भाली जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को भड़का कर और राष्ट्र भक्ति के नाम पर महायुद्ध के अमानवीय व अनैतिक कार्यों को सही सिद्ध करने की कोशिश की थी। सम्प्रभु राज्य को आदर्श तथा ईश्वर तुल्य बताकर जनता से कहा गया कि राज्य निष्ठा से ही स्वतन्त्रता, नैतिकता एवम् प्रगति सम्भव है। जर्मनी में कैसर को ईश्वर तुल्य माना गया (जर्मनी के सम्राट को कैसर कहा जाता था)। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेनवासियों से भी 'सम्राट और देश' के नाम पर प्राण न्यौछावर करने का अनुरोध किया गया। यह सब आस्टिनवादी—हीगलवादी परम्परा के वातावरण में ही सम्भव हो सकता था। कुछ मानवतावादी दार्शनिकों ने इस निरंकुशता में व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी नैतिकता एवम् स्वतन्त्रता का हनन देखा। उन्होंने निरंकुशतावाद की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचना की। व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं स्वतन्त्रता पर जोर देते हुए उन्होंने संघों को राष्ट्र जीवन में उच्च स्थान दिया। इन दार्शनिकों की विचारधारा अद्वैतवादी—आदर्शवादी दृष्टिकोणों के विपरीत थी। अतएव "यथा नाम तथा गुण" की कहावत को चरितार्थ करते हुए इस आंदोलन का नाम बहुलवाद पड़ा।"[7]

बहुलवाद के प्रमुख सिद्धान्त और मान्यताएं—बहुलवाद राज्य की सम्प्रभुता पर तीन ओर से आक्रमण करता है। प्रथम यह राज्य को न तो समाज के अन्य आवश्यक अंगों से पहले का मानता है और न श्रेष्ठ। दूसरे यह राज्य की सम्प्रभुता छीनकर अन्य मानवीय संघों में बांट देना चाहता है। तीसरे, यह राज्य को कानून के ऊपर नहीं अपितु कानून को राज्य के ऊपर और राज्य से लगभग स्वतन्त्र मानता है। इसकी मुख्य मान्यताएं (सिद्धान्त) निम्नांकित हैं—

(1) राज्य समाज के अन्य मानवीय संघों की भांति है—बहुलवादियों का मत है कि मानव जीवन के अनेक लक्ष्य होते हैं जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य विविध संघों का निर्माण करते हैं। इन सभी संघों का मानव जीवन में राज्य के समान ही महत्त्व होता है और लोग इन संघों के नियमों का पालन भी राज्य की विधियों की तरह करते हैं। इन संघों का जन्म और विकास भी राज्य से नहीं हुआ है। सभी स्वतन्त्र रूप से जन्मे हैं और उपयोगिता की दृष्टि से भी ये संघ जैसे विद्यालय, श्रमिक संघ, क्रीड़ा-क्लब, व्यावसायिक मण्डल आदि मनुष्य के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण और प्राकृतिक हैं। अतः राज्य को इन संघों की तुलना में कैसे श्रेष्ठ माना जा सकता है। राज्य, दूसरे मानवीय संघों की भांति ही है और प्रभुसत्ता को अपनी बपौती बना लेने का उसे कोई अधिकार नहीं है।

---

7 गणेश प्रसाद 'राजनीतिक विचारधाराएं', पृ० 263 64।

(2) प्रभुसत्ता संघों में बांट दी जाये—बहुलवादी राज्य को सर्वशक्तिमान नहीं मानते। वे उसे अपरिमित शक्तियां देकर दृढ़ बनाने अथवा उसके सर्वाधिकारवादी बनाने के विरुद्ध हैं। संगठन की दृष्टि से भी उनकी मान्यता है कि कई दूसरे मानवीय संघ राज्य की भांति ही दृढ़ और शक्तिशाली होते हैं। लास्की ने ऐसे कितने ही उदाहरण दिये हैं जबकि संघों के विरोध के कारण राज्य को अपनी नीति बदलनी पड़ी है। 1916 में अमरीका में रेलवे कर्मचारियों ने अनिश्चित कालीन हड़ताल की धमकी देकर कांग्रेस को "दिन में आठ घण्टे से अधिक काम नहीं" का कानून बनाने के लिए विवश कर दिया था। भारत में 'रोलेट एक्ट' (1918) और 'हिंदू कोड बिल' के विरोध भी इसके उदाहरण हैं। अतः बहुलवादियों के अनुसार प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को व्यावहारिक दृष्टि से सही नहीं कहा जा सकता। उनकी मांग है कि "समाज चूंकि संघात्मक है, इसलिए सत्ता भी संघात्मक होनी चाहिये।"

(3) सम्प्रभुता की धारणा विश्वकल्याण के लिए घातक है—आधुनिक युग में जब 'एक विश्व—एक राज्य' का स्वप्न साकार करने का प्रयास किया जा रहा है, सम्प्रभुता की अद्वैतवादी धारणा इसमें बहुत बाधक है। लास्की लिखता है कि "एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ किस प्रकार रहना चाहिये, इसके निर्णय का अधिकार एकमात्र उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता।" "ब्रिटेन को अकेले इस बात का निर्णय नहीं करना चाहिये कि वह किस प्रकार के शस्त्रास्त्र बनायेगा और दूसरे देशों से किन लोगों को अपने यहां आने देगा। इन मसलों का असर सर्वमान्य जनता के जीवन पर पड़ता है और उनकी व्यवस्था के लिए एक सुसंगठित विश्व संगठन की आवश्यकता है। यदि मनुष्यों को महान मानव समाज में रहना है तो उन्हें सहयोग मूलक व्यवहार सीखना होगा। एक विश्वराज्य में, उसका निर्माण चाहे जिस प्रकार हो और उसमें चाहे जिस मात्रा में विकेन्द्रीकरण हो, पृथक् प्रभुसत्ता के लिए स्थान नहीं है।"[8]

(4) राज्य कानून से ऊपर नहीं—बहुलवाद यह नहीं मानता कि कानून का स्रोत केवल राज्य होता है। बहुलवादियों की मान्यता है कि जितना कानूनी अस्तित्व राज्य का होता है उतना ही कानूनी अस्तित्व मनुष्य द्वारा बनाये गये अन्य संघों का होता है। यदि राज्य इस बात पर अड़ जाये कि वह अपने अलावा किसी अन्य मानवीय संघ को नहीं रहने देगा तो राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। कानून की सत्ता राज्य की अपेक्षा नहीं करती। राज्य कानून को नियन्त्रित नहीं करता वरन् कानून राज्य की शक्ति को मर्यादित करता है। प्रथाएं भी कानून का आधार होती हैं। डिग्वी का मत है कि "कानून राजनीतिक संगठन से स्वतन्त्र, उससे श्रेष्ठ और पूर्वकालिक होता है। यह प्रेरणाओं से न बनकर तथ्यों और ठोस आवश्यकताओं के आधार पर बनता है।" फिर इसे सम्प्रभु का आदेश कैसे कहा जा सकता है। क्रब का विश्वास है कि "आने वाले युग में वर्तमान राज्य एक राष्ट्रोत्तर राज्य (Supernational State) के प्रदेश बन

8, Laski, 'A Grammar of Politics', pp 55-56

जायेंगे। किन्तु इस राष्ट्रोत्तर राज्य की स्थिति से पूव अन्तर्राष्ट्रीय समाज को सम्प्रभुता की भावना त्यागकर आगे बढना होगा।"[9]

(5) **विकेंद्रित राज्य का समथन**—कायक्षेत्र बढ जाने से आधुनिक राज्य काम के बोझ से दब गय हैं। धर्म, शिक्षा, सस्कृति, व्यवसाय आदि के क्षेत्र म राज्य को हस्तक्षेप करने की क्या जरूरत है। राज्य के इस बोझ को दूर करने और कायकुशलता को बढाने के उद्देश्य से बहुलवादी विकेन्द्रित राज्य (Decentralised State) का समथन करते हैं। मैकाइवर का मत है कि "सवसामथ्य (Omnipotence) का अथ अक्षमता और असामथ्य होता है।"

(6) **कायगत चुनाव पद्धति का पक्षधर**—बहुलवाद प्रादशिक आधार पर निवाचन प्रणाली को सतोषजनक नही मानता। इस प्रणाली से विभिन्न जातिया, हितो आदि का उचित प्रतिनिधित्व नही हो पाता है। बहुलवादियो का विचार है कि विधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन उन विभिन्न व्यावसायिक, धार्मिक, सास्कृतिक व शिक्षा सबधी समुदायो के हाथ मे रहना चाहिये जिनके रूप मे मनुष्यो का सामुदायिक जीवन अभिव्यक्त होता है।

(7) **नैतिकता सर्वोपरि**—बहुलवाद राज्य की शक्ति से भी बडी एक शक्ति का अस्तित्व मानता है। इसे बहुलवादी मानवता या नतिकता की शक्ति कहते हैं। राज्य की शक्ति सर्वोपरि नही है। प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह चाहे तो राज्य के प्रति भक्ति अथवा निष्ठा रखे। यदि किसी की अन्तरात्मा राज्य की व्यवस्था को न्याय और सदाचार के प्रतिकूल माने तो उसे यह अधिकार हो कि वह राज्य के आदेशो को न माने। राज्य की सम्पूण प्रभुत्व सम्पन्नता की बात निराधार है। अत "सप्रभुता की धारणा को राजनीति शास्त्र से निकाल देना चाहिये।"

बहुलवादी विचारको मे गियक, मेटलण्ड, फिग्गिस, बाकेर, दुर्खीम, कोल मैकाइवर, लिण्डस, बाकर, डिग्वी, क्रेब, मिस फॉलेट और लास्की मुख्य हैं।

आलोचना बहुलवाद की दुर्बलताए

आलोचना बहुलवाद की दुबलताए—बहुलवाद के दोपो को निम्नाकित क्रम मे *व्यक्त किया जा सकता है*—

(1) **राज्य अन्य समुदायों के स्तर का नहीं है**—इसम कोई स देह नही कि सामाजिक जीवन म सामाजिक, व्यावसायिक, धार्मिक व आर्थिक सघा का बहुत महत्त्व है, लेकिन यह मानना शरारतपूण है कि राज्य भी इन्ही मानव सघो की भाति है। यदि राज्य को अन्य सघा की भाति मान लिया जाय तो समाज म जगल का कानून फल जायगा। यदि सभी सघा म आपसी विवाद उठ खड़ा हुआ तो उनका निणय मुश्किल हो जायगा।

(2) **प्रभुसत्ता के विभाजन का अथ है उसका नाश करना**—बहुलवादी प्रभुसत्ता

---

9 Krabbe Modern Idea of State p 217

को विभिन्न मानवीय संघों में बाँट देने के पक्ष में हैं। लेकिन प्रभुसत्ता के विभाजन का अर्थ उसे नष्ट करना है। प्रभुसत्ता के बिना राज्य अपने और दूसरे संघों के सम्बन्धों को, संघों के आपसी सम्बन्धों तथा संघों व उनके सदस्यों के संबंधों को संतुलित नहीं रख सकता। भिन्न भिन्न लोग अपनी इच्छानुसार अलग अलग संघों की आज्ञाओं को अस्थाई रूप से मानेंगे। वे लोग विभिन्न संघों को अस्थाई रूप से सम्प्रभु मानेंगे। 'अ' आज 'विद्यार्थी संघ' को सम्प्रभु मानेगा तो कल 'शिक्षक संघ' को और परसों 'आर्य समाज' को। ऐसी परिस्थिति में राज्य अशक्त और व्यर्थ बनकर मुंह ताकता रहेगा। बहुलवादी लास्की राज्य को कल्पवृक्ष की भांति बनाना चाहता है जो कठिन ही नहीं असम्भव है। ऐसा राज्य न कभी हुआ है और न कभी होगा।

(3) सम्प्रभुता का विभाजन व्यक्ति की प्रगति और स्वतन्त्रता में बाधक होगा— राज्य की सम्प्रभुता में क्षति और विभिन्न संघों के अस्तित्व और उनकी शक्ति में वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्ति राजनीतिक नेताओं जैसे नये सामन्तों के हाथ में कठपुतली बन जायेगा। डा० गणेश प्रसाद के अनुसार "प्रो० लास्की को भी ऐसी संभावना का ज्ञान था, किन्तु उसकी योजनाओं में कोई उपाय नहीं दिखाई देता जो इस परिस्थिति से व्यक्ति को बचा सके।"[10] इस तर्क का समर्थन करते हुए जिमर्न ने चेतावनी दी है कि "जो लोग राज्य की निरंकुशता की बात करते हैं वे इस साधारण सत्य की उपेक्षा करते हैं कि समीप के पड़ोसी के अत्याचार के समान दूसरा अत्याचार नहीं होता। संघ जितना ही छोटा होगा उतना ही अधिक कठोर आपके जीवन व कार्यों पर प्रतिबन्ध होगा।"[11]

(4) व्यक्तिगत नैतिकता का तर्क हानिकारक— बहुलवादी, जिसमें लास्की प्रमुख है, सम्प्रभुता की धारणा को नैतिकता के विरुद्ध बताते हैं। यदि कानून को नैतिकता की व्यक्तिगत कसौटी पर कसा जाने लगेगा तो फिर उसका लागू करना असम्भव होगा। लोगों का नैतिकता का अपना माप दण्ड होता है। जिस चीज को एक व्यक्ति अनैतिक समझता है, दूसरे की दृष्टि में वह नैतिक हो सकती है। अतः व्यक्तिगत नैतिकता का तर्क अव्यावहारिक व समाज के लिए हानिकारक है। कानूनों का निर्माण करते समय व्यक्तिगत नैतिकता की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता को ध्यान में रखा जाता है और रखना भी चाहिये।

(5) राज्य की प्रभुता ही जनता को कानून का पालन करने के लिए विवश करती है— यह सही नहीं है कि कानून का स्रोत राज्य नहीं बल्कि न्याय और सामाजिकता की भावना है। न्याय और सामाजिकता की भावना से उत्पन्न नियम तभी कानून बनते हैं जब राज्य उन्हें मान्यता देता है और उनके पीछे शक्ति निर्धारित करता है। यदि यह न हो तो समाज में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैल जाय। लोगों की सम्पत्ति, जीवन और शान्ति की रक्षा न हो सके। अतः कानून राज्य की चाहे अपेक्षा न करता हो उसका पालन राज्य के बिना सम्भव नहीं है।

---

10 पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 282।

11 Zimmern Political Thought," pp 322 2

(6) बहुलवाद काल्पनिक शत्रु पर प्रहार करता है—बहुलवादी जिस अद्वैत शत्रु पर आक्रमण करते हैं वह केवल काल्पनिक है। हीगल के अनुयायियों को छोड़कर कोई भी प्रभुसत्ता के परम्परावादी समर्थक मे राज्य संस्था के सर्वशक्तिमान होने का दावा नहीं करता। गटेल ठीक लिखता है कि "राज्य अपनी चरम बौद्धिक प्रभुता का बलिदान किए बिना भी नैतिक उत्तरदायित्वों को स्वीकार कर सकता है, अपना कार्य क्षेत्र सीमित कर सकता है, स्थानीय विकेन्द्रीकरण और वर्ग स्वार्थों के प्रतिनिधित्व का अवसर दे सकता है। बोदां, हाब्स, रूसो आदि परम्परावादी सिद्धान्तवादियों मे से कोई भी इस बात का दावा नहीं करता कि राज्य की सत्ता की आलोचना करना, या उसको चुनौती देना, उसकी अवज्ञा या उसका विरोध करना अनैतिक, अधार्मिक, तर्क हीन अथवा असामाजिक या अव्यावहारिक ही है।"[11]

(7) बहुलवाद अस्पष्ट है—अन्त में, बहुलवादी यह स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे हैं कि वे चाहते क्या हैं? यदि वे राज्य को अन्य संघो की भाँति ही रखना चाहते हैं तो क्या वे अनिवार्य राज्य और अनिवार्य नागरिकता को समाप्त कर देंगे? यदि वे अन्य मानवीय समुदायो को अधिकाधिक स्वतन्त्र और स्वायत्तशासी बनाने के पक्ष मे हैं तो वे व्यर्थ मे इस भ्रम मे पड जाते हैं कि अद्वैतवादी इसके विरोधी हैं।

बहुलवाद की देन और महत्त्व

इन दोषो के बावजूद बहुलवाद की देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसने अद्वैतवादी सम्प्रभुता की धारणा पर चोट की है जिसके आधार पर राज्य समय समय पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता रहा है। इसने जगत् के समक्ष इस तथ्य को उभारा है कि दो, चार या पाँच वर्ष मे होने वाले चुनावो द्वारा मानवीय इच्छाओं की पूर्ति और सच्चे जनतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। वास्तविक जनतन्त्र केवल बहुलवादी व्यवस्था मे ही सम्भव है। अन्त मे, बहुलवाद ने विश्व शान्ति के लिए राज्य की प्रभुसत्ता पर नियन्त्रण की जो बात की है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए सम्प्रभुता की धारणा मे सुधार आवश्यक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 सम्प्रभुता की परिभाषा दीजिये। इसके लक्षणों की विवेचना कीजिए। (राज० 1979)

2 'वैधानिक सम्प्रभुता' और लोकप्रिय सम्प्रभुता मे क्या भेद है? जनतान्त्रिक राज्य मे किस प्रकार इन दोनो का मेल स्थापित होता है?

3 निम्नलिखित मे अन्तर स्पष्ट कीजिए—

(i) वैधानिक तथा राजनीतिक सम्प्रभुता (Legal and political sovereignty) (राज० 1971)।

(ii) विधित और यथार्थ सम्प्रभुता (De Lure and De facto Sovereignty)। (राज० 1971)

---

11 आशीर्वादम कृत राजनीतिशास्त्र से उद्धृत, पृ० 715

4 सम्प्रभुता विषयक ग्रास्टिन के सिद्धान्त का सिंहावलोकन कीजिए और उस पर बहुलवादियो के ग्राक्षेपो की विवेचना कीजिए। (राजस्थान 1971)

5 बहुलवाद से क्या तात्पर्य है? सम्प्रभुता सबधी सिद्धान्त के विरुद्ध इनके तर्कों की व्याख्या कीजिए। (राज० 1972, 1975)

6 ग्रास्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। (राज० 1974, 1976, 1978, 1981)

7 बहुलवाद की मुख्य मान्यताग्रो का परीक्षण कीजिए।

— ० —

अध्याय ११

शक्ति, प्रभाव, सत्ता और वैधता (Power, Influence, Authority and Legitimacy)

'यह सिद्ध करने म मेरी रुचि रहेगी कि शक्ति सामाजिक विज्ञानो की आधारभूत अवधारणा है

—बर्ट्रेण्ड रसेल

सभी सामाजिक विज्ञाना मे शक्ति की धारणा से इतना अधिक कोई भी सम्बन्धित नही है जितना कि राजनीति शास्त्र। अरस्तू से लेकर आज तक के सभी राजनीति शास्त्र वेत्ताओ ने जो भी लिखा है उसके विश्लेषण से स देह नही रह जाता कि शक्ति उनके अध्ययन की वह केन्द्रीय धारणा रही है, जिसके सहारे उन्होने राजनीति को समझने समझाने का प्रयास किया है।[1] अरस्तू से पहले भी कौटिल्य ने शक्ति को सासारिक जीवन का आधार माना और राजनीति को दण्ड-शक्ति की नाम दिया। मैकिया वेली का सारा अध्ययन शक्ति की धुरी घूमता है। राजा कैसे शक्ति प्राप्त करे उसे कसे बनाये रखे, उसमे कैसे विस्तार करे, इन्ही बातो के चिंतन मे उसने सारा जीवन लगा दिया। हाब्स ने अपने लिवायथां म शक्ति प्राप्त करने को मनुष्य की 'अविच्छिन्न व अनवरत इच्छा बताया। ट्रीटस्के और नीत्शे का चिन्तन भी शक्ति के इदगद घूमा। आधुनिक विद्वान तो राजनीति को शक्ति का विज्ञान' ही कहते हैं, जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय म की जा चुकी है। यहाँ हम शक्ति' की व्याख्या और उसके विभिन्न पक्षो पर विचार करेंगे।

शक्ति की परिभाषा और महत्त्व—राबर्ट डहल के अनुसार शक्ति लोगा के पारस्परिक सम्बन्धो की ऐसी विशेष स्थिति का नाम है जिसके अन्तगत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित करके उसके कुछ ऐसे काय कराये जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किये जाते।"

बर्ट्रेण्ड रसेल अनुसार "एक का दूसरे क ऊपर नियत्रण शक्ति है।'

हर्बर्ट गोल्डहेमर और एडवर्ड शिल्स क शब्दो म, "अपने उद्देश्यो के अनुसार दूसरो के व्यवहार को प्रभावित करने की योग्यता का नाम शक्ति है।"

ब्याअन बगर के अनुसार शक्ति का अथ है 'दूसरा पर अपनी इच्छा थोपने की योग्यता तथा अस्वीकृति की दशा म प्रभावशाली प्रतिबन्धो पर विश्वास।"

1 S S Ulmer, 'Introductory Readings in Political Behaviour' Chicago, 1962, p 332

मार्गेंथो के शब्दो मे शक्ति का अर्थ है "दूसरे मनुष्यो के मस्तिष्क और कार्यों पर किसी मनुष्य का अधिकार व शक्ति।"

टॉनी ने इसकी परिभाषा करते हुए इसे "उसी ढग से जैसा वह या वे चाहते हो किसी व्यक्ति या समूह की योग्यता" बताया है।

अर्नाल्ड ब्रेख्त क अनुसार "अपनी इच्छा को क्रियान्वित कर सकने की योग्यता" का नाम शक्ति है।

मैकाइवर के शब्दो मे "शक्ति व्यक्तियो तथा व्यवहारो को नियत्रित करने तथा निर्देशित करने की क्षमता है।"

राबर्ट बायसटेड के अनुसार "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।'

व्यापक रूप से शक्ति "का अर्थ है—एक व्यक्ति या समूह की वह योग्यता या सामर्थ्य जिसके द्वारा वह किसी दूसरे व्यक्ति या समूह से अपनी इच्छानुसार काय करा सके, और जिस काय को वह ठीक न समझता हो दूसरे व्यक्ति या समूह को उस कार्य को करने स रोक सके।

राजनीति विज्ञान की यह मूल धारणा है। एरिक काफमन न इसे राज्य के आधारभूत तत्व के रूप म स्वीकार किया है। उसके विचार से राज्य का मूल उद्देश्य "शक्ति की वृद्धि, विकास और प्रदशन" ही है। राज्य शक्ति का दावा करता है, उसकी अभिव्यक्ति करता है उसे बनाये रखना चाहता है, उसका विकास और उसके श्रेष्ठतम रूप को पाना चाहता है। युद्ध मे ही राज्य का सही रूप स्पष्ट होता है और युद्ध की विजय ही यह मानदण्ड निश्चित करती है कि कौन राज्य सही है।

राजनीति को शक्ति से पृथक करना असभव है। शक्ति उसके अध्ययन का केन्द्रबिन्दु है। राजनीति शास्त्र के अध्ययन को यह व्यावहारिक बनाती है, उसके क्षेत्र का विकास करती है और उसे सत्ता व नियत्रण तक ही सीमित नही रहने देती। शक्ति के महत्त्व की चर्चा करते हुए राबर्ट बायसटेड लिखता है कि "शक्ति समाज की आधार-भूत सुव्यवस्था का सहारा है। जहा सुव्यवस्था है वहाँ शक्ति का अस्तित्व अवश्य पाया जाता है। शक्ति प्रत्येक सगठन के पीछे है और प्रत्येक सरचना को बनाये रखती है। शक्ति के अभाव मे न तो कोई सगठन हो सकता है और न कोई व्यवस्था।"

शक्ति की धारणा और उसकी महत्ता का सबसे विस्तृत विश्लेषण हमे लासवेल और कप्लन की रचनाओ म मिलता है। वे लिखते हैं कि 'शक्ति की अवधारणा सभवत समस्त राजनीति की मूल अवधारणा है, राजनीतिक प्रक्रिया का अर्थ है शक्ति को आकार देना, शक्ति का वितरण करना और शक्ति का उपयोग करना।" लासवेल ने कटलिन के इन विचारो का प्रशसा के साथ उल्लेख किया है कि "राजनीति विज्ञान, एक सद्धान्तिक अध्ययन के रूप म, मनुष्यो के पारम्परिक सम्बन्धो के साथ जुडा हुआ है, ऐसे सबधो के साथ जिनका उद्देश्य समूहबद्धता और प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र मे हो सकता

आज्ञाकारिता और नियंत्रण के क्षेत्र मे भी, जहाँ तक वे किसी वस्तु के उत्पादन और उपयोग की खोज म लगे हुए नही हैं, परन्तु दूसरे मनुष्यो को अपनी इच्छा क सामने झुकाना चाहते है। राजनीतिक सम्बन्धो का लक्ष्य सदा ही मनुष्यो के द्वारा शक्ति की खोज है।"

शक्ति बल (Force) और नियत्रण (control) मे अन्तर—शक्ति के समानार्थक और भी कई शब्द हैं जसे बल, नियत्रण, प्रभाव, सत्ता आदि। कई बार इन विभिन्न शब्दो का प्रयोग अदल-बदल कर होता है, लेकिन ये सब आधारभूत रूप स एक दूसरे स भिन्न हैं। इनम प्रभाव, सत्ता आदि की व्याख्या यथास्थान आगे की गयी है। यहा शक्ति और बल तथा नियत्रण म भेद स्पष्ट करना आवश्यक है।

शक्ति और बल—शक्ति छुपा हुआ बल है, जबकि बल प्रगट दिखाई देने वाली शक्ति है तथा सत्ता सस्थागत शक्ति है। शक्ति धोखाधडी चालबाजी, बेईमानी पर आधारित हो सकती है, लेकिन बल उसका एक असभ्य (हिंसक) रूप है। जब हम बल की बात करते हैं तो हमारे मस्तिष्क मे उसका वह भौतिक पक्ष उभरता है जिसके द्वारा दूसरे को दबाया जा सकता है जिसे हम साधारण भाषा म डण्डे के जोर स दबाना कहते हैं। शक्ति की तुलना म बल दबाव, शारीरिक भय, धमकी, आतक, सनिक प्रभुत्व आदि पर निभर है।

शक्ति और नियत्रण—शक्ति की तुलना म नियत्रण एक व्यापक शब्द है। इसमे शक्ति की अपेक्षा कुछ कम केन्द्रित शक्ति की भावना निहित है। नियत्रण विधायनी, कायकारी, न्यायिक, वित्तीय प्रशासकीय, लोकप्रिय, अलोकप्रिय आदि हो सकता है। नियत्रण शक्ति के काफी निकट है, सिफ इसमे और शक्ति म अन्तर यह है कि जहाँ नियत्रण म शक्ति के जोर पर आग्रह होता है वहा अभिव्यक्ति के मामले म वह बिखरी हुई प्रतीत होती है।

शक्ति के स्रोत और प्रकार

सामाजिक सगठना व साधना तथा कई प्रकार क अन्य तत्वों के मेल मिलाप पर शक्ति निर्भर होती है। इसलिए शक्ति के स्थान, काल और स्थिति क अनुसार अनेक स्रोत हो सकत हैं फिर भी कुछ महत्त्वपूण स्रोत निम्नांकित हैं—

(1) ज्ञान (2) प्राप्तियाँ (आर्थिक या भौतिक साधन) (3) सगठन (4) (5) प्रतिष्ठा या सत्ता (6) विश्वास, आदत और हित (7) विचारधारा, (8) परम्परा तथा (9) करिश्मा या चमत्कारी नेतृत्व।

जहाँ तक शक्ति के स्वरूप अथवा प्रकार का सम्बन्ध है, राबट बायसटेड न इन्हें चार भागा म बाटा है—(1) अदृश्य एवम् दृश्य शक्ति, स्वय अदृश्य ही रहती है, बल और सत्ता उसक दृश्य रूप हैं। (2) दमनात्मक तथा अदमनात्मक, बल शक्ति का दमनात्मक रूप है जबकि प्रभाव उसका अदमनात्मक रूप है। (3) औपचारिक व अनौपचारिक, औपचारिक शक्ति सविधान या कानून द्वारा निश्चित होती है। यह पद में निहित होता है। यह शक्ति का सरचनात्मक व सगठनात्मक रूप भी होता है।

अनौपचारिक शक्ति इसके विपरीत लोगों के आपसी संबंधों में निहित होती है। (4) प्रत्यक्ष व परोक्ष, शक्ति का प्रत्यक्ष रूप हम तब देखने को मिलता है जबकि उसका धारक स्वयं उसका (शक्ति का) प्रयोग करता है। इसके विपरीत जब वह (धारक) अपने अधीनस्थ लोगों के माध्यम से उसका प्रयोग करता है तब हम शक्ति के परोक्ष या अप्रत्यक्ष स्वरूप का दर्शन होता है।

केन्द्रीयकरण, क्षेत्रीयता, मूल्य, प्रवाह मात्रा, शक्ति के प्रयोग और उसके परिणाम के आधार पर भी शक्ति का वर्गीकरण किया जा सकता है, लेकिन उन सबके मूल में बायसटेड द्वारा बताया गया विभाजन देखा जा सकता है। यही वर्गीकरण संगत और अर्थपूर्ण है।

शक्ति का प्रयोग और सीमाएँ—मनमाने ढंग से शक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता। विभिन्न अनुशास्तियों (Sanctions) और साधनों—जैसे पुरस्कार देना, दण्ड देना, आर्थिक लाभ देना या रोकना आदि—द्वारा ही इसका प्रयोग संभव है। कौटिल्य ने शक्ति प्रयोग के लिए चार साधन—साम, दाम, दण्ड, भेद—बताए हैं। चूंकि शक्ति के प्रयोग में समय, देश, काल, आवश्यकता, संस्कृति और मूल्यों का महत्त्व होता है इसलिये ये अनुशास्तियाँ बदलती रहती हैं। जब किसी साधन से वांछनीय परिणाम नहीं मिलते तो उसके स्थान पर दूसरे साधनों का प्रयोग किया जाता है। कई बार एक साथ कई अनुशास्तियों का प्रयोग भी होता है।

लेकिन शक्ति का प्रयोग कभी निरपेक्ष या असीमित ढंग से नहीं होता। यह सदैव सापेक्ष होता है। अर्थात शक्ति के प्रयोग की कुछ सीमायें भी हैं। इन सीमाओं का संबंध उस देश के इतिहास, परम्पराओं, धर्म, नैतिकता, स्वीकृति प्राप्त करने के तरीकों, विभिन्न समूहों के दबाव आदि से होता है। इसके अतिरिक्त, ये सीमायें शक्ति के प्रयोग कर्त्ता की क्षमता, उद्देश्यों, पारस्परिक, संबंधों, प्रतियोगिता, कार्यपद्धतियों, पर्यावरणात्मक कारकों आदि पर भी निर्भर होती हैं।

प्रभाव
(Iflueence)

प्रत्येक मनुष्य अपने व्यवहार द्वारा दूसरों पर कुछ न कुछ प्रभाव डालता है तथा दूसरों के व्यवहार से प्रभावित होता है। राजनीति शास्त्र चूंकि मानव व्यवहार का अध्ययन है इसलिए 'प्रभाव' के अध्ययन में इसकी रुचि स्वाभाविक है। राबर्ट डहल के अनुसार प्रभाव "व्यक्तियों समूहों, समुदायों, संस्थाओं, राज्यों के मध्य सम्बन्ध का सूचक है। एक ऐसे सम्बन्ध का सूचक जिसमें एक कर्त्ता दूसरे को वह करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वह पहले नहीं करता।"[2] कार्ल फ्रेडरिक के शब्दों में "प्रभाव एक गुप्त शक्ति है। न्यूनाधिक रूप से यह शक्ति का अदृश्य रूप है।"[3] एक व्यक्ति किसी

---

2 डहल, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 40।

3 पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 124।

निश्चित क्षेत्र में उस सीमा तक दूसरे पर अपना प्रभाव रखे कहा जा सकता है जिस सीमा तक वह दूसरे व्यक्ति को, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से डराये धमकाये बिना मार्ग परिवर्तित करने के लिए विवश कर दे।" 'प्रभाव और प्रभावी का अध्ययन ही राजनीति है" (लासवेल)। यह 'जनतन्त्र का हृदय' है। सरकार जनता पर प्रभाव डालती है, उनके प्रभावित होने से शासन कार्य सरल हो जाता है और जनता सरकार पर प्रभाव डालती है ताकि शासन रुचि के अनुसार चलता रहे। 'प्रभाव को स्वीकार करने के बाद दमन व शक्ति निरर्थक हो जाते हैं" (रोबे)।

प्रभाव की प्रवृत्ति व विशेषताएँ—प्रभाव स्वेच्छा पर आधारित होता है। इसमें 'दमन' की भावना नहीं होती। यह समाज (राजनीतिक व्यवस्था) में असमान रूप से बटा रहता है। इसका कारण व्यक्तियों व समूहों का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से असमान होना है। जनतान्त्रिक व्यवस्था में बहुत से लोग राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, लेकिन सभी को एक सी सफलता नहीं मिलती और राजनीतिक प्रभाव में असमानता बनी रहती है। इस असमानता के मूल में साधनों के वितरण की असमानताएँ राजनीतिक साधनों के उपयोग की कुशलता में कमीवेशी तथा उद्देश्यों के लिए साधनों के उपयोग की भिन्नताएँ आदि कारण रहते हैं। ये समस्त कारण एक विशेष चक्करदार प्रक्रिया में घूमते रहते हैं। विशिष्ट प्रभाव रखने वाले वर्ग को समाज में अभिजन (Elite) या राजनेताओं का समूह कहा जाता है।

प्रभाव की दूसरी विशेषता यह है कि इसका मापन मुश्किल है। प्रभाव के अस्तित्व, दिशा और मात्रा को केवल सैद्धान्तिक तौर पर ही मापा जा सकता है, व्यवहार में यह जानना कठिन है कि कौन किसको प्रभावित कर रहा है, उसकी मात्रा कितनी है, और उसका प्रभाव कितनी देर रहेगा। इसका मूल कारण यह है कि प्रभाव गुप्त संश्लिष्ठ और अस्पष्ट होता है और हमारी आन्तरिक धारणाओं (विचारों, विश्वासों) आदि पर निर्भर होता है।

तीसरे, प्रभाव तात्कालिक और वास्तविक भी हो सकता है। तथा सम्भाव्य भी। प्रभाव स्थाई और अस्थायी भी होता है। दो घटनाओं के मध्य प्रभाव की जो अवस्था आज है कल उसमें वृद्धि हो सकती है अथवा न्यूनता आ सकती है। राजनीतिक व्यवस्था में इसमें घट बढ़ हो सकती है, लेकिन इसका लोप नहीं हो सकता।

प्रभाव के स्रोत—सम्पत्ति, भौतिक या शारीरिक सामर्थ्य, व्यक्तिगत आकर्षण, वाक्कुशलता या क्षमता आदि प्रभाव के अनेक स्रोत हो सकते हैं। यह उन उद्देश्यों साधनों और क्रिया विधियों पर भी निर्भर करता है जिनके लिए इसका प्रयोग किया जाता है। इतना ही नहीं राजनीति में सहयोगियों व साधनों की कुशलता और विरोधियों के विरोध का प्रभाव भी पड़ता है।

4 श्यामलाल वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, पृ० 242।

प्रभाव और शक्ति
(Illuence and Power)

दोना अवधारणाएँ काफी मिलती-जुलती हैं। इनमे निम्नांकित समानतायें और असमानताएँ हैं—

समानतायें—(1) दोनो बौद्धिक और सम्ब धात्मक हैं तथा दोनो एक दूसरे को मजबत बनाती है। एक दूसरे की पूरक हैं।

(2) दोना वैधता (Legitimacy) पाने के बाद प्रभावशाली होती हैं।

(3) दोना को एक दूसरे को आवश्यक्ता रहती है क्योंकि प्रभाव शक्ति को पैदा करता है और शक्ति प्रभाव को। कभी कभी तो यह जानना कठिन हो जाता है कि प्रभावित व्यक्ति मे व्यवहार परिवतन शक्ति के कारण हुआ है या प्रभाव के कारण।

असमानतायें—(1) शक्ति दमनात्मक होती है। उसके पीछे अनुशास्तिया होती हैं। जिस पर शक्ति का प्रयोग होता है उसके पास उसे स्वीकार करने के अतिरिक्त विकल्प नहीं होता। प्रभाव इसके विपरीत अनुबात्मक होता है। प्रभावित व्यक्ति के पास विकल्प होता है कि वह इसे स्वीकार करे या नही अर्थात् प्रभावित हो या नही प्रभावित हो।

(2) शक्ति धारक के पास स्वतन्त्र तत्व के रूप मे रहती है। उसका प्रयोग धारक दूसरे की इच्छा के विरुद्ध कर सकता है। लेकिन प्रभाव सवधात्मक होता है और उसका आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति या स्वीकृति होती है।

(3) शक्ति को कुछ गैर-जनतान्त्रिक माना जाता है। वह प्रति शक्ति पैदा करती है और भय पर आधारित होती है। प्रभाव, इसके विपरीत, जनतान्त्रिक है, वह स्वेच्छा पर आधारित होता है।

(4) प्रभाव स्थापित हो जाने पर शक्ति अनावश्यक हो जाती है, लेकिन शक्ति के प्रयोग के साथ प्रभाव समाप्त नहीं होता। शक्ति चाहे कितने परिमाण (मात्रा) में हो, उसे किसी न किसी प्रकार प्रभाव के सहारे की आवश्यकता पडती है।

(5) शक्ति का प्रयोग निश्चित, सीमित और स्पष्ट होता है, प्रभाव गुप्त, सश्लिष्ट और अस्पष्ट होता है।

(6) एक व्यक्ति शक्ति रखते हुए भी प्रभावहीन हो सकता है। इतिहास मे बहुत से अधिनायक ऐसे अधिनायक ऐसे हुए हैं। इसके विपरीत ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जिसका प्रभाव हो लेकिन उसके पास शक्ति (राजनीतिक) न हो। विनोबा भावे का प्रभाव था लेकिन उनके पास शक्ति या सत्ता नही थी। 25 मार्च 1971 से 16 दिसम्बर 1971 के मध्य मुजीबुरहमान की पूर्वी बगाल मे यही स्थिति थी, जबकि इस काल म पाकिस्तान के राष्ट्रपति का पूर्वी बगाल म प्रभाव नगण्य था, हाँ। शक्ति और सत्ता दोना उनके पास थी। वस प्रभाव वाले के पास शक्ति आ जाती है, लेकिन शक्ति वाले का प्रभाव बना रहे यह जरूरी नही है।

प्रभाव और सत्ता—सत्ता औपचारिक और सीमित होती है, लेकिन प्रभाव औपचारिक व सीमित नहीं होता। वह वास्तविक और व्यापक होता है। सत्ता निश्चित होती है, लेकिन प्रभाव गतिशील, तरल, अनिश्चित और अस्पष्ट होता है।

सत्ता म श्रेष्ठ और अधीनस्थ के सम्बन्ध विद्यमान होते हैं। अधीनस्थ श्रेष्ठ क आदेशो को बिना तक, विचार और विकल्प क मानने के लिए बाध्य होता हैं। प्रभाव सम्बन्धो की एक खुली मिली स्थिति है जो विवेक, विकल्प और निजी स्वीकृति पर ही निभर है।

सत्ता स्वय मे कोई अधिकार, शक्ति या सामथ्य नही है। वह इन सबके बिना रह सकती है और कई बार रहती भी है। एक अयोग्य शासक जब अपने पद मे आदेश देता है तो लोग पालन करते ही हैं, लेकिन प्रभाव स्वय म एक शक्ति, सामथ्य और स्थिति है। प्रभाव म आकर लोग क्रान्तियाँ कर बैठते हैं और व्यवस्था को उलट पलट देते हैं। यही कारण है कि जनतन्त्र मे प्रभाव को जितना महत्वपूर्ण माना जाता है, उतना शक्ति या सत्ता को नही। प्रभाव और सत्ता मिलकर राजनेताओ को शक्तिशाली बना देते है और शक्तिशाली बनने के बाद उनके प्रभाव का जनता सहजता स ग्रहण कर लेती है।

सत्ता
(Authority)

'सत्ता' जिसे अंग्रेजी म अथॉरिटी' कहते हैं, रोमन भाषा के 'आक्टोरिटास' (Auctoritas) से बना है, जिसका अथ 'सलाह से अधिक किन्तु आदेश से कम' होता है। कार्ल फ्रोडरिख के शब्दो मे 'वह एक ऐसी सलाह होती है जिसकी आसानी स अव-मानना नही की जा सकती।"

डयूबिन क शब्दो म वह 'संगठित समूह शक्तियो म शक्ति का प्रकटीकरण है।

रोबे के विचार स "सत्ता व्यक्तियो अथवा निजी समूहो का हमारे विषय म राजनीतिक निणय लेने तथा राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने का अधिकार है।"

बेरस्टन के शब्दो म, "सत्ता का अर्थ है कि सम्बन्धित लोगों की आम सहमति से 'शक्ति का प्रयोग किया जावे अथवा प्रयोग करने की क्षमता प्रदान की जावे।"

यूनेस्को की 1955 मे प्रकाशित एक रिपोट के अनुसार "सत्ता' उस 'शक्ति' का नाम है, जो स्वीकृत, सम्मानीय, ज्ञात और औचित्यपूर्ण हो।' बक लिखता है कि सत्ता सामाजिक और आर्थिक दबाव का फल मात्र होती है तथा इसे लागू करने के लिए बडी मात्रा मे बल का प्रयोग किया जाता है।"

सत्ता' की विभिन्न परिभाषाओ स यह स्वर उभरता है कि 'सत्ता' मे एक प्रकार की 'शक्ति' निहित होने का भाव है, जो सम्प्रभुता म निहित 'आदेश' स कुछ कम किन्तु सलाह या परामर्श से कुछ अधिक होती है। हर्बर्ट साइमन की धारणा इसका स्पष्टीकरण करती है कि 'सत्ता को निणय लेने की शक्ति के रूप मे परिभाषित

किया जा सकता है। यह दो व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों को व्यक्त करती है, जिनमें एक 'श्रेष्ठ' होता है और दूसरा 'अधीन'।" सत्ता का पालन इसलिये नहीं किया जाता कि वह श्रेष्ठ व्यक्ति या 'प्राधिकारी' द्वारा दी जाती है, अपितु इसलिये किया जाता है कि अधीन व्यक्ति की उसके पालन म सहमति होती है। यह तभी सम्भव है जबकि आदेश का स्रोत सही या उचित हो। अत सामान्य स्वीकृति के साथ शक्ति के प्रयोग के उस उपकरण को सत्ता कहा जा सकता है जो नियमों द्वारा प्रविष्ट (Prescribe) या निर्धारित होती है। टॉमस मान के विचार से, अटूट विश्वास और आज्ञाकारिता की आदत इसके दो प्रचालक तत्व हैं।

महत्त्व और भूमिका—'सत्ता' राज्य और सरकार से भी अधिक प्राचीन और मौलिक है। सभ्यता के विकास से पहले भी मानव सगठन के काय नियम के रूप मे सत्ता रही होगी, जो पशु पक्षिया के रहने के ढग से स्वयसिद्ध है। मनुष्य परिवार मे रहे या अन्य किसी सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक या प्रशासनिक व्यवस्था म—उसके सामने किसी न किसी प्रकार की सत्ता आ खडी होनी है, जिसका पालन उसे करना ही पडता है। परिवार मे पिता के आदेश मानने पडते हैं तो दफ्तर म श्रेष्ठ अधिकारी के। समाज म मुखिया या धम गुरुओ के आदेश मानने पडते हैं तो समुदाय मे श्रम सघो या राजनीतिक सगठनो के। साराश यह कि कदम-कदम पर विविध रूपो मे सक्रिय इस मायावी 'सत्ता' से सामना होता है। औपचारिक व अनौपचारिक, सरकारी और गैर-सरकारी सभी सगठनो मे सत्ता की महत्त्वपूण भूमिका होती है। पदक्रम मे स्थित व्यक्तियो की भूमिकाओ के जाल मे यह विद्यमान रहती है। इसके अनुसार ही कर्त्तव्य और दायित्व निश्चित होते हैं। सत्ता न रहे तो समस्त मानवीय सगठन—चाहे राजनीतिक हो या गैर राजनीतिक—नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगे, न तो व्यवस्थित ढग से कायसम्पादन होगा और न आचरण या व्यवहार के सम्बन्धो या रिश्तो का विकास हो सकेगा। इसलिए सत्ता मानवीय समुदायो के लिए एक अनिवाय तत्त्व है। राज्य व्यवस्था की तो यह आत्मा है।

अनुदारवादी विचारक राजनीति शास्त्र मे सत्ता की धारणा को सामाजिक स्थिरता और सभ्यता के आधार पर जारी रखना चाहते हैं, लेकिन उदारवादी इस सिद्धान्त में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सकट म फसा हुआ पाते हैं। समाजवादी इसे वग शोषण को बनाये रखने का भ्रमजाल कहते हैं और अराजकतावादी इसे "सामाजिक भ्रष्टाचार की गगोत्री' की सज्ञा देते हैं। हन्ना अरेन्ट लिखता है कि "सत्ता एक तरफ तो प्रत्यक्ष जनतन्त्र मे राजनीति के सही पक्ष का दशन कराती है, वहाँ दूसरी तरफ क्रान्तिकारी राजनीति की कुछेक शैलियो का समथन करती दीखती है।" लेकिन यह सोचना गलत है कि गैर-अनुदारवादी अथवा उग्रपथी सत्ता के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। उनकी तो समस्या मात्र यह है कि 'परिवत्तन की प्रतिबद्धता' के साथ 'सत्ता' के सिद्धान्त का तालमेल कैसे बैठाया जाये। यही कारण है कि उन्होने सत्ता के विविध सिद्धान्त रचे हैं, नये प्रतिमान गढ़े और उन्हे बिगाडा भी है—पुन किसी नये प्रतिमान की रचना के लिए। सिद्धान्त की सबसे बडी खूबी यह है कि इसके प्रबल आलोचक भी किसी

सत्ता की खोज की दिशा में ब्यापारून नजर आते हैं। अप्रिल कार्टर अपनी पुस्तक "सत्ता और जनतंत्र' (Authority and Democracy) में लिखती हैं कि यद्यपि "इस शाश्वत प्रश्न का अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला है कि क्या सत्ता वास्तव में आवश्यक है, तथापि तीन धारणायें हमारे सामने हैं—

(1) प्रेमियों तथा मित्रों के बीच सत्ता का सिद्धान्त अनावश्यक है।

(2) सत्ता (दुरुपयोग की आशंका होते हुए भी) कुछ मात्रा में आवश्यक है—उदाहरण के लिए वयस्क तथा बालक के बीच, अध्यापक और विद्यार्थी के मध्य एवम् व्यावसायिक विशेषज्ञ व सामान्य जन के बीच किसी न किसी प्रकार की सत्ता का होना आवश्यक है।

(3) विवादास्पद होते हुए भी राजनीतिक सत्ता आवश्यक है, इसका आधार है राजनीति का व्यापक होना और उसमें विभिन्न प्रकार के हितों का जुड़ा होना।"

सत्ता के प्रकार
(Kinds of Authority)

मैक्स वेबर के अनुसार सत्ता के तीन प्रकार होते हैं —

(1) परम्परागत (Traditional)—जब जनता या अधीनस्थ लोग वरिष्ठ अधिकारियों के निर्देशों को इस आधार पर मानते हैं कि "ऐसा होता चला आया है" तो सत्ता का रूप परम्परागत होता है। राजतंत्र में राजा और प्रजा का सम्बन्ध इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

(2) विवेकी व कानूनी (Rational Legal)—जब अधीनस्थ व्यक्ति किसी निर्देश को इस आधार पर मानते हैं कि वह उन उच्च स्तरीय अमूर्त नियमों के साथ मेल खाता है जिन्हें वह उचित (औचित्यपूर्ण) समझते हैं तो वह सत्ता का विवेकी व कानूनी रूप होता है। आधुनिक युग में नौकरशाही या बाबू अफसर के सम्बन्ध इसका सफल उदाहरण हैं।

(3) चामत्कारिक (Charismatic)—जब अधीनस्थ लोग अपने वरिष्ठ का केवल उसके प्रिय, श्रेष्ठ या आकर्षक लगने के कारण निर्देशों का पालन करते हैं तो उसे सत्ता के चामत्कारिक रूप का नाम दिया जाता है। 1970 के दशक में भारतीय जनता और सरकारी अधिकारियों का श्रीमती इन्दिरा गांधी के निर्देशों का (औचित्य का निर्धारण किये बिना) पालन करना चामत्कारिक सत्ता का उदाहरण कहा जा सकता है।

सत्ता के अन्य भी कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे—(अ) राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय, (आ) कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका सम्बन्धी, (इ) संविधानिक व कानूनी, (ई) राष्ट्रीय व स्थानीय, (उ) राजनीतिक व प्रशासनिक, (ऊ) एकल व बहुल, (ए) आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, तकनीकी आदि, लेकिन उन सबके मूल में 'अधीन' द्वारा 'श्रेष्ठ' के ऐसे निर्देशों के पालन की भावना होती है जो 'सलाह' से अधिक तथा 'आदेश' से कम होते हैं।

सत्ता और शक्ति
(Authority And Power)

वाल्टर उलमां (Walter ullman) लिखता है कि "दोनों ही शब्द रोम के संविधान से लिये गये हैं—सत्ता का उपभोक्ता राजा विशेष योग्यताओं से युक्त होता था, वह घटनाओं को सही मोड़ देता तथा उसका निर्णय बाध्यकारी होता था—'शक्ति' का काम 'सत्ता' द्वारा तयशुदा नीतियों को व्यावहारिक रूप देना होता था।"[5] 'शक्ति' व 'सत्ता' में मुख्यत निम्नांकित अंतर हैं—

(1) 'शक्ति' व्यक्तियों, समूहों तथा भौतिक परिस्थितियों के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता का नाम है।[6] वह आदेश देने की क्षमता है। उसे दूसरों पर थोपा जा सकता है। सत्ता थोपी नहीं जाती। वह विशेष प्रकार के कार्यकारी कदम उठाने का अधिकार है। उसका विशेष परिस्थितियों और सन्दर्भ में ही प्रयोग होता है।

(2) शक्ति स्वयं में अनिश्चित और असंस्थायीकृत होती है। सत्ता संस्थायीकृत होने के कारण अपने विषय क्षेत्र और प्रकृति में निश्चित होती है। वह बाध्यकारी कार्य-नियमों, क्रियाविधियों, परम्पराओं और मापदण्डों के सेट के रूप में होती है।

(3) 'सत्ता' की बाध्यता के पीछे शक्ति होती है, लेकिन जब 'शक्ति' का दमनकारी उद्देश्य से प्रयोग किया जाता है तो वह 'सत्ता' से अलग हो जाती है और 'शक्ति' व 'सत्ता' का अन्तर साफ समझ में आने लगता है। वस्तुत 'सत्ता' को असफल होने से बचाने के लिए ही उसे 'शक्ति' से जोड़ दिया जाता है। दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं।

(4) 'शक्ति' की पहचान के लिए किसी प्रकार के 'चिन्ह' (Marks) की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन 'सत्ता' की पहचान के लिये कई बार वर्दी (Uniform), सील मोहर, बिल्लों और बाहरी चिन्हों का प्रयोग किया जाता है।

(5) सत्ता की रचना विभिन्न अधिकारियों के पारस्परिक संबंधों से होती है जिन्ह श्रेणीबद्ध क्रम में देखा जाता है। इसके विपरीत शक्ति अपनी इच्छा को प्रभावशाली ढंग से पूरी करने की योग्यता का नाम है।

स्मिथ लिखता है कि 'शक्ति के बिना सत्ता प्रभावहीन होती है। शक्ति सत्ता के बिना प्रभुत्व स्थापित कर सकती है, लेकिन वह असंस्थायीकृत होगी। यह कार्य

---

5 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 4

6 Peter Bachrach and Morton S Baratz 'Decisions and Non Decisions An Analytical Framework,' in *Political Power*, pp 100 10

राजनीति द्वारा नियमित होता है और इससे सत्ता व शक्ति म एकीकरण स्थापित हो जाता है।"[7]

सत्ता और सम्प्रभुता
(Authority and Sovereignty)

सत्ता और सम्प्रभुता म बडा अन्तर है, लेकिन मध्य युग तक सत्ता और सम्प्रभुता को एक माना जाता था। बाद मे नवाबो (Barons) और साम तो को 'सम्प्रभु' (Sovereign) कहकर पुकारा जाने लगा। यह विवाद का विषय तब बना जब सम्प्रभुता को 'सर्वोच्च निजी शक्ति' (Supreme individual Power) की सज्ञा दी गयी और इसे समाज म अ य समस्त लोगो की इच्छाओ तथा कानूनो से भी श्रेष्ठ माना गया। सत्ता और सम्प्रभुता म विद्यमान भेद को निम्नाकित ढग स स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) सत्ता मे निहित शक्ति तक पर आधारित होती है, जबकि सम्प्रभुता म निहित शक्ति का आधार स्वेच्छाचारिता होता है।

(2) सत्ता म स्वतन्त्र कार्यपालक शक्ति की बात सुनने का आग्रह होता है, जबकि सम्प्रभुता अन्य किसी स्वतन्त्र सत्ता के विचार की विरोधी है।

(3) सम्प्रभुता के आगे विधि, ससद् चच की सत्ताओ का अस्तित्व नही, लेकिन सत्ता इन तीनो के साथ सह अस्तित्व म ही सभव है।

(4) 'सत्ता' ज्ञान, विवेक व तक की बात सुनने को तत्पर रहती है लेकिन सम्प्रभुता श्रेष्ठता की प्रतीक है। इसकी बात माननी ही पडेगी चाहे वह सामाजिक विवेक या तक पर आधारित हो या नही।

(5) सम्प्रभुता कानून का स्रोत है। इस पर अकुश नहीं होता। सत्ता इसके विपरीत कानून से शक्ति प्राप्त करती है और स्वय सयमित होती है।

(6) पूण सम्प्रभुता कहाँ वास करती है, यह निणय मुश्किल है। इसी तरह शुद्ध सत्ता किसके हाथ मे है इसका फैसला भी कम हो पाता है।

सौभाग्य से भारत उन देशो मे है जहा 'सत्ता' की समस्या अपने कठिन रूप म कभी पदा ही नही हुई। 1975 के 19 महीने के आपातकाल को छोडकर भारत के सभी प्रधानमन्त्रियो ने अपनी सत्ता का प्रयोग जन स्वीकृति और सहयोग के आधार पर ही किया है। उन्हे अपनी बात मनवाने क लिए न्यूनतम हिंसा और दमनकारी शक्ति का प्रयोग करना पडा है। लेकिन पाकिस्तान, बगलादेश आदि देशों मे सत्ता' की समस्या ने कई बार इतना उग्र रूप धारण किया कि वहाँ जनतत्र का अस्तित्व ही खतरे म पड गया। इसका मुख्य कारण वहाँ 'सत्ता' का 'वैधता' से रिश्ता टूटना रहा है। आइये, इस वैधता की धारणा को भी समझने की चेष्टा की जाय।

---

7 M G Smith 'International Encyclopaedia of Social Sciences," 1968

वैधता
(Legitimacy)

वैधता का अर्थ है, राजनीतिक सत्ता का नैतिक औचित्य। किन्तु यह नैतिक औचित्य शासक द्वारा नही, वरन् शासित द्वारा निश्चित होता है। कोई भी शासक वैधता के बिना लम्बे समय तक शांति से शासन नही कर सकता। आज जनतंत्र का युग है, जिसमे किसी लोकप्रिय या जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था का भविष्य जितना वैधता पर निर्भर है उतना आर्थिक विकास या अन्य किसी तत्व पर नही। यदि शासन के लिए आज्ञापालन आवश्यक है तो वैधता के आधार पर आज्ञापालन प्राप्त करना शायद सरलतम है। रॉबर्ट डहल लिखता है कि "वैधता का अर्थ यह विश्वास है कि राजनीतिक व्यवस्था की रचना, कार्य, निर्णय, नीतियो, पदाधिकारियों या सरकारी नेताओं मे न्यायसंगतता, औचित्य और नैतिक अच्छाई के गुण हैं।"[8]

कार्ल फ्रीडरिख के शब्दो म 'वैधता शासकों और नियमों के उचित होने (Rightfullness) की सूचक है जिससे उनकी सत्ता मे वृद्धि होती है।'

सक्षेप मे, शासक वर्ग के शासन करने के नैतिक आधार को वैधता कहा जा सकता है। चिनाक स्मिथ ने वैधता को आज्ञापालन प्राप्त करने का एक दावा व जनता द्वारा सम्मान की भावना माना है।

एटज्योनि के अनुसार यह सहभागिता से उत्पन्न होती है। यह शासक और शासितो के सम्बन्धो की चीज है। यह वह विश्वास, मनोभाव अथवा दृष्टिकोण है जो शासितो को शासक की आज्ञाओं का पालन करने के लिए नैतिक रूप से प्रेरित करता है। राजनीतिक व्यवस्था के लिए यह जरूरी है, क्योकि यदि यह विश्वास समाप्त हो जाए तो शासक और शासन की सत्ता का ह्रास होगा और विद्रोह अथवा क्रांति द्वारा नयी वैधता या नयी सरकार व शासको का जन्म होगा। पाकिस्तान मे जनरल जिया उल-हक का शासन है, लेकिन बहुत से पाकिस्तानियो की दृष्टि मे उसे वैधता प्राप्त नही है।

वैधता की सबसे बडी उपयोगिता यह है कि यह जनता (शासितो) को एक प्रकार का नैतिक सतोष देती है और शासन करने वालो को शासन करने का नैतिक आधार। जिस शासन व्यवस्था को वैधता प्राप्त होती है डाहल के अनुसार, उसे अपनी आज्ञा मनवाने के लिए शक्ति और दमन की आवश्यकता कम होती है। इसके विपरीत वैधता का जिस व्यवस्था मे अभाव होता है उसे अपनी नीतियो और नियमो का पालन कराने के लिए शक्ति और दमनकारी उपायो का सहारा लेना पडता है। फलस्वरूप विप्लव और हिंसक क्रान्ति की सम्भावना बढ जाती है और शान्ति व सतोष की भावना पर कुठाराघात होता है। जनतन्त्र म तो बहुसख्यक और अल्पसख्यक वर्ग के मध्य सहृदयता

---

8 पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 19

और शान्तिपूर्ण सम्बन्ध वैधता पर ही निर्भर करते हैं। यही कारण है कि वैधता को जनतन्त्र का प्राण कहा जाता है। सभी नेता, संगठन और दल इसके लिए कोशिश करते हैं। हिटलर, मुसोलिनी जैसे शासकों के पास सत्ता थी, लेकिन वैधता नहीं थी। शासक को स्थाई रूप से अपने पद पर बने रहने के लिए वैधता प्राप्त करना जरूरी होता है। सत्ता और शक्ति के बल पर जनता को आज्ञापालन के लिए नैतिक रूप से विवश नहीं किया जा सकता।

वैधता के स्रोत
(Sources of Legitimacy)

वैधता की मान्यता के निम्नांकित तरीके हैं, जिन्हें वैधता के स्रोत भी कहा जाता है—

1 कूटनीतिक मान्यता,
2 जनमत संग्रह अथवा चुनाव,
3 संविधान अथवा युक्तियुक्त विधि,
4 परम्परा, धर्म आदि,
5 विचारधारा, व
6 करिश्मा (चमत्कार)।

कूटनीतिक मान्यता—जब युद्ध अथवा गृह युद्ध के परिणामस्वरूप नयी व्यवस्था स्थापित होती है और उसे विदेशी राष्ट्रों द्वारा मान्यता मिल जाती है तब वैधता कूटनीति मान्यता पर आधारित कही जाती है। उदाहरण के लिए द्वितीय महायुद्ध में जापान के हारने के बाद अमरीका ने उस पर जनतांत्रिक शासन व्यवस्था थोप दी जिसे सभी राष्ट्रों ने कूटनीतिक मान्यता दे दी। यह वैधता का प्रथम स्रोत है।

जनमत संग्रह और चुनाव—वैधता का लोकप्रिय स्रोत जनमत संग्रह अथवा चुनाव है। जनमत संग्रह अथवा चुनाव के फलस्वरूप निर्मित शासन व्यवस्था सर्वाधिक वैधतायुक्त मानी जाती है।

संविधान—चुनाव या जनमत संग्रह किसी मूल विधि या संविधान की पूर्व कल्पना लेकर चलते हैं जो समय पाकर परम्परागत सम्मान प्राप्त कर लेती है। यदि शासन युक्तियुक्त विधि और संविधान के अनुसार चलता है तो व्यवस्था के प्रति वैधता पाई जाती है।

परम्परा व धर्म—परम्पराएं व धर्म भी वैधता के आधार और स्रोत हैं। जिस तरह पिता की सम्पत्ति पर उसकी मृत्यु के बाद पुत्र का अधिकार होता है, उसी तरह राजतन्त्र में पिता के बाद उसके पुत्र को राजा मान लेना वैध (Legitimate) है। दैवी अधिकार का सिद्धान्त भी परम्परा और धर्म पर आधारित वैधता का उदाहरण है। ईरान में खुमैनी के शासन को वैधता इस्लाम धर्म के आधार पर मिली है। मुस्लिम देशों में जो शासक अनुचित तरीके से सत्ता में आते हैं वैधता के लिए इस्लाम का सहारा लेते हैं।

विचारधारा—आधुनिक युग मे वैधता का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत व आधार विचारधारा है। साम्यवादियो के लिए वैधता का आधार साम्यवादी विचारधारा है और राष्ट्रवादियो के लिए राष्ट्रवाद। उनके कार्यों और आचरण को विचारधारा वैधता प्रदान करती है।

करिश्मा—मैक्स वेबर ने चमत्कारी नेतृत्व को भी वैधता का आधार बताया है। गाधी, नेहरू, इन्दिरा गाधी आदि ने भारतीय राजनीतिक जीवन म जो काय किए, यदि वे सविधान, बहुमत, परम्पराओं स हटकर भी थे तो भी उन्हे भारतीय जनता ने मान्यता दे दी। इस वैधता के मूल म उनका चमत्कारी नेतृत्व था।

काल फ्रीडरिख ने वैधता के विभिन्न स्रोतो (आधारो) को निम्नांकित ढग मे वर्गीकृत किया है—(1) धम, (2) दाशनिक व न्यायशास्त्री आधार, (3) परम्पराए, (4) क्रिया विधि, तथा (5) काय कुशलता व अनुभव सम्बन्धी आधार। इनम अन्तिम को करिश्मा के अन्तगत शामिल कर सकते हैं।

वैधता के आधारभूत स्रोत ये ही है। लेकिन एक देश म कभी एक स्रोत मुख्य होता है, अन्य गौण तो दूसरे देश मे कोई दूसरा स्रोत मुख्य हो सकता है। समय बदलने पर एक ही देश मे वैधता के आधारो म महत्त्व की दृष्टि से क्रम बदल सकता है। यदि भारत मे साम्यवादी शासन स्थापित हो जाए तो वैधता का स्रोत साम्यवादी विचारधारा हो जाएगी, धम, कूटनीतिक मान्यता या करिश्मा वैधता के आधार या स्रोत के रूप म गौण बन जायेंगे।

वैधता और सत्ता—वैधता और सत्ता म निम्नांकित अन्तर व सबध हैं —

(1) सत्ता बहुमत के समथन या शक्ति पर आधारित होती है, जबकि वैधता नैतिक स्वीकृति पर आधारित होती है।

(2) सत्ता म आज्ञापालन कराने की क्षमता होती है, जबकि वैधता स्वेच्छा पर आधारित स्वतंत्र स्वीकृति है।

(3) सत्ता दबावकारी शक्ति को स्वीकाय बनाती है, जबकि वैधता दबावो के अभाव का नाम है।

(4) सत्ता मे प्रचार (propaganda) काय की काफी भूमिका होती है, जबकि वैधता व्यवस्था (शासक व शासित के सम्बन्धो) के समग्र मूल्याकन पर आधारित होती है।

(5) सत्ता के प्रयोग म शक्ति (प्रभाव), चालबाजी आदि को मान्यता मिल चुकी है, लेकिन वैधता इनका विकल्प है। यदि शासन की नीतियो और कायक्रमो को लागू करना है तो वैधता प्राप्त व्यवस्था को शक्ति और चालबाजी की जरूरत ही नही होगी।

सत्ता की भाति वैधता भी आदेश मनमाने का अधिकार है और उसी की भाँति ही आज्ञापालन की धुरी पर घूमती है। लेकिन यदि सत्ता का अथ स्वीकृत तरीको से

पदीय सत्ता के प्रयोग करने पर जोर देता है तो वैधता का उचित तरीका से सत्ता हथियाने पर जोर देना है। क्रांतियो, आन्तरिक विद्रोहा और युद्धो के द्वारा वैधता को चुनौती दी जाती है। यदि यह प्रयास सफल होता है तो नयी सरकार या शासन व्यवस्था का जन्म होता है। वैधता, इस प्रकार, शासन का आधार और जीवन है, सत्ता नही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। इसका प्रभाव, बल तथा सत्ता स कैसे अन्तर किया जाता है ? (राजस्थान 1976)

2 शक्ति, प्राधिकार (सत्ता) तथा वैधता (औचित्य) के अर्थ व सबधो की विवेचना करें। (राजस्थान 1978)

— ० —

अध्याय १२

राष्ट्र और राष्ट्रीयता
(Nation and Nationality)

"राष्ट्र एक ही भूभाग में रहने वाले उन मनुष्यों का संगठन है जो चाहे एक शासन के अन्तर्गत हो या नहीं परन्तु जिनमें एक लम्बी अवधि से आने वाली सामंजस्य की ऐसी भावना हो जिससे यह कहा जा सके कि वह एक ही जाति के सदस्य हैं।

—लिटर

'राष्ट्र' जिसे अंग्रेजी में 'नेशन' (Nation) कहते हैं, लैटिन भाषा के शब्द 'नेश्यो' (Natio) से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'जन्म' या 'जाति' होता है। अतः शब्द-उत्पत्ति के आधार पर राष्ट्र का अर्थ हुआ—एक ऐसा जाति समूह जो अन्य समूहों से भिन्न हो। सत्रहवीं शताब्दी तक इस शब्द (राष्ट्र या नेशन) का उपयोग किसी राज्य की उस आबादी को व्यक्त करने के लिए किया जाता था जिसमें जातीय एकता पायी जाती थी। 1772 में पोलण्ड के विभाजन के समय वहां के निवासियों ने जब यह अनुभव किया कि वे लोग एक जाति और एक देश के हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति समान है, उनकी भाषा और परम्परागत रीति रिवाज समान हैं, अतः उन्हें विभक्त करके अन्याय किया गया है, तब राष्ट्र की भावना को पहली बार उन लोगों ने अनुभव किया। अतः उस समय राष्ट्र के लिए पांच आवश्यक बातें मानी गयीं—देश, सभ्यता, संस्कृति, भाषा और रीति रिवाज अर्थात् एक देश में रहने वाले, समान सभ्यता और संस्कृति को मानने वाले, समान भाषा बोलने वाले तथा समान रीति रिवाजों के मानने वाले लोगों को राष्ट्र की संज्ञा दी गई। कुछ दिनों बाद इनमें समान धर्म की भावना भी शामिल हो गयी तथा फ्रांस की राज्यक्रान्ति के जमाने में देशभक्ति के भाव को भी इसमें निहित कर दिया गया। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' के अर्थ विशिष्ट हो गये। 'राष्ट्र' और 'जाति' दो भिन्न शब्द समझे जाने लगे। राष्ट्र शब्द का अर्थ
"

तीन राष्ट्रीयताओं के लोगों से बना स्विट्जरलैण्ड राष्ट्र' की श्रेणी में आता है, क्योंकि तीनों प्रकार के लोग स्वाभाविक रूप से आपस में मिल जुलकर रहने में विश्वास करते हैं।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता—बार्कर ने ठीक ही लिखा कि "राष्ट्र एक निश्चित भू भाग पर निवास करने वाले व्यक्तियों का समूह है जो सम्पर्क के तथ्य के कारण परस्पर एकता के सूत्र में आबद्ध हो।" जिम्मी के अनुसार, राष्ट्र बनने के लिए एक ही सामाजिक समूह के व्यक्तियों में एक निश्चित समय में ऐसी चेतना विद्यमान होना आवश्यक है कि भू भाग और उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों के मध्य घनिष्ठ और निकटस्थ पारस्परिक निर्भरता की भावना है। यह पारस्परिक निर्भरता की भावना समाज के सभी वर्गों, शक्तिशाली और निर्बल, धनी, और निर्धन शिक्षित और अशिक्षित, शासक और शासित में होनी चाहिए। संक्षेप में, राष्ट्र लोगों के ऐसे संगठन का नाम है जिसमें वे विशेष रूप से भाषा और रीति रिवाजों के आधार पर एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं। एक सामान्य सभ्यता उन्हें विदेशियों से पृथक् करती हुई एकता का बोध कराती है तथा यह बन्धन जो राज्य के बन्धन से पृथक् होता है उन निवासियों में पाया जाता है।[2]

राष्ट्र राष्ट्रीयता की अगली सीढ़ी है। राष्ट्रीयता राष्ट्र की प्रारम्भिक स्थिति है। जब कोई जनसमूह भाषा, धर्म, इतिहास, जाति आदि के फलस्वरूप भावनात्मक रूप से आपस में जुड़ा हुआ स्वयं को उसी प्रकार दूसरे जनसमूह से भिन्न समझता है तो उसे राष्ट्रीयता कहते हैं। जब उस जनसमूह में राजनीतिक रूप से संगठित होने का भाव आ जाता है या वह राजनीतिक रूप में संगठित हो जाता है तब उसे राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्रीयता मूलत एक मानसिक प्रवृत्ति या भावना है। जे० एच० रोज के शब्दों में 'यह दिलों की ऐसी एकता है जो एक बार बनकर कभी नहीं बिगड़ती। जिमन के अनुसार 'धर्म की भांति राष्ट्रीयता भी आत्म परक (Subjective) है मनोवैज्ञानिक है, मन की एक स्थिति है, एक आध्यात्मिक धारणा है भावना की, विचार की और जीवन की एक पद्धति है।' राष्ट्रीयता एक सामूहिक नाम है जो उन मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक तत्वों की ग्रंथि का दिया जाता है जो राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने वाला सिद्धांत प्रस्तुत करती है (बर्न्स)।"

राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता में अन्तर—सामान्य बोलचाल में राष्ट्र शब्दों का प्रयोग अदल-बदलकर किया जाता है। लेकिन राज्य राष्ट्र और राष्ट्रीयता तीनों में बड़ा अन्तर है। प्रथम, राज्य एक कानूनी धारणा है जबकि राष्ट्र मानसिक धारणा है। यह एक मनोदशा है। दूसरे निश्चित भू भाग राज्य का आवश्यक तत्त्व है, लेकिन राष्ट्र का नहीं। भूमि राष्ट्र का सहायक तत्त्व अवश्य है, अनिवार्य नहीं। तीसरे, राज्य के लिए चार तत्त्व – भूमि, जनसंख्या, सरकार, सम्प्रभुता—अनिवार्य हैं। इसके विपरीत राष्ट्र एक सांस्कृतिक इकाई है जिसका निर्माण वंशानुगत अथवा भौगोलिक एकता के आधार पर होता है। चौथे, राज्य के पास ऐसी कोई सर्वोच्च शक्ति नहीं होती। सम्प्रभुता के

2 ब्लश्ली, 'थ्योरी आफ दि स्टेट," पृ० 90

कारण राज्य के पास अनिवार्य रूप से अपने आदेशो का पालन कराने की शक्ति होती है जबकि राष्ट्र का प्रतीक केवल आध्यात्मिक अथवा सास्कृतिक एकता है, दण्ड या शक्ति नही। पाँचवें एक राज्य के कई राष्ट्र हो सकते हैं और एक राष्ट्र म कई राज्य।

कुछ इसी प्रकार के अन्तर राज्य और राष्ट्रीयताओ के मध्य भी विद्यमान हैं। राज्य का आधार वैधानिक और राजनीतिक होता है, राष्ट्रीयता का जातीय और सास्कृतिक। भू भाग की दृष्टि से राज्य का क्षेत्र निश्चित होता है, लेकिन राष्ट्रीयताओ की कोई सीमा नही होती। उदाहरण के लिए, इटली, भारत, सोवियत सघ, बेल्जियम, *स्विटजरलैण्ड आदि राज्यो म एक से अधिक राष्ट्रीयताओ का* निवास है। इजराइल की स्थापना से पूर्व यहूदी दुनिया के अनेक राज्यो मे फैले हुए थे। राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीयता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए सी० जे० एच० हेज लिखते हैं कि "एक राष्ट्रीय राज्य हमेशा राष्ट्रीयता पर आधारित रहता है पर राष्ट्रीयता का अस्तित्व राज्य के बगर भी हो सकता है। राज्य मूलत राजनीतिक होता है, राष्ट्रीयता प्रधान रूप से सास्कृतिक होती है और केवल सयोगवश राजनीतिक हो जाती है।"[3]

राष्ट्रीयता के तत्त्व
(Factors of Nationality)

राष्ट्रीयता का निर्माण करने और उसे सुदृढ बनाने वाले प्रमुख तत्त्व निम्नाकित हैं—

भौगोलिक एकता (Geographical Unity)—बर्नार्ड जोजेफ का विचार है कि भौगोलिक एकता, जिसे प्राय मातृभूमि कहते हैं, राष्ट्रीयता के लिए बहुत जरूरी है। वास्तव म किसी स्थान की जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियां वहाँ के निवासियो के शारीरिक गठन, रहन सहन, चरित्र आदि पर बडा प्रभाव डालती हैं। जलवायु के अनुसार उनके रहन सहन, उनके उद्योग धधो, उनके कारोबार आदि म समानता होती है और *यही समानता उनम एकता की भावना उत्पन्न करती है।* इसके अतिरिक्त पशुओ की भाँति मनुष्यो मे भी अपने निवास स्थान या जन्म भूमि के प्रति अगाध प्रेम होता है। अत निश्चित भूमि के बिना राष्ट्रीयता की भावना जागृत नही हो सकती। यूरोप की घूमने फिरने वाली जिप्सी (Gypsies) जातिया या बजारा म राष्ट्रीयता के भाव नही होते क्योकि वे किसी निश्चित भू भाग पर निवास नहीं करते। प्राचीन काल म विश्व साम्राज्य के लिए अपनी जन्मभूमि छोडने वाले रोमन लोगो ने अपनी राष्ट्रीयता को खो दिया था। इस प्रकार प्रादेशिक या भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता के विकास और दृढता मे बडी सहायक होती है। रत्नस्वामी लिखते हैं, ' राजनीति हम विभाजित करती है, धर्म हमारे बीच दीवारें खडी करता है, सस्कृति हमे टुकडा म बाँटती है, पर हमारा देश और देश की धरती का प्यार हम एक सूत्र म बाँध सकता है।"

पर इसके अनेक अपवाद भी पाये जाते हैं। युगों से यहूदियों के पास अपना कोई

Hayes "Essays in Nationalism" Macmillan, London, p 5

देश नहीं था, फिर भी यह आशा ही यहूदी राष्ट्रीयता को जीवित रख सकी और उन्हें शक्ति देती रही कि किसी न किसी दिन पैलेस्टाइन उन्हें वापस मिल जायगा। जर्मनी और फ्रांस के बीच प्राकृतिक भौगोलिक भिन्नताएँ नहीं हैं फिर भी इन दोनों देशों में बड़ी सबल भिन्न राष्ट्रीयताएं हैं।

राष्ट्रीयता के लिए भौगोलिक एकता की आवश्यकता तो अवश्य है, लेकिन प्रकृति द्वारा निर्धारित प्रदेशों को राष्ट्रीयता के आधार पर विभाजित करना संघर्ष और युद्धों को आमन्त्रित करना है।

जातीय एकता (Racial Unity)—जातीय एकता लोगों में एक दूसरे के लिए सहानुभूति एवं समीपता की भावना उत्पन्न करती है। यदि जातियों में मतभेद विद्यमान हों तो कोई भी राष्ट्रीयता अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। इसलिए जातीय एकता को राष्ट्रीयता के लिये आवश्यक माना जाता है। जिमन तो इसे राष्ट्र की एकता के लिए प्रमुख तत्व मानता है।

परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो जातीय एकता को राष्ट्रीयता के लिए अनिवार्य नहीं मानते। उनका विचार है कि "जाति एक ऐसी चीज है जो स्वयं ही बनती बिगड़ती रहती है और राजनीति में इसका कोई महत्व नहीं है।" विल्सबरी के शब्दों में "साधारणतया राष्ट्रीयता के निर्माण में जाति का अब कोई महत्त्व नहीं है। किसी भी राष्ट्र में कोई भी शुद्ध जाति नहीं है। मनुष्य सब जगह वर्णसंकर है।" मुसोलिनी ने भी कहा था कि "जाति एक भावना है वास्तविकता नहीं। कोई भी बात मुझे विश्वास नहीं दिला सकती कि जीवशास्त्र की दृष्टि से आज कहीं भी कोई शुद्ध जाति है।" स्विटजरलैण्ड और कनाडा के उदाहरण सामने हैं जहाँ विभिन्न जातियों के लोग एक साथ रहते हैं और एक सुदृढ़ राष्ट्रीयता का निर्माण कर चुके हैं। दूसरी ओर, फिन (Finns) लोगों को एक जाति माना जा सकता है, लेकिन वे विभिन्न राष्ट्रीयताओं में बटे हुए हैं।

वास्तव में राष्ट्रीयता जातियों के पार पार निकल जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में राष्ट्रीयता के विकास के लिए जातीय एकता अवश्य आवश्यक होती है, परन्तु बाद की अवस्था में उसकी आवश्यकता कम हो जाती है। भारत का उदाहरण सामने है जहाँ जातीय विभिन्नताओं के बावजूद एक राष्ट्रीयता का विकास हुआ है।

विचारों या आदर्शों की एकता (Unity of Ideas and Ideals)—विचारों या आदर्शों की एकता जिसे सामान्य संस्कृति (Common Culture) भी कहते हैं लोगों को एक-दूसरे के निकट लाने तथा उनमें सहयोग की ऐसी भावना उत्पन्न करने का कार्य करती है जिसे आसानी से नष्ट नहीं किया जा सकता। सामान्य संस्कृति के अभाव में राष्ट्रीयता की भावना के विकास का कार्य मुश्किल है। रम्जे म्योर लिखता है कि "महान पुरुषों पर गर्वित होना, वर्तमान पर समान विचार और समान भविष्य को निश्चित करना—ये सभी राष्ट्रीय भावना को सजीव और सबल बनाते हैं।" [illegible] कहता है कि "धन, राष्ट्रीय नीति पर गर्व और चार पीढ़ी जैसी बातों का भी सबसे राष्ट्रीयता को

सुदृढ़ बनाने में हाथ है। यद्यपि ये बातें देखने में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम पड़ती।"

(4) भाषा की एकता (Unity of Language)—राष्ट्रीयता के निर्माण में सामान्य भाषा का बहुत महत्त्व है। भाषा की समानता लोगों के विचारों और भावों में एकरूपता लाती है, नैतिकता, आचरण और न्याय के मानदण्ड स्थिर करती है, सामान्य ऐतिहासिक परम्पराओं को कायम करती है तथा एक सामान्य राष्ट्रीय मनोवृत्ति को उत्पन्न करती है। पोल (पोलैण्डवासियों) लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को जीवित करने और उसे बनाये रखने में उनकी एक ही भाषा ने बहुत योगदान दिया है।

जिन देशों में राष्ट्रीयता के अन्य तत्त्व सुदृढ़ हो, वहाँ अवश्य सामान्य भाषा के बिना काम चल सकता है जैसे स्विटजरलैण्ड, जहा तीन भाषाएँ बोली जाती हैं, लेकिन अन्य तत्त्वों की दृढ़ता के कारण राष्ट्रीयता को जीवित रखने में सामान्य भाषा की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। अमरीका और कनाडा के नागरिक एक ही भाषा बोलते हैं और एक दूसरे के पड़ौसी भी हैं, लेकिन आपस में मिलकर एक राष्ट्र बनने को कभी तैयार नहीं होंगे। अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीयता के विकास में भाषा की एकता बहुत सहायक होती है, लेकिन यह अनिवार्य नहीं है।

(5) धर्म की एकता (Unity of Religion)—इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि राष्ट्रीयता के विकास में धार्मिक एकता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ईसाई धर्म के स्थापित होने पर ईसाई राज्यों व पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। स्काटलैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट धर्म व जॉन नाक्स के विचारों ने राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने का कार्य किया। मुसलमानों ने संसार के अनेक भागों में धर्म के आधार पर मुस्लिम राष्ट्रों की स्थापना की है। यहूदी राष्ट्रीयता का आधार भी धर्म है।

औद्योगिक सभ्यता के उदय के बाद यद्यपि धर्म की एकता अब कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं रह गया है, तथापि कुछ क्षेत्रों में पुरानी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण अब भी धर्म राष्ट्रीयता का आधार बना हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना के विकास ने अवश्य उसे आघात पहुंचाया है और लोग यह मानने लगे हैं कि धार्मिक कट्टरपन या धर्मान्धता कभी किसी जाति को महान् नहीं बना सकती। गानर लिखता है कि 'धार्मिक सहिष्णुता की आधुनिक भावना के फलस्वरूप अब यह (धर्म) राष्ट्रीयता को निश्चित करने वाला एक आवश्यक अथवा महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं रह गया है।' हेज के अनुसार 'अधिकांश आधुनिक राष्ट्रीयताएँ धार्मिक एकरूपता पर जोर दिए बिना भी विकसित होती रहती हैं।'"

(6) सामान्य आर्थिक हित (Common Economic Interests)—कुछ लोग सामान्य आर्थिक हितों को भी राष्ट्रीयता के विकास का आवश्यक तत्त्व मानते हैं। अन्य तत्त्वों के साथ मिलकर समान आर्थिक उद्देश्य जातीय एकता को दृढ़ बनाते हैं। जापान और आस्ट्रेलिया की राष्ट्रीयताओं के विकास में इनकी प्रमुख भूमिका रही है। आस्ट्रेलिया के राजनीतिज्ञों ने युद्ध के दौरान 'श्वेत आस्ट्रेलिया-नीति' का समर्थन इस

भय के कारण किया था कि यदि प्रवासियों के विषय में लगे हुए प्रतिबन्ध हटा दिये गये तो आस्ट्रेलिया में मंगोल अथवा भारतीय आकर भर जायेंगे और आस्ट्रेलियाई लोगों का आर्थिक जीवन कष्टमय हो जायेगा।

लेकिन धर्म की भांति सामान्य आर्थिक उद्देश्यों से भी अकेले राष्ट्रीयता की भावना पैदा नहीं होती। उसके लिए जातीय व सांस्कृतिक एकता भी जरूरी है। रेमजे ठीक लिखता है कि "आर्थिक हितों की एकता एक सीमा शुल्क संघ (Customs Union) का निर्माण करती है किसी राष्ट्र का नहीं।'

(7) समान इतिहास (Commom History)—दीर्घकाल तक साथ रहने, सामूहिक मान-अपमान, सुख दुख झेलने, बाह्य आक्रमणों का मिलकर सामना करने या किसी मजबूत सरकार की अधीनता में वर्षों तक रहने के कारण भी लोगों में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास होता है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि राष्ट्रीय नेता जनता में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने के लिए अनेक बार पुरानी स्मृतियों, घटनाओं व कार्यों को दोहराया करते हैं। रेम्जे म्योर ने समान इतिहास या ऐतिहासिक परम्परा को राष्ट्रीयता दृढ़ करने का अनिवार्य तत्व माना है।

(8) समान कष्ट (Common Suffe ings)—कुछ विद्वान् समान इतिहास से पृथक समान रूप से मुसीबतें झेलने को भी राष्ट्रीयता के विकास का आवश्यक तत्व मानते हैं। इतिहास में इसके बहुत से उदाहरण भी हैं कि अत्याचारों ने राष्ट्रीयता को दृढ़ किया है। जिमन के विचार से यूरोप में राष्ट्रीयता का उद्भव राजनीतिक अत्याचारों के फलस्वरूप ही हुआ था। फ्रांस और प्रशा के मध्य 1870 के युद्ध के बाद ही फ्रांस में राष्ट्रीयता की भावना तीव्र हुई थी। मूरा के अत्याचार तथा नेपोलियन के युद्धों ने स्पेन के निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र किया और अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे जीवित रखा। आयरलैण्ड की राष्ट्रीयता के सुदृढ़ विकास के लिए अंग्रेजों के अत्याचार को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है।

लेकिन इन उदाहरणों के होते हुए भी, ब्रोगैक की यह बात विचारणीय है कि "मात्र अत्याचार ही वर्ग या जाति को स्वतः राष्ट्र में नहीं बदल देता।' उससे यह जाति (या वर्ग) अनेक स्वार्थी सम्प्रदायों में भी बंट सकता है व एक या दूसरा सम्प्रदाय अत्याचारी का कृपापात्र बनने की कोशिश कर सकता है—जैसा कि भारतीय इतिहास में हुआ है।

(9) समान राजनीतिक आकांक्षायें—(Common Political Aspirations)—समान राजनीतिक उद्देश्य और आकांक्षाएँ जैसे राष्ट्र बनने की इच्छा, भी राष्ट्रीयता के विकास के लिए जरूरी हैं। डा० अम्बेडकर भारतीय राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में इन पर बहुत जोर देते थे। मेजिनी व ट्रायत्श्के ने भी 'एक राष्ट्र बनने की इच्छा' को राष्ट्रीयता का प्रधान तत्व माना है, क्योंकि समान राजनीतिक उद्देश्य त्याग और सहयोग की भावनाओं का अत्यधिक विकास करते हैं जिनकी राष्ट्रीयता के लिए बहुत जरूरत होती है।

निष्कर्ष—राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्वो के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनम से कोई भी तत्व अकेले राष्ट्रीयता का विकास नही कर सकता। वस्तुत राष्ट्रीयता अपने विकास के लिए अनेक तत्वो पर निर्भर रहती है जिनम प्रमुख का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भी कई तत्व हो सकते है। जैसे कि गिलक्राइस्ट ने "कुशासन को राष्ट्रीयता का जन्मदाता बताया है। लेकिन उन तत्वो को केवल राष्ट्रीयता के विकास मे सहायक तत्वो के रूप मे ही स्वीकार किया जायेगा, आवश्यक तत्वो के रूप म नही।

क्या भारत राष्ट्र है ?
(Is India a Nation)

बहुत से लोग भारत को राष्ट्र नही मानते। इनम स्ट्रैची और चर्चिल जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो तथा सेलिग हैरीसन जैसे अमरीकी पत्रकारो का नाम लिया जाता है जिनके विचार से भारत विभिन्न राष्ट्रीयताओ वाला देश है, उसे एक राष्ट्र कहना उचित नहीं है। यह सही है कि भारत मे विभिन्न जातिया, रीति रिवाजो, परम्पराओ, धर्मों और भाषाओ वाले रहते हैं तथा यदा कदा उनके आचरण म यह भिन्नता उभर कर सामने भी आ जाती है। साम्प्रदायिक दगे भी होते हैं और क्षुद्र स्वार्थों से प्रेरित होकर प्रान्तीय स्वायत्तता की माँगें भी उठायी जाती हैं। लेकिन इनके आधार पर यह मानना कि भारत एक राष्ट्र नही है, सर्वथा गलत है। भारतीय संस्कृति की एक विलक्षण विशेषता अनेकता मे एकता है जो दूसरे देशो और संस्कृतियों म नहीं पायी जाती जिसके कारण कुछ लोग भारत को एक नहीं अनेक राष्ट्र मानने की भूल करते हैं।

भारतीयो की समान राजनीतिक आकाक्षाएँ हैं, समान आर्थिक स्वार्थ, समान एतिहासिक परम्परायें हैं जो दृढ राष्ट्रीयता का निर्माण करती हैं। विभिन्न धर्मों के तीर्थस्थल चारो दिशाओ मे विद्यमान हैं। ब्रिटिश शासन के अत्याचारों का सबने एक होकर विरोध किया था। स्वतन्त्रता के बाद होने वाले तीन पाकिस्तानी और एक चीनी आक्रमण का सभी धर्म और जाति वालों ने (जिन्हें कुछ पश्चिमी दूषित राष्ट्रीयता का मानते हैं) एक होकर सामना किया था जो एक राष्ट्रीयता वाले राष्ट्र में ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त, गाधी और नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेता सभी लोगों के लिए चाहे वे किसी जाति या वर्ग के हो, पूजनीय और प्रेरक रहे हैं। भारतीय संविधान भी धर्म निरपेक्षता और समानता सम्बन्धी प्रावधानों के आधार पर एकता और सद्भाव का द्योतक है। ये सभी वास्तविकतायें भारत को एक राष्ट्र बनाती हैं, इसे राष्ट्र न मानना केवल विदेशी दुष्प्रचार है।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त
(Theory of Self-Determination)

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त, जिसे "एक राष्ट्र, एक राज्य का

(Theory of one nation, one State) भी कहते हैं, आधुनिक युग में काफी चर्चा का विषय है। इसकी मूल मान्यता है कि प्रत्येक राष्ट्रीयता का अपना व्यक्तित्व होता है, अत उसे अपने भाग्य का निर्णय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये—अर्थात् वह चाहे तो किसी एक राज्य के अधीन अपनी स्वायत्तता का उपयोग करे अथवा एक पृथक राज्य बना ले।

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोगों को एक साथ एक राज्य में रखने से राष्ट्र भक्ति की भावना समाप्त हो जाती है और आन्तरिक विवाद पैदा हो जाते हैं जिनसे राज्य की समृद्धि, शान्ति और व्यवस्था को नुकसान पहुँचता है। अत प्रत्येक राष्ट्रीयता के लिए स्वतन्त्र राज्य की व्यवस्था होनी चाहिए। इस सिद्धान्त के समर्थक जान स्टुअर्ट मिल का यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि "स्वतन्त्र संस्थाओं की सामान्य रूप से यह आवश्यक शर्त है कि शासन की सीमाएँ राष्ट्रीयताओं की सीमाओं के अनुरूप हों।" "बहुराष्ट्रीय देशों में स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास लगभग असम्भव है।" रैम्जे म्यूर का भी यही मत था कि "जब तक संसार के, विशेष रूप से यूरोप के, राज्य राष्ट्रीय आधार पर संगठित नहीं हो जाते तब तक शान्ति और सुरक्षा विद्यमान नहीं रह सकती।"

सिद्धान्त का विकास— राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का उद्भव 1815 की वियना कांग्रेस से माना जाता। वियना निर्णय इस धारणा के अनुकूल था। प्रथम महायुद्ध में इस सिद्धान्त को तब और बल मिला जब अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने घोषणा की कि "आत्मनिर्णय महज एक नारा नहीं है, अपितु यह कार्य करने का अनिवार्य सिद्धान्त है जिसका उल्लंघन भविष्य में राजनयिक संकट को आमन्त्रण देकर ही कर सकते हैं।" 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रीयताओं के आधार पर यूरोपीय महाद्वीप में राज्यों की रचना करके पश्चिमी राष्ट्रों ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को औपचारिक मान्यता प्रदान कर दी। इसके बाद विश्व के अनेक क्षेत्रों में राष्ट्रीयता के आधार पर राज्यों की माँग उठायी गयी और उनकी स्थापना भी हुई। इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, पोलैण्ड, फिनलैण्ड, यूगोस्लाविया, चेकोस्लाविया आदि छोटे छोटे राज्य इसी आधार पर बने। एक पृथक यहूदी राज्य के लिए यहूदियों ने लम्बा संघर्ष किया और 1948 में स्वतन्त्र इजरायल का निर्माण करा कर ही दम लिया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जिन्ना या मुस्लिम लीग का दो राष्ट्रों का सिद्धान्त (Two nation theory) भी इसी बुनियादी माँग को लेकर था कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक राष्ट्रीयताएँ हैं और उनके लिए पृथक स्वतन्त्र राज्यों—भारत तथा पाकिस्तान—की स्थापना की जानी चाहिए।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के संविधान (चार्टर) के ग्यारहवें अध्याय में भी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की बात की है, तथापि द्वितीय महायुद्ध के बाद इस सिद्धान्त का पतन हुआ है। जिमर लिखता है कि "आज इस अवधारणा के मानने वाले कम लोग ही मिलेंगे।"

सिद्धान्त के पक्ष मे तर्क

(1) विकास और प्रगति की दृष्टि से सिद्धान्त का समर्थन करते हुए यह तर्क दिया जाता है कि इसके अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर राष्ट्रीय समूहो का शोषण नहीं होगा। वे अपने हितो की रक्षा के लिए जैसा चाहें आवश्यक कदम उठा सकेंगे, क्योंकि, जिमन के शब्दो मे, "मातृभूमि का प्रेम लोगो मे उच्च स्तरीय रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा फूंक देता है।"

(2) अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की समस्या हल करने मे इससे सहायता मिली है। बहुराष्ट्रीय राज्यो मे अल्पसंख्यक सदैव असंतुष्ट रहते हैं। इस सिद्धान्त के मानने से एक राज्य मे एक ही राष्ट्रीयता का निवास होता है, जिससे अल्पसंख्यकों का प्रश्न ही नहीं उठता।

(3) यह सिद्धान्त जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है, क्योंकि यह सभी को अपनी सरकार बनाने और उस पर नियन्त्रण रखने का अधिकार देता है। प्रत्येक राष्ट्रीयता का अपना राज्य होता है, इसलिए व्यापक स्तर पर जनतान्त्रिक सिद्धान्तो का लागू करना सम्भव होता है। मैकाइवर लिखता है कि "इसने हमारे आधुनिक जनतन्त्रो का मार्ग दर्शन किया है।"

(4) इस सिद्धान्त के आधार पर गठित राज्य मे अधिक एकता सम्भव है। एक ही राष्ट्रीयता होने से भावात्मक विरोध की सम्भावना कम होगी और राज्य की कार्य-कुशलता व संगठन मे दृढ़ता पायी जायेगी।

विपक्ष मे तर्क

(1) राष्ट्रीय आत्मनिर्णय सिद्धान्त के आलोचक यह नहीं मानते कि इसके अन्तर्गत संगठित व शक्तिशाली राज्य व जनतान्त्रिक शासन की सफलतापूर्वक स्थापना हो सकती है। सोवियत संघ, स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका आदि बहुराष्ट्रीय व्यवस्था वाले देशो मे संगठित शक्तिशाली सरकारें हैं और उनमे से दो मे तो जनतान्त्रिक पद्धति सफलतापूर्वक कार्य कर रही है।

(2) एक राष्ट्र, एक राज्य के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप मे लागू करना कठिन है। इसको मानने से स्विट्जरलैण्ड को तीन, बेल्जियम को दो, सम्पूर्ण यूरोप सडसठ और एशिया व अफ्रीका को अनगिनत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्यों मे विभक्त करना पड़ेगा। फलस्वरूप वर्तमान राज्य व्यवस्था नष्ट हो जाएगी। दूसरी जाति या धर्म के लोगो का रहना राज्यो मे मुश्किल हो जायेगा। आर्थिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध होगा। विश्व में संकीर्णता बढ़ेगी। जोजेफ लिखता है 'एक राष्ट्र, एक राज्य का सिद्धान्त एक खतरनाक सिद्धान्त है और विश्व की प्रगति मे प्रधान बाधा है।" उसका कहना है कि राष्ट्रीयता और राज्य दो भिन्न धारणायें हैं तथा राष्ट्रीयता का अस्तित्व राज्य का अस्तित्व समाप्त होने पर भी बना रह सकता है। इसके विपरीत, राष्ट्रीय निष्ठा और राज्य की निष्ठा दो भिन्न वस्तुएँ हैं और दोनो का अस्तित्व एक साथ रह सकता है, क्योंकि राष्ट्रीयता केवल इतना चाहती है कि सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के लिए

स्वाधीनता हो और कुछ हद तक समूह स्वायत्तता (Group autonomy) हो—खासकर साम्प्रदायिक मामलो म। जोजेफ का विश्वास है कि ससार म शान्ति और व्यवस्था की आशा इस सिद्धान्त के माने जाने मे ही है कि अनेक राष्ट्रीयताएँ या जातियाँ एक ही राज्य के भीतर सहयोग और शान्ति से रह सकती हैं और उनमे से प्रत्येक अपने राष्ट्रीय जीवन का अनुगमन कर सकती है।'[4]

(3) प्रशासकीय और आर्थिक दृष्टि से भी यह सिद्धा त दोषपूर्ण है। छोटे छोटे राज्यो के पदा होने से अनेक प्रशासकीय व आर्थिक समस्याएँ उठ खडी होगी जिनका समाधान सीमित स्वरूप, क्षमता और साधनो के बल पर मुश्किल होगा। एक राज्य म कई राष्ट्रीयताओ के कारण अधिक गतिशीलता पायी जाती है, विविधता स्वत आर्थिक विकास की गति को चतुर्मुखी और तीव्र बनाती है।

(4) इससे विश्व शान्ति और व्यवस्था को भी खतरा है। अनेक छोटे छोटे राज्यो का उदय होने से वे अपने राष्ट्रीय हितो की रक्षा के लिए सघष म उलझ जायेंगे जिससे उनकी प्रगति ही नही सारे विश्व की शान्ति सकट म पड जायेगी। लाड एक्टन इसी लिए इस सिद्धा त को "समाजवाद से भी अधिक अर्थहीन और अपराधमूलक मानता है।"

अ त मे, प्रो० हाकिग के साथ कहा जा सकता है कि 'किसी भी राष्ट्रीयता या जाति को एक राज्य बनने का ज मसिद्ध अधिकार प्राप्त नहीं है। हमारे सभी अधिकार आनुमानिक होते हैं और उनके साथ कुछ शर्तें जुडी रहती हैं। मोटे तौर पर, जसा रैम्जे म्यूर कहता है "यह बात सही हो सक्ती है कि प्रत्येक राष्ट्र या जाति को स्वाधीनता का अधिकार है, लेकिन व्यक्तियो की भाति राष्ट्रो या जातियो को भी अधिकारो का अजन करना होता है। किसी जाति को तभी जीवित रहने का अधिकार है जब इस अधिकार के उपयोग से स्वय उसका और समाज का भला हो।" लाड कजन का कथन सही लगता है कि 'राष्ट्रीय आत्मनिणय का सिद्धा त दुधारी तलवार है जिसे कुछ अपवादों के साथ ही स्वीकार किया जा सक्ता है।'

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 'राष्ट्र' किस कहते हैं ? राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रीयता म क्या भेद है ?
2 राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्वो का परीक्षण कीजिय।
3 राष्ट्रीय आत्मनिणय के सिद्धा त के विषय म आप क्या जानते हैं ? इसके पक्ष और विपक्ष म क्या तक दिये जाते हैं ?

4 बर्नाड जोजेफ, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० 331।

अध्याय १३ | # संविधान
(Constitution)

'क्रान्तियों का सबसे बडा कारण है कि संविधान स्थिर रहते हैं, जब कि राष्ट्र आगे बढते हैं।

—मैकाले

'संविधान' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कान्स्टीटयूशन' (Canstitution) का हिन्दी रूपान्तर है, जो लटिन भाषा के शब्द 'कन्स्टीटयूअर' से लिया गया है जिसका अर्थ उस भाषा म 'स्थापना' या स्थापित करना होता। अत शासन के आधार के रूप मे जो वस्तु स्थापित की जाती हैं वह संविधान कहलाती है। चाहे वह स्थापना किसी सांविधानिक सभा द्वारा हो अथवा विकास द्वारा। विश्व के लगभग सभी संविधान पहले तरीके से स्थापित हुए हैं, केवल इग्लैण्ड के संविधान का विकास हुआ है।

संविधान का अर्थ व परिभाषा—साधारणतया संविधान शब्द का प्रयोग दो अर्थ म करते हैं। एक, उन सब नियमो, अधिनियमो, परम्पराओ और प्रथाओ को हम संविधान की संज्ञा देते हैं जो किसी शासन विधि मे लिपटे हुए होते हैं, भले ही उन्हे किसी एक समय या स्थान पर बैठकर लिपिबद्ध नही किया गया हो। दूसरे, संविधान का अर्थ एक ऐसे लिखित शासन पत्र से होता है जिसम किसी राज्य के अन्तर्गत सरकार के स्वरूप तथा अधिकार कर्त्तव्यो का विवेचन व व्यक्ति तथा सरकार के पारस्परिक सबधो का विवेचन हो।

अरस्तू के अनुसार "संविधान राज्य के पदो का संगठन है तथा वह शासक वर्ग और समाज के उद्देश्यो को निश्चित करता है।"

आस्टिन के विचार से, "संविधान वह नियमावली है जो सर्वोच्च शासन का ढाचा निर्धारित करती है।"

डायसी के शब्दो मे, "संविधान से अभिप्राय उन सब नियमो से है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य की प्रभुसत्ता के वितरण और प्रयोग को प्रभावित करते हैं।"

लेविस की राय मे, "समाज व शासन म प्रभुता के नियमन, विभाजन व स्वरूप को हम संविधान कहते हैं।"

जेलीनेक के शब्दो म, "संविधान उन न्यायिक नियमो का संग्रह है जिनके द्वारा राज्य के सर्वोच्च अंगो का निर्धारण तथा उनकी रचना विधि, आपसी सबधो, कार्यक्षेत्र तथा आधारभूत स्थान का निश्चय होता है।"

बूल्जे की राय है कि "संविधान उन नियमों का संग्रह है जिनके अनुसार शासन शक्तियां और शासितों के अधिकारों के सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है।"

कूले के अनुसार, संविधान "राज्य का मूल कानून है, और उन नियमों का द्योतक है जिन पर राज्य शासन निर्धारित है।"

वर्गेण्ड के शब्दों मे, "संविधान वह मूल नियम है जिसके अनुसार राज्य का शासन निर्माण किया जाता है और जिसके नियमानुसार राज्य मे समाज के प्रति सदाचारी व्यक्तियों तथा लोगों के व्यवहार निश्चित किये जाते हैं।"

एक विचारक ने संविधान की परिभाषा केवल सात शब्दों मे दी है। उनके अनुसार 'राज्य की शक्ल को संविधान कहते हैं।'

सभी परिभाषाओं के विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

(1) संविधान राज्य का स्वरूप निश्चित करता है

(2) यह लिखित या अलिखित आधारभूत नियम होता है,

(3) यह सरकार के विभिन्न अंगों के संबंधों को निश्चित करता है, तथा

(4) इसका सम्बन्ध शासितों के अधिकार से भी होता है।

संविधान की आवश्यकता—जैलीनेक के विचार से राज्य के लिए संविधान अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होना चाहिये और होता भी है। यहाँ तक कि निरंकुश व स्वेच्छाचारी राज्य मे भी संविधान आवश्यक है। संविधान के अभाव मे राज्य राज्य नहीं रहता वह अराजकता और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि जहाँ संविधान होगा वहाँ राज्य का होना अनिवार्य है। 1935 मे ही अंग्रेजों ने भारत को संविधान बनाकर दे दिया, लेकिन भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्र होने के बाद ही राज्य बना। संविधान का अर्थ यह भी नहीं होता कि वह व्यवस्था जनतांत्रिक है। हिटलर और मुसोलिनी की शासन व्यवस्थाएं संविधान के होते हुए भी जनतांत्रिक नहीं थी। सांविधानिक शासन के लिए देश का स्वतंत्र होना या जनतान्त्रिक होना जरूरी नहीं है, लेकिन देश (राज्य) के लिए शासन प्रबन्ध चलाने की दृष्टि से संविधान का होना जरूरी ही नहीं अनिवार्य है।

अच्छे संविधान के गुण

(Characteristics of a good Constitution)

अच्छे संविधान के लिए निम्नांकित गुणों (विशेषताओं) का होना आवश्यक है—

1 लिखित—संविधान लिखित होना चाहिए, ताकि सरकार के विभिन्न अंगों का कार्यक्षेत्र निश्चित होगा। वे एक दूसरे के क्षेत्र मे अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करेंगे और राज्य के नियन्त्रण तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य अनुचित विवाद की स्थिति पैदा नहीं होगी।

2. सुनिश्चित और स्पष्ट—संविधान की धाराएं स्पष्ट हों। उनके एक से

अधिक अथ नही निकलते हा। सरकार की रचना, गठन, शक्तिया आदि का स्पष्ट व निश्चित रूप से उल्लेख हो तभी सविधान को उत्तम कहा जा सकता है।

3 व्यापक—सविधान बनाते समय राष्ट्र की विभिन्न समस्याओ व पक्षा के प्रति व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। प्रशासकीय क्षेत्र और उनकी सीमाए व समस्याए क्या है? शासकीय ढाचा कैसा हो? इन सभी बाता के लिए व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है। यह अत्यन्त हास्यप्रद होगा कि हम किसी देश का सारा सविधान पढ लें, फिर भी उसके सही स्वरूप का हमे ज्ञान न हो।

4 सक्षिप्त—व्यापक होते हुए भी सविधान का सक्षिप्त होना आवश्यक है। इससे अभिप्राय यह है कि उसम व्यथ की बातो का समावेश नही होना चाहिए क्योकि उससे सविधान की जटिलता बढती है, विवाद की सम्भावनाए बढती हैं और इनसे उनके प्रति जनता का विश्वास क्षीण हो सकता है। गटिल के अनुसार ऐसा होने से 'इसके कुछ उपब ध अप्रचलित हो जाते हैं तथा बार बार के सशोधन या बनावटी व्याख्याओ से या तो सविधान के बाहर परम्पराओ मे वृद्धि या क्रियाहीनता के कारण यह अस्थिर और प्रतिष्ठाहीन हो जाता है।"

5 मूलाधिकारो का उल्लेख—अच्छे सविधान के लिए जरूरी है कि उसमे नागरिको के मूलाधिकारो का उल्लेख हो, उनकी सुरक्षा की व्यवस्था हो तथा सरकार को अपनी इच्छानुसार उन पर अतिक्रमण करने की छूट नही हो। इससे जनता मे सविधान के प्रति आदर और विश्वास बढता है तथा सविधान को स्थायित्व प्राप्त होता है।

6 परिवतनशील—अच्छे सविधान के लिए जरूरी है कि उसमे आवश्यकता पडने पर परिवतन किया जा सके। समय की सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियो के अनुकूल ढालने के लिए सविधान मे नियमानुसार सशोधन करने की विधि का उल्लेख भी होना चाहिए। ऐसे सविधान की उपयोगिता समाज मे निरन्तर बनी रहेगी। जन विद्रोह की सभावना उपस्थित नही होगी।

सविधान के प्रकार
(Types of Constitution)

सविधान के वर्गीकरण के कई आधार हैं। इनमे मुख्य हैं—

(1) निर्मित या विकसित सविधान (Enacted or Evolved Constitution)।

(2) लिखित या अलिखित सविधान (Written or Unwritten Constitution)।

(3) लचीला (परिवतनशील) या कठोर (दुष्परिवतनशील) सविधान (Flexible or Rigid Constitution)।

(4) एकात्मक या सघात्मक सविधान (Unitary or Federal Constitution)।

(5) अध्यक्षात्मक या संसदात्मक संविधान (Presidential or Parliamentary Constitution)।

(6) राजतन्त्रीय या गणराज्यात्मक संविधान (Monarchical or Republican Constitution)।

निर्मित या विकसित संविधान—निर्मित संविधान वह होता है जिसे कुछ लोगों की सभा (जिसे संविधान सभा कहते हैं) द्वारा किसी निश्चित समय भली भांति सोच विचार कर बनाया जाता है। भारत, संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ आदि के संविधान इस श्रेणी में आते हैं। इसके विपरीत, विकसित संविधान उसे कहते हैं जिसे संविधान सभा द्वारा बनाया नहीं गया हो बल्कि जिसका धीरे धीरे विकास हुआ हो। ऐसे संविधान में परम्पराओं और प्रथाओं का विशेष स्थान होता है। ब्रिटेन का संविधान इसी प्रकार का है।

यह ध्यान देने योग्य है कि कोई भी संविधान पूरी तरह न तो निर्मित होता है और न विकसित। विकसित संविधान का भी कुछ न कुछ अंश आवश्यकतानुसार लिखना पड़ जाता है तथा निर्मित संविधान भले ही कितना विस्तृत और व्यापक न हो शनैः शनैः विकसित होता रहता है अर्थात व्यवहार में लागू होने पर आवश्यक परंपराओं को अपनाता चलता है।

लिखित या अलिखित संविधान—लिखित संविधान वह होता है जिसका निर्माण एक वैध प्रलेख (Document) में अर्थात निश्चित अधिनियमों के रूप में नियमित संविधान सभा द्वारा किया जाता है। प्रो० स्ट्राँग ने लिखित संविधान की परिभाषा इस प्रकार दी है कि "वह जो प्रलेख के रूप में हो और जिसे अनुशस्ति प्राप्त हो।" लिखित संविधान प्राय एक ही समय बनाया जाता है, किन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है। फ्रांस के तृतीय जनतन्त्र का संविधान तीन पृथक बुनियादी कानूनों के रूप में था।

अलिखित संविधान का अधिकांश भाग लिखा हुआ नहीं होता। प्रो० स्ट्राँग के शब्दों में "वे संविधान जो साधारणतया अलिखित कहे जाते हैं किसी लिखित विधि के आधार पर नहीं, अपितु रीति रिवाज के आधार पर विकसित हुए हैं।" ब्रिटेन का संविधान इसका उदाहरण है। इसके लिए कहा जाता है कि घटनाएं इसकी जन्मदात्री हैं।

लिखित संविधानों का गुण यह है कि वे निश्चित, स्पष्ट, अधिक सुरक्षित, स्थाई और दृढ़ होते हैं। लिखित संविधान उनकी तुलना में अस्थिर और न्यायालयों के हाथ का खिलौना होता है। लेकिन जहाँ अलिखित संविधान अत्यधिक लचीला, विद्रोह की आशंका से रक्षा करने वाला और आघातों को सरलता से झेल जाता है, वहां लिखित संविधान विकास कार्यों में अनावश्यक कानूनी अड़चनें डालने वाला और सांविधानिक विवादों को पैदा करने वाला होता है। दोनों में बुराइयां और अच्छाइयां हैं तथापि विश्व जनमत आजकल संविधानों के लेखबद्ध करने के पक्ष में है।

निर्मित और विकसित संविधानों वाली बात इस पर भी लागू होती है। कोई

भी सविधान न तो पूरी तरह लिखित होता है और न अलिखित। लिखित सविधानो का भी कोई न कोई अश परम्पराओ पर निभर होता है और अलिखित का भी कुछ न कुछ भाग लिखा जाता है। इसलिए गानर, स्ट्राग, लीकाक, गेटिल, ब्राइस आदि इस वर्गीकरण को वैज्ञानिक नही मानते हैं। लाड ब्राइस ने लिखा है कि 'लिखित सविधान कुछ वर्षों मे ही व्याख्याओ, अभिसमयो, प्रथाओ और निणयो से इतने लद जाते हैं कि केवल प्रारम्भिक सविधान के पठन से प्रचलित सविधान के वास्तविक स्वरूप की पूरी जानकारी नही हो पाती।" अत लिखित और अलिखित सविधानो का यह अन्तर गुणात्मक नही है।

लचीला (परिवतनशील) या कठोर (दुष्परिवतनशील) सविधान—इस वर्गीकरण का आधार यह है कि सविधान म सशोधन साधारण कानूनो की तरह हो सकते हैं या नही ? यदि सविधान की धाराओ म साधारण कानूनो को बदलने की प्रक्रिया के अनुसार ही सशोधन हो सकता है तो उस सविधान को हम लचीला (परिवतनशील) कहेगे, यदि नही हो सकता तो कठोर (दुष्परिवतनशील) कहेग। ब्रिटेन, न्यूजीलेंड, दक्षिणी अफीका के सविधान लचीले हैं, जबकि स्विट्जरलैण्ड, सयुक्त राज्य अमरीका आदि के सविधान कठोर हैं। लचीले सविधान का सबसे बडा गुण यह होता है कि इसे सरलता से आवश्यकता के अनुकूल ढाला जा सकता है। ब्राइस ने इसका वणन करते हुए लिखा है कि "ढाचे के बिना टूटे ही सकटकाल समाप्त होने पर वह पुन अपने आकार को प्राप्त कर लेता है, वैसे ही जसे पेड की शाखाए गाडी निकलने के लिए खीच ली जाती हैं।" लेकिन यह कठोर सविधानो की तरह सुदृढ नही होता और इसम नागरिको के अधिकारो की निश्चित गारन्टी नही होती। लचीले सविधानो का दूसरा गुण यह है कि इनकी व्याख्या करने के लिए समय, शक्ति और धन का दुरुपयोग नही करना पडता, क्योकि इसके अन्तगत व्यवस्थापिका मे उस समय के बहुमत का मत ही सर्वोपरि और मान्य होता है। इसके विपरीत कठोर सविधानो की व्याख्या प्राय देश के सर्वोच्च न्यायालय करते हैं जिसम समय, शक्ति और धन की काफी बरबादी होती है।

कठोर सविधानो के गुण और लचीले सविधानो के दोष भी एक समान हैं। प्रथम, कठोर सविधान आसानी से बदले नही जा सकते, इसलिए उनका आदर अधिक होता है। दूसरे कठोर सविधानो को राजनीतिक रूप से अपरिपक्व नागरिक भी चला सकते हैं, जबकि लचीले सविधानो को केवल राजनीतिक रूप से प्रौढ व्यक्ति ही सफलतापूवक चला सकते हैं। तीसरे, सघीय व्यवस्था के स्थायित्व के लिए सविधान का कठोर होना अति आवश्यक है। यदि वह लचीला होगा तो सघ और राज्य की सरकारो के मध्य शक्तियो का विभाजन स्थायी नही होगा और सघ टूटने का खतरा बना रहेगा।

सविधानो की अन्य किस्मो—एकात्मक, सघात्मक, अध्यक्षात्मक, ससदात्मक, राजतन्त्रात्मक व गणतन्त्रात्मक—की विवेचना आगे अध्याय 16 व 17 म की गई है।)

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 सविधान की परिभाषा दीजिए और सविधान के विभिन्न प्रकारो का वर्णन कीजिए।

2 "कठोर और परिवर्तनशील सविधान मे अन्तर प्रकार का नही, अपितु मात्रा का है।" विवेचना कीजिए।

3 लिखित और अलिखित सविधानो मे क्या भेद है तथा उनके प्रमुख गुण-दोष क्या हैं ?

4 अच्छे सविधान के लिए उसमे किन गुणो का होना आवश्यक है, सक्षेप मे बताइए।



अध्याय १४

राज्यों का वर्गीकरण—प्राचीन और आधुनिक

(Classification of States—Ancient and Modern)

"राज्य का आवश्यक लक्षण उसका राजनीतिक व कानूनी स्वरूप होता है। इसकी अभिव्यक्ति उसकी सरकार के संगठन द्वारा होती है, अतः सर्वाधिक सन्तोषप्रद वर्गीकरण सरकार के रूप की समानताओं व असमानताओं के आधार पर हो सकता है।

—गैटिल

राज्यों के वर्गीकरण के कई आधार हो सकते हैं। [illegible] के आधार पर राज्यों को कबीली राज्य, नगर राज्य, राष्ट्रीय राज्य और विश्व-राज्य के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। आर्थिक साधन और सैनिक शक्ति के आधार पर राज्यों को महाशक्ति, द्वितीय कोटि की शक्ति या निर्बल राज्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। औद्योगिक तथा खेतिहर राज्य, सभ्य व असभ्य राज्य, [illegible] राज्य, द्वीपीय (Insular) व महाद्वीपीय (Continental) राज्य के रूप में भी राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है। लेकिन यह वर्गीकरण [illegible] राज्य [illegible] को कितना मान्य होगा इस विषय में अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। विद्वानों में शुरू से ही 'राज्यों का वर्गीकरण' या 'सरकारों का वर्गीकरण' [illegible] को लेकर मतभेद रहा है।

राज्यों या सरकारों के वर्गीकरण की समस्या

शैली में कहते हैं कि "अपने कानूनी रूप में आवश्यक उद्देश्यों तथा कार्यों की दृष्टि से सार रूप में सभी राज्य अनिवार्यतः समान होते हैं और इसलिये उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जो वस्तुयें एक राज्य को दूसरे से पृथक् करती हैं वे निर्माणक तत्त्वों की भिन्नता नहीं वरन बाहरी स्वरूप या विशेषतायें हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण शासकीय संगठन का चरित्र है।"[2] विलोबी के शब्द हैं कि "तत्त्व वे सब एक ही से हैं—उनमें से प्रत्येक और सबकी विशेषता सम्प्रभुता है।"[3] गैटिल के विचार से "चूंकि राज्यों के अस्तित्व की अभिव्यक्ति केवल उनकी सरकारों द्वारा होती है तथा अन्य किसी आधार पर उनका अन्तर नहीं खोजा जा सकता, अतः सरकारों का वर्गीकरण सार रूप में राज्यों का ही वर्गीकरण होता है।"[4]

लेकिन यह तर्क अन्तिम नहीं है। राज्यों का वर्गीकरण केवल सरकारों के भेद पर ही आधारित नहीं होता। उद्देश्य तथा शक्ति वितरण के आधार पर भी भेद किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सरकारों का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता। वे राज्यों से सम्बद्ध होती हैं। सरकार के बिना राज्य नहीं हो सकता तो राज्य के बिना सरकार भी नहीं हो सकती। अतः बर्गेस की भांति 'राज्यों के वर्गीकरण' शब्द को मान्यता देना उचित है। हॉब्स, लाक, मैरियट व डा. अप्पादोराय भी इसी दृष्टिकोण को न्यायसंगत मानते हैं। लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण होते हुए भी, सम्भवतः अध्ययन की सुविधा से, आधुनिक युग के अधिकांश विद्वानों ने 'राज्यों के वर्गीकरण' और 'सरकारों के वर्गीकरण' को एक मान लिया है। तथा यूनानी युग से लेकर आज तक राज्यों के जो भी वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं वे किसी न किसी रूप में सरकारों के भेद से ही सम्बन्धित रहे हैं।

प्राचीन वर्गीकरण
(Ancient Classification)

प्राचीन काल से ही विद्वानों का ध्यान 'राज्यों के वर्गीकरण' की ओर आकर्षित होता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप राजनीति शास्त्र के साहित्य—भण्डार में वर्गीकरण पर प्रचुर सामग्री मिलती है, परन्तु वह पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है। उसमें कुछ का ही अध्ययन राज्यों के स्वरूप को समझने में सहायता कर सकता है।

वैज्ञानिक राजनीति शास्त्र वेत्ताओं में अरस्तू का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसके वर्गीकरण का स्रोत प्लेटो का वर्गीकरण था। प्लेटो ने अपना वर्गीकरण सुकरात के सिद्धान्तों पर खड़ा किया था तथा सुकरात ने हेरोडेटस के वर्गीकरण से प्रेरणा ली थी। इस प्रकार 'राज्यों के वर्गीकरण' का प्रारम्भ हेरोडेटस से माना जाता है।

---

2 Garner *Political Science and Government* p 240
3 Willollughby *The Natur. o the State* Ch XIII
4 Gettel, *Political Science* pp 191 92

हैरोडेटस का वर्गीकरण

हेरोडेटस ने राज्यो के तीन रूप बताये—राजतन्त्र (Monarchy) कुलीन (Aristocracy) यथा जनतन्त्र (Democracy)। उनका विचार था कि सामान्यत सभी राज्यो को उपयुक्त तीन वर्गों म वर्गीकृत किया जा सकता है। लेकिन जब शासक नग्न स्वार्थों के वशीभूत होकर जनता के हितो की उपेक्षा करते हैं तो ये तीनो व्यवस्थायें उत्पीडक राजतन्त्र, उत्पीडक कुलीनतन्त्र और जनत त्र मे बदल जाती हैं।

सुकरात

सुकरात ज्ञान के शासन (Only those who know shall rule) में विश्वास रखता था। उसका वर्गीकरण हेरोडेटस की भाँति ही है। अधिक से अधिक उसे थोडा दार्शनिक वर्गीकरण कह सकते हैं। सुकरात ने ज्ञान के आधार पर राज्यो मे 6 भेद किये हैं। तीन राज्य सामान्य प्रकार के हैं जिनम कानूनो का आदर होता है। ये क्रमश राजत त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनत त्र कहे जा सकते हैं। तीन विकृत प्रकार के राज्य हैं जहाँ कानूनो का आदर नही होता और जो क्रमश निरकुशत त्र, धनिकतन्त्र व भीडतन्त्र कहे जा सकते हैं।

प्लेटो का वर्गीकरण

प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' मे एक प्रकार का तथा 'स्टेटसमैन' म दूसरी प्रकार का राज्यो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। 'रिपब्लिक' मे उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। उसने 'रिपब्लिक' म ऐसे राज्य की कल्पना की जो उस समय पाये जाने वाले सभी राज्यो से भिन्न होगा। 'रिपब्लिक' मे कानून नही होग। वहा ज्ञान का पूर्ण साम्राज्य होगा। यदि आवश्यकता हुई तो यदा कदा दार्शनिक शासक आज्ञायें जारी करेंगे। बाद मे उसने स्वय स्वीकार किया कि इस प्रकार का राज्य पृथ्वी पर असभव है और इस काल्पनिक राज्य का प्रयोग सगठित राज्यो की श्रेष्ठता को मापने से किया जा सकता है। उसने 'रिपब्लिक' (1) व्यक्ति की सख्या, (2) धन और ( ) कानूनो के आधार पर राज्यो का वर्गीकरण किया है।

पृथ्वी पर सगठित होने वाले राज्यो को उद्देश्य व सख्या के आधार पर प्लेटो ने अपनी स्टेटसमन' म, छ भागो मे बाँटा है। उद्देश्य के अनुसार वे सब राज्य सामान्य कहे गये हैं जहा कानूनो का पालन होता और इसके विपरीत अवस्था वाले राज्य विकृत। सख्या के आधार पर यदि सत्ता एक व्यक्ति के हाथ म हो तो उसे राजतन्त्र, यदि वह कुछ व्यक्तियो के हाथ म हो तो कुलीनतन्त्र और यदि वह सभी या अनेक व्यक्तियो के हाथ मे हो तो उसे जनतन्त्र के नाम से सम्बोधित किया गया है।

प्लेटो के इस वर्गीकरण को गिलक्राइस्ट ने निम्नाकित तालिका द्वारा स्पष्ट किया है—

	राज्य जहाँ कानूनों का पालन हो	राज्य जहाँ कानूनों की अवहेलना हो
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)	निरकुशतन्त्र वा आततायी शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियो का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	अल्पतन्त्र या वगतन्त्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियो का शासन	उदार लोकतन्त्र (Modesate Democracy)	अतिवादी लोकतन्त्र या भीडतन्त्र (Extreme Democracy)

पूर्ण ज्ञानमय राज्य (State of perfect knowledge) अपूण ज्ञानमय राज्य (State of imperfect knowledge), तथा वे राज्य जहा ज्ञान नहीं है के आधार पर भी प्लेटो ने राज्यो का वर्गीकरण किया है। परन्तु यह वर्गीकरण अव्यावहारिक है क्योकि अपूण समाज मे ऐसा राज्य स्थापित नही हो सकता जो पूण ज्ञानमय हो।

अरस्तू का वर्गीकरण

सुकरात व प्लेटो की तुलना मे अरस्तू का वर्गीकरण विशेष महत्त्वपूण है।[5] डा आशीर्वादम लिखते हैं कि 'प्लेटो द्वारा किये गये वर्गीकरण की अपेक्षा अरस्तू द्वारा किया गया वर्गीकरण कहीं अधिक पूण और यथार्थवादी है। कुछ समय पूव तक अरस्तू द्वारा किया गया वर्गीकरण पर्याप्त समझा जाता था।'[6] यह वर्गीकरण गुणमूलक (Qualitative) और परिमाणमूलक (Quantitative) दोनो है। इसका आधार अरस्तू द्वारा यूनान के 158 नगर राज्यो के सविधान का अध्ययन है।

अरस्तू ने भी वर्गीकरण के दो आधार लिये हैं—पहला, उद्देश्य और दूसरा, सख्या। उद्देश्य के आधार पर राज्यो को राजतत्र कुलीनतत्र और समाजतन्त्र की सज्ञा दी है। इन राज्यो की विशेषता यह है कि इनमे शक्ति का प्रयोग लोकहित म होता है। इस उद्देश्य के प्रतिकूल जहा शासन शक्ति सीमित वर्ग के हित सम्पादन म लगायी जाती है राज्य निरकुशतन्त्र, धनिकतन्त्र और जनतन्त्र म वर्गीकृत किये गये हैं। अरस्तू का यह वर्गीकरण निम्नाकित तालिका स भली भाँति स्पष्ट हो सकता है—

5 R N Gilchrist *op cit* p 228
6 Ashirvatham *Political Theory* p 301

सरकार का रूप	स्वाभाविक रूप (Normal Form)	विकृत रूप (Perverted Form)
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र (Monarchy)	निरकुशतन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	धनिकतन्त्र (Oligarchy)
समस्त जनता का शासन	समाजतन्त्र (Polity)	जनतन्त्र (Democracy)

अरस्तू के वर्गीकरण की विशेषतायें—राज्यों के परिवर्तन-चक्र का नियम

अरस्तू ने राज्यों का वर्गीकरण करते हुए उनकी शक्तियों और दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला है। उसके अनुसार कोई भी राज्य सर्वश्रेष्ठ नहीं है। प्लेटो के अनुसार वह भी 'परिवर्तन चक्र के नियम' को मान्यता देता है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक सामान्य राज्य अन्तर्निहित दुर्बलताओं के कारण भ्रष्ट या विकृत हो जाता है। जनता की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप बाद में फिर उसका सामान्य रूप सामने आ जाता है, लेकिन इस बार सत्ता का स्वरूप थोड़ा भिन्न होता है।

अरस्तू के राज्यों का परिवर्तन चक्र राजतन्त्र से प्रारम्भ होता है। उसके अनुसार "प्रारम्भ में राज्य राजतन्त्रीय थे, जिसका कारण सम्भवतः यह था कि प्राचीन युग में राज्य छोटे थे और चरित्रवान कुशल व्यक्ति बहुत कम थे। ये व्यक्ति इसलिये राजा बने क्योंकि ये परोपकारी थे और परोपकार केवल सज्जन व्यक्ति ही कर सकते थे। परन्तु, जब एक से गुणों वाले अनेक व्यक्ति आगे आये और वे एक ही व्यक्ति को प्रधान या प्रतिष्ठित मानने से कतराने लगे, तो उन्होंने राज्य को सभी का राज्य (Commonwealth) बनाने और संविधान निश्चित करने की इच्छा प्रकट की। इसमें शासक वर्ग का पतन हुआ और जनकोष से धन उड़ाकर वे धनवान बनने लगे। धन सम्पत्ति सम्मान का साधन बनी और इस प्रकार कुछ व्यक्तियों के शासन की स्थापना स्वाभाविक बनी। यह शासन धीरे धीरे अत्याचारी शासन में बदल गया और अन्त में, अत्याचारी धनिकतन्त्र ने समाजतन्त्र का रूप धारण कर लिया। क्योंकि शासक वर्ग की धन लोलुपता ने अपनी संख्या को सदैव कम से कम रखने की चेष्टा की इससे सर्वसाधारण का बल बढ़ा और उन्होंने अन्त में अपने स्वामियों को दबोच लिया जिसका फल निकला, भ्रष्ट जनतन्त्र की स्थापना।"[7]

अरस्तू के अनुसार परिवर्तन का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है और आगे भी चलता रहेगा। राजतन्त्र के बाद क्रमश: निरकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिकतन्त्र, समाजतन्त्र, जनतन्त्र तथा जनतन्त्र के बाद पुनः राजतन्त्र, निरकुशतन्त्र स्थापित होते रहेंगे।

7 Aristotle, *Politics* edited by H W C David,

अरस्तू के वर्गीकरण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

विभिन्न विद्वानो ने, जिनम डा गानर और वॉन मॉह्ल (Von Mohl) का नाम प्रमुख है, विभिन्न दृष्टिकोण से अरस्तू क वर्गीकरण की आलोचना की है। आलोचकों के कुछ प्रमुख आक्षेप निम्नांकित हैं —

1 वर्गीकरण सख्याप्रधान है, गुणप्रधान नहीं—वान माह्ल लिखता है कि 'इस सिद्धान्त का स्वरूप, जिस पर यह आधारित है, राज्य के सगठन से सम्बन्धित न होकर गणित से सम्बन्धित है तथा यह वर्गीकरण गुण विषयक न होकर सख्या विषयक है।"

किन्तु वॉन मॉह्ल का यह मत एकागी है। सख्या का आधार इस वर्गीकरण म गौण तथा प्रासगिक है, प्रधान नहीं। यदि सख्या के आधारको प्रमुख मान लें तो धनिक तन्त्र (जिसमे अरस्तू धन की प्रधानता मानता है (तथा जनतन्त्र) जिसम वह निर्धनो की प्रधानता मानता है) मे भेद अस्पष्ट हो जायगा। परिभाषा करत हुए अरस्तू ने लिखा है कि 'धनिकों का धनिकों के हित में शासन धनिकत त्र कहलावेगा। चाहे धनिकों की सख्या अधिक हो या कम।' इसी प्रकार जनतन्त्र वह शासन है जिसम निर्धन निर्धनो के हित मे शासन करें चाहे वे सख्या मे अधिक हा अथवा कम।' सख्या का आधार मानने पर यदि धनिको की सख्या अधिक हो तो वह धनिकतन्त्र न कहलाकर प्रजातन्त्र कहा जाना चाहिये, किन्तु अरस्तू इस मत से सहमत नही है। वह सख्या के आधार को इस प्रसग म नगण्य कर देता है।[8] अप्पादोराय भी इसी मत के समर्थक हैं।

2 सरकारों का वर्गीकरण है, राज्यों का नहीं—गानर का मत है कि अरस्तू ने सरकारो का वर्गीकरण किया है, राज्यो का नही। उसके शब्दो म, उसने (अरस्तू ने) राज्य तथा सरकार मे कोई अन्तर नहीं माना है और अन्तिम विश्लेषण म यह वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण नहीं, अपितु सरकारों का वर्गीकरण है और इसलिये राज्य के रूपों के विवेचन मे इसका कोई उचित स्थान नहीं हो सकता।"

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि गानर स्वय 'राज्यो के वर्गीकरण' और 'सरकारो के वर्गीकरण' म कोई भेद नही मानता।[9] अरस्तू के बाद के भी सारे वर्गीकरण किसी न किसी रूप म सरकार स सम्बन्धित रहे हैं और वे रहेंगे भी। अत गानर की आपत्ति आपत्ति के लिये लगायी गयी आपत्ति है। बर्गेस इसका उत्तर देते हुए लिखता है कि "अरस्तू का वर्गीकरण पूर्णत निर्दोष और युक्तिसगत है, यदि हम उसके द्वारा प्रयुक्त 'राज्य' तथा 'प्रभुता' शब्दो के स्थान पर 'शासन तथा' व्यवस्था' शब्दो का प्रयोग करने लगें।"

3 नगर राज्यों का वर्गीकरण है, आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं होता—सीले का विचार है कि अरस्तू का वर्गीकरण आज के युग मे ठीक नही बठता। शायद ही कोई ऐसा राज्य होगा जहाँ प्रभुता केवल एक या कुछ व्यक्तियों के हाथ म हो। अरस्तू के वर्गीकरण के अनुसार इगलण्ड को न तो हम राजतन्त्र कह सकते हैं और न जनतन्त्र।

---

8 Refer Aristotle *Politics* P 116
9 देखें, उसकी पुस्तक पृष्ठ 219 से आगे।

इसम कोई स देह न्हो कि अरस्तू का वर्गीकरण यूनानी नगर राज्यो पर आधारित है और आधुनिक राष्ट्रीय राज्य उनकी तुलना मे बडे विशाल व विषमताओ से युक्त हैं। अत स्थूल रूप से वह वर्गीकरण आधुनिक राज्यो पर लागू नही हो सकता लेकिन हमे यह नही भूलना चाहिये कि अरस्तू के वर्गीकरण मे जिन सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया गया है वे सार्वकालिक हैं और आज भी सत्य हैं।

4 इसमे लोकहित की धारणा अस्पष्ट है—आलोचको का एक वग इस राय का है कि अरस्तू के वर्गीकरण मे लोकहित की धारणा अस्पष्ट है।

इसके प्रत्युत्तर म यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक रूप से लोकहित के आधार पर राज्यो का वर्गीकरण बडा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु जब राज्यो के वर्गीकरण पर इसका प्रयोग करने लगते है तब इस आधार की अस्पष्टता और अनिश्चितता प्रकट हो जाती है। आधुनिक युग मे प्रत्येक राज्य लोकहित को ही अपना आधार मानता है, परिणाम यह होता है कि लोकहित की उतनी ही व्याख्यायें हैं जितने कि राज्य।

5 अव्यावहारिक—सीले, गानर, गिलक्राइस्ट, अप्पादोराय आदि विद्वान् मानते हैं कि अरस्तू के वर्गीकरण मे शासन प्रणालियो की विस्तृत तथा विविध विशेषताओ का उल्लेख नही मिलता। राज्य की सत्ता वितरण के आधार पर ससदीय तथा अध्यक्षात्मक, एकात्मक तथा सघात्मक, समाजवादी तथा फासीवादी सरकारो का उसम कोई स्थान नही है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल मे कुछ मिश्रित शासन-प्रणालियो और व्यवस्थाओ का विकास भी हुआ है, जैसे जनतान्त्रिक समाजवाद, जनतान्त्रिक अधिनायकवाद आदि। उन्हे अरस्तू के वर्गीकरण म स्थान नही मिल सकता अत वह अव्यावहारिक है।

यद्यपि इस तर्क मे पर्याप्त बल है कि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक युग मे अव्यावहारिक है तथापि यह नही भूलना चाहिये कि उपयुक्त शासन प्रणालिया आधुनिक युग की देन हैं। गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध म लिखा है कि यद्यपि 'आधुनिक सरकारो के स्वरूपों के लिये यह वर्गीकरण पर्याप्त नहीं है, पर आज तक जितने भी वर्गीकरण किये गये हैं उन सब के लिये यह इतिहासीय आधार रहा है।"[10]

6 जनतन्त्र को निकृष्ट सरकार मानना गलत—आलोचको का कथन है कि अरस्तू जनतन्त्र को निकृष्ट सरकार मानता है, जबकि आजकल जनतन्त्र सामान्य सरकार है और सभी देशो म ही जनतन्त्र को श्रेष्ठ प्रकार की सरकार माना जाता है।

आलोचको का यह तर्क अतिरजित है। जनतन्त्र आदर्श व्यवस्था है। सच्चा जनतन्त्र न तो कही है और न हो सकता है। दूसरे हमारे जनतन्त्र का वह आदर्श है जिसे अरस्तू अपने समाजतन्त्र के अन्तगत रखता है। शब्दावली का ही सिर्फ फेर है। हम भी ऐसी व्यवस्था, जनतन्त्र, को आदर्श नहीं कहेंगे जिसम बहुसख्यक जनता के नाम पर कुछ चुने हुए नेता अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति मे लगे रहें।

7 धर्मप्रधान राज्यों पर मौन—अन्त मे, अरस्तू ने अपने वर्गीकरण मे धर्म-

10 R N Gilchrist *op cit*, p 228

प्रधान राज्यों को मान्यता नहीं दी है। ब्लशली ने इस अभाव की ओर विशेष संकेत किया है।

लेकिन बात यह है कि धर्मप्रधान राज्य विशेषत राजतन्त्र ही होते हैं। मध्य काल में राजा ही धर्मगुरु भी होते थे। अत राजतन्त्र के अतिरिक्त धर्मप्रधान राज्यों के वर्ग को मान्यता देने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अरस्तू के वर्गीकरण का महत्व

यद्यपि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक राज्यों के अनुकूल नहीं है, तथापि इसके महत्त्व की उपेक्षा करना असम्भव है, अरस्तू का वर्गीकरण ही सबसे पहला वैज्ञानिक वर्गीकरण था जिसने सभी आधुनिक वर्गीकरणों को ऐतिहासिक आधार प्रदान किया। आज चाहे राज्यों के कितने ही रूप क्यों न हो गये हों उनका मूलभूत चरित्र अरस्तू के वर्गीकरण की सीमाओं में आ जाता है। अत हमें उसके द्वारा प्रस्तुत 'राज्यों के वर्गीकरण' का मूल्यांकन आधुनिक मापदण्डों की अपेक्षा उसकी उपयोगिता के आधार पर करना चाहिये।

अरस्तू के बाद राज्यों का वर्गीकरण

अरस्तू के बाद अनेक राजनीति विशारदों ने 'राज्यों का वर्गीकरण' प्रस्तुत किया। इनमें पॉलिबियस सिसरो बोदाँ, हॉब्स लाक मॉण्टेस्क्यू रूसो, ब्लशली, वान मॉल्ह वेज (Waitz) जेलीनेक प्रमुख हैं। इनमें वान मॉल्ह और जेलीनेक को छोड़कर लगभग सभी ने अरस्तू के वर्गीकरण को ही थोड़ा बहुत उलट फेर कर स्वीकार कर लिया। जो 'अरस्तू के वर्गीकरण' को नहीं मानते वे भी न्यूनाधिक रूप से उससे प्रभावित हैं।

जहाँ तक पॉलिबियस का सम्बन्ध है उसने राज्यों का वर्गीकरण अरस्तू के प्रभाव में उद्देश्य तथा संख्या के आधार पर किया है। उसने अपने वर्गीकरण में केवल दो अन्य बातों पर और बल दिया—प्रथम, मिश्रित संविधान तथा द्वितीय, नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त।

सिसरो ने भी अरस्तू के वर्गीकरण का अनुगमन किया। उसने पॉलिबियस के मिश्रित संविधान और नियन्त्रण व सन्तुलन के सिद्धान्त की प्रशंसा की। उसने केवल एक नयी बात यह कही कि सरकार के तीनों अंग स्थायित्व के लिये आवश्यक तीन सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं—राजतन्त्र, शक्ति अथवा अधिकार सत्ता के सिद्धान्त का, परिषद, मर्यादा और प्रभाव के सिद्धान्त का तथा जनतान्त्रिक सभायें, स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का। "शुद्ध रूपों में सिसरो राजतन्त्र को सर्वोत्तम, कुलीनतन्त्र को मध्यम और जनतन्त्र को निकृष्ट मानता था।[11]

आधुनिक युग के प्रवर्तक जाँ बोदाँ (Jean Bodin) ने राज्यों का वर्गीकरण राजसत्ता के निवास के अनुसार किया। यदि सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में हो तो राजतन्त्र,

11 Gettell, *History of Political Thought* p 75

कुछ के हाथ में हो तो कुलीनतन्त्र और अनेक के हाथ में हो तो उसे जनतन्त्र कहा जा सकता है। बोदाँ का वर्गीकरण भी अरस्तू की तरह का है। बोदाँ की देन यह है कि उसने राजतन्त्र के तीन प्रकार बतलाये हैं (1) शुद्ध राजतन्त्र (Royal or Pure), (2) तानाशाही राजतन्त्र (Despotic) और (3) आततायी राजतन्त्र (Tyrannical)।

हॉब्स ने भी राज्यों का वर्गीकरण संख्या के आधार पर किया है। वह लिखता है कि "जब केवल एक व्यक्ति प्रतिनिधि हो तब राजतन्त्र है, जब प्रतिनिधि एक में मिलने के इच्छुक लोगों की सभा हो तब वह जनतन्त्र है, और जब केवल एक ही दल की सत्ता हो तो वह कुलीनतन्त्र है।"[12] इस विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इस वर्गीकरण में कोई नयी बात नहीं है। वस्तुतः यह अरस्तू से भी निकृष्ट कोटि का वर्गीकरण है।

लॉक का वर्गीकरण भी हॉब्स की ही भांति है। वह राज्यों का वर्गीकरण राजतन्त्र, अल्पतन्त्र और जनतन्त्र में करता है। राजतन्त्र उसके विचार से दो प्रकार का होता है—वंशानुगत राजतन्त्र और निर्वाचित राजतन्त्र।

मॉण्टेस्क्यू ने राज्यों का वर्गीकरण (1) गणतन्त्र—लोकतन्त्रीय और कुलीनतन्त्रीय, (2) राजतन्त्र, और (3) निरकुशतन्त्र में किया है। उसके विचार [illegible] सभी सरकारों के पीछे एक व्यापक और प्रेरक (sustaining) [illegible] है। [illegible] तन्त्र में जनसेवा का भाव होता है। कुलीनतन्त्र का आधार [illegible] तन्त्र का आधार सम्मान है, तथा निरकुश शासन के मूल में [illegible] है।

रूसो ने भी वर्गीकरण राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और [illegible] तन्त्र के उसने तीन रूप बताये हैं—प्राकृतिक, निर्वाचित [illegible] निर्वाचित कुलीनतन्त्र को श्रेष्ठ और वंशानुगत कुलीनतन्त्र [illegible]

रूसो के बाद ब्लशली का वर्गीकरण आता है [illegible] अरस्तू के वर्गीकरण को मौलिक मानता है और [illegible] है। इसे वह धर्मतन्त्र (Theocracy) कहता है। [illegible] और विकृत। धर्मतन्त्र भ्रष्ट होने पर [illegible] (Idolocracy) में बदल जाता है।

19वीं शताब्दी के प्रसिद्ध [illegible] का वर्गीकरण निम्नांकित छः आधारों पर किया है—

1 कुलपति राज्य (Patriarchal [illegible])—[illegible] नेता शासक होता है जो [illegible] करता है।

2 पुरोहित राज्य (Theocratic State)—[illegible] शक्ति का सिद्धान्त होता है। [illegible]

3 [illegible] (Patrimonial State) [illegible] व्यक्ति के पास होती है या [illegible]

12 Thomas Hobbes, Leviathan [illegible]

4 शास्त्रीय राज्य (Classical States)—ये अति प्राचीन काल से विद्यमान रहने वाले राज्य हैं, जैसे यूनान, रोम और भारत के राज्य।

5 वैधानिक राज्य (Legal States)—इनमे राजसत्ता का स्वरूप कानून द्वारा निर्धारित होता है।

6 स्वेच्छाचारी राज्य (Despotic States)—इनमे शासन कानूनों की अपेक्षा शासक की इच्छा से अधिक सचालित होता है।

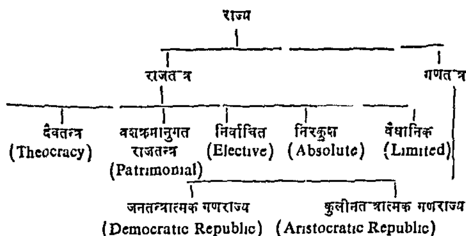
शास्त्रीय राज्यो को वॉन मॉहल आगे तीन श्रेणियो—राजतन्त्र कुलीनतन्त्र, और जनतन्त्र—मे विभक्त करता है। वॉन मॉहल के वर्गीकरण के दो दोष हैं प्रथम, यह राज्य व सरकारो मे भेद स्पष्ट नही करता। दूसरे, उसका वर्गीकरण स्पष्ट नही है। उसमे अतिच्छादन (overlapping) का दोष पाया जाता है। फिर भी उसकी विशेषता यह है कि उसने अपना वर्गीकरण राज्य के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखकर किया है।

वेज (Waitz) ने राज्यो को गणतन्त्र, पुरोहित तन्त्र राजतन्त्र एकात्मक राज्य, सघ राज्य, मित्र सघ और मिश्रित राज्य नामक वर्गों म विभक्त किया है। यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नही है। पुरोहित तन्त्र का राजतन्त्र के अन्तगत रखा जा सकता है। इसी तरह राजतन्त्र व गणतन्त्र एकात्मक भी हो सकते हैं सघात्मक भी। वॉन मॉहल की तरह इसके वर्गीकरण मे भी अतिच्छादन का दोष है।

बर्गेस का वर्गीकरण अरस्तू की भाँति किन्तु उससे भी सकीण और अधूरा है। वह राज्यों को सिफ तीन श्रेणियो—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र—मे बाँटता है। उसने इनके अतिरिक्त राज्य के अन्य किसी स्वरूप को नही माना है। अत उसके वर्गीकरण को वतमान राज्यों पर लागू करना सबसे कठिन है।

जेलीनेक का वर्गीकरण

आधुनिक राजनीति शास्त्र वेत्ताओ म जमन विद्वान् जेलीनेक का महत्त्वपूण स्थान है। वह अरस्तू के वर्गीकरण को नहीं मानता। उसने राज्यो का वर्गीकरण इस नियम के आधार पर किया है कि राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति एक व्यक्ति के माध्यम से होती है अथवा अनेक व्यक्तियों के माध्यम से। इस प्रकार उसने सभी राज्यो को दो श्रेणियो मे बाँटा है—राजतन्त्र (Monarchy) और गणतन्त्र (Republic) राजतन्त्र उसके विचार से सरकार का वह रूप है जिसम सत्ता एक व्यक्ति के हाथ म हो, चाहे उसे ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाय, राज्य का स्वामी माना जाय या राज्य का प्रतिनिधि। राजतन्त्र वश पर भी आधारित हो सकता है और निर्वाचन पर भी। गणतन्त्र वह है जहाँ सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में न होकर समूह या समस्त जनता के हाथ म हो। कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र को वह गणतन्त्र म ही मानता है। उसके वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—



जेलीनेक का वर्गीकरण सरल और सारपूर्ण हैं क्योंकि वह राज्यो को एक ही न्यायिक सिद्धान्त पर आधारित करता है। परन्तु फिर भी इसमे कुछ दोष हैं प्रथम, विविध शासन प्रणालियो पर लागू नही किया जा सकता।

आधुनिक वर्गीकरण
(Modern classification)

आधुनिक राज्यो के वैज्ञानिक व व्यावहारिक वर्गीकरण का श्रेय अंग्रेज विद्वान् जे० ए० आर० मेरियट और डाक्टर स्टीफन लीकॉक को दिया जाता है। दोनो अरस्तू से प्रभावित होते हुए भी उसके वर्गीकरण के आलोचक हैं।

मेरियट का वर्गीकरण

मेरियट ने राज्यो का वर्गीकरण निम्नांकित तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो के आधार पर किया है—

(1) शक्ति विभाजन के आधार पर,

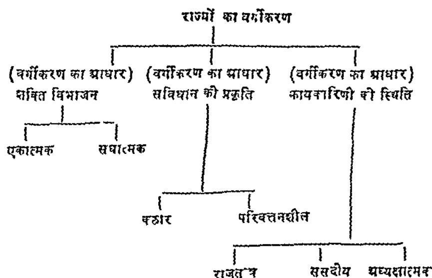
(2) संविधान की प्रकृति के आधार पर, तथा

(3) कार्यकारिणी व विधायिका के सम्बन्धो के आधार पर।

प्रथम नियम के अनुसार मेरियट राज्यो को एकात्मक व संघात्मक मे बाँटता है। एकात्मक राज्य मे सत्ता केन्द्र के पास केन्द्रित होती है। विभिन्न इकाइयाँ अपनी शक्ति केन्द्र से लेती हैं जो अपनी इच्छानुसार उनसे शक्ति वापस भी ले सकता है। संघात्मक राज्य में सत्ता का केन्द्र और इकाइयो के मध्य संविधान द्वारा बँटवारा कर दिया जाता है। संविधान मे संशोधन के बिना सत्ता के विभाजन की स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इंगलैण्ड, फ्रांस, स्पेन, इटली आदि एकात्मक राज्य हैं। भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमरीका संघात्मक राज्यो के उदाहरण हैं।

संविधान की प्रकृति के आधार पर राज्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक वे जहाँ का संविधान कठोर है और दूसरा वे जहाँ का संविधान परिवर्तनशील है। कठोर संविधान उन राज्यों का माना जाता है जहाँ संविधान में संशोधन करने के लिये एक विशेष व कठिन तरीका अपनाया जाता है। यह तरीका साधारण कानून बनाने के तरीके से भिन्न होता है। जिन राज्यों के संविधान में संशोधन साधारण कानून बनाने के तरीके से ही हो जाता है उन्हें परिवर्तनशील संविधानों वाला राज्य कहते हैं। इंग्लैण्ड का संविधान परिवर्तनशील है और अमरीका का कठोर।

कार्यकारिणी व विधायिका के सम्बन्धों के आधार पर मेरियट ने राज्यों को राजतन्त्र, संसदीय व अध्यक्षात्मक में बाँटा है। अगर कार्यकारिणी विधायिका से पूरी तरह स्वतन्त्र है और उस पर नियन्त्रण रखती है तो राज्य राजतन्त्र कहलायगा। जिनमें कार्यकारिणी विधायिका के अधीन होती है वे संसदीय व्यवस्था वाले राज्य होंगे। जिनमें कार्यकारिणी और विधायिका दोनों एक दूसरे से पूर्णत स्वतन्त्र अपना अपना कार्य करें वे अध्यक्षात्मक या असंसदीय प्रणाली वाले राज्य कहलायेंगे। मेरियट के वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका से भली भाँति समझा जा सकता है



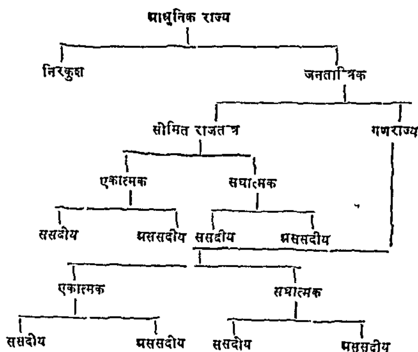
गुण व दोष—मेरियट के वर्गीकरण करण का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अपने पूर्वगामी वर्गीकरणों की तुलना में अधिक व्यापक व वैज्ञानिक है। वह आधुनिक राज्यों के वर्गीकरण का सुगम आधार प्रस्तुत करता है। परन्तु फिर भी उसमें कुछ कमियाँ हैं। प्रथम वह राज्यों का नहीं सरकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत करता है। दूसरे, उसने वैधानिक राजतन्त्र और गणतन्त्र में कोई भेद नहीं किया है। तीसरे, उसके वर्गीकरण में निरंकुश धर्म सापेक्ष या धर्म निरपेक्ष राज्यों का कोई स्थान नहीं है। चौथे, ... आधार पर बनाये गये राज्यों जैसे पूँजीवादी, साम्यवादी या लोक कल्याणकारी

आदि को भी पृथक्-पृथक् वर्गीकृत करने का उसने कोई आधार नही दिया है। लेकिन इन अपूर्णताओ के होते हुए भी मेरियट का वर्गीकरण पर्याप्त आधुनिक है। उसने स्वय स्वीकार किया है कि ऐसा कोई भी वर्गीकरण प्रस्तुत करना असम्भव है जिसमे सभी प्रकार की शासन प्रणालियो वाले राज्यो को रखा जा सके।

लीकॉक का वर्गीकरण

डा० लीकॉक ने अपने वर्गीकरण म प्राचीन और आधुनिक दोनो प्रकार के राज्यो को शामिल करने का प्रयास किया है। वह राज्यो को शासन प्रणालियो के आधार पर दो वर्गों म बाँटता है—*निरकुश व जनतान्त्रिक (Democratic)*। उसके अनुसार, जब सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे हो और वह मनमाने ढग से शासन करे तो सरकार निरकुश होती है। जनतान्त्रिक शासन वह है जिनमे राज्य शक्ति लोगो के बहुमत के पास रहती है। लीकॉक जनतान्त्रिक ढग शासित होने वाले राज्यो को पुन सीमित राजतन्त्र और गणराज्य म बाँटता है। सीमित राजतन्त्र मे शासक की शक्ति सीमित होती है और वह निश्चित नियमो के अनुसार शासन करता है। गणराज्य मे राज्य का प्रधान जनता द्वारा चुना जाता है और उसकी इच्छानुसार ही शासन करता है। सीमित राजतन्त्र और गणराज्य पुन एकात्मक व सघात्मक सरकारों मे विभाजित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार, एकात्मक व सघात्मक शासन ससदीय या असंसदीय हो सकते हैं।

डा० लीकॉक के वर्गीकरण को निम्नांकित तालिका द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।



गुण व दोष—यद्यपि लीकॉक ने आधुनिक युग में पाये जाने वाले लगभग सभी राज्यों को वर्गीकृत करने की चेष्टा की है, तथापि उसका वर्गीकरण भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसने अधिनायकतन्त्र या सर्वसत्तावादी राज्यों, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष जनतान्त्रिक प्रणाली वाले राज्यों, धर्म सापेक्ष या धर्म निरपेक्ष, अथवा समाजवादी या लोक कल्याणकारी राज्यों के वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया। फिर भी मोटे तौर पर और अन्य वर्गीकरणों की तुलना में उसका वर्गीकरण श्रेष्ठ है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा है कि जनतान्त्रिक राज्य सीमित राजशाही वाले या गणराज्य दोनों हो सकते हैं। इसी प्रकार एकात्मक राज्य भी संसदीय या असंसदीय हो सकता है और संघात्मक भी।

लीकॉक के बाद

डा० स्टीफन लीकॉक के बाद ब्राइस, जक्स, मैकाइवर, स्ट्रांग आदि ने भी राज्यों के अपने अपने वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं, लेकिन वे विस्तृत होते हुए भी अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने अपने वर्गीकरण किसी नये महत्त्वपूर्ण आधार को लेकर नहीं किये हैं। अतः उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं जँचता।

राज्यों के वर्गीकरण में बाधाएँ

(Obstacles in the way of Classification of States)

उपर्युक्त सभी वर्गीकरणों के विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी वर्गीकरण में समस्त आधुनिक राज्यों को वर्गीकृत करने की क्षमता नहीं है। इसका प्रथम कारण राज्यों की आत्मा व स्वरूप में अन्तर है। आज हमें राज्यों के इतने रूप दिखायी देते हैं कि उन्हें किसी एक वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त उनकी व्यावहारिक कार्य प्रणाली और उनके बाहरी स्वरूप में विरोधाभास पाया जाता है। उदाहरण के लिये, इगलैण्ड का बाहरी रूप राजतन्त्र का है लेकिन व्यवहार में वहाँ संसदीय जनतन्त्र है। इसी प्रकार फ्रांस में सैद्धान्तिक रूप से गणतन्त्र और व्यावहारिक रूप से एकतन्त्र है।

उचित वर्गीकरण के मार्ग में दूसरी बड़ी बाधा विश्व के विभिन्न देशों की शासन-प्रणालियों में होने वाले शीघ्रगामी परिवर्तन (Rapid Changes) हैं। भौतिक प्रगति, वैज्ञानिक अनुसन्धानों व अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में क्षण क्षण होने वाले परिवर्तन ने राज्यों की शासन व्यवस्थाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। ऐसी परिस्थितियों में आज किया गया कोई वर्गीकरण कल पुराना पड़ जाता है। सुकर्ण के काल में इण्डोनेशिया में स्थापित निर्देशित लोकतन्त्र (Guided Democracy), अयूब का पाकिस्तान में बुनियादी लोकतन्त्र (Basic Democracy) तथा नेपाल का पंचायती लोकतन्त्र इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं जो वर्गीकरण को चुनौती देते हैं।

राज्यों के वर्गीकरण में तीसरी बड़ी बाधा यह है कि सरकारों के व्यवहार व

उनके स्वरूपो के परिवतन के विषय म कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती। सरकारो का स्वभाव भौतिक पदार्थों की भाति नही होता कि उनके विषय मे निश्चित रूप से कुछ कहा जा सके। काग्रेस दल के नेतत्व मे ही नेहरू के काल मे भारत एक जनतान्त्रिक राज्य था तो इन्दिरा गाधी के युग म सीमित जनतान्त्रिक या समाजवादी होता जा रहा है।

अन्त में, नवीन आर्थिक व राजनीतिक शक्तियों के उदय के कारण भी राज्यो के वर्गीकरण की समस्या विषम हो गयी है। राष्ट्रवाद समाजवाद व जनत त्र की मान्यताओ ने सारी दुनिया का मानसिक वर्गीकरण कर रखा है। इनसे एक एक के आधार पर ही दुनिया के राज्यो का वर्गीकरण हो सकता है। कहने का तात्पय यह है कि राज्यो के वर्गीकरण का काय इतना सरल नही है जितना बाहरी तौर पर दिखायी देता है। अधिक-से अधिक उनके उचित वर्गीकरण का प्रयास किया जा सकता है।

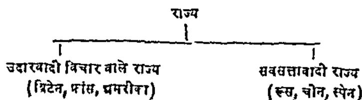
राज्यो के वर्गीकरण के कुछ नये आधार
(Some New Bases for the Classification of States)

वत्तमान परिस्थितियो म राज्यो का कोई सवमान्य शुद्ध या स्थायी वर्गीकरण उपलब्ध न होने के कारण राज्यो को निम्नांकित आधार पर वर्गीकृत करने की कोशिश की जा सकती है—

(1) राज्य के कायक्षेत्र के आधार पर,
(2) राज्य की प्रकृति के आधार पर,
(3) राज्य के सविधान की प्रकृति के आधार पर,
(4) राज्य की विधायिका की प्रकृति के आधार पर,
(5) राज्य की कायकारिणी की प्रकृति के आधार पर,
(6) राज्य की न्यायपालिका की प्रकृति के आधार पर,
(7) राज्य की धम के प्रति नीति के आधार पर,
(8) राज्य की अथ व्यवस्था के आधार पर,
(9) राज्य के अध्यक्ष के चुनाव के आधार पर, तथा
(10) राज्य म मताधिकार के नियम के आधार पर।

उपयुक्त आधारो पर किये जाने वाले वर्गीकरणो की पूण व्याख्या करना वस्तुत पहले दिये गये साहित्य और सामग्री की पुनरावृत्ति होगा, अत समय की बचत और सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्नांकित तालिकाओ मे स्पष्ट किया गया है —

(1) राज्य के कार्यक्षेत्र के आधार पर



गुण व दोष—यद्यपि लीकॉक ने आधुनिक युग मे पाये जाने वाले लगभग सभी राज्यों को वर्गीकृत करने की चेष्टा की है, तथापि उसका वर्गीकरण भी पूर्ण नही कहा जा सकता। उसने अधिनायकतन्त्र या सर्वसत्तावादी राज्यों, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष जनतान्त्रिक प्रणाली वाले राज्यो, धर्म सापेक्ष या धर्म निरपेक्ष, अथवा समाजवादी या लोक कल्याणकारी राज्यो के वर्गीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया। फिर भी मोटे तौर पर और अन्य वर्गीकरणो की तुलना मे उसका वर्गीकरण श्रेष्ठ है। उसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उसने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा है कि जनतान्त्रिक राज्य सीमित राजशाही वाले या गणराज्य दोनो हो सकते हैं। इसी प्रकार एकात्मक राज्य भी संसदीय या असंसदीय हो सकता है और संघात्मक भी।

लीकॉक के बाद

डा० स्टीफन लीकॉक के बाद ब्राइस, जैक्स, मैकाइवर, स्ट्रांग आदि ने भी राज्यो के अपने अपने वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं, लेकिन वे विस्तृत होते हुए भी अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने अपने वर्गीकरण किसी नये महत्त्वपूर्ण आधार को लेकर नही किये हैं। अतः उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नही जँचता।

राज्यो के वर्गीकरण मे बाधाएँ

(Obstacles in the way of Classification of States)

उपर्युक्त सभी वर्गीकरणो के विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी वर्गीकरण में समस्त आधुनिक राज्यो को वर्गीकृत करने की क्षमता नहीं है। इसका प्रथम कारण राज्यों की आत्मा व स्वरूप में अन्तर है। आज हमे राज्यो के इतने रूप दिखायी देते हैं कि उन्हें किसी एक वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त उनकी व्यावहारिक कार्य प्रणाली और उनके बाहरी स्वरूप में विरोधाभास पाया जाता है। उदाहरण के लिये, इगलैण्ड का बाहरी रूप राजतन्त्र का है, लेकिन व्यवहार में वहाँ संसदीय जनतन्त्र है। इसी प्रकार फ्रांस में सैद्धान्तिक रूप से गणतन्त्र और व्यावहारिक रूप से एकतन्त्र है।

उचित वर्गीकरण के मार्ग में दूसरी बडी बाधा विश्व के विभिन्न देशों की शासन प्रणालियों में होने वाले शीघ्रगामी परिवर्तन (Rapid Changes) हैं। भौतिक प्रगति, वैज्ञानिक अनुसंधानों व अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में क्षण क्षण होने वाले परिवर्तन ने राज्यो की शासन व्यवस्थाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। ऐसी परिस्थितियों में आज किया गया कोई वर्गीकरण कल पुराना पड़ जाता है। कुछ समय पहले इण्डोनेशिया में स्थापित निर्देशित लोकतन्त्र (Guided Democracy), अयूब के पाकिस्तान में बुनियादी लोकतन्त्र (Basic Democracy) तथा नेपाल का पंचायती लोकतन्त्र इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं जो वर्गीकरण को चुनौती देते हैं।

राज्यो के वर्गीकरण में तीसरी बडी बाधा यह है कि सरकारों के व्यवहार में

उनके स्वरूपों के परिवर्तन के विषय म कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती। सरकारो का स्वभाव भौतिक पदार्थों की भांति नही होता कि उनके विषय मे निश्चित रूप से कुछ कहा जा सके। काग्रेस दल के नेतृत्व मे ही नेहरू के काल म भारत एक जनतान्त्रिक राज्य था तो इन्दिरा गाधी के युग म सीमित जनतान्त्रिक या समाजवादी होता जा रहा है।

अन्त में, नवीन आर्थिक व राजनीतिक शक्तियो के उदय के कारण भी राज्यो के वर्गीकरण की समस्या विषम हो गयी है। राष्ट्रवाद, समाजवाद व जनतन्त्र की मान्यताओ ने सारी दुनिया का मानसिक वर्गीकरण कर रखा है। इनसे एक एक के आधार पर ही दुनिया के राज्यो का वर्गीकरण हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राज्यो के वर्गीकरण का काय इतना सरल नही है जितना बाहरी तौर पर दिखायी देता है। अधिक-से अधिक उनके उचित वर्गीकरण का प्रयास किया जा सकता है।

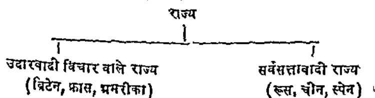
राज्यो के वर्गीकरण के कुछ नये आधार
(Some New Bases for the Classification of States)

वत्तमान परिस्थितियो म राज्यो का कोई सवमान्य शुद्ध या स्थायी वर्गीकरण उपलब्ध न होने के कारण राज्यो को निम्नाकित आधार पर वर्गीकृत करने की कोशिश की जा सकती है—

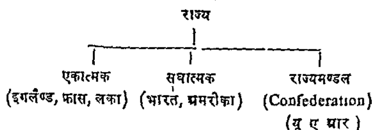
(1) राज्य के कायक्षेत्र के आधार पर,
(2) राज्य की प्रकृति के आधार पर,
(3) राज्य के सविधान की प्रकृति के आधार पर,
(4) राज्य की विधायिका की प्रकृति के आधार पर,
(5) राज्य की कायकारिणी की प्रकृति के आधार पर,
(6) राज्य की न्यायपालिका की प्रकृति के आधार पर,
(7) राज्य की धम के प्रति नीति के आधार पर,
(8) राज्य की अथ व्यवस्था के आधार पर,
(9) राज्य के अध्यक्ष के चुनाव के आधार पर, तथा
(10) राज्य मे मताधिकार के नियम के आधार पर।

उपयु क्त आधारो पर किये जाने वाले वर्गीकरणो की पूण व्याख्या करना वस्तुत पहले दिये गय साहित्य और सामग्री की पुनरावृत्ति होगा, अत समय की बचत और सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्नाकित तालिकाओ मे स्पष्ट किया गया है —

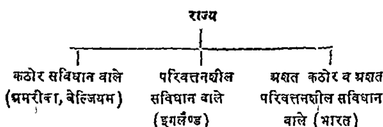
(1) राज्य के कार्यक्षेत्र के आधार पर



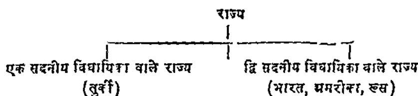
(2) राज्य की प्रकृति के आधार पर



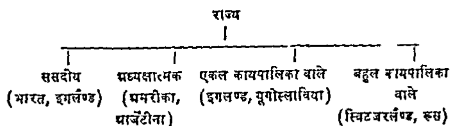
(3) राज्य के सविधान की प्रकृति के आधार पर



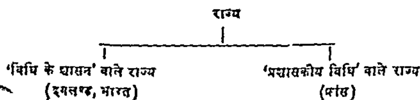
(4) राज्य की विधायिका की प्रकृति के आधार पर



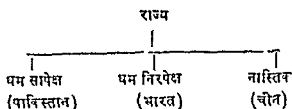
(5) राज्य की काय कारिणी की प्रकृति के आधार पर



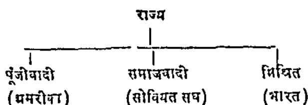
(6) राज्य की न्यायपालिका की प्रकृति के आधार पर



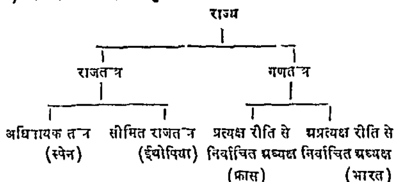
(7) राज्य की धर्म के प्रति नीति के आधार पर



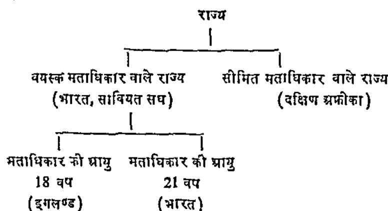
(8) राज्य की अर्थ व्यवस्था के आधार पर



(9) राज्य के अध्यक्ष के चुनाव के आधार पर



(10) राज्य में मताधिकार के नियम के आधार पर



आधुनिक राज्यों को उनके स्वभाव, लक्षण, उनके संविधान की प्रकृति के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरणों में से किसी के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है। इनमें से कौन सा वर्गीकरण का आधार उपयुक्त है और कौन अनुपयुक्त इसके विषय में निर्णय

व्यक्तिगत हो सकता है, सवमान्य नही । फिर भी वर्गीकरण के कुछ आधार प्रस्तुत हैं, जो अन्तिम नही हैं, कुछ अन्य आधार भी हो सकते है तथा इनमे से कुछ अव्यावहारिक मानकर त्यागे भी जा सकते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1 अरस्तू के राज्य वर्गीकरण का वणन करो। आधुनिक युग मे आप इस वर्गीकरण मे क्या सशोधन करना चाहेगे ? (आगरा 1942)

2 क्या अरस्तू का वर्गीकरण सामान्य है ? यदि तो है आधुनिक राज्यो के किसी उचित वर्गीकरण का उल्लेख कीजिये। (राजस्थान 1962)

3 अरस्तू द्वारा किये गये राज्यो के वर्गीकरण का ध्यानपूवक वणन कीजिये। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि आधुनिक राज्यो के लिये यह वर्गीकरण उपयुक्त नही है।
(आगरा 1960, विक्रम 1964, जोधपुर 966, 69, गोरखपुर 1964, (कानपुर 1970)

4 अरस्तू द्वारा किय गये राज्यो के वर्गीकरण का वणन कीजिये। इसके प्रमुख दोष बताइये और वत्तमान परिस्थितियो के लिये उपयुक्त राज्यो का नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिय। (राजस्थान 1961, कानपुर 1968)

5 वे कौन से आधार हैं जिन पर आधुनिक काल मे राज्या का वर्गीकरण किया जा सकता है ? आप वर्गीकरण के लिय किस आधार को सर्वोत्तम मानते है और क्यो ? (आगरा 1955, 58)

6 अरस्तू द्वारा किये राज्यो के वर्गीकरण की विवेचना कीजिये। आधुनिक काल के लिये यह कहाँ तक उपयुक्त है ? (आगरा 1965, 72)

— ० —

अध्याय १५

सरकार के अग और उनका सम्बन्ध
(Organs of Government and their relationship)

> प्रत्यक सरकार के अनेक प्रकार के काय और गतिविधियाँ होती हैं, जिन्हे सामान्य विधायनी, कायकारी और न्यायिक में वर्गीकृत किया जाता है। विधायनी सत्ता शक्ति का बड़ा भाग है न्यायपालिका कम और कार्यपालिका निम्नष है।
>
> —गिलक्राइस्ट

सरकार के तीन अग होते हैं--विधानपालिका, कायपालिका और न्यायपालिका। विधानपालिका कानून बनाती है, कायपालिका कानूनो को लागू करती है तथा न्यायपालिका कानूनो का पालन कराती है। डा आशीर्वादम् के शब्दो मे विधानपालिका "राज्य की इच्छा को प्रगट करती है, कायपालिका इस इच्छा को कार्यान्वित करती है, और न्यायपालिका राज्य के अनुचित हस्तक्षेप से व्यक्ति की रक्षा करती है, सविधान की व्याख्या करती है और ऐसी विधियों को अवध घोषित करती है, जो सविधान से मेल नहीं खातीं।"[1] इस अध्याय मे सरकार के इन तीनो अगो के गठन, कार्यों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना की गयी है।

विधानपालिका
(Legislature)

विधानपालिका, जिसे 'विधायिका' या 'व्यवस्थापिका' भी कहते हैं, सरकार का सबसे महत्त्वपूण अग है। इसका कारण यह है कि कानून विधानपालिका द्वारा ही बनाये जाते हैं और अच्छे कानूनो पर ही सरकार की सफलता निभर होती है। कायपालिका और न्यायपालिका विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनो को ही लागू करती तथा पालन कराती हैं। यदि कानून अच्छा नही होगा तो कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनो अपने कार्यों का सम्पादन सुचारु रूप से नहीं कर सकेंगी। अत शासन के तीनों अगो मे विधानपालिका सबसे महत्त्वपूण है। वह कायपालिका और न्यायपालिका दोनो की पथ प्रदशक है।

1 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, खण्ड १, पृ २६६।

उत्पत्ति और विकास

मॉण्टेस्क्यू लिखता है कि प्राचीन लेखको को जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा गठित किसी विधानसभा का ज्ञान नहीं था। राज्य मे कानून बनाने की शक्ति किसी निर्वाचित अग को नही दी जाती थी। इसका प्रयोग राजा अथवा प्राथमिक सभाओ मे जनता स्वय करती थी। जैसे-जसे सम्पत्ति और जनसख्या का विकास हुआ एकतन्त्र के आधार पर शासन सचालन मुश्किल हो गया। अनेक विषय और हित ऐसे थे जिनकी ओर राजा पर्याप्त ध्यान नही दे पाता था। अत सत्ता का विकेन्द्रीकरण और प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था का विकास अवश्यम्भावी हो गया।[2]

अ — प्रतिनिधि विधानमण्डलीय व्यवस्था का प्रारम्भ हमे जमनी के प्राचीन टयूटन्स (Teutons) की जन सभाओ (Folk Moots) मे मिलता है। इनमे कबीले के नेता अपनी अपनी जातियो के सामान्य हितो पर विचार किया करते थे। इगलण्ड के इतिहास मे 'विटान सभा' (Witanage Moot) ऐसी सभा है जो विधानपालिका का उद्गम मानी जा सकती है। शुरू म यह निर्वाचित प्रतिनिधियो की सभा नही थी। तेरहवी शताब्दी के अन्त तक वह तीन सम्पत्तिवान वर्गो—सामन्तो, सवसाधारण (Commons) और धमगुरुओ—का प्रतिनिधित्व करती थी। चौदहवी शताब्दी के आरम्भ मे इस सस्था का दो सदनो मे विभाजन हो गया। वे दोनो सदन आज लाड सभा और कामन सभा के रूप म जाने जाते हैं। इसी प्रकार फ्रास में १३०२ मे पहली बार सामन्तो, धमगुरुओ और नगरवासियो की एक सामान्य सभा हुई, जिसका नाम स्टेटस जनरल (States General) था। इसी सभा की बैठक से फ्रास मे प्रतिनिधि सभाओ का जीवन आरम्भ हुआ। जमनी मे भी फ्रास की भाँति चौदहवी शताब्दी मे सम्पत्ति और भूमि के आधार पर प्रतिनिधि सस्थाओ का जन्म हुआ।

काफी समय तक इन सस्थाओ को स्वतन्त्र रूप से कानून बनाने की शक्ति प्राप्त नही थी। राजा को ही समस्त विधायिनी शक्तियाँ प्राप्त थी। सभा अपने विचार आवदन या प्राथनापत्रो के रूप मे राजा के समक्ष उपस्थित करती थी तथा यदि उस प्रार्थना पत्र को राजा स्वीकार कर लेता था तो उसे कानून के रूप मे लागू कर दिया जाता था। १६८८ की क्रांति के बाद यह स्थिति बदल गयी, इगलण्ड मे ससद् ने स्वय कानून बनाना शुरू कर दिया और राजा को वे कानून स्वीकृति के लिये भेजे जाने लगे। इस प्रकार का विकास यूरोप के अन्य देशो म भी हुआ। डेले लिखता है कि सम्पत्ति और जनसख्या के विकास ने अनेक ऐसे हितो को जन्म दिया जिनके कारण राजतन्त्र का पतन हुआ क्योकि राजा अकेले जनता के विभिन्न हितो पर ध्यान नही दे सकता था। ऐसी अवस्था म केवल तीन विकल्प थे। प्रथम यह कि यथास्थिति को बनाये रखा जाय और डण्डे के जोर पर शासन किया जाय, दूसरा यह कि विकेन्द्रीकरण को प्रोत्साहित किया जाय और प्रान्तो मे अलग अलग शासक नियुक्त किये जायें जो अपने

2. J Q Dealey *The Development of the State* pp 181 91

मामला को खुद भुलें में और तीसरा यह कि केन्द्रीय सत्ता अपने पास शक्ति को बनाय रखें लेकिन शनै शनै एक प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था का विकास करे जो महत्त्वपूर्ण विषयो पर उचित ध्यान दे।[3] तीसरा विकल्प ही श्रेष्ठ था और राजनीतिक समाज मे इसे ही अपनाया गया।

विधानपालिका के कार्य
(Functions of the Legislature)

(१) विधायी काय (Legislature Functions)—रीनो के विचार से "जनमत की सामग्री को विधियों, प्रस्तावों और सावजनिक नीतियो मे परिवर्तित करने वाले सस्थान को ससद कहते हैं।" इस वाक्य से स्पष्ट है कि विधानपालिका का मुख्य कार्य नये कानूनो को बनाना, पुराने कानूनो को समाप्त करना और आवश्यकतानुसार वत्तमान कानूनो मे परिस्थितियो के अनुसार सशोधन करना होता है। विधानपालिका केवल साधारण कानून ही नही बनाती, कुछ देशो म वह सवधानिक कानून भी बनाती है। इगलण्ड जसे देश मे उसे दोनो प्रकार के कानून बनाने का अधिकार होता है।

(२) विमर्शात्मक काय (Deliberative Functions)—वत्तमान युग मे व्यवस्थापिका के लिये सामान्यत अग्रेजी शब्द 'पार्लियामण्ट' का प्रयोग किया जाता है जो फ्रेंच भाषा के शब्द 'पालमण्ट' से बना है जिसका अथ 'विचार के लिये सभा' होता है। विधानपालिका अनेक हितो और विचारधाराओ के लोगो का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने अपने दृष्टिकोण से सरकारी कार्यों और नीतियो पर विचार करते हैं। इस तरह विधानपालिका वाद विवाद, विचार विमश और विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण केन्द्र होती है। विमर्शात्मक काय के आधार पर विधानपालिका को 'जनमत का दपण' भी कहा जाता है।

(३) वित्त पर नियन्त्रण (Control over the purse)—व्यवस्थापिका राष्ट्र की अथ-व्यवस्था का नियमन करती है और राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखती है। वह ही करों और व्यय के सम्बन्ध मे अन्तिम निणय करती है। कायपालिका उसकी स्वीकृति के बिना न तो कोई कर लगा सकती है और न एक नया पसा खच ही कर सकती है। 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नही' (No Taxation, without Representation) का सिद्धान्त वित्तीय क्षेत्र मे विधानपालिका की सर्वोच्चता का प्रतीक है।

(४) प्रशासकीय नियन्त्रण (Administrative Control)—विलोबी के शब्दो म विधानपालिका प्रशासन की नियामक (Regulator of Administration) है। ससदीय शासन व्यवस्था में कायपालिका इसकी दासी होती है। वह सम्पूण प्रशासकीय कार्यों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और अपने पद पर केवल उस समय तक ही बनी रह सकती है जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का समथन

Ibid p 188 ff

प्राप्त होता है। प्रश्न पूछकर कटौती प्रस्ताव करके अविश्वास प्रस्ताव का भय दिखा कर व्यवस्थापिका कायपालिका के प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वाले देशो म भी व्यवस्थापिका प्रशासन पर अपना प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है। उदाहरण के लिये, सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियो और सन्धियो को सीनेट (व्यवस्थापिका) की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता है। सीनेट ही वहाँ युद्ध और शाति की घोषणा करती है और प्रशासन के विभिन्न विभागो की जाँच करती है। जाँच-पडताल के इस काय को वहाँ मछली फाँसना (fishing trips) कहा जाता है।

(५) न्यायिक काय (Judicial Functions)—विधानपालिकायें कुछ न्याय सम्बन्धी काय भी करती हैं। इगलण्ड म लॉड सभा अपील का सर्वोच्च न्यायालय है। फ्रास की गणतन्त्र परिषद, अमरिका की काग्रेस और भारत की ससद तीनो उच्च कायपालका पर महाभियोग लगाने और उसका निणय करने का अधिकार रखती हैं। अपनी मान प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये ससद् सदन की निन्दा करने या कायवाही म खलल डालने वाले व्यक्तियो के विरुद्ध न्यायालय के रूप म काय करती है और उन्ह दण्ड देती है।

(६) सवधानिक काय (Constitutional Functions)—प्राय सभी देशो मे विधानपालिका सविधान मे सशोधन करती है। सशोधन की यह विधि प्रत्येक देश मे भिन्न भिन्न होती है। इगलण्ड जसे देश मे जहाँ लिखित सविधान नही है, ससद का आदेश ही सविधान है और ससद सविधान मे जसा भी चाहे सशोधन कर सकती है। लेकिन भारत, अमेरिका आदि देशो मे सविधान मे सशोधन के समय व्यवस्थापिका की भूमिका सदव उतनी महत्त्वपूण नही होती। अनेक महत्त्वपूण सशोधनो मे राज्यो के बहुमत की आवश्यकता भी होती है।

(७) निर्वाचन सम्बन्धी काय (Electoral Functions)—विधानपालिका कुछ निर्वाचन सम्बन्धी काय भी करती है। ससदात्मक शासन प्रणाली के अन्तगत विधानपालिका ही प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि का चुनाव करती है। स्विटजरलण्ड म विधानपालिका मन्त्रिपरिषद के सदस्यो का ही नही चुनती वह न्यायाधीशो, चासलरो और सेनापति का चुनाव भी करती है। सोवियत सघ म भी व्यवस्थापिका मन्त्रि परिषद् के सदस्यो और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो का चयन करती है।

(८) जाच पडताल सम्बन्धी काय—व्यवस्थापिका जनता के हितो की रक्षा के लिये किसी महत्त्वपूण समस्या के सम्बन्ध म जानकारी प्राप्त करने या जाँच-पडताल के लिये समितियो और आयोगो की नियुक्ति करती है जिन पर कायपालिका का कोई नियन्त्रण नही होता। भारत म वित्त-आयोग और प्रशासनिक-सुधार आयोग इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(९) वदेशिक सम्बन्धो पर नियन्त्रण (Control over Foreign Affairs)—ससदात्मक व्यवस्था वाले देशो म व्यवस्थापिका का विदेश-नीति के निर्माण और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सचालन पर प्रभावशाली नियन्त्रण होता है।

वदेशिक सम्बन्धो को प्रभावित करने वाले सभी विषयो पर इसमे खुला विचार-विमर्श होता है। वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण इसकी इच्छा के विरूद्ध किसी नीति का कार्यपालिका पालन नहीं कर सकती। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वाले देशो मे युद्ध और शांति की घोषणा तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियो के समर्थन का अधिकार प्राप्त होने के कारण व्यवस्थापिका वहाँ भी बहुत प्रभावशाली होती है। राष्ट्रपति विल्सन की लाख कोशिशो के बावजूद प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका को सीनेट ने राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनने दिया, यही इसका सबसे बडा प्रमाण है।

(१०) विविध कार्य—व्यवस्थापिका के और भी अनेक कार्य होते हैं। वह अपने कार्य करने की प्रक्रिया स्वय निश्चित करती है। जनता के कष्टो को दूर करने के साधन के रूप मे कार्य करती है। वह केवल जनमत की अभिव्यक्ति ही नहीं करती उसका निर्माण भी करती है। कार्यपालिका को जनहित मे कार्य करने को प्रेरित करना इसका आधारभूत कर्त्तव्य है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि आधुनिक विधानपालिका केवल कानून बनाने वाली संस्था नहीं है। इसके अनेक अ-कानूनी कार्य भी हैं—जैसे निर्वाचन सम्बन्धी, न्याय सम्बन्धी, प्रशासन सम्बन्धी आदि। प्रत्येक देश मे इसकी शक्तियो मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे इसके कार्य और प्रभावो मे विस्तार भी स्वाभाविक है।

विधानपालिका का संगठन
(Organisation of the Legislature)

विधानपालिका का संगठन दो प्रकार का होता है। जब विधानपालिका का केवल एक सदन (Chamber) होता है तो उसे एक सदनीय विधानपालिका कहते हैं तथा जब उसके दो सदन होते हैं तब उसे द्वि-सदनीय विधानपालिका कहा जाता है। आधुनिक युग मे प्राय सभी महत्त्वपूर्ण देशो मे द्वि सदनीय विधानपालिका पाई जाती है। इन मे प्रथम सदन, जिसे निम्न सदन (Lower House) भी कहते हैं, जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए प्रतिनिधियो से बनता है। दूसरा सदन, जिसे उच्च सदन (Upper House) भी कहा जाता है, विभिन्न हितो या वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यो से बनता है। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका को छोडकर विश्व के लगभग सभी बडे देशो मे द्वितीय सदन की शक्तियाँ प्रथम सदन की तुलना मे बहुत कम हैं।

विधानपालिका का एक सदन होना चाहिये या उसके दो सदन होने चाहियें इस विषय को लेकर विद्वानो मे बडा मतभेद है। कुछ लोग एक सदनीय व्यवस्थापिका के समर्थक हैं तो दूसरे द्वि सदनीय व्यवस्थापिका के। दोनो व्यवस्थाओ के गुण व दोषो का अध्ययन करके ही हम यह निर्णय कर सकते हैं कि उनमें कौन सी व्यवस्था श्रेष्ठ है।

द्वि-सदनात्मक विधानपालिका के पक्ष मे तर्क

द्वि सदनीय व्यवस्थापिका क पक्ष म निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं। द्वि सदनात्मक विधानपालिका क य प्रस्तावित लाभ एक सदनीय प्रणाली म नहीं मिलते अत इन्हे एक सदनीय विधानपालिका के दोष भी कहा जाता है—

(१) जल्दबाजी और लापरवाही से बनाये गये कानूनो पर रोक—यदि विधान-, पालिका का एक सदन हो तो वह कार्यभार स दबा रहेगा, एसी अवस्था मे किसी विषय पर शांति व विस्तार स वाद विवाद सम्भव नहीं है। जल्दबाजी म ऐसे कानून भी पास हो सकते हैं जो जनता के हित मे न हो। अत यह आवश्यक है कि जल्दबाजी और लापरवाही से बनाये गये कानूनो पर रोक लगाने के लिये दूसरे सदन की व्यवस्था हो। लेकी के अनुसार, "द्वितीय सदन विधायन मे नियन्त्रणात्मक और सुधारात्मक प्रभाव डालता है।" ब्लश्ली ठीक लिखता है, "दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छा देखती हैं, विशेषत जब किसी प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार करने की आवश्यकता हो।'

(२) जनमत के अनुकूल व्यवस्थापन—द्वितीय सदन का कार्य वास्तव मे कानून बनने की प्रक्रिया म देरी करना है। एक सदन मे पास होने के बाद जब कोई विधेयक दूसरे सदन म जाता है तो इस काल मे प्रेस आदि के माध्यम से विधायकों को उस विधेयक क सम्बन्ध मे जनता के दृष्टिकोण का पता चल जाता है। द्वितीय सदन जनमत को ध्यान म रखकर प्रथम सदन द्वारा पास किये गय विधेयक म आवश्यक सशोधन कर देता है। इस प्रकार जो कानून पास होता है वह जनमत के अधिक अनुकूल होता है।

(३) निरकुशता से व्यक्ति की रक्षा—द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरकुशता से व्यक्ति की रक्षा करता है। द्वितीय सदन के अभाव मे प्रथम सदन निरकुश और अत्याचारी हो सकता है। वह सरकार की समस्त शक्तियो पर अपना एकाधिकार करने का प्रयत्न कर सकता है। जान स्टुअट मिल इस सम्बन्ध म लिखता है कि "यदि एक सदन मे किसी दल का बहुमत हो जाता है और यह बहुमत स्थायित्व प्राप्त कर लेता है तो बहुमत दल को यह विश्वास हो जाता है कि वह जो भी विधेयक उपस्थित करेगा वह पारित हो जायेगा। विजय का यह आत्मविश्वास दल को निरकुश बना देता है और यह दल कभी कभी अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लघन करने लगता है। यदि उसे यह भी विश्वास हो जाय कि दूसरे सदन की ओर से भी विरोध का कोई भय नहीं रह गया है तो इस प्रवृत्ति मे अति वृद्धि हो सकती है। यही कारण है कि रोमनो को अपने यहाँ दो सदन निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव हुई थी और यही आवश्यकता प्रत्येक देश को दो सदन बनाने के लिये विवश करती है। इससे किसी भी सदन को सत्ता का उन्माद ग्रस्त नहीं कर सकता। दूसरा सदन सत्तो माद द्वारा पथ भ्रष्ट होने से रोकने का बडा अच्छा साधन है।"[4]

(४) सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व—द्वि सदनीय व्यवस्थापिका होने से विशेष

---

4 Mill Representative Government Chap XIII quoted in M G Gupta and Others *Rajniti Shastra Ke Aadhar* (Hindi) p 28

वर्ग और हितों के लोगों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने मे सुविधा रहती है। प्रथम सदन सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करता है। धनी और विशेष लोगो का प्रतिनिधित्व इसमे नही हो पाता। सच्चे जनतन्त्र के लिये जरूरी है कि इसमे सभी हितो और वर्गों को प्रतिनिधित्व मिले। ब्राइस लिखता है, "हम राज्य की जनसख्या के कुलीनतन्त्रीय और प्रजातन्त्रीय तत्त्वो के भेद की उपेक्षा नहीं कर सकते और दूसरे के साथ अन्याय किये बिना केवल एक ही तत्त्व पर प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया जा सकता।" अत एक-सदनीय की तुलना मे द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका श्रेष्ठ है।

(५) *कार्यपालिका की शक्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा—कुछ विद्वानों का मत* है कि द्वितीय सदन कार्यपालिका की स्थिति को दृढ़ बनाता है। जब दोनो सदन एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो कार्यपालिका को काम करने की अधिक स्वतन्त्रता रहती है। दोनो सदनो के सघर्ष से विधानमण्डल निर्बल हो जाता है और कानून बनाने का काम मन्द गति से होता है। इससे कार्यपालिका को शक्ति प्राप्त होती है। गटल के शब्दो मे, "जब दो सदन परस्पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता मिलती है तथा कालान्तर मे दोनों विभागो के अधिकतम हितों की रक्षा होती है।"

(६) सशोधक सदन—बेजहोट के अनुसार द्वितीय सदन सशोधक सदन होता है। यह प्रथम सदन द्वारा शीघ्रता से पारित किये गये विधेयको की त्रुटियो को दूर करता है।

(७) अनुभव का लाभ—अनेक योग्य और बुद्धिमान नागरिक चुनाव के पचडे मे नही पड़ना चाहते। यदि एक सदनीय विधानपालिका होगी तो देश को ऐसे लोगो के ज्ञान और अनुभव का लाभ नहीं मिल सकेगा। द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका मे ऐसे योग्य और अनुभवी व्यक्तियो को उच्च सदन मे मनोनीत कर दिया जाता है ताकि उनकी प्रतिभा और योग्यता का लाभ देश को प्राप्त होता रहे।

(८) कार्यभार मे कमी—द्वि सदनीय विधानपालिका अधिक कार्यकुशल होती है। इसमे दूसरा सदन पहले सदन के कार्यभार को हल्का कर देता है। वह विवाद-रहित और कम महत्त्वपूर्ण विषयो पर भली भाँति विचार करके उन्हें प्रथम सदन मे भेज देता है जिससे प्रथम सदन को विशेष विचार विमर्श की आवश्यकता नही रहती। इस तरह छोटे-छोटे विधेयक आसानी से कम समय मे पारित हो जाते हैं।

(९) ऐतिहासिक समर्थन—मेरियट के विचार से अतीत काल में द्वि-सदनात्मक प्रणाली से बडा लाभ हुआ है। अत आजकल विश्व के लगभग सभी देशो मे द्वि-सदनात्मक विधानपालिका को अपनाया गया है। इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रास आदि सभी देशो मे एक-सदनीय विधानपालिका का प्रयोग असफल रहा है अत पुन एक-सदनीय व्यवस्थापिका की ओर लौटना कोई बुद्धिमानी का कार्य नही कहा जायेगा।

(१०) सघात्मक राज्य के लिये आवश्यक—*विधानपालिका के दो सदन सघीय* राज्य के लिये नितान्त आवश्यक हैं, क्योकि सघ मे सम्मिलित इकाइयाँ किसी-न किसी रूप मे पारस्परिक समानता को बनाये रखना चाहती हैं। ऐसी अवस्था मे निम्न सदन मे सघीय राज्य की जनता को जनसख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व मिल जाता है और

उच्च सदन मे सघ निर्माण करने वाली इकाइयो को समान प्रतिनिधित्व दे दिया जाता है। बोवी तथा फ्रेडरिक इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि "राज्यो के साथ होने वाले अन्याय को रोकने के लिये दूसरा सदन आवश्यक समझा जाता है और विशेषकर सघ की छोटी इकाइयो के लिये जरूरी होता है, क्योकि निम्न सदन मे उनका प्रतिनिधित्व सीमित होता है।"[5]

इस प्रकार हम देखते है कि एक सदनीय व्यवस्थापिका से द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका श्रेष्ठ है। दूसरा सदन प्रथम सदन का प्रतिद्वन्द्वी नही होता अपितु उसे अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करता है। सर हेनरी मेन की दृढ राय है कि किसी भी प्रकार का दूसरा सदन एक सदन होने से अच्छा है। समस्त तर्कों का सारांश यह है कि "एक सदनीय व्यवस्थापिका अनुत्तरदायी होती है और उसके साथ सदैव यही भय बना रहता है कि कही वह जनमत के प्रभाव के आवेग मे बह न जाय।"[6]

द्वि-सदनात्मक विधानपालिका के विपक्ष मे तर्क

द्वि-सदनात्मक विधानपालिका के विपक्ष मे वे विद्वान् हैं जिनकी रुचि समाजवादी दिशा मे अधिक है या वे लोग हैं जो अधिक कार्य-तत्पर विधानपालिका के समर्थक हैं। ऐसे लोगो ने द्वि-सदनीय विधानपालिका के विरुद्ध निम्नाकित तर्क प्रस्तावित किये हैं —

(१) **विलम्ब और गतिरोध की आशका**—द्वि-सदनात्मक प्रणाली के आलोचको की राय है कि इसमे दोनो सदनो मे एक दूसरे के प्रति होड, प्रतिद्वन्द्विता और अहकार का भाव पाया जाता है। कानून बनाने के कार्य मे न केवल अनावश्यक विलम्ब होता है वरन विधेयन कार्यों के गुणो का ह्रास भी होता है। यदि मान भी लिया जाय कि दोनो सदनो मे कोई सघर्ष नही होगा तो भी दो सदनो का होना ही एकता के नियम को नष्ट करता है और द्वयता की स्थापना करता है। बजामिन फ्रेंकलिन की राय है कि "दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है जैसे एक गाडी के दोनो तरफ घोडे जोत दिये जायें और वे विरोधी दिशाओ मे जाने का प्रयत्न करें।"

(२) **कानूनो पर पुनर्विचार की दृष्टि से उपयोगी नहीं**—लॉस्की इस बात से सहमत नही है कि द्वितीय सदन जल्दबाजी और लापरवाही से बनाये गये कानूनो के सुधार के लिये आवश्यक है। उसके अनुसार प्रत्येक विषय कानून बनने से पहले विचार विश्लेषण की कई अवस्थाओ से होकर गुजरता है। इस प्रकार प्रथम सदन से पारित होने तक इसके लगभग सभी दुर्गुण दूर हो चुके होते हैं और द्वितीय सदन के लिये उसमे सुधार करने की कोई गुजाइश ही नही रहती है।[7]

(३) **प्रतिक्रियावाद का गढ़**—द्वितीय सदन के सदस्य विशेष हितो और वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं, इसलिये वे प्रगतिशील कानूनो और उपयोगी

5 Bowie and Friedrich *Studies in Federalism* p 4
6 Leacock *Elements of Politics* p 153
7 Laski *A Grammar of Politics* p 330

सुधारों का विरोध करते हैं। शासन मे ऐसे रूढिवादी तत्वो की उपस्थिति से देश का अहित होता है और प्रगतिशील कानूनो के लागू होने मे रुकावट आती है।

(४) कार्यकुशलता का अभाव—कुछ विधेयक बहुत जरूरी (urgent) होते हैं और उनकी सामयिक महत्ता होती है। यदि उन्हे तत्काल पास न किया जाये तो उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। द्वि सदनीय व्यवस्थापिका होने के कारण ऐसे विधेयको के पारित होने मे अधिक समय लगना और उनकी महत्ता का नष्ट होना स्वाभाविक है। लॉस्की ने तो यहाँ तक लिखा है, "अत्यन्त उपयोगी सुधारो पर द्वितीय सदन को विलम्ब करने की शक्ति देना सम्भवत कालान्तर मे विनाश को जन्म देना है और जनक्रांति के मार्ग का निर्माण करना है।"

(५) उत्तरदायित्व का विभाजन—द्वि सदनीय व्यवस्था न केवल सम्प्रभुता का विभाजन करती है अपितु इससे उत्तरदायित्व का विभाजन भी होता है जिसके फलस्वरूप अनुत्तरदायित्व का जन्म होता है और अदूरदर्शिता व अयोग्यतापूर्ण कार्य होते हैं। पहला सदन जान बूझकर कई बार जनता को खुश करने के लिये बुरे कानून बनाता है क्योकि उसे दूसरे सदन द्वारा उन्हें अस्वीकृत कर दिये जाने का भरोसा होता है। परिणाम यह होता है कि यदि द्वितीय सदन उन कानूनो को अनुत्तरदायी ढग से पास कर देता है तो देश का अहित होता है और अगर रद्द कर देता है तो जनता को अप्रसन्न करता है। ऐसी अवस्था मे दोना सदन बुराई की जिम्मेदारी एक दूसरे पर डालते रहते हैं।

(६) धन और समय का अपव्यय—दो सदन होने से एक ही विषय पर दोहरा कार्य करना पडता है, इससे समय और धन दोनो का दुरुपयोग होता है। द्वि सदनीय व्यवस्था निश्चय हो प्रशासन के व्यय में वद्धि करती है अत आर्थिक दृष्टि से इसका अन्त हो जाना ही ठीक है।

(७) सघ राज्य के लिये आवश्यक नहीं—आधुनिक युग मे सघीय राज्यो म विधानपालिका के दो सदन का होना जरूरी नहीं है क्योकि दूसरे सदन के सदस्य अपने राज्यो का प्रतिनिधित्व करने की अपेक्षा उन राजनीतिक दलो का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी सहायता से वे निर्वाचित होते हैं। इसलिये राज्यो के प्रतिनिधि के रूप मे द्वितीय सदन का कोई महत्त्व नही रहता। लास्की के विचार से "यह गलत है कि सघ की रक्षा के लिये दूसरा सदन कोई प्रभावशाली गारटी है।' सघ की इकाइयो के हितो की रक्षा द्वितीय सदन की अपेक्षा स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा अधिक उचित प्रकार से हो सकती है।

(८) जनतन्त्र को भावना के विरुद्ध—द्वि सदनीय व्यवस्था जनतन्त्र की भावना के विरुद्ध है क्योकि इसमे द्वितीय सदन प्रथम सदन मे अभिव्यक्त जनता की आवाज को दबाता है। किसी विषय पर जनमत केवल एक ही हो सकता है। विधानपालिका का दो आवाजो म बोलना जनता की इच्छा का सही प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। वास्तव म, द्वितीय सदन गुटबन्दी और दलबन्दी के स्वार्थों का पूरा करने के लिये ही बनाया जाता है।

(९) अनुपयोगी—विधानपालिका के दूसरे सदन का कोई उपयोग नही है। एबेसीज लिखता है कि "यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि सहमत हो जाता है तो व्यय है।" यदि दोनो सदनो की रचना समान है तो उनमे से एक बेकार है क्योकि वह सदैव दूसरे सदन से प्रभावित होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नही कर सकता। यदि रचना समान नही है तो उनमे से एक अनिवार्यत नेतृत्व करेगा और समस्त राजनीतिक प्रतिभा उसी सदन मे चमकेगी। इस प्रकार दूसरा सदन या तो अनुपयोगी और बेकार होगा या व्यर्थ का वाद विवाद करेगा और समय की बरबादी होगी। इसलिये दो सदनो की कोई आवश्यकता नही है।

निष्कर्ष

द्वि सदनात्मक विधानपालिका के पक्ष और विपक्ष का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रणाली के समर्थक वे ही लोग हैं जो सम्पत्तिवान वर्ग के हैं तथा अपने पूँजीवादी लक्ष्यो की पूर्ति के लिये राज्य की शक्ति को अपने अनुकूल प्रयोग करना चाहते हैं। लेकिन इसके बावजूद बहुत कम ऐसे राज्य हैं जहाँ द्वि-सदनीय विधानपालिका को समाप्त कर दिया गया हो। सामान्यत यह किया गया है कि द्वितीय सदन को प्रथम सदन की तुलना मे निर्बल बनाया गया है। इस विषय मे एक स्वर से यह नही कहा जा सकता कि एक सदनीय विधानपालिका अच्छी होती है या द्वि सदनीय विधानपालिका। इसकी उपयोगिता बहुत कुछ राज्य की परम्पराओं और इतिहास पर निर्भर करती है। इगलैण्ड, फ्रास और अमेरिका मे एक सदनीय विधानपालिका की स्थापना के हानिकारक परिणाम हुए हैं लेकिन कनाडा और भारत मे द्वितीय सदन के हटाने से कोई बडी हानि नही होगी।

आदर्श द्वितीय सदन का सगठन

एक आदर्श द्वितीय सदन मे मेरियट के अनुसार तीन गुणो का होना आवश्यक है। प्रथम, इसका एक स्पष्ट आधार होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि इसका आधार प्राचीन, सगठित और गतिहीन न होकर गत्यात्मक हो तथा यह समाज को प्रतिबिम्बित करे। दूसरा जिस सिद्धान्त पर यह आधारित हो उसकी अपनी विशेषता हो। द्वितीय सदन को प्रथम सदन का द्वितीय सस्करण नही होना चाहिये। इसके सगठन का आधार अलग होने से इसकी विशिष्टता बनी रहेगी। तीसरे, इसे अनुत्तरदायी हुए बिना स्वतन्त्र होना चाहिये। यह न तो जनमत के प्रति उदासीन हो और न प्रथम सदन के हाथ की कठपुतली हो। इसका कार्य रचनात्मक आलोचना करना है और उसके लिये यह आवश्यक है कि इसके सदस्य प्रौढ, अनुभवी योग्य और जनसेवी हो।[8]

आदर्श द्वितीय सदन के लिये यह भी जरूरी है कि इसका कार्यकाल सीमित हो। इगलण्ड की लार्ड सभा की भाँति इसे वशानुगत नही होना चाहिये। यह एक स्थायी सदन हो सकता है लेकिन इसके सदस्यो का कार्यकाल केवल ६ या ९ वर्ष होना चाहिये।

8 Marriot *Mechanism of the Modern State* pp 420-421

इसकी सदस्य-सख्या का निश्चय करने मे देश की जनसख्या, जाति, भाषा और धम की स्थिति, व्यावसायिक सगठन और शासन व्यवस्था को ध्यान मे रखना चाहिये।

सगठन—द्वितीय सदन के सगठन के मुख्यत सात सिद्धान्त है। प्रथम, ब्रिटिश लॉर्ड सभा की तरह द्वितीय सदन वशानुगत आधार पर सगठित हो सकता है अथात एक लॉर्ड के मरने के बाद उसका बेटा और उसके मरने के बाद उसका बेटा वशानुगत आधार पर द्वितीय सभा का सदस्य बना रहे। दूसरा तरीका मनोनयन का है। कार्यपालिका इसके सदस्यो को आजीवन या कुछ निश्चित काल के लिये मनोनीत करती है। इटली तथा कनाडा म द्वितीय सभा के सगठन का यही आधार है। तीसरा तरीका प्रत्यक्ष निर्वाचन विधि' का है जिस तरह प्रथम सदन के सदस्यो को जनता प्रत्यक्ष रूप से चुनती है उसी तरह वह दूसरे सदन क सदस्यो को भी चुन ले। अमेरिका और आस्ट्रेलिया की सीनेट का सगठन इसी पद्धति से होता है। चौथा तरीका राज्या, कम्यूनो या विभागीय समितियो द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से इसके सदस्यों के निर्वाचन का है। जर्मनी की बुडस्रट (द्वितीय सभा) का सगठन इसी आधार पर किया जाता है। नीदरलैंण्ड्स, पुर्तगाल, दक्षिणी अफ्रीका सघ आदि देशो मे द्वितीय सदन के सदस्यो का निर्वाचन स्थानीय सभाओ या समितिया द्वारा ही होता है। यह द्वितीय सदन के सगठन का पाचवा नियम है। छठवां तरीका जापान के नये सविधान मे अपनाया गया है, जिसके अनुसार प्रथम सदन और द्वितीय सदन दोनो के निर्माण का आधार एक है और दोनो सदन समान रीति स सगठित होते हैं। अन्त मे, कुछ ऐस उदाहरण भी हैं जहा द्वितीय सभा का निर्माण उपयुक्त सिद्धान्तो मे से एक से अधिक को मिलाकर किया जाता है। उदाहरण के लिये, आयरलैण्ड के सविधान म यह व्यवस्था है कि इसके द्वितीय सदन के साठ सदस्यो मे से ग्यारह मनोनीत होते हैं और शेष निर्वाचित। भारतीय सविधान मे एक से अधिक उपर्युक्त सिद्धान्तो को मिलाकर राज्य सभा के सगठन की विधि बनायी गयी है। कुछ विद्वानो के अनुसार आयरलण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीका के सिद्धान्तो को मिलाकर यहाँ की राज्य सभा के गठन की विधि का निर्माण किया गया है।

कार्यकाल—विधानपालिका के कार्यकाल क सम्बन्ध मे मतक्यता नही पायी जाती। फिर भी सामान्य धारणा यह है कि कार्यविधि न तो बहुत अधिक होनी चाहिये और न बहुत कम। यदि अवधि छोटी होगी तो विधानमण्डल का अपनी योग्यता और उपयोगिता को सिद्ध करने का अवसर नही मिलेगा। और यदि अवधि अधिक होगी तो प्रतिनिधियो मे निर्वाचको के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का लोप हो जायगा। इस सम्बन्ध मे लॉस्की का यह सुझाव उचित प्रतीत होता है कि "विधानमण्डल का कार्यकाल अधिक-से-अधिक पांच वर्ष और कम से-कम तीन वर्ष होना चाहिये।" इसके अतिरिक्त प्रथम सदन के सदस्यो का कार्यकाल द्वितीय सदन की अपेक्षा कम होना चाहिये।

वेतन—एक लम्बे समय तक इगलण्ड म ससद् सदस्या का वेतन नही मिलता था लेकिन आधुनिक युग मे विधायिनी कार्यो के बढ जाने और सवसाधारण वर्ग के लोगो के विधानपालिका के सदस्य बनने के कारण यह आवश्यक हो गया है कि विधायका को उचित वेतन मिले। यह वेतन किसी व्यवस्था मे इतना अधिक न हो कि लाग

विधायक बनना ही अपना व्यवसाय बना लें और न इतना कम ही हो कि लोग अपने पद का दुरुपयोग करें अथवा अच्छे और योग्य लोग इसका आर आकृष्ट ही न हो।

द्वितीय सदन के अधिकार—"द्वितीय सभाओ के कर्त्तव्य तथा अधिकारो के विषय म ब्राइस कान्फ्रेंस ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे —

(१) निचले सदन से पारित विधेयको पर पुनर्विचार करना तथा उनका सशोधन,

(२) ऐसे विधेयको को प्रस्तुत करना जिनके विषय मे कोई मतभेद (controversy) न हो। इससे यह लाभ होगा कि निचले सदन मे जाने से पूव उन पर विभिन्न दृष्टिकोणो से पूण विचार हो जायेगा एतदथ निचले सदन का कम समय लगगा।

(३) किसी विधेयक को विधि बनने से पूव इतने समय तक रोके रखना कि उसके विषय मे लोकमत ज्ञात हो जाय। इसकी आवश्यकता सर्वाधिक उस समय होगी जब ऐसे प्रश्न उपस्थित होगे जिन पर देश दो मतो पर विभक्त दिखलायी दे, या जिनका सम्बन्ध सविधान के आधारो से हो अथवा जो विधि के नवीन सिद्धान्तो को लागू करना चाहते हो।

महत्त्वपूण प्रश्नो पर विस्तारपूवक तथा स्वतन्त्रतापूवक वाद-विवाद। उदाहरणाथ, निचले सदन को समय न मिलने पर राष्ट्रनीति के ऊपर ऊपरी सदन में वाद विवाद हो सकता है। ऐसा वाद विवाद और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा क्योंकि ऊपरी भवन के वाद-विवाद तथा निर्णय का कैबिनेट के भाग्य पर कोई प्रभाव नही होता है।"[9]

साराश यह है कि द्वितीय सदन को परामश देने का अधिकार होना चाहिये। उस प्रथम सदन के कार्यों मे रुकावटें नही डालनी चाहियें।

कार्यपालिका
(Executive)

कायपालिका शासन का वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारो ओर समस्त प्रशासकीय यन्त्र घूमता है। यह विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनो को लागू करती है और जनता की इच्छा को कार्यान्वित करती है। गिलक्राइस्ट के शब्दो मे, "कायपालिका सरकार का वह अग है जो कानून के रूप मे अभिव्यक्त जनता की इच्छा को काय मे परिणत करता है। यह वह धुरी है, जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक यन्त्र घूमता है।"

कायपालिका शब्द का प्रय दो अर्थों मे किया जाता है। "व्यापक और सामूहिक अथ मे," गानर के अनुसार, "कायपालिका के विभाग के अन्तगत वे सभी कायकर्त्ता तथा सस्थाओ के समूह आ जाते हैं जो राज्य की उस इच्छा को क्रियान्वित करते हैं जिसे कानून के रूप मे निर्धारित करके व्यक्त किया गया है।"[10] इस दृष्टि से भारत म

9 Lees Smith Second Chambers in Theory and Practice pp. 32-33 Quo ed in M G Gupta *Rajniti Shastra Ke Aadhar* (Hindi) p 33

10 Garner *op cit.*, p 671

राष्ट्रपति से लेकर सरकारी चपरासी तक सभी कायपालिका के सदस्य हैं क्योंकि कानूनो के क्रियान्वयन मे वे किसी-न किसी रूप मे सहयोग देते हैं।

सकुचित अर्थो मे इसके अन्तगत सरकार के प्रधान और उसके मुख्य सहयोगी आते हैं। इस अथ मे कायपालिका के अन्तगत उन्ही व्यक्तियो को सम्मिलित किया जाता है जो राष्ट्र की नीतियाँ निर्धारित करते हैं, योजनायें बनाते हैं और विधियो को क्रियान्वित करते हैं। इस अथ मे भारत मे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री व मन्त्रिमण्डल के सदस्य, अमरिका मे राष्ट्रपति और उसके सचिव कायपालिका की श्रेणी मे आते हैं। राजनीति शास्त्र मे इसी सकुचित अथ मे कायपालिका शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कानूनो को क्रियान्वित करने के लिये हमे दो वर्गों की आवश्यकता होती है एक मन्त्रिमण्डल और दूसरा प्रबन्धक वर्ग। मन्त्री अस्थायी, अनाडी और राजनीतिक आधार पर चुने जाते हैं जबकि प्रबन्धक वर्ग के सदस्य स्थायी, अपने विषय मे पारगत और राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ होते हैं। मालबग इन दोनो को कायपालिका के अन्तगत रखता है लेकिन विलोबी ने इन दोनो मे भेद किया है, वह मन्त्रियो आदि को कायपालिका के अन्तगत तथा प्रबन्धक वर्ग को 'नौकरशाही' के अन्तगत रखता है।

कायपालिका सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है। शुल्ज लिखता है कि विश्व मे शासन के प्रत्येक स्तर पर कायपालिका का उत्तरोत्तर बढता हुआ महत्त्व एक सामान्य लक्षण है। नीति निर्धारण और उसके क्रियान्वयन मे मुख्य कायपालक तथा उसके अधीन अगणित प्रशासकीय अधिकारी इतने प्रभावशाली बनते जा रहे हैं कि जनतन्त्र मे भी विधानपालिकायें प्रशासकीय प्रक्रिया का नेतृत्व करने की अपेक्षा एक सहायक के रूप मे अपना योग दे रही हैं। फाइनर के शब्दो मे, "कायपालिका को अवशिष्ट शक्ति के रूप मे देखना अत्यन्त लाभदायक है क्योंकि इससे उसके कार्यों एव भागो की मिश्रित प्रकृति का स्पष्टीकरण हो जाता है।"

कार्यपालिका के प्रकार
(Types of Executive)

कायपालिका अनेक प्रकार की होती है। उसके मुख्य स्वरूप निम्नाकित है —

(१) नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)—यह भेद ससदीय शासन प्रणाली में किया जाता है, अध्यक्षात्मक मे नही। नाममात्र का कायपालक वह होता है जिसके हाथ में वास्तविक शक्तियाँ नही होती। वह राज्य करता है, शासन नही करता। सिद्धान्तत शासन की सारी शक्तियाँ उसी मे निहित होती हैं, लेकिन उन शक्तियो का वास्तविक प्रयोग उसके नाम पर मन्त्रियो द्वारा किया जाता है। इगलण्ड का राजा और भारत का राष्ट्रपति नाममात्र के कायपालक हैं।

वास्तविक कायपालिका वह होती है जो शासन की समस्त शक्तियो का प्रयोग स्वय करती है। वास्तविक कायपालक राज्य का प्रधान होने के साथ-साथ

शासन का भी प्रधान होता है। अमेरिका का राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालक है। वह अपने कार्यों के लिये विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और उसके प्रतिकूल मत या उसके आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(२) एकल और बहुल कार्यपालिका (Singular and Plural Executive)—जहाँ कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग एक व्यक्ति द्वारा होता है उसे एकल कार्यपालिका कहते हैं। शासन प्रबन्ध की सुविधा के लिये कार्यपालिका शक्ति का विभाजन अवश्य किया जाता है लेकिन अन्तिम रूप से सम्पूर्ण शासन सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में होती है। इंगलैण्ड भारत, अमेरिका, पाकिस्तान, अफगानिस्तान आदि एकल कार्यपालिका के अच्छे उदाहरण हैं।

बहुल कार्यपालिका में कार्यपालिका शक्ति अन्तिम रूप से एक व्यक्ति के हाथ में निहित न होकर कुछ व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय में निहित होती है। स्विटजरलैण्ड में यह शक्ति सात सदस्यों की संघीय परिषद में निवास करती है जिसमें वरिष्ठता के आधार पर एक व्यक्ति को एक वर्ष के लिये अध्यक्ष बना दिया जाता है लेकिन बैठकों का सभापतित्व करने के अतिरिक्त उसके पास अपने दूसरे साथियों से भिन्न कोई अधिकार नहीं होता। इसी प्रकार सोवियत संघ में ३३ सदस्यों की एक सर्वोच्च कार्यपालिका परिषद् वास्तविक रूप से शासन चलाती है, इसे 'प्रेसीडियम' कहा जाता है। स्टालिन इसे सामूहिक राष्ट्रपति (Collegiate Executive) के नाम से पुकारता था।

एकल और बहुल दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं के अपने-अपने गुण हैं। एकल कार्यपालिका में शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता, शासन-नीति की एकरूपता व स्थिरता, प्रशासनीय दृढ़ता और कार्यवाही को गुप्त रखने का गुण पाया जाता है। बहुल कार्यपालिका में विद्रोह और शक्तियों के दुरुपयोग की सम्भावना नहीं होती। सम्मति से पूर्ण, अधिक अच्छे निर्णय लिये जा सकते हैं। स्विटजरलैण्ड और रूस दोनों में यह व्यवस्था सफलता के साथ चल रही है लेकिन बहुमत आज भी एकल कार्यपालिका के पक्ष में है। क्योंकि सामूहिक नेतृत्व में फूट और कलह की सम्भावना अधिक होती है तथा सत्ता के विभाजन से शासन में अनुत्तरदायित्व की भावना और ढीलापन आ सकता है।

(३) संसदीय और अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Parliamentary and Presidential Executive)—कार्यपालिका और विधानमण्डल के सम्बन्धों के आधार पर कार्यपालिका को संसदीय और अध्यक्षात्मक दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। संसदीय कार्यपालिका में कार्यपालिका का विधानपालिका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कार्यपालिका विधानपालिका के सदस्यों में से ही बनती है और अपने कार्यों के लिये उसके प्रति उत्तरदायी होती है। विधानपालिका का विश्वास खो देने पर कार्यपालिका के सदस्यों को अपने पद से त्याग-पत्र देना पड़ता है। इंगलैण्ड भारत आदि देशों में ऐसी ही कार्यपालिका है। इसे मन्त्रिमण्डलीय कार्यपालिका' भी कहते हैं।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका विधानपालिका से पूरी तरह अलग और स्वतन्त्र होती है। वह एक निश्चित काल तक अपने पद पर बनी रहती है। विधानपालिका अविश्वास

प्रस्ताव पास करके उसे हटा नही सकती। अध्यक्षात्मक कायपालिका मे मंत्री मुख्य कायपालक (राष्ट्रपति) के सेवक होते हैं। उन्हे राष्ट्रपति अपनी इच्छा से नियुक्त या पदच्युत कर सकता है लेकिन राष्ट्रपति को केवल महाभियोग द्वारा ही उसकी पदावधि से पूव हटाया जा सकता है।

(४) वशानुगत और निर्वाचित कायपालिका (Hereditary and Elective Executive)— उन राज्यो मे जहाँ एक राजा के हटने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र या पुत्री योग्यता अथवा अयोग्यता का ध्यान किये बगर सत्तारूढ होते हैं वहाँ की कायपालिका वशानुगत कहलाती है। इगलैण्ड नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड, जापान, नेपाल आदि देशो मे वशानुगत कायपालिकायें हैं। इसके विपरीत जहाँ राज्य का अध्यक्ष जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विधि से चुना जाता है वहा की कायपालिका निर्वाचित कायपालिका की श्रेणी मे आती है। भारत, फ्रास, इटली आदि देशो मे निर्वाचित कायपालिकायें हैं।

मुख्य कार्यपालिका को चुनने की विधियाँ
(Modes of Appointment of the Chief Executive)

आधुनिक युग मे मुख्य कायपालिका की नियुक्ति के विषय मे निम्नाकित चार विधियाँ विभिन्न देशो मे प्रयोग मे लाइ जाती हैं—

(१) वशानुगत विधि—इसम पद की अवधि आजीवन है। शासक का सबसे बडा पुत्र उत्तराधिकार के रूप मे मुख्य कायपालक का पद प्राप्त करता है। यह जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के विपरीत है लेकिन फिर भी इगलण्ड, नार्वे जैसे यूरोपीय देशो मे पिछले सकडो वर्षों से अपनायी जा रही है।

(२) जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन—बालीविया, मक्सिको, ब्राजील आदि देशो मे जनता प्रत्यक्ष रूप से मुख्य कायपालक (राष्ट्रपति) का चुनाव करती है। ऊपर से देखने मे यह विधि आकषक है लेकिन जनता की भावनाओ को भडकाकर कभी-कभी इस विधि के अन्तगत अज्ञानी और अयोग्य व्यक्ति मुख्य कायपालक के पद पर पहुच जाते हैं।

(३) जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—भारत, अमेरिका आदि कुछ देशा म जनता अप्रत्यक्ष रूप स मुख्य कायपालक (राष्ट्रपति) का चुनाव करती है। इस पद्धति के अन्तगत पहले एक निवाचक मण्डल की स्थापना होती है जिसमे जनता के चुने हुए सदस्य होत हैं। बाद मे निर्वाचक मण्डल के सदस्य राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।

(४) विधानपालिका द्वारा निवाचन—सोवियत सघ और स्विटजरलण्ड म कायपालिका के प्रधान का चुनाव विधानपालिका के सदस्य करते हैं। जॉन स्टुअट मिल ने इस पद्धति का समथन इस आधार पर किया है कि साधारण जनता की अपेक्षा विधानपालिका एस उच्च पद के लिय उपयुक्त व्यक्ति चुनने की दृष्टि से अधिक योग्य और समय होती है। लकिन इस प्रणाली का सबसे बडा दोष यह है कि इसम कायपालिका

रा प्रधान विधानपालिका से प्रभावित होता है जिससे उसकी स्वतन्त्रता, कायकुशलता तथा उसके पद के गौरव मे कमी आ जाती है।

कार्यपालिका के कार्य
(Functions of the Executive)

कायपालिका के काय देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहते हैं। राजतन्त्र म कायपालिका के काय लोकतन्त्र से भिन्न होगे। पुराने जमाने म जब राजनीतिक चेतना का अभाव था, राज्य की कायपालिका केवल निषेधात्मक काय करती थी, आज उस जन कल्याणकारी काय भी करने पडते हैं।

डा० गानर के अनुसार आधुनिक युग म कायपालिका मुख्यत निम्नाकित कार्यों का सपादन करती है— (१) कूटनीतिक काय (Diplomatic), (२) प्रशासनिक काय (Administrative), (३) सनिक काय (Military), (४) न्याय सम्बन्धी काय (Judicial) (५) विधान निर्माण सम्बन्धी काय (Legislative)।

(१) कूटनीतिक काय—दूसरे राष्ट्रो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने और उनका सचालन करने का काय कायपालिका द्वारा किया जाता है। कायपालिका दूसरे देशो के साथ शान्ति समझौते करती है, वहाँ अपने प्रतिनिधि भेजती है व दूसरे देशो के दूतो के प्रमाण पत्र स्वीकार करती है। युद्ध और शान्ति की घोषणा करना, दूसरे देशो की सरकारो को मान्यता प्रदान करना, विविध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे भाग लेना कायपालिका के अन्य प्रमुख कूटनीतिक काय है।

(२) प्रशासनिक काय—देश म शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना तथा प्रशासन को चलाना कायपालिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण काय है। ससदीय शासन व्यवस्था के अन्तगत कायपालिका को अनेक शासकीय कत्तव्य निभाने पडते हैं। मन्त्रिपरिषद् की सलाह स सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नियुक्तियाँ मुख्य कायपालक द्वारा की जाती हैं। कायपालिका ही प्रतियोगी परीक्षाओ के आधार पर प्रशासकीय अधिकारियो को नियुक्त करती है और नागरिक सेवा के नियमो के आधीन उनकी पदोन्नति पदावनति और पदमुक्ति करती है। कायपालिका ही देश का बजट तयार करती है यद्यपि उसे अन्तिम स्वीकृति विधानपालिका देती है। सावजनिक महत्त्व के अनेक काय जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, श्रम तथा उद्योग नियन्त्रण आदि भी कायपालिका द्वारा किये जाते हैं।

(३) सनिक काय—सामान्यत राज्य का मुख्य कायपालक ही सेना का सर्वोच्च सेना-नायक होता है। वह उच्च सेना अधिकारियो की नियुक्ति करता है और हटाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति तो युद्ध के क्षेत्र मे भी सेना का नेतत्व कर सकता है। सकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिये मुख्य कायपालक सनिक कानून लागू कर सकता है और नागरिको के वधानिक अधिकारो को स्थगित कर सकता है। कण्ट के शब्दो मे, 'सन्य बल का नियन्त्रण एव प्रयोग शान्ति की स्थापना और बाहरी आक्रमण से रक्षा, स्वभावत कायपालिका सम्बन्धी काय हैं।"

(४) न्याय पालन सम्बन्धी काय—प्रत्येक देश म कायपालिका को कुछ न्याय

सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। यह न्यायालयों की स्थापना तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है। अपराधियों को क्षमादान देने अथवा उनके दण्ड में कमी करने तथा एक ही अपराध से सम्बन्धित अनेक अपराधियों को एकसाथ क्षमा प्रदान करने का अधिकार भी मुख्य कार्यपालक को प्राप्त होता है। भारत तथा कई अन्य देशों में ऐसा ही है लेकिन राष्ट्रपति अपने इस अधिकार का प्रयोग प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही करता है।

(५) विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य—यद्यपि कानून बनाना विधानपालिका का कार्य है, तथापि कार्यपालिका भी कानून बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संसदीय प्रणाली में तो प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक किसी न किसी मन्त्री द्वारा ही सदन में रखे जाते हैं। संसद का अधिवेशन बुलाने, उसे स्थगित करने और निम्न सदन को भंग करने का अधिकार लगभग सभी संसदीय देशों में कार्यपालिका को प्राप्त होता है। वस्तुतः कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है। अमरिका का राष्ट्रपति विधानपालिका को संदेश भेजकर किसी भी विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना कर सकता है। वह अपने निषेधाधिकार द्वारा विधानपालिका द्वारा पास किये गये विधेयकों को कानून बनने से कुछ काल के लिये रोक भी सकता है। हमारे देश में भी विधानपालिका द्वारा पास किये गये विधेयक उस समय तक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकते जब तक कि राष्ट्रपति उन्हें अपनी स्वीकृति नहीं दे देता।

उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त कार्यपालिका के पास अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी होता है। प्रत्येक राज्य में विधि निर्माण सम्बन्धी कार्यों की वृद्धि और नियोजित ढंग से विकास के कारण 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated Legislation) का प्रचलन भी हो गया है जिसके अनुसार विधानपालिका केवल कानूनों की रूपरेखा तैयार करती है और उसमें विस्तृत प्रावधान करने का अधिकार कार्यपालिका को सौंप देती है। प्रदत्त व्यवस्थापन ने कार्यपालिका को ही वास्तविक व्यवस्थापक बना दिया है। कार्यपालिका की इस शक्ति को खतरनाक बताते हुए न्यायाधीश हीवर्ट (Hewart) ने इसे नवीन निरंकुशता (Now Despotism) का नाम दिया है।

(६) अन्य कार्य—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कार्यपालिका कुछ अन्य कार्य भी सम्पादित करती है। इनमें उपाधियों का वितरण करना, व्यक्तियों को उनकी विशिष्ट सेवा के लिये पेन्शन या कोई अन्य आर्थिक अनुदान देना, निजी निगमों को वैधानिक व्यक्तित्व प्रदान करना, विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्रदान करना आदि मुख्य हैं।

कार्यपालिका का विधानपालिका और न्यायपालिका से सम्बन्ध

सरकार के इन तीन अंगों के पारस्परिक सहयोग के बिना शासन का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है शासन के इन तीन अंगों में किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही है। संसदात्मक शासन-व्यवस्था का तो जीवन ही इनके पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। संसदीय प्रणाली
ही संसद का अधिवेशन बुलाती है, उसे स्थगित करती है और अवसर पड़ने

भी कर देती है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य ससद् के ही सदस्य होते हैं और उनका जीवन भी ससद् की इच्छा पर निभर करता है। न्यायपालिका का निर्माण और न्यायाधीशो की नियुक्ति कायपालिका द्वारा होती है। लेकिन व्यवहार मे ऐसा देखने मे आया है कि सरकार के इन तीनो अगो मे कायपालिका दूसरे अगो की तुलना मे अधिक शक्तिशाली होती जा रही है और विधानपालिका की सत्ता का निरन्तर ह्रास हो रहा है। कायपालिका के अधिकारो मे वृद्धि के कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

प्रथम ब्रिटेन, फ्रास, भारत आदि ससदीय प्रणाली वाले देशो म कायपालिका दलीय व्यवस्था के कारण तथा निम्न सदन को भग करने के अधिकार का भय दिखाकर समस्त इच्छित विधियो को लोकसभा मे पारित करा लेती है। इस तरह रम्जे म्योर के शब्दो मे कायपालिका ने "वैधानिक सवशक्तिमत्ता (omnipotence) प्राप्त कर ली है।"[11]

दूसरे, धन की थैली कार्यपालिका के हाथ मे होती है। वही निणय करती है कि कौन सा कर लगाया जाय और कौन सा खच किया जाय। ससद् के सम्मुख किन मामलो को रखा जाय और किन्हे नही, यह निणय भी कायपालिका करती है। जब तक निम्न सदन मे उसके दल का बहुमत है कोई भी उसका बाल बाँका नही कर सकता।

तीसरे, प्रदत्त व्यवस्थापन ने भी उसकी शक्तियो म बहुत अभिवृद्धि की है। आवश्यकता पड़ने पर अपनी रुचि के अनुसार कानून बनाने की शक्ति उसे इस व्यवस्था से मिल गई है।

चौथे, मुख्य कार्यपालक के पद के गौरव ने भी कायपालिका की शक्तियो मे आशातीत वृद्धि की है। कार्यपालिका के प्रमुख को किसी न्यायालय मे उपस्थित होने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। इंगलैण्ड में तो यह सिद्धान्त प्रचलित है कि "राजा विधि से ऊपर है" या "राजा कोई गलती नहीं कर सकता"। अमेरिका में राष्ट्रपति उस समय तक न्यायालय के हस्तक्षेप से राज्य-विरोधी अपराधो (Criminal Acts) को करने पर भी मुक्त है जब तक वह अपने पद पर बना रहता है। अपने अपराधो के लिये वह सीनेट या राज्यपरिषद् के न्यायालय के सम्मुख ही महाभियोग (Impeachment) लगाये जाने पर उत्तर देने के लिये विवश किया जा सकता है। यह न्यायालय भी अधिक-से-अधिक राष्ट्रपति को पदच्युत कर सकता है और उसे पुन निर्वाचित होने से रोक सकता है, इससे अधिक कुछ नही कर सकता।

पाँचवें, आधुनिक युग की समस्याओ को सुलझाने के लिये विशेष ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता होती है जो विधानपालिका के सामान्य सदस्यो मे नहीं होती। मन्त्रिपरिषद् के कुछ सदस्य असाधारण योग्यता वाले होते हैं इसलिये शासन में उनका प्रभाव अधिक होना स्वाभाविक है।

छठें, जनकल्याणकारी योजनायें कार्यपालिका को व्यापक शक्तियाँ प्रदान करने के लिये विवश करती हैं। लगभग सभी देशों में आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के लिये नियोजित विकास-पद्धति को अपनाया गया है। इसके अन्तगत

11 Ramsay Muir *op cit*, pp 66-68

योजनायें तयार करने व उनको क्रियान्वित करने का काय कायपालिका द्वारा किया जाता है जिससे कायपालिका की शक्ति मे आशातीत वृद्धि हो गयी है ।

सातवें, विभिन्न देशो की पारस्परिक निभरता अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार आदि ने भी कायपालिका की शक्तियो व कार्यों मे वृद्धि की है। देश के आर्थिक विकास के लिये जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौते आदि किये जाते हैं वे कायपालिका द्वारा ही सम्पादित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना किसी भी देश के आर्थिक विकास की आशा करना व्यथ है। अत कायपालिका के अधिकारो में वृद्धि स्वाभाविक है ।

अन्त मे बर्नार्ड ई ब्राउन के शब्दों में कह सकते हैं कि "प्रतिनिध्यात्मक सभाओ ने अनुत्तरदायी कायपालिकाओं की निरकुश शक्तियों को पहले सीमित करने और बाद में नम्र बनाने के लिये जो सफलतापूवक यत्न किये, उससे आधुनिक लोकतन्त्र का विकास हुआ परन्तु आजकल के युग मे यह प्रवृत्ति पूण रूप से उलट गयी है। आजकल कायपालिकायें शक्ति सदनों से ग्रहण कर रही हैं।"

न्यायपालिका
(Judiciary)

महत्त्व

जहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा का सम्बन्ध है, सरकार के तीनो अगो में न्यायपालिका सबसे महत्त्वपूण है। यह नागरिको के अधिकारो की रक्षा करती है जो सच्चे लोकतन्त्र का आधार होते हैं। बंदी प्रत्यक्षीकरण' के आदेशो द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का जितना मार्ग प्रशस्त हुआ है उतना शायद ही किसी अन्य साधन द्वारा हुआ हो। सच्चा लोकतन्त्र स्थापित करने के लिय सविधान में नागरिक के अधिकारो और स्वतन्त्रताओं का उल्लेख करना ही पर्याप्त नही है उन्हें वास्तविक बनाने के लिये नागरिको मे अपने अधिकार व स्वतन्त्रता की रक्षा की भावना का विकास भी आवश्यक है। यह भावना तभी आ सकती है जब कि देश मे स्वतन्त्र निष्पक्ष और कुशल न्यायपालिका हो। लार्ड ब्राइस लिखते हैं कि "किसी शासन की श्रेष्ठता की जाँच करने की सर्वोच्च कसौटी उसकी न्याय व्यवस्था की कार्यक्षमता है, क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर इतना प्रभाव नही पडता है जितना उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित और गतिमान न्यायिक शासन पर निभर रह सकता है कानून को कुटिलतापूवक लागू किये जाने से यह समझना चाहिये कि नमक ने अपना स्वाद खो दिया है। व्यवस्था की आशा उस समय समाप्त हो जाती है जब कि उस दुबलतापूवक या उत्तेजनापूवक लागू किया जाय । यदि न्याय का दीपक अंधेरे मे बुझ जायेगा तो वह अधेरा कितना गहन होगा, इसको कल्पना ही नहीं की जा सकती।[12]

राज्य का अस्तित्व ही न्याय-व्यवस्था पर निभर होता है। रोलि लिखता है कि "अधिकारों को निश्चित करने के लिये, उन पर निणय देने के लिये

12 Bryce Modern Democracies Vol II, p 421

देने के लिये, न्याय का प्रशासन करने के लिये और निर्दोष व्यक्तियो को चोट (injury) व बलावग्रहण (usurption) से बचाने के लिय न्याय विभाग नितात आवश्यक है।"[13] जिस देश मे कानूनो की व्याख्या करना, उन्हे क्रियान्वित करना, विवादो का निर्णय करना तथा अधिकारो को प्रभावी बनाने के लिये कोई न्याय विभाग नही होता वहाँ शासन ही नष्ट हो जाता है। "बिना विधायिनी अगों के समाज की कल्पना की जा सकती है किन्तु बिना न्यायिक अगो व न्यायाधिकरण के एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"[14] न्यायपालिका के साधन और उपाय आधुनिक युग मे अन्य राष्ट्रो के सम्मुख किसी भी राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बढाते या घटाते हैं। "जो व्यक्ति न्यायालयो मे न्याय करते हैं, व जिस भाति अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन करते हैं, व जिस साधन से निर्वाचित किये जाते हैं, उनका कार्यकाल कितना और कब तक रहेगा, ये तथा अन्य समस्यायें राजनीतिक दर्शन के मूल्य मे अवस्थित हैं। जब हम यह जानते हैं कि एक राष्ट्र राज्य किस प्रकार अपने यहाँ न्याय करता है तब हमे यह ज्ञान हो जाता है कि वह किस नैतिक चरित्र के स्तर पर है।"[15]

न्यायपालिका के कार्य
(Functions of the Judiciary)

न्यायपालिका के कार्यों का विश्लेषण निम्नाकित आधार पर किया जा सकता है —

(१) कानूनों की व्याख्या करना—यद्यपि देश के कानूनो को यथासम्भव स्पष्ट, बोधगम्य और सरल बनाने की चेष्टा की जाती है तथापि उसकी भाषा और व्याख्या को लेकर अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसी स्थिति मे न्यायाधीश अपने अनुभव, ज्ञान और विवेक के अनुसार कानूनो के अर्थ को स्पष्ट करते हैं और उनकी व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या आने वाले युग के लिये दृष्टात बन जाती है। इन पूर्वोदाहरणो (precedents) से वाद जनित विधि (Case-law) अथवा न्यायाधीश निर्मित विधि (Judge-made Law) का निर्माण होता है।

(२) अभियोगो का निर्णय—व्यक्तियो के पारस्परिक मतभेद और निजी स्वार्थों के कारण अनेक बार दीवानी और फौजदारी के झगडे उठ खडे होते हैं। ऐसी स्थिति मे न्यायाधीश दोनो पक्षो की बात सुनते हैं, तथ्यो तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं और विद्यमान विधि के अनुसार अपना निर्णय देते हैं। निर्दोष व्यक्ति को मुक्त करने और अपराधियो को दण्ड दिये जाने की घोषणा करने का कार्य भी न्यायपालिका द्वारा किया जाता है।

(३) नागरिक अधिकारों की रक्षा—न्यायालय नागरिकों की स्वतन्त्रता और उनके अधिकारो की रक्षा करते हैं। जब कार्यपालिका नागरिको के किसी मौलिक

13 Rawle *On Constitution* ch 21
14 Garner *Political Science and Government* p 720
15 Laski *A Grammar of Politics* pp 541 545 Quoted in Gupta *op cit* p 47

अधिकार का अतिक्रमण करने की चेष्टा करती है तो पीडित नागरिक न्यायपालिका की शरण म ही आता है। न्यायपालिका ऐसी स्थिति मे यह आदेश जारी करती है कि जब तक मामलो की पूरी जाँच न हो जाय आगे की कार्यवाही को बन्द रखा जाय। यदि उसके आदेश का उल्लघन किया जाता है तो न्यायपालिका मान-हानि के अपराध का मामला चलाकर आज्ञा न मानने वाले को दण्डित करती है। भारत म नागरिको के मौलिक अधिकारो की रक्षा के लिये न्यायपालिका पाँच प्रकार के आदेश पत्र जारी कर सकती है—बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Hebeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), उत्प्रेषण लेख (Certiorari), और अधिकार-पृच्छा (Quo warranto)।

(४) सविधान की रक्षा—१८०३ मे अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश जान मार्शल ने मारबरी बनाम मडीसन विवाद मे यह निर्णय लिया था कि सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह यह निर्णय करे कि कांग्रेस (विधानपालिका) द्वारा पास किया हुआ कोई कानून सविधान के अनुसार है अथवा नही ? यदि विधान-पालिका द्वारा बनाया गया कोई कानून सविधान का अतिक्रमण करेगा तो वह असवैधानिक होगा और उसे लागू नही किया जा सकेगा, क्योकि सविधान देश का सर्वोच्च कानून होता है और न्यायपालिका का कर्त्तव्य उसकी रक्षा करना है। अपने इस निर्णय द्वारा न्यायाधीश जॉन मार्शल ने जिस सिद्धान्त का आविष्कार किया उसे न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) का सिद्धान्त कहा जाता है। भारत व अमेरिका आदि देशो मे इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यायपालिका ने विधानपालिका द्वारा बनाये गये अनेक कानूनो को रद्द कर दिया है।

(५) परामर्श सम्बन्धी कार्य—अनेक राज्यो मे न्यायपालिका राज्याध्यक्ष को मन्त्रणा या परामर्श देने का कार्य भी करती है। उदाहरण के लिये, इगलण्ड मे कार्य-पालिका की प्रार्थना पर 'प्रिवी काउंसिल की न्यायिक समिति' वैधानिक प्रश्नो पर अपनी राय देती है। भारतीय सविधान के अनुच्छेद १४३ मे यह व्यवस्था है कि सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्न से सम्बन्धित विधि या तथ्य के विषय मे राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है। कनाडा म भी सर्वोच्च न्यायालय गवर्नर-जनरल को कानूनी परामर्श देने का कार्य करता है। आस्ट्रिया, स्वीडन, बल्गारिया आदि देशो में भी इस प्रकार की व्यवस्था है।

(६) सघ और राज्य के मध्य उठने वाले विवादो को निपटाना—सघीय राज्य म उपर्युक्त कार्यों के अलावा न्यायपालिका को एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी करना पडता है। चूकि सघीय शासन एक समझौते का परिणाम होता है, इसलिये समय समय पर केन्द्र और राज्य अथवा राज्यो में ही आपसी वाद-विवाद उठ खडे होते हैं। इन विवादो का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ही करता है। लगभग सभी सघीय राज्यो में इस प्रकार के विवादो को सुलझाने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है। लार्ड ब्राइस ने इसे न्यायपालिका का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बताया है।

(७) विविध कार्य—न्यायपालिका और भी कई प्रकार के कार्य करती है।

वह अल्पव्यस्क या नाबालिगों की जायदाद के लिये ट्रस्टी या संरक्षक नियुक्त करती है, लाइसेंस या अनुज्ञा पत्र प्रदान करती है। जो कम्पनियाँ अपने आर्थिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने में असमर्थ हों उनके लिये प्राप्तकर्त्ता (Reciver) नियुक्त करती है। नागरिक-विवाहों (Civil marriages) की मंजूरी देती है। निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों की अपील सुनती है। विदेशियों को राज्यकृत नागरिक बनाने के लिये प्रमाण पत्र जारी करती है। वसीयतनामा तथा इच्छापत्र (Wills) की रजिस्ट्री भी न्यायपालिका द्वारा होती है। इतना ही नहीं, रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में न्यायपालिका समाजवादी क्रांति की रक्षा करने और उसे सुदृढ़ बनाने का काम भी करती है। अमरिका में जब सीनेट राष्ट्रपति पर चलाये गये महाभियोग की सुनवाई करती है तो उसका अध्यक्ष पद उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति ग्रहण करता है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
(Independence of the Judiciary)

डा० गानर लिखते हैं कि "यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो, तो न्यायाधिवर्ग का वह सारा ढांचा खोखला प्रतीत होगा और उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिये उसका निर्माण किया गया है।"[16] न्यायपालिका की स्वतन्त्रता राष्ट्र की प्रगति और सभ्यता की सूचक है। अधिनायकवादी व्यवस्था तो स्वतन्त्र न्यायपालिका के बिना कुछ कदम चल सकती है, लेकिन जनतन्त्र तो उसके अभाव में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। जनतन्त्र के लिये न्यायपालिका का स्वतन्त्र होना सर्वथा अनिवार्य है। जितनी व्यापक निष्पक्षता के साथ न्यायाधीशों की नियुक्ति होगी उतनी ही मात्रा में न्यायपालिका स्वतन्त्र रह सकेगी। इससे भी अधिक आवश्यक शर्त यह है कि केवल योग्य व्यक्तियों को ही न्यायाधीश नियुक्त किया जाय और उनके कार्यकाल और वेतन आदि की सुविधायें इस प्रकार की हों कि वे बिना किसी आंतरिक व बाहरी दबाव के अपने कार्यों का सम्पादन पूर्ण निष्पक्षता के साथ कर सकें। यहाँ हम इन्हीं महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा करेंगे।

(१) न्यायाधीशों की योग्यतायें—न्याय सम्पादन एक तकनीकी कार्य है। इसके उचित सम्पादन के लिये न्यायाधीशों में कानून का गम्भीर ज्ञान होना चाहिये अन्यथा वे न्यायालय में वकीलों के द्वारा गुमराह होते रहेंगे। इसके अतिरिक्त न्यायाधीश को निष्पक्ष, इमानदार, सत्यनिष्ठ, मनोविज्ञान का ज्ञाता और बाहरी प्रभाव से मुक्त प्रकृति वाला होना चाहिये, तभी न्यायपालिका से निष्पक्ष कार्य सम्पादन की आशा की जा सकती है। हमारे देश में इस बात को ध्यान में रखते हुए सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के लिये यह योग्यता जरूरी है कि वे कम से-कम दस वर्ष

16 Garner *op cit* p 722.

तक उच्च न्यायालय के वकील अथवा पाँच वर्ष तक वहाँ न्यायाधीश के पद पर काम कर चुके हो।

(२) वेतन—न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिये यह भी आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त वेतन व सुविधायें दी जायें, जिन्हें उनके कार्यकाल में कम नहीं किया जाय तथा सेवा विमुक्त होने के बाद उनके लिये उचित पेन्शन की व्यवस्था हो। प्रलोभन निष्पक्षता का सबसे बड़ा शत्रु है। ब्राइस लिखता है कि "न्यायाधीश की पवित्रता एवं योग्यता, ईमानदारी तथा स्वतन्त्रता उसके पद की सम्भावित उन्नति एवं उसके आकर्षणों पर अवलम्बित रहती है। अपर्याप्त वेतन पाने वाला न्यायाधीश निःसंदेह अनुचित प्रभावों से आकर्षित होगा। अतः न्यायाधीश को काफी अच्छा वेतन मिलना चाहिये।"

(३) पदावधि—न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिये न्यायाधीशों की पदावधि लम्बी होनी चाहिये। स्विटजरलण्ड, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरिका के कुछ राज्यों में न्यायाधीशों की अवधि अल्पकालीन है। पदावधि कम होने से भ्रष्टाचार पनपने की अधिक सम्भावना होती है। क्योंकि छोटी अवधि में न्यायाधीश अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करेगा या कार्यपालिका के इशारों पर नाचेगा ताकि पदमुक्त होने के बाद कार्यपालिका उसे पुनः किसी सुख, सुविधा और सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित कर दे। यही कारण है कि आजकल लगभग सभी देशों में न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा होता है। उनके अवकाशग्रहण की आयु भारत में ६५ वर्ष और अमेरिका आदि देशों में अनिश्चित या आजीवन है। वस्तुतः न्यायाधीशों को उस समय तक उनके पद पर बनाये रखना चाहिये जब तक कि उनमें कुशलता के साथ कार्य सम्पादन की क्षमता हो और उनका व्यक्तिगत आचरण उच्च कोटि का तथा समाज के अनुकूल हो। उन्हें केवल पद का दुरुपयोग करने अथवा घूसखोरी या भ्रष्ट तरीकों को अपनाने के आरोप में समय से पहले पदमुक्त करने की व्यवस्था होनी चाहिये। यह व्यवस्था इतनी कठोर होनी चाहिये कि उसे हटाने वाले लोग इसका दुरुपयोग न कर सकें। पदमुक्ति की जटिल प्रक्रिया न्यायाधीश को उसके पद के स्थायित्व के सम्बन्ध में आश्वस्त रखती है। पद की सुरक्षा की भावना के बिना न्यायाधीश कभी भी स्वतन्त्रता से अपने उत्तरदायित्वों का निवहन नहीं कर सकता।

(४) नियुक्ति—न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में आधुनिक युग में निम्नांकित तीन प्रणालियाँ प्रचलित हैं :—

(अ) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—न्यायाधीशों की नियुक्ति का सबसे सरल तरीका यह है कि उन्हें एक निश्चित समय के लिये मुख्य कार्यपालक द्वारा नियुक्त कर दिया जाय। भारत तथा अमेरिका में यही पद्धति विद्यमान है। इन देशों में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त तो करता है, लेकिन उन्हें उनके पद से हटा नहीं सकता। इस व्यवस्था के द्वारा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने की चेष्टा की गयी है लेकिन फिर भी इस प्रणाली को दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें राष्ट्रपति की व्यक्तिगत पसन्द में दलीय भावना आदि के प्रभाव की होती है। गार्नर इस सम्बन्ध में लिखता है कि "अमेरिका में ऐसे दृष्टांत

हैं जहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति किसी दल की सेवा के उपलक्ष्य मे न की गयी हो।"

(ब) विधानपालिका द्वारा निर्वाचन—दूसरा तरीका व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन का है। सोवियत सघ मे उच्च न्यायालय के सदस्य सुप्रीम सोवियत के दोनो सदनो के सयुक्त अधिवेशन द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। स्विटजरलैण्ड मे भी सघीय न्यायालय के सदस्य सघीय विधानमण्डल द्वारा चुने जाते है। अमेरिका के कुछ राज्यो मे भी व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशो के चुनाव की प्रणाली प्रचलित है। इस प्रणाली के अनेक दोष है प्रथम यह है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के विपरीत है। दूसरे, इससे दलगत राजनीति को बढावा मिलेगा, क्योकि व्यवस्थापिका सभा मे सारे निर्णय दलीय हितो के आधार पर होते हैं। तीसरे, दलीय आधार पर चुने गये न्यायाधीशो से निष्पक्ष न्याय की आशा करना व्यर्थ होगा। उनका कानूनी ज्ञान और सोचने का ढग स्वतन्त्र न होकर एकपक्षीय हो सकता है। चौथे, यह जरूरी नही है कि विधायक सदैव विद्वान, सूझ बूझ वाले, निष्पक्ष और उच्च नैतिक स्तर के हो। अत उन्हें न्यायाधीशो को चुनने की शक्ति सौपने से कोई लाभ नही होगा।

(स) जनता द्वारा निर्वाचन— न्यायाधीशो को जनता द्वारा चुनने की विधि सबसे पहले १७९० मे फ्रास मे शुरू की गयी थी। स्विटजरलैण्ड के कुछ कैण्टनो और अमेरिका के कुछ राज्यो मे यह व्यवस्था अभी तक विद्यमान है। इस प्रणाली के पक्ष मे प्रमुख रूप से दो तर्क दिये जाते है प्रथम यह कि यह प्रणाली जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है, क्योकि इसमे जनता को न्यायपालिका के चयन का अधिकार दे दिया जाता है। दूसरे, यह व्यवस्था शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के भी अनुकूल है। क्योकि जनता द्वारा निर्वाचित होने पर न्यायाधीश विधानपालिका के दबावो से पूरी तरह मुक्त होकर कार्य कर सकता है।

लेकिन इस नियम के दोष गुणो की अपेक्षा कही अधिक हैं—

प्रथम यह है कि जनता द्वारा निर्वाचन, डा गार्नर के शब्दो मे, 'न्यायाधीशो को राजनीतिज्ञ बना देगा।'

दूसरे, जनता द्वारा चुने गये न्यायाधीशो के निर्णयो मे दलगत राजनीति का आ जाना स्वाभाविक है। जब वे दलीय आधार पर चुने जायेंगे तो उनके निर्णय भी पक्षपातपूर्ण होगे।

तीसरे, जनता द्वारा निर्वाचन से योग्य व ईमानदार आदमी कभी भी चुन नही जा सकेंगे क्योकि विद्वान् और गम्भीर विधिवेत्ता चुनाव के पचडे मे पडना ही नही चाहेंगे। इसके कारण घटिया स्तर के लोग चुनाव मे आगे बढेंगे, जिससे न्यायपालिका की गम्भीरता और स्वतन्त्रता का सदैव सकट बना रहेगा।

चौथे, जनता का योग्यता मापन की योग्यता नही होता। सामान्यत चुनाव के समय जनता झूठे नारो और उम्मीदवारो द्वारा दिखाये गये सब्जबाग के प्रलोभन मे फँस जाती है। इसलिए योग्य व्यक्तियो के चुने जाने की सम्भावना कम होगी।

पाचवें, यदि न्यायाधीश जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होंगे तो उनका दृष्टिकोण अपने मतदाताओं को प्रसन्न रखने वाला होगा। वे निष्पक्ष निर्णय देने की अपेक्षा ऐसे निर्णय देने की चेष्टा करेंगे जिससे वे जनता की भावनाओं को अपने पक्ष में कर सकें। इससे अनेक अपराधी भयंकर अपराध करके भी (यदि जनता का दिल जीत सके) छूट जायेंगे।

अन्त में, जनता द्वारा निर्वाचन से न्यायपालिका का चरित्र गिर जायगा, उसका मस्तिष्क विकृत हो जायगा और स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्याय की आशा धूमिल हो जायेगी। लास्की ने लिखा है कि "नियुक्ति के तरीकों में जनता द्वारा निर्वाचन की विधि निर्विवाद रूप से सर्वाधिक निकृष्ट है।"[17]

नियुक्ति की उपरोक्त तीनों पद्धतियों के गुण और दोषों को देखते हुए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अन्य सबों से कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था सबसे श्रेष्ठ है लेकिन एक बार नियुक्त करने के बाद कार्यपालिका को न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिये।

(५) न्यायपालिका का विधानपालिका और कार्यपालिका से स्वतन्त्र होना— अन्त में, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिये यह भी जरूरी है कि उसे विधानपालिका और न्यायपालिका से स्वतन्त्र रखा जाय। यदि विधानपालिका और न्यायपालिका एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होंगी तो न्यायाधीश ही कानून बनाने वाले बन जायेंगे और यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होगा तो दोषारोपण करने वाला व्यक्ति ही निर्णायक बन जायेगा। दोनों दशाओं में न्याय का गला घुट जायेगा। माण्टेस्क्यू ने इन्हीं बातों को अपने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में भली भाँति समझाया है।

शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त
(Theory of Separation of Powers)

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का अर्थ है कि सरकार के विभिन्न अंगों का संगठन इस प्रकार किया जाय कि इनमें से प्रत्येक अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करे ताकि शासन में नियन्त्रण और सन्तुलन बना रहे और जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। गेटिल के शब्दों में, "यह सिद्धान्त कि शासन के विभिन्न कार्य व्यक्तियों की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किये जाने चाहियें, प्रत्येक विभाग दूसरे विभागों में हस्तक्षेप किये बिना अपने कार्यक्षेत्र तक ही सीमित रहे और अपने क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र रहे, शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त कहा जाता है।"

सिद्धान्त का विकास

शासन के कार्यों को तीन अंगों में विभाजित करने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' में सरकार के कार्यों का मन्त्रणा सम्बन्धी

17 Laski *A Grammar of Politics* p 545

(Deliberative), दण्ड सम्बन्धी (Magisterial) तथा न्यायिक (Judicial) तीन भागो मे बाँटा था। अरस्तू के अनुसार मन्त्रणा सम्बन्धी कायो का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था, इसमे कानून बनाने के अतिरिक्त राजनयिक काय भी सम्मिलित थे। दण्ड सम्बन्धी काय वे थे जो आधुनिक राज्य मे कायपालिका के कत्तव्य समझे जाते हैं। न्यायिक कार्यो म विधि की व्याख्या करना और व्यक्तिगत मामलो मे उसे लागू करना था।

यद्यपि अरस्तू ने शक्तियो के पथक्करण का उल्लेख किया था, तथापि व्यवहार मे राज्य की काय-प्रणाली मे कोई स्पष्ट विभाजन नही था। मध्यकालीन रोमन साम्राज्य मे तो शक्ति विभाजन की बात ही लुप्त हो गयी। राज्य और चच के सघष के कारण लोगो का ध्यान इस सिद्धान्त से हट गया। चौदहवी शताब्दी मे पेडुआ के मार्सीलियो ने सरकार के कार्यों को स्पष्ट रूप से कानून बनाने और उन्हे लागू करने के दो भागो मे बाँटकर इस सिद्धान्त को पुन जीवित किया था। सोलहवी शताब्दी मे बोदाँ ने एक ही *अधिकारी को कायपालिका और न्यायपालिका दोनो के अधिकार देने के भयकर* परिणाम की ओर सकेत किया और न्यायिक शक्ति को स्वतन्त्र दण्डनायको को दिये जाने की सिफारिश की थी। इसी तरह सत्रहवी शताब्दी मे इगलण्ड के जेम्स हेरिंग्टन ने विधानपालिका और कायपालिका के कार्यों म स्पष्ट विभाजन की माँग की थी। अग्रेज दाशनिक जॉन लॉक ने इस तक को आगे बढाते हुए कहा कि विधानपालिका और कायपालिका को एक दूसरे से पृथक रखा जाना चाहिये अन्यथा भ्रष्टाचार फैलने की सम्भावना रहेगी।

मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त

शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को निश्चित, स्पष्ट और वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय मॉण्टेस्क्यू को है। उसने अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ लाज' मे इस सिद्धान्त की *विधिवत् व्याख्या की है। मॉण्टेस्क्यू का जन्म १६७९ मे फ्रास मे हुआ था।* वह फ्रास के शासक लुई चौदहवें का समकालीन था जो कहा करता था कि "म ही राज्य हू" (I am the State) और 'राजा की इच्छा ही कानून होती है"। लुई चौदहवें की निरकुशता से फ्रास की जनता अत्यत पीडित थी और किसी भी रूप मे स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं करती थी। १७२९ मे माण्टेस्क्यू को इगलण्ड जाने का अवसर मिला। इगलण्ड के स्वतन्त्र वातावरण से वह बहुत प्रभावित हुआ। फ्रास के निरकुशतन्त्र की इगलण्ड के 'विधि-शासन' से तुलना करके वह इस निष्कष पर पहुँचा कि अग्रेजो की स्वतन्त्रता का रहस्य सरकार के तीनो कार्यों का एक दूसरे स स्वतन्त्र विभागो म विभाजित होना था। लेकिन यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इगलण्ड म ससदीय शासन-व्यवस्था होने के कारण *शक्तियो का विभाजन नही है। माण्टेस्क्यू ने ब्रिटिश शासन-व्यवस्था* को गलत समझा था। उसने कार्यों के विभाजन को शक्तियो का विभाजन मान लिया था। कुछ भी हो, माण्टेस्क्यू ने उससे प्रभावित होकर वयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा के लिये शक्तियो के पृथक्करण का जो विधिवत् सिद्धान्त प्रतिपादित किया वह राजनीति शास्त्र *की एक अमूल्य धरोहर बन गया है।*

अपनी पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ लॉज' मे मॉण्टेस्क्यू लिखता है, "अगर कानून बनाने और उसका पालन कराने की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति अथवा दण्डनायक गण (बॉडी ऑफ मजिस्ट्रेट्स) मे निहित होगी तो नागरिको की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं रहेगी क्योंकि राजा अथवा सिनेट द्वारा अहितकारी विधेयको के बनाने और उनका कठोरता से पालन कराने की सम्भावना बनी रहेगी। इसी तरह अगर न्याय करने की शक्ति को विधायिका तथा कार्यकारिणी की शक्तियो से पृथक नहीं रखा जायेगा तो भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। अगर न्याय और विधायक की शक्तिया एक ही व्यक्ति मे केन्द्रित हो तो नागरिकों का जीवन तथा स्वतन्त्रता एक निरकुश नियन्त्रण के अधीन हो जायेगी, क्योंकि उस अवस्था मे न्यायाधीश कानून का निर्माता भी होगा। यदि इसको कार्यकारिणी की शक्ति से मिला दिया जाय तो न्यायाधीश का व्यवहार हिंसात्मक तथा अत्याचारी होना भी सम्भव है। अत अगर एक व्यक्ति या एक ही सस्था को कानून बनाने उनका पालन कराने, तथा व्यक्तिगत अभियोगो मे निर्णय देने का अधिकार होगा, तो नागरिको की स्वतन्त्रता का पूर्ण अन्त हो जायेगा।"

साराश यह है कि विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्तियो का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण निरकुशता की स्थापना करेगा। विधानपालिका और कार्यपालिका के साथ होने से मनमाने कानून बनाये जाने और उनका मनमाना प्रयोग होने की सम्भावना होगी। न्यायपालिका और कार्यपालिका के सयोग से न्याय नाम की व्यवस्था ही खत्म हो जायेगी और न्यायपालिका व विधानपालिका के पृथक् न होने से न्यायाधीश ही कानून बनाने वाले बन जायेंगे। अत व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था के लिये सरकार के तीनो अगो की शक्तियों का पृथक्करण आवश्यक है।

मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का समर्थन

मॉण्टेस्क्यू के १७ वर्ष पश्चात अग्रेज विधानशास्त्री ब्लकस्टोन ने अपनी पुस्तक 'कमेंटरीज ऑन दि लॉज आफ इगलण्ड' (Commentaries on the Laws of England) मे माण्टेस्क्यू के स्वर मे बोलते हुए शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया। उसने लिखा है कि "जब कभी कानून बनाने व उसे लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या समुदाय मे निहित होता है, तब जन स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। शासक अत्याचारपूर्ण कानून बना सकता है और उन्हे अत्याचारपूर्ण ढग से लागू कर सकता है। क्योंकि विधान निर्माता के रूप मे वह अपने न्यायाधीश के पद के लिये वे सभी अधिकार एकत्रित कर लेता है जिन्हे वह चाहता है अगर न्यायपालिका की शक्ति विधानपालिका के साथ सयुक्त कर दी जाय तो प्रजा का जीवन स्वतन्त्रता, तथा सम्पत्ति आदि निरकुश न्यायाधीशो के हाथ मे आ जाती है जो कि अपने फसले अपने विचार के अनुसार करते हैं, न कि उन आधारभूत कानूनों के अनुसार जिन्हे विधान-निर्माता तो छोड सकते है परन्तु न्यायाधीश नहीं।

"अगर न्याय पालको को कार्यपालिका से मिला दिया जाय तो विधान निर्माता

की अपेक्षा वे अधिक शक्तिशाली हो जायेंगे।"

इसी प्रकार अमरिका की संविधान सभा के एक सदस्य मेडिसन ने 'फेडरलिस्ट' नामक पत्रिका में लिखा कि 'विधान, शासन तथा न्याय—तीनों शक्तियों का एक ही स्थान पर केन्द्रीयकरण का नाम ही अत्याचारपूर्ण शासन है। यह स्थान चाहे एक व्यक्ति हो, चाहे कुछ व्यक्ति हों और चाहे बहुत से, और चाहे यह आनुवंशिक हो, अपने आप नियुक्त अथवा निर्वाचन द्वारा प्राप्त हो।"

अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त

(शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की स्वाभाविक उपसिद्धि)

डा. हरमन फाइनर का मत है कि शक्ति पृथक्करण से मॉण्टेस्क्यू का अर्थ सरकार के तीनों अंगों में पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं, अपितु एक ही अंग में अत्यधिक शक्ति-संचय को रोकना था। उसके विचार से मॉण्टेस्क्यू सरकार के विभिन्न अंगों में शक्ति के विभाजन के पक्ष में इस प्रकार था कि विभिन्न अंग परस्पर एक-दूसरे की शक्ति पर अवरोध या नियन्त्रण रख सकें और सन्तुलन बनाये रख सकें। फाइनर के शब्दों में "माण्टेस्क्यू राजा की शक्तियों को सीमित करने का साधन ढूंढ़ रहा था। वह एक संविधान बनाना चाहता था जिसके अनुसार सत्ता का उपयोग किया जाय और निरंकुश सत्ता पर अंकुश लगे, लेकिन फिर भी वह जनतन्त्र का चरम रूप नहीं चाहता था।"

कहने का अभिप्राय यह है कि माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण का अर्थ सरकार के तीनों अंगों की शक्तियों का स्पष्ट, निश्चित और पूर्ण विभाजन नहीं है अपितु शक्तियों के केन्द्रीयकरण को कम करना है। क्योंकि यदि सरकार के तीनों अंगों को समान समझ लिया जाय और उन्हें पूरी तरह एक दूसरे से अलग कर जाय तो सम्पूर्ण शासनतन्त्र ही धराशायी हो जायगा। डा. फाइनर आदि कुछ विचारकों ने 'स्पिरिट आफ लाज' के अध्ययन से शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को वैधानिक 'अवरोधों और सन्तुलनों' (Checks and Balances) के माध्यम से व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया है। अवरोध और सन्तुलन का सिद्धान्त इस प्रकार शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की स्वाभाविक सहायक उपसिद्धि है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि शासन की शक्तियों में पारस्परिक सामंजस्य के साथ साथ उनकी स्वतन्त्रता और पृथकता बनी रहे। यह पृथकता में एकता बनाये रखने की एक व्यवस्था है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को अवरोध व सन्तुलन के माध्यम से ही लागू किया जा सका है। इससे शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का हनन नहीं होता। वस्तुतः माण्टेस्क्यू सरकार के तीनों अंगों द्वारा एक दूसरे पर आंशिक नियन्त्रण और दूसरे विभाग के कार्यों में आंशिक रूप से भाग लेने के विरुद्ध नहीं था। उसका तात्पर्य यह था कि जहाँ एक विभाग की सारी शक्ति का प्रयोग दूसरा विभाग करता है वहाँ संविधान के प्राथमिक सिद्धान्तों और स्वतन्त्रता का हनन होता है। अर्थात कार्यपालिका की सम्पूर्ण शक्ति वाले अधिकारी को कानून बनाने की शक्ति का उपयोग नहीं करना चाहिए या न्यायाधीश के पास कानून बनाने अथवा उन्हें लागू

करने की सत्ता नही होनी चाहिये। सेबाइन इस प्रणाली (अवरोध और सन्तुलन) का समर्थन करते हुए लिखता है कि "माण्टेस्क्यू का तात्पर्य वास्तव मे तीनो शक्तियो के पूर्ण विच्छेद से नहीं था। कार्यकारिणी के नियन्त्रण पर विधायिका की बैठक प्रारम्भ होनी चाहिये, कार्यकारिणी को विधेयक को अस्वीकृत करने की शक्ति होनी चाहिये तथा विधायिका को न्याय सम्बन्धी विशेष अधिकार होने चाहियें।"

सिद्धान्त का प्रभाव—माण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का व्यापक प्रभाव पडा। उसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा और जनतन्त्र शासन व्यवस्था का आधार माना जाने लगा। इस सिद्धान्त ने फ्रास की राज्य क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की। १७८६ मे फ्रास की सविधान सभा ने यह घोषणा की कि जिस देश मे शक्ति-पृथक्करण की व्यवस्था नही है उस देश मे सविधान के नाम की कोई चीज ही नहीं है। १७९३ मे इस सिद्धान्त को छोडना पडा क्योकि क्रान्तिकारी शक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण चाहते थे। लेकिन दो वर्ष पश्चात १७९५ मे इस सिद्धान्त को पुन अपनाया गया। कालान्तर मे इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप फ्रास मे प्रशासकीय कानून और प्रशासकीय न्यायालय स्थापित हुये।

भारत मे संविधान सभा के कुछ सदस्य शक्तियो के पृथक्करण को अपनाये जाने के समर्थक थे। प्रो के टी शाह ने सुझाव रखा था कि विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियो मे स्पष्ट विभाजन होना चाहिये। लेकिन देश मे ससदीय व्यवस्था को लागू करने के कारण शक्तियो का पूर्ण विभाजन सम्भव नही था। अत सिद्धान्त रूप मे हमारे यहाँ कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्तियो के पृथक्करण को अवश्य स्वीकार कर लिया गया है।

माण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रभाव सयुक्त राज्य अमेरिका की सविधान-निर्मात्री सभा पर पडा। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अमरीकी सविधान निर्माताओ ने ससार के समक्ष एक नई प्रकार की शासन व्यवस्था प्रस्तुत की जिसमे विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियो को एक दूसरे से पृथक और स्वतन्त्र रखा गया है। कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के हाथ मे है जिसका चुनाव जन-सामान्य द्वारा होता है। वह स्वय अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है और उसे विघटित भी कर सकता है। राष्ट्रपति और उसके मन्त्री न तो विधानपालिका की बैठको में भाग लेते हैं और न उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। विधानपालिका के दोनो सदन भी कार्यपालिका से स्वतन्त्र हैं। उनका एक निश्चित अवधि के लिये चुनाव होता है और उन्हे राष्ट्रपति भग नही कर सकता है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की समुचित व्यवस्था है। लेकिन शासन की एकता और विभिन्न अगो मे सामजस्य और सहयोग को बनाये रखने के लिये कुछ अवरोध और सन्तुलनो की व्यवस्था भी है जैसे, अमेरिका के राष्ट्रपति को विधानपालिका द्वारा पास किये गये कानूनो पर आंशिक निषेधाधिकार (Veto) मिला हुआ है, आंशिक इसलिये कि यदि राष्ट्रपति किसी विधेयक को अस्वीकार करके दस दिन के अन्दर वापिस भेज दे तो व्यवस्थापिका उसे पुन दो तिहाई बहुमत से पास करके राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिये भेज सकती है और उस स्थिति मे राष्ट्रपति को विधेयक पर हस्ताक्षर करने ही पडेंगे। इसी तरह न्यायाधीशों की नियुक्ति

राष्ट्रपति करता है लेकिन उन्हें महाभियोग द्वारा कांग्रेस हटा सकती है। कांग्रेस को भी कुछ कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार दिये गये हैं जैसे उच्चाधिकारियों की नियुक्ति तथा राष्ट्रपति द्वारा अन्य राष्ट्रों के साथ की गयी सन्धियों के लिये सीनेट की स्वीकृति। इस प्रकार शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका के अनेक राज्यों में सफलतापूर्वक लागू किया गया है। १९४८ में संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा स्वीकृत मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र में भी इस सिद्धान्त को मान्यता दी गयी।

शक्ति-पृथक्करण-सिद्धान्त के गुण

शासन की शक्तियों को विभिन्न अंगों में स्वतन्त्र और स्पष्ट रूप से विभाजित करने के कई लाभ हैं —

(१) कार्य विभाजन से शासन में सरलता, कार्यकुशलता और उत्तरदायित्व के गुण का विकास होना स्वाभाविक है। बाह्य हस्तक्षेप न होने से शासन का प्रत्येक अंग अपना कार्य स्वतन्त्र रूप से स्वयं सम्पादित करेगा। इससे कार्य अच्छा होगा और अपने कार्यों के लिये प्रत्येक अंग स्वयं उत्तरदायी भी होगा।

(२) कहा जाता है सत्ता भ्रष्ट बनाती है और अबाध शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट बनाती है। सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिये यह सिद्धान्त बहुत आवश्यक है। शक्तियों में पृथकता के साथ उन पर यदि पारस्परिक नियन्त्रण रखा गया तो किसी भी अंग के निरंकुश होने का भय नहीं रहेगा।

(३) शासन के विभिन्न अंगों में पृथकता के कारण कोई भी अंग अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं कर सकता।

(४) इससे शासकीय कार्यों का बोझ शासन के किसी एक ही अंग पर नहीं पड़ता। कार्यभार हल्का होने से शासन में दक्षता और दृढ़ता आनी स्वाभाविक है।

(५) शक्तियों का स्पष्ट विभाजन होने से विभागों के मध्य प्रक्रिया-सम्बन्धी अवांछनीय विवाद उत्पन्न नहीं होते।

(६) शक्तियों के विभाजन से स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका स्थापित की जा सकती है जो नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं की रक्षक होगी। ऐसी व्यवस्था में मनुष्य के अधिकाधिक स्वतन्त्र रहने की सम्भावना है।

शक्ति-पृथक्करण के दोष

यह सत्य है कि एक व्यक्ति या समूह के हाथ में शासन की अधिकांश शक्तियों का केन्द्रित होना अत्याचारी शासन की स्थापना करता है लेकिन शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त न तो वांछनीय है और न व्यावहारिक। इसे क्रियात्मक रूप देने में निम्नांकित कठिनाइयाँ हैं —

(१) **पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है**—वास्तव में शासन एक पूर्ण वस्तु है। उसके विभिन्न अंगों के बीच निकट सम्पर्क रहना आवश्यक है इसलिये शासन को पृथक-पृथक भागों में बाँटना कृत्रिम है। गिलक्राइस्ट लिखता है कि शासन में 'न्याय-तत्त्व का

सर्वत्र विद्यमान होना पूर्ण पृथकता को सर्वथा असम्भव बना देता है।" गटिल के विचार से "शासन का निर्माण विभिन्न कार्य करने वाले कई अंगों से होता है, परन्तु एक सामान्य कार्य एवं उद्देश्य होता है जिसकी सफलता के लिये उनकी एकरूपता तथा सहयोग आवश्यक है। विभिन्न विभागों में पृथकता की एक दृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती है।"

(२) शासन के अंग समान नहीं होते—ब्लशली ने लिखा है, "जिस प्रकार सम्पूर्ण अपने किसी भाग अथवा सदस्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार विधानपालिका की शक्ति अन्य विशेष शक्तियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ होती है।" लोकतन्त्र के विकास के साथ-साथ कार्यपालिका की स्थिति इसके अधीन हो गयी है। ऑग लिखता है, "कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होना उत्तरदायी सरकार की प्रथम शर्त है। इस उत्तरदायित्व के अभाव में लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता।" सैद्धान्तिक रूप से कार्यपालिका चाहे कितनी ही स्वतन्त्र क्यों न हो विधानपालिका का वित्त पर नियन्त्रण होने के कारण वह उसके अधीन रहकर काम करती है। इसी प्रकार न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के बड़े गीत गाये जाते हैं लेकिन, मकाइवर के शब्दों में, "न्यायपालिका स्पष्ट रूप से विधानपालिका के अधीन होती है।"

(३) अव्यावहारिक—गटिल लिखता है, "यदि मान भी लिया जाय कि स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये शक्तियों का विस्तृत पृथक्करण आवश्यक है तो भी इस सिद्धान्त को व्यवहार में सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में उस अंग में शक्तियों का केन्द्रीयकरण जो जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व करता हो, अनेक स्वतन्त्र की शक्तियों के स्वतन्त्र और अनुत्तरदायी विभागों में बांट देने की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार से सुरक्षा कर सकता है। तथ्य तो यह है कि निरोध और सन्तुलन का परिणाम बहुत सीमा तक यह हो सकता है कि थोड़े से लोगों के हाथ में सम्पूर्ण नियन्त्रण की बागडोर आ जाय।"[18] अतः माण्टेस्क्यू की यह धारणा गलत है कि नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा शासन शक्तियों के पृथक्करण से ही सम्भव है। स्वतन्त्रता शक्ति-पृथक्करण की अपेक्षा जनता की भावना और जनता के प्रति उसके लगाव पर निर्भर करती है। अमेरिका में इंगलैण्ड के विपरीत शक्तियों का पृथक्करण है लेकिन इंगलैण्ड के नागरिक किसी भी रूप में अमेरिका के नागरिकों से कम स्वतन्त्र नहीं हैं।

(४) *कार्यक्षमता के लिये हानिकारक—शक्तियों के विभाजन से कार्यक्षमता बढ़ती* नहीं वरन नष्ट होती है। इसके कारण शासन के विभिन्न अंगों के बीच एक प्रकार की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा चलती है। एक दूसरे के प्रति सन्देह की भावना पैदा होती है और विभिन्न अंगों में विवाद के अवसर आते हैं। यदि कार्यपालिका एक दल की हो और विधानपालिका में दूसरे दल का बहुमत हो तो शासन कार्य चलाना दुष्कर हो जाता है। अमरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट का 'न्यू डील' नामक अपने आर्थिक कार्यक्रम को लागू करने में कितनी कठिनाई आयी थी यह हम सभी जानते हैं। इस तरह शक्तियों का पृथक्करण शिथिलता और संघर्ष का कारण है। फाइनर लिखता है, "शक्ति-पृथक्करण

18 R. G Gettell *Political Science* p 215

का सिद्धान्त शासन को निद्रित एवं ऐंठने वाली अवस्था में डाल देता है।"[19]

(५) शासन में समन्वय और सहयोग की कमी—शासन को सुचारु रूप में चलाने के लिये व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग बहुत आवश्यक है, क्योंकि उचित कानूनों को बनाने के लिये यह जरूरी है कि कार्यपालिका के ज्ञान का लाभ उठाया जाय। इसका कारण यह है कि प्रशासन का संचालन कार्यपालिका करती है। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग नहीं होगा तो प्रशासन को लोक कल्याणकारी रूप नहीं दिया जा सकेगा। निष्पक्ष न्यायपालिका के लिये भी विधानपालिका और कार्यपालिका के साथ उसका सम्बन्ध आवश्यक है। यदि न्यायपालिका का व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में कोई सम्बन्ध नहीं होगा तो उसकी नियुक्ति भी दलीय आधार पर जनता द्वारा होगी। ऐसी अवस्था में न्यायाधीशों के निर्णय पक्षपातपूर्ण तथा जनता को प्रसन्न करने वाले होंगे पूर्णतया निष्पक्ष नहीं। मिल लिखता है, 'सरकारी विभागों की पूर्ण स्वतन्त्रता का अनिवार्य अर्थ होगा निरन्तर गतिरोध। प्रत्येक विभाग अपनी ही शक्तियों की रक्षा में लगा रहेगा और अन्य किसी को सहयोग प्रदान नहीं करेगा। इसके फलस्वरूप कुशलता में होने वाली क्षति स्वतन्त्रता के सम्भावित लाभों से कहीं अधिक होगी।" अनुभव में यह तर्क सिद्ध भी हो चुका है। उदाहरण के लिये राष्ट्रपति, काँग्रेस और न्यायपालिका को संयुक्त राज्य अमेरिका में एक दूसरे से पृथक रखा गया है लेकिन सहयोग और समन्वय की आवश्यकता के कारण वे एक दूसरे से बहुत मिल गये हैं। स्वतन्त्र नियामकीय आयोग (Independent Regularity Commission) इसके परिणाम है।

(६) नेतृत्व का अभाव—आधुनिक युग में शासन की जटिलताओं को सुलझाने के लिये कुशल दृढ़ और अखण्ड नेतृत्व की आवश्यकता होती है लेकिन पृथक्करण का सिद्धान्त नेतृत्वविहीन शासन प्रणाली की नींव डालता है। यह इसका एक महत्वपूर्ण दोष है।

(७) गलत ऐतिहासिक आधार—मॉण्टेस्क्यू ने ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के आधार पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जहाँ वास्तव में शासन का पृथक्करण नहीं था। आधुनिक युग में हम व्यक्तिगत रूप से कम और सामूहिक रूप से अधिक सोचते हैं, इसलिये आधार रूप में यह सिद्धान्त असामयिक है। यह वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है।

(८) लोक कल्याणकारी राज्य के लिये अनुपयोगी—लोक कल्याणकारी राज्य के लिये शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त अनुपयोगी है क्योंकि राज्य को लोक हितकारी कार्यों का सम्पादन करने के लिये योजनाबद्ध तरीकों को अपनाना पड़ता है। योजनाबद्ध विकास तभी हो सकता है, जबकि कार्यपालिका को छोटे-मोटे कानून बनाने और सामूहिक विवादों में निर्णय देने का अधिकार प्राप्त हो। यदि शक्तियों का विभाजन होगा तो पंच-वर्षीय या सप्त-वर्षीय योजनायें निश्चित अवधि में कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं।

19 The theory of Separation of the Power throws government into alternating conditions of coma and convulsions. —*Finer*

महत्त्व

उपर्युक्त आलोचनाओं को देखते हुए यह लगना स्वाभाविक है कि शक्ति विभाजन सिद्धान्त पूर्णतया अस्वाभाविक और अव्यावहारिक है। लेकिन यह बात पूरी तरह सही नहीं है। शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के जो गुण ऊपर लिखे जा चुके हैं उनमें भी पर्याप्त सत्यांश है और उनसे शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की उपयोगिता और महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कार्यों का पृथक्करण होना चाहिये परन्तु उसके लिये यह जरूरी नहीं है कि अधिकारी या कर्मचारी पृथक्-पृथक् हो। दूसरे, शक्तियों का पृथक्करण एक सीमा तक ही होना चाहिये। मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त को कठोरता से लागू करने के परिणाम बुरे हो सकते हैं। न्यूमन लिखता है, "अत्यधिक पृथक्करण से तो उत्तरदायित्व नष्ट हो सकता है, कार्य की प्रगति रुक सकती है। सरकार ही नष्ट हो सकती है। सरकार स्वतन्त्र रहनी चाहिये, परन्तु इसमें शासन करने की शक्ति अवश्य ही बनी रहनी चाहिये। सफल संवैधानिक और प्रजातन्त्रात्मक सरकार की मांग है कि शक्ति पृथक्करण व संयुक्त शासनिक कार्य की सम्भावना में मेल बना रहे। इस प्रकार शक्ति-पृथक्करण सभी प्रजातन्त्रात्मक देशों में एक जीवित शक्ति है, जो असीमित और अत्याचारी शक्ति के प्रयोग पर रोक लगाती है। इसके लिये नेतृत्व का अभाव नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसके बिना शीघ्र ही संवैधानिक गतिरोध और अधिनायकशाही पैदा हो जायेगी।"[20]

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ विधानमण्डल के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। यह कार्यपालिका पर कैसे नियन्त्रण रखता है?
(राजस्थान 1971 कानपुर 1971)

२ वर्तमान प्रजातन्त्र में व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्यों एवं शक्तियों का उल्लेख कीजिये।
(राज॰ 1979 आगरा 1965 भोपाल 1971)

३ • द्विसदनीय व्यवस्थापिका के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करिये।
(कानपुर 1969, विक्रम 1963, राज॰ 1973 197* 1976 1978, 1980)

४ एक सदनीय और द्वि सदनीय विधानमण्डलों में आप किसे अच्छा समझते हैं? दोनों पक्षों के तर्कों का परीक्षण करते हुए आप अपना मत बतलाइये। (राज॰ 1975 आगरा 1970)

५ आधुनिक विधानमण्डल के क्या कार्य होते हैं? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि विधानमण्डल का महत्त्व घट गया है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिये। (गोरखपुर १९६६)

६ कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिये। यह क्या-क्या विभिन्न कार्य करता है।
(राजस्थान १९६८)

७ कार्यपालिका के स्वरूप और कार्यों का वर्णन कीजिये। उसके अधिकारों में वृद्धि के क्या कारण हैं। (कानपुर १९७२)

८ शासन के कार्यपालिका अंग के विविध कार्यों का वर्णन कीजिये। (आगरा १९६७)

९ कार्यपालिका के निर्माण की विविध पद्धतियों का वर्णन कीजिये। सुव्यवस्थित कार्यपालिका के लिये किन किन बातों का होना आवश्यक है? (राजस्थान १९६६)

१० आधुनिक राज्यों में न्यायपालिका के क्या कार्य हैं? (लखनऊ १९६१ गोरखपुर १९६३)

---

20 Neumann, *European and Comparative Government* p 668

११ निर्वाचित न्यायपालिका के पक्ष व विपक्ष मे तर्क दीजिये। (गोरखपुर १९६९)

१२ न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं? यह कैसे प्राप्त की जा सकती है?
(राज० 1980 कानपुर 1970)

१३ लोकतन्त्र मे स्वतन्त्र न्यायपालिका का क्या महत्त्व है? सघ राज्य मे न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन करिये। (आगरा १९६४ १९७१, विक्रम १९६० ६५, गोरखपुर १९६५)

१४ प्रजातान्त्रिक राज्य मे न्यायपालिका के सगठन मे किन बातो का ध्यान रखना होता है? सघात्मक राज्य में न्यायपालिका का महत्त्व बताइये। (आगरा १९६९)

१५ शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त का वर्णन कीजिये और यह बताइये कि कहाँ तक यह उचित और व्यावहारिक है। (राजस्थान 1971 कानपुर 1071)

१६ अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त का उल्लेख तथा आलोचना कीजिये।
(राजस्थान 1972, 1976 आगरा 1966 72 73)

१७ शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का इतिहास बताते हुए यह स्पष्ट कीजिय कि यह सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है। (राजस्थान 1978, आगरा 1963)

१८ पूर्ण शक्ति पृथक्करण न केवल अव्यावहारिक वरन वाछनीय भी है। इस कथन की व्याख्या कीजिये। (उदयपुर 1970 राजस्थान 1961, 1981)

१९ शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये और यह भी बताइये कि ससदीय शासन-व्यवस्था मे इसे कहाँ तक लागू किया जा सकता है? (गोरखपुर १९६५ ६७)

२० नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिये। (राजस्थान १९६५)

२१ शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? नागरिक की स्वतन्त्रता के लिये इसका क्या महत्त्व है? (जोधपुर १९६३, ६७)

22 आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यो मे व्यवस्थापिका के कार्यों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। क्या इन कार्यों से आजकल व्यवस्थापिका की भूमिका मे कमी का सकेत मिलता है। (राज० 1082)

अध्याय १६

शासन के रूप
(Forms of Government)

"शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो।
जो ठीक प्रकार से चले वही सर्वश्रेष्ठ शासन है॥"
—एलेग्जण्डर पोप

राज्यों का वर्गीकरण करते समय शासन के एकात्मक व संघात्मक तथा संसदीय व अध्यक्षात्मक रूपों का उल्लेख किया गया था। इस अध्याय में उनकी विशेषताओं, गुण, दोषों आदि की विवेचना की गयी है।

एकात्मक शासन
(Unitary Government)

एकात्मक शासन वह होता है जहाँ शासन की सारी शक्तियाँ एक स्थान पर केन्द्रित होती हैं। शासन की सुविधा की दृष्टि से देश को प्रान्तों (राज्यों), जिलों आदि में बाँटा जरूर जाता है, लेकिन इन छोटी इकाइयों (प्रान्त या जिले आदि की सरकारों) को कोई मौलिक शक्ति प्राप्त नहीं होती है। केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार होता है कि वह जब चाहे इन सरकारों के अस्तित्व को समाप्त कर दे, इन की शक्ति में कमी या वृद्धि कर दे या इनकी क्षेत्रीय सीमाओं में हेर-फेर कर दे। साराश यह है कि एकात्मक शासन में स्थानीय सरकारें केन्द्र के एजेण्ट के रूप में कार्य करती हैं, न केवल उनकी शक्ति अपितु अस्तित्व भी केन्द्रीय सरकार के निर्णय पर निर्भर करता है। यूरोप में इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, बेल्जियम और हॉलैण्ड एकात्मक राज्यों के उत्तम उदाहरण हैं। एशिया में जापान, अफगानिस्तान, ईरान आदि एकात्मक शासन वाले राज्य हैं।

परिभाषा और लक्षण

एकात्मक शासन की मुख्य परिभाषायें निम्नांकित हैं —

गार्नर के शब्दों में, 'जहाँ संविधान शासन की समस्त शक्तियों को केवल एक केन्द्रीय अंग अथवा अंगों को दे, जिससे स्थानीय सरकारें सत्ता और स्वायत्तता जो उनके पास है प्राप्त करें या वास्तव में अपने जीवन का अस्तित्व ही प्राप्त करें, वहीं सरकार की एकात्मक प्रणाली होती है।"

डायसी के अनुसार, "एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"

ड फाइनर के अनुसार, "एकात्मक राज्य वह है जिसमे सम्पूण सत्ता एव शक्ति एक ही केन्द्र मे निहित हो और जिसकी इच्छा व जिसके अभिकर्त्ता (agent) समस्त क्षेत्र पर कानूनन सवशक्तिमान हो।"

विलोबी के शब्दो म, "एकात्मक राज्य मे शासन की समस्त शक्तियाँ मौलिक रूप से एक केन्द्रीय सरकार को प्रदान की जाती हैं। वह सरकार अपनी इच्छानुसार इन शक्तियो का विवरण क्षेत्रीय इकाइया मे करने के लिय पूणत स्वतन्त्र रहती है।"

प्रो स्ट्राग के विचार से, "एकात्मक राज्य उसे कहते हैं जो एक केन्द्रीय सरकार के रूप मे सगठित हो अर्थात् केन्द्रीय सरकार के अन्तगत बनाये गये विभिन्न जिलो की शक्तियो का प्रयोग केन्द्रीय सरकार की इच्छा के अनुसार किया जाय और सम्पूण क्षेत्र पर केन्द्रीय सरकार की शक्ति सर्वोच्च हो और कोई भी कानून जो इसके भागो को विशेष शक्तियाँ प्रदान करे इस पर कोई प्रतिबन्ध या सीमा न लगा सके।"

उपयुक्त परिभाषाओ के विश्लेषण द्वारा एकात्मक शासन की निम्नांकित विशेषतायें प्रकट होती हे —

(१) शासन का एक स्थान से सचालन—एकात्मक शासन प्रणाली म शासन की सम्पूण सत्ता केन्द्र मे निहित होती है और वही सारे देश के लिये कानून बनाने व लागू करने का काय करता है।

(२) **स्थानीय सरकारो की केन्द्र पर निभरता**—एकात्मक व्यवस्था म केन्द्र अपनी मर्जी से प्रान्तो या जिलो की रचना करता है, उनके अधिकारियो की नियुक्ति करता है तथा प्रत्यक्ष रूप से उन पर अपना नियन्त्रण रखता है। उदाहरण के लिय फ्रास की केन्द्रीय सरकार ने सारे देश को ६० जिलो म विभक्त किया है जिन्ह 'देपातमां' कहते हैं। इनका अध्यक्ष 'प्रीफेक्ट' कहलाता है। उसकी नियुक्ति फ्रास की केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है और वह गृहमन्त्री के नियन्त्रण म सारा काय करता है। एक 'दपातमां' के अधीन कई इकाइयाँ होती हैं जिन्ह 'एेरादिसमां' (परगना) कहा जाता है। 'एरोदिसमां' के अन्तगत कैण्टन होते हैं, जो फ्रास के स्थानीय स्वशासन की सबसे छोटी इकाई है। आदेश ऊपर से नीचे अर्थात केन्द्र से कण्टन की ओर चलत हैं।

(३) सविधान द्वारा शक्तियो का विभाजन नहीं—एकात्मक शासन म सविधान द्वारा केन्द्र और इकाइया के बीच शक्तिया के विभाजन की कोई व्यवस्था नही होती। केन्द्रीय सरकार सारे विषयो पर कानून बनाती है और वही उसम सशोधन और परिवत्तन भी करती है।

(४) इकहरी नागरिकता—साधारणतया एकात्मक शासन प्रणाली वाल देशा म इकहरी नागरिकता होती है। लकिन एकात्मक शासन व्यवस्था का यह कोइ आवश्यक लक्षण नहीं है।

एकात्मक शासन के गुण

एकात्मक शासन प्रणाली मे निम्नांकित गुण पाये जाते हैं —

(१) सगठन की दृष्टि से सरल—एकात्मक शासन-प्रणाली अत्यन्त सरल होती है। शासन की शक्तियाँ अकेले केन्द्र के पास होती हैं, इसलिये न तो केन्द्र और इकाइयो के मध्य झगडे की नौबत आती है और न राजनीतिक शक्ति के प्रयोग मे कोई जटिलता या अस्पष्टता दिखायी देती है। इस प्रणाली को अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता और चलाया जा सकता है। गैटिल ने ठीक लिखा है कि "एकात्मक शासन-पद्धति मे सभी शासकीय शक्तियाँ एक ही प्रकार के अधिकारियो मे केन्द्रित रहती हैं, जिससे सरकार की सारी शक्ति की सहायता प्रशासकीय समस्याओ को सुलझाने मे ली जा सके। इसमे सत्तात्मक द्वन्द्व, उत्तरदायित्व सम्बन्धी परिभ्रान्ति, कार्यों का द्विगुणन तथा अधिकार-क्षेत्रों का अन्तर्लाप नहीं हो सकता है।"[1]

(२) प्रशासनिक एकरूपता—एकात्मक व्यवस्था मे सारे राज्य मे एक से कानून होते हैं, एक-सी व्यवस्था होती है और एक ही प्रकार की नीतियाँ लागू की जाती हैं। इसमे दोहरी या समानान्तर सत्तायें नहीं होती, इसलिये जनता के दिमाग मे किसी प्रकार की गलतफहमी की गुंजाइश नहीं रहती और प्रशासन मे एकरूपता बनी रहती है। प्रशासन की इकाइयाँ मनमानी नहीं कर सकतीं। केन्द्रीय सरकार उन्हे जब चाहे जिस दिशा मे मोड़ सकती है और उनसे जो काय चाहे करवा सकती है।

(३) राष्ट्रीय एकता के विकास मे सहायक—एकात्मक शासन मे इकहरी नागरिकता और एक-से कानून होने के कारण राष्ट्रीय भावनाओ के अनुकूल वातावरण विकसित होता है। इससे राष्ट्रीयता के बन्धन दृढ़ होते हैं तथा राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है।

(४) शक्तिशाली सरकार—एकात्मक शासन दृढ़ और शक्तिशाली होता है क्योंकि संविधान द्वारा सारी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को सौंपी जाती हैं, अत देश की आतरिक और बाह्य समस्याओ को सुलझाने के लिये एकात्मक सरकार दृढ़ता के साथ नीतियाँ बना सकती है और सफलतापूर्वक उनका क्रियान्वयन कर सकती है। शासन के कुशल व दृढ होने का एक कारण यह भी है कि केन्द्रीय सरकार को इकाइयो के सहयोग पर निर्भर नहीं रहना पडता है।

(५) शासन-कार्यों का शीघ्र सचालन—एकात्मक शासन मे शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता होती है क्योंकि इस व्यवस्था में विभिन्न कार्यों को करने से पूर्व राज्यो से लम्बे पत्र व्यवहार करने और उनकी स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं होती। केन्द्रीय सरकार जो भी उचित समझती है उसे बगैर रोक टोक तत्काल क्रियान्वित कर सकती है।

(६) आर्थिक विकास की दृष्टि से उत्तम—एकात्मक व्यवस्था मे केन्द्र ही सारे देश का अर्थ नीति निश्चित करता है। सारा राज्य एक आर्थिक इकाई होता है

1 *Gettell Political Science* p 236

और जो भी प्राकृतिक साधन देश मे उपलब्ध होते हैं उन्हे क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के अनुकूल बाँट दिया जाता है। जो राज्य एकात्मक नहीं होते उनके विभिन्न क्षत्रो मे अपने अपने आर्थिक विकास के लिये खींचातानी चलती है, जैसा आजकल हमारे देश म हो रहा है। एकात्मक व्यवस्था म राज्य के सभी क्षत्रो का समान विकास होता है, किसी का कम या किसी का अधिक नही।

(७) **कम खर्चीला**—एकात्मक शासन सघात्मक शासन की अपेक्षा कम खर्चीला होता है। सारे राष्ट्र का एक ही बजट होता है तथा खर्चे पर नियंत्रण रखना बहुत सरल होता है। सघात्मक शासन की तरह एकात्मक व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार व राज्य की सरकार के अलग अलग मन्त्री, विधायक या कर्मचारी नही होते। सारे देश के लिये एक ही ससद, लोक सेवा आयोग और न्यायालय होते हैं। सरकारी कर्मचारियो की सख्या भी कम होती है जिससे काफी धन व्यय ही नष्ट होने से बच जाता है।

(८) **युद्ध और सकटकाल मे उपयोगी**—एकात्मक शासन युद्ध और सकटकालीन परिस्थितियो मे विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है, क्योकि ऐसी परिस्थितियो म शीघ्रता, दृढता और साहस के साथ निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। सरकार के निर्णयो का गुप्त रखना भी जरूरी होता है जो कवल एकात्मक व्यवस्था मे ही सम्भव है, क्योकि उसमे शक्तियो का केन्द्रीयकरण होता है।

(९) **सुरक्षा व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की दृष्टि से उपयोगी**—विलोबी ने लिखा है कि, 'सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के मामलों मे एकात्मक राज्य की शक्ति विशेषतया स्पष्ट हो जाती है क्योकि ऐसे राज्य मे शक्ति का कोई झगडा नहीं होता, काम के बारे मे उत्तरदायित्व की कोई अस्पष्टता नहीं होती, क्षेत्र का उल्लघन नहीं होता, काम का या सगठन का कोई ऐसा दोहरापन नहीं होता, जिसे तुरन्त ठीक नहीं किया जा सके।' एकात्मक सरकार के लिये अपनी अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियो को निभाना सरल होता है, क्योकि उनकी एक ही सरकार होती है और समस्त शासन-सत्ता उसी सरकार के हाथ म होती है। इनकी तुलना म सघात्मक राज्य अन्तराष्ट्रीय दृष्टि से निर्बल होते हैं। किसी अन्य राष्ट्र से युद्ध होने की दशा मे उन्हे इस बात पर भरोसा नही होता कि उनके अधीन विभिन्न राज्यो की सरकारो का सहयोग उन्हें मिलेगा ही, विशेष रूप से उस दशा म जब कि देश मे नस्ल, भाषा, धर्म आदि के भेदभाव के कारण राष्ट्रीय एकता की भावना का अभाव हो।

दोष

एकात्मक शासन-व्यवस्था के कुछ दोष भी हैं जिन्हें निम्नांकित शीर्षको मे वर्गीकृत किया जा सकता है —

(१) **विशाल और विभिन्नता से युक्त देशो के लिये अनुपयुक्त**—एकात्मक व्यवस्था उन देशो मे सफल नही हो सकती जो आकार व जनसख्या की दृष्टि से विशाल और भाषा, जाति या धर्म के आधार पर विभिन्नता से युक्त होते हैं। इसका

मुख्य कारण यह है कि विशाल और विविधता से पूर्ण देश के नागरिक अपने अपने ढग से अपना विकास करना चाहते हैं। एकात्मक व्यवस्था मे एक से कानून और एक सी नीतियाँ उनके लिये समस्यायें और सकट खडे कर देंगी।

(२) केन्द्र की स्वेच्छाचारिता का भय—एकात्मक व्यवस्था में सम्पूर्ण शासन शक्ति केन्द्र के पास होने के कारण निरन्तर यह भय बना रहता है कि कही केन्द्रीय सरकार मनमानी न करने लगे। अनुभव यह बताता है कि शक्ति के केन्द्रीयकरण से निरकुशता का जन्म होता है, अत केन्द्र की स्वेच्छाचारिता का भय अस्वाभाविक व काल्पनिक नही है।

(३) प्रशासनिक दक्षता का अभाव—एकात्मक शासन सुदृढ़ व शक्तिशाली भले ही हो, प्रशासनिक दक्षता और कार्यकुशलता की दृष्टि से उत्तम नही होता। इसके दो कारण हैं। प्रथम, सारी शासन क्रिया एक स्थान से सचालित होने के कारण केन्द्रीय सरकार के कार्यभार मे बहुत वृद्धि हो जाती है, दूसरे, देश के एक स्थान पर बैठी हुई सरकार से यह आशा करना व्यर्थ होगा कि वह दूरस्थ क्षेत्रो की जनता की सूक्ष्मतम समस्याओ को भली प्रकार समझ सकेगी और कुशलतापूर्वक उनका निदान कर सकेगी।

(४) नौकरशाही का शासन—एकात्मक शासन म नौकरशाही का बोलबाला होता है। सारी शक्ति सरकारी अधिकारियो के हाथ मे आ जाती है जो जनता के हिता की चिन्ता किये बगैर स्वेच्छाचारी ढग से शासन चलाते हैं।

(५) स्थानीय स्वायत्तता का नाश—एकात्मक व्यवस्था मे स्थानीय स्वशासन की भावना को बडा आघात पहुँचता है। केन्द्रीय सरकार स्थानीय सस्थाओ के विकास की ओर ध्यान कम देती है। उदाहरण के लिये, फ्रास म 'देपार्तमां' विद्यमान हैं, उनकी अपनी सरकारें व कौंसिलें हैं, लेकिन उनकी शक्ति बहुत सीमित है। फ्रास की केन्द्रीय सरकार का उन पर कठोर नियन्त्रण है। स्थानीय सस्थाओ पर कठोर नियन्त्रण होने के कारण एकात्मक व्यवस्था को सच्चे अर्थों में जनतान्त्रिक भी नही कहा जा सकता।

(६) स्थानीय हितों की उपेक्षा—एकात्मक शासन म स्थानीय हितो की उपेक्षा होती है। केन्द्रीय सरकार के पास इतना काय होता है कि उसे स्थानीय हितो की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नही होती। स्थानीय प्रशासन केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त उन अधिकारियो के हाथ म होता है जो उस क्षेत्र की कठिनाइयो और समस्याओं से परिचित नही होते। अत ऐसी व्यवस्था मे स्थानीय हितो की अवहेलना स्वाभाविक है।

(७) नागरिकों की उदासीनता—एकात्मक शासन म जनता सार्वजनिक कार्यों के प्रति अपेक्षाकृत रूप से उदासीन होती है। स्थानीय मामलो म खुद निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त न होने के कारण जनता की सार्वजनिक कार्यों म कोई रुचि नही होती। उसमे आत्म निर्भरता और उपक्रम की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। गार्नर ने ठीक लिखा है कि "एकात्मक सरकार स्थानीय उपक्रम का दमन करती है, सार्वजनिक कार्यों में नागरिको की दिलचस्पी बढ़ाने के स्थान पर निरुत्साहित करती है,

शासन के महत्त्व को नष्ट करती है तथा केन्द्रीकृत नौकरशाही के विकास को सुविधा जनक बनाती है।"[2]

निष्कर्ष

एकात्मक शासन के विभिन्न गुणों व दोषों के अध्ययन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह प्रणाली उन देशों के लिये उपयुक्त है जो जनसंख्या और आकार की दृष्टि से छोटे और सजातीय व्यवस्था वाले हों तथा जिनमें सभ्यता और संस्कृति की एकता पायी जाती हो। इसकी सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि एकात्मक सरकार दृढ़, शक्तिशाली और शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम होती है। भारत जैसे बड़े राज्यों में इसे सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। यहाँ विद्यमान भाषा, धर्म और नस्ल की भिन्नता तथा भौगोलिक विशालता प्रशासन में गड़बड़ी उत्पन्न कर देगी जिसे अकेले केन्द्रीय सरकार भली-भाँति ठीक नहीं कर सकेगी।

संघात्मक शासन
(Federal Government)

'संघात्मक' या 'संघीय' शासन को जानने से पहले 'संघ' का अर्थ जान लेना जरूरी है। 'संघ' जिसे अंग्रेजी में 'फेडरेशन' कहते है लटिन के शब्द फोडस (Foedus) से बना है जिसका अर्थ उस भाषा में 'संधि' या 'समझौता' होता है। शब्द उत्पत्ति के आधार पर जब दो या दो से अधिक राज्य आपस में समझौता करके किसी नयी राजनीतिक व्यवस्था की रचना करते है तो 'संघ' का जन्म होता है। आधुनिक युग में सबसे पहले अमरीका में संघीय शासन की स्थापना हुई थी। वहाँ अठारहवीं शताब्दी में 13 स्वतन्त्र राज्यों ने समझौता करके संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ का निर्माण किया था। किन्तु उसके बाद संघ की धारणा में बहुत परिवर्तन हो चुका है। अब यह जरूरी नहीं है कि कई स्वतन्त्र राज्य मिलकर संघ का निर्माण करें। शासन की सुविधा के लिये किसी बड़े राज्य को यदि विभिन्न इकाइयों में बाट दिया जाता है और उन्हें पृथक् संवैधानिक अधिकार दे दिये जाते हैं तथा उनके ऊपर एक केन्द्रीय सरकार होती है जिसके पास अधिक महत्त्वपूर्ण विषय होते है तो ऐसी व्यवस्था भी 'संघ' कहलाती है।

परिभाषा

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार, "संघीय शासन एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ बहुत से एक-जसे राज्य एक विशाल राज्य के सदस्य बनने पर सहमत हो जाते हैं।"

डायसी के अनुसार "एक संघ राज्य राजनीतिक समझौते के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्य के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करना होता है।"

हैमिल्टन के विचार से संघ "राज्यों का ऐसा समुदाय होता है जो एक नवीन राज्य की सृष्टि करता है।"

2. Garner *Political Science and Government* p 381

फ्रीमैन के शब्दों में, "संघ पहले से पृथक और प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों का एक ऐसा सम्मिलन है जिससे सामान्य सुरक्षा और समानता की प्राप्ति हो सके।"

जेलीनेक के मतानुसार, "संघ राज्य अनेक राज्यों द्वारा निर्मित एक सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य होता है, जिसकी शक्ति का आधार वे राज्य होते हैं जो उसका निर्माण करते हैं तथा जिसे राजनीतिक एकता प्रदान करने के लिये वे राज्य आपस में बँधे रहते हैं। यह राज्यों का एक संघ होता है जिसमें सदस्य राज्यों द्वारा एक उच्च सम्प्रभुता सम्पन्न सत्ता की प्रतिष्ठा की जाती है, किन्तु सत्ता के प्रयोग में उनका भी कुछ भाग होता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संघीय शासन में केन्द्रीय सरकार (जिसे संघीय सरकार भी कहते हैं) और इकाइयों (राज्य या प्रान्त) की सरकार के मध्य शासन शक्तियों का विभाजन कर दिया जाता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक इकाई (राज्य) की सरकार अपने अपने क्षेत्र में प्रभुतासम्पन्न होती है, लेकिन सामान्य हित और राष्ट्रीय सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण मामलों को वह संघीय सरकार के हवाले कर देती है। संक्षेप में, संघीय शासन ऐसी व्यवस्था है जिसमें एकसाथ दो प्रकार की सरकारों का अस्तित्व होता है।

संघ-निर्माण का उद्देश्य और विधि

ऊपर किये गये विवेचन से स्पष्ट है कि "संघ शासन का जन्म अपने आप नहीं होता, अपितु इसे बनाया जाता है" (Federations are made not born)। इसका निर्माण दो तरीकों से होता है

(१) एकीकरण द्वारा, और (२) खण्डन द्वारा।

जब कुछ प्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राज्य मिलकर अपनी इच्छा से एक नयी केन्द्रीय सरकार की स्थापना करते हैं और उसके हाथों में अपनी शासन शक्ति का कुछ भाग सौंप देते हैं तो जिस संघ का निर्माण होता है वह एकीकरण द्वारा निर्मित कहलाता है। ऐसा संघ वहाँ बनता है जहाँ केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियाँ (centripetal tendencies) प्रबल होती हैं। इस प्रकार के संघ में केन्द्र की सरकार कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये कानून बनाने का अधिकार पाती है, शेष शक्तियाँ राज्यों (संघ की इकाइयों) के पास सुरक्षित रहती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका का संघ एकीकरण द्वारा बना है।

खण्डन द्वारा संघ का निर्माण उस समय होता है जब कोई बड़ा एकात्मक राज्य खण्डित करके छोटे छोटे स्वायत्त टुकड़ों में बाँट दिया जाता है। इन स्वायत्त टुकड़ों को, जिन्हें प्रदेश, प्रान्त, राज्य, उपराज्य या इकाई की संज्ञा दी जाती है, अपने-अपने आन्तरिक व स्थानीय विषयों पर शासन करने का अधिकार हस्तान्तरित किया जाता है। शेष विषयों पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र अपने पास रखता है। इस संघ उन देशों में बनता है जहाँ विकेन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियाँ (centrifugal अधिक प्रबल होती हैं। कनाडा और भारत के संघ इसी विधि से बने हैं

जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है, स्वतन्त्र राज्यो का एकीकरण द्वारा सघ बनाने का उद्देश्य अपने अस्तित्व को मिटाये बगर एक ऐसे शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना होता है जो बाहरी आक्रमण से उनकी सफलतापूर्वक रक्षा कर सके और उनकी सर्वांगीण उन्नति मे सहायक हो सके।

एकात्मक राज्य के सघ मे बदलने के भिन्न भिन्न उद्देश्य होते हैं। जहाँ अनेक धर्म, भाषा, रीति रिवाज व सस्कृति वाले निवासी होते हैं वहाँ एक ही केन्द्र से सम्पूर्ण देश का शासन सन्तोषपूर्वक नहीं चलाया जा सकता। अत वहाँ सघ बनाकर विभिन्न समूहों को अनेक आन्तरिक मामलो मे स्वशासन की सुविधा दी जाती है ताकि उनमे असन्तोष न पनपे।

सघ-शासन के मुख्य तत्त्व
(Essential Features of Federation)

सघ शासन के प्रमुख तत्त्व निम्नाकित है —

(१) दो प्रकार की सरकारो का एकसाथ रहना—सघीय शासन की पहली विशेषता यह है कि इसमे दो प्रकार की सरकारें एकसाथ रहती हैं। एक तो सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्मिलित सरकार जिसे केन्द्रीय सरकार या सघीय सरकार कहते हैं और दूसरी इकाइयो (प्रान्तो अथवा राज्यो) की सरकारें। ये दोनो सघीय सविधान से अपनी शक्तियाँ प्राप्त करती हैं तथा अपने अपने क्षेत्र मे, जो सविधान द्वारा निश्चित कर दिया जाता है, वे एक दूसरे के अधीन न रहकर स्वतन्त्र रूप से कार्य करती हैं।

(२) शासन शक्तियो का विभाजन—मकाइवर ने लिखा है कि "उपराज्यो और विशाल राज्य, जिसका कि वे मिलकर निर्माण करते हैं, के मध्य शासन शक्तियों का औपचारिक विभाजन सघ की प्रमुख विशेषता है।" यह विभाजन पूर्ण और स्पष्ट होता है। दोनो सरकारो की आय के स्रोत भी अलग कर दिये जाते हैं। जो विषय राष्ट्रीय महत्त्व के होते है—जसे प्रतिरक्षा विदेशनीति, मुद्रा, डाक व तार आदि—उन्हे केन्द्र को सौप दिया जाता है और कम महत्त्वपूर्ण विषयो पर इकाइयाँ या उपराज्य कानून बनाते हैं। स्वाभाविक है कि सभी इकाइयो म उनकी सूची मे दिये गये विषयो पर बनाये गये कानूनो मे एकरूपता नहीं होती। अवशेष शक्तियाँ (residuary powers) केन्द्र या इकाई की सरकार किसी को भी सौपी जा सकती हैं।

(३) दोहरी नागरिकता—शासन शक्ति के दोहरे प्रयोग की भाँति सघ म नागरिकता भी दोहरी होती है। ब्राइस ने लिखा है कि सघ मे 'प्रत्येक नागरिक दो सरकारो के अधीन रहता है। एक तो उस राज्य या प्रान्त अथवा कण्टन की सरकार के अधीन जिसका वह निवासी होता है, और दूसरी राष्ट्र अथवा सघ की सरकार के जिसमे वे सब राज्य और प्रान्त शामिल होते हैं तथा जिनकी जनता पर सघीय सरकार समान रूप से शासन करती है। इस प्रकार व्यक्ति की दो निष्ठायें रहती हैं, एक अपने राज्य के लिये दूसरी सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये। वह दो कानूनो का पालन करता है, अपने राज्य

को सरकार तथा सघीय सरकार के कानून। यह दोनों सरकारों को कर देता है।"[3] दोहरी नागरिकता शास्त्रीय दृष्टि से सघ का प्रमुख तत्त्व है, लेकिन अब इस आवश्यक तत्त्व नही माना जाता। भारत आदि अनेक सघीय व्यवस्थाओ म इकहरी नागरिकता की व्यवस्था है।

(४) लिखित, श्रेष्ठ और दुष्परिवर्तनशील सविधान—सघ शासन चूकि समझौते से उत्पन्न होता है इसलिये उसका लिखित होना जरूरी है। कहा जाता है कि इगलैण्ड भी यदि सघात्मक व्यवस्था को अपनाये तो उसके लिय भा लिखित सविधान जरूरी हो जायेगा। इतना ही नही, सविधान का श्रेष्ठ और दुष्परिवर्तनशील होना भी जरूरी है। यदि सविधान ऐसा नही हुआ तो केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकार जो भी अधिक प्रभावशाली होगी वह सविधान को तोड मरोडकर अपने पक्ष म करने की चेष्टा करेगी। इससे झगडे उत्पन्न होंगे और सघ का भविष्य ही खतरे मे पड जायेगा। सघ के अस्तित्व और सफल सचालन के लिये सविधान का लिखित, श्रेष्ठ और दुष्परिवर्तनशील होना जरूरी है।

(५) स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय—सघीय व्यवस्था शक्ति-विभाजन पर आधारित होती है और इस शक्ति-विभाजन को बनाये रखने के लिये स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय जरूरी है। इसका कर्त्तव्य 'यह देखना है कि सविधान का उस सीमा तक सम्मान किया जाय जहाँ तक कि वह समझौता करने वाले पक्षों और उनके द्वारा स्थापित सघीय सत्ता के बीच शासकीय शक्तियों का वितरण करता है।"[4] डायसी लिखता है कि "यह वास्तव मे सविधान की व्याख्या करता है तथा यह भी निणय करता है, जो अतिम होता है, कि व्यवस्था द्वारा पारित विधेयक सवैधानिक है अथवा नहीं।"[5]

सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये इसकी स्थापना सघीय सविधान द्वारा की जाती है तथा यह अपनी शक्तियाँ भी सविधान से प्राप्त करता है।

(६) इकाइयो को सघ से अलग होने का अधिकार नहीं—सघ की इकाइयाँ सघ से पृथक् होकर सघ को भग नही कर सकती, क्योंकि सघ मे भागीदार राज्य नही होते, अपितु उनकी जनता होती है जिसका हित राष्ट्र मे शान्ति, व्यवस्था और एकता बनाये रखने मे ही सम्भव है। 'स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर भारत म सघ-शासन की स्थापना पर जब बात चली तो उस समय बर्मा को भारतीय सघ मे शामिल करने क प्रश्न पर भी विचार हुआ। उस समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि एक बार सघ म आने के पश्चात बर्मा सघ से अलग न हो सकेगा।'[6]

---

3 Bryce *Constitutions* p 288
4 स्ट्राँग आधुनिक राजनीतिक सविधान प ९२
5 Dicey *Law of the Constitution* p 160
6 शर्मा प्रमुख देशों की शासन प्रणालियाँ प ३७ ३८

एकात्मक और संघात्मक शासन में भेद

एकात्मक और संघात्मक शासनों में प्रथम भेद यह है कि एकात्मक शासन में शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है, किन्तु संघात्मक सरकार का मुख्य लक्षण शक्ति का वितरण या विकेन्द्रीयकरण है।

दूसरे, एकात्मक शासन में केन्द्र सर्वेसर्वा होता है। उसे प्रशासन में पूरी छूट होती है। वह चाहे जैसा कानून बनाये और चाहे जैसी व्यवस्था करे। उसके ऊपर न तो कोई सत्ता होती है और न कोई नियन्त्रण। लेकिन संघ सरकार में ऐसा नहीं होता। संघात्मक शासन में संविधान द्वारा संघ और राज्यों के अधिकार क्षेत्र को निश्चित कर दिया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय सजग प्रहरी की भाँति संविधान की रक्षा करता है। यदि संघ अथवा राज्य कोई भी अपनी सीमा का अतिक्रमण करके संविधान के विरुद्ध कोई कार्य करते हैं तो सर्वोच्च न्यायालय उनमें हस्तक्षेप करके उनके कार्यों और कानूनों को अवैध घोषित कर देता है।

तीसरे, एकात्मक शासन में इकाइयों को शक्ति केन्द्र से प्राप्त होती है और उनका अस्तित्व केन्द्र पर निर्भर होता है, जबकि संघात्मक शासन में इकाइयों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। उन्हें शक्ति संविधान से मिलती है। केन्द्र उनका अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकता।

चौथे, प्रत्येक संघ का एक लिखित, श्रेष्ठ और दुष्परिवर्तनशील संविधान होता है, लेकिन एकात्मक राज्य के लिये यह जरूरी नहीं है।

पाँचवें, एकात्मक शासन में दृढ़ता, स्थिरता और मितव्ययता पायी जाती है, संघात्मक शासन में दोहरी व्यवस्था होने के कारण समय और धन का अपव्यय होता है। एकात्मक शासन की तुलना में वह शिथिल और अशक्त भी होता है।

छठवें एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार के स्वेच्छाचारी होने का भय रहता है, किन्तु संघात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार पूर्ण निरंकुश नहीं हो सकती।

अन्त में, एकात्मक शासन व्यवस्था छोटे देशों के लिये उपयुक्त होती है जहाँ भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की एकरूपता पायी जाती है। संघात्मक शासन, इसके विपरीत, बड़े देशों के लिये उपयुक्त होता है जहाँ विभिन्न विचारधारा, धर्म, संस्कृति, जाति वाले लोग रहते हैं।

संघ और राज्यमण्डल

(Federation and Confederation)

'राज्यमण्डल' या 'अर्द्धसंघ' (Confederation) की स्थापना उस समय होती है जब कुछ सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य अपने कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये—आम तौर पर सुरक्षा के लिये—अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा एक संगठन बना लेते हैं। यह समझौता संघीय समझौते की अपेक्षा अस्थायी होता है।

सम्प्रभुता की दृष्टि से अन्तर—संघ और राज्यमण्डल के मध्य पहला अन्तर यह होता है कि जहाँ संघ की स्थापना एक नये विशाल राज्य को जन्म देती है, वहाँ

राज्यमण्डल के लिये किया गया समझौता किसी नये राज्य की स्थापना नही करता। सघ की स्थापना करने वाले राज्य अपने राज्यत्व को खो देते हैं, क्योंकि सम्प्रभुता सघ मे वास करती है, लेकिन राज्यमण्डल की स्थापना करने वाले राज्य सम्प्रभुता से वचित नही होते हैं।

नागरिकता के आधार पर—सघ मे सामान्यत दोहरी नागरिकता होती है—व्यक्ति अपने राज्य का नागरिक होने के साथ साथ सघ का नागरिक भी होता है। लेकिन राज्यमण्डल मे दोहरी नागरिकता नही होती।

सम्पर्क की दृष्टि से—सघ मे केन्द्र का अपने नागरिको से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है लेकिन राज्यमण्डल मे नागरिक केन्द्र के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे नही आता है।

सम्बन्धोच्छेद के आधार पर—राज्यमण्डल की इकाइयाँ (उसके सदस्य राज्य) अपनी इच्छानुसार राज्यमण्डल से अलग हो सकती हैं, लेकिन सघ के अन्तगत बँधे सदस्य राज्यो को सघ से अलग होने का अधिकार नही होता है।

वैदेशिक सम्बन्धो के आधार पर—राज्यमण्डल के सदस्य स्वतन्त्र वदेशिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। यदि उसके सदस्यो के बीच युद्ध छिड जाय तो उसे गृह-युद्ध नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सज्ञा दी जाती है। सघ राज्य मे ऐसा नही है, उसके राज्य स्वतन्त्र वैदेशिक सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते।

सघ-निर्माण हेतु आवश्यक शर्तें
(Essential Conditions for the Formation of a Federation)

(१) राष्ट्रीयता और सयोग की इच्छा—प्रो स्ट्रांग का मत है कि "वास्तविक सघ राज्य के निर्माण के लिये दो बातों की आवश्यकता है और इनमे से किसी के भी अभाव मे सघ का निर्माण नहीं हो सकता। इनमे पहली शर्त यह है कि सघ को बनाने वाली इकाइयों मे राष्ट्रीयता की भावना हो। दूसरी बात यह है कि सघ का निर्माण करने वाली इकाइयां सयोग (Union) चाहते हुए भी एकत्व (Unity) नहीं चाहती हो क्योंकि यदि वे एकत्व चाहती होंगी तो वे सघ राज्य का निर्माण न करके एकात्मक राज्य बनायेंगी।"[7]

सघ बनाने वाली वाली इकाइयो मे सयोग की इच्छा का जन्म आपसी के अनुसार निम्नांकित तत्त्वो से हो सकता है (१) भौगोलिक निकटता, (२) धर्म, भाषा, ऐतिहासिक परम्परा तथा सास्कृतिक एकरूपता, तथा (३) अगभूत राज्यो की समानता व राजनीतिक शिक्षा। ये तत्त्व राष्ट्रीय एकता को भी जन्म देते हैं।

(२) भौगोलिक निकटता—राज्यो मे पारस्परिक सहयोग द्वारा सघ-निर्माण का भाव तभी पैदा हो सकता है जब वे भौगोलिक दृष्टि से पास पास बसे हुए हों क्योंकि ऐसी अवस्था मे उन्हे बहुत सी बातो के लिये एक दूसरे पर निर्भर रहना पडता है। "पास-पास रहने से ऐसा अप्रत्यक्ष किन्तु महत्त्वशाली सम्बन्ध स्थापित हो जाता है

7 स्ट्रांग, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ ६०

जो साधारणतया उन दो राज्यो मे नहीं होता जो एक दूसरे से दूरी पर स्थित हो।[8] भौगोलिक निकटता ही सामान्य राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्पन्न करती है। गिलक्राइस्ट का मत है कि "भौगोलिक दूरी स्थानीय तथा केन्द्रीय सरकारो मे उत्तरदायित्वहीनता और विद्वेष को पैदा करती है। जहाँ लोग एक दूसरे से दूर हो वहा राष्ट्रीय एकता मुश्किल होनी है।" यही कारण है कि हॉन्सियाटिक लीग (Hanseatic League) स्थिर न रह सकी, क्योकि उसम शामिल नगर राज्य एक दूसरे से दूर बिखरे हुए थ। समुद्र की दूरी के कारण आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलण्ड का सघ नही बन सका। पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान का सघ भी क्षेत्रीय दूरी के कारण ही अस्तित्व मे नही आया था।

(३) सास्कृतिक एकरूपता—सास्कृतिक एकरूपता भी सघ के लिय जरूरी है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही कि जहा सास्कृतिक भिन्नता है वहा सघ स्थापित नही हो सकता। जहा अनेक भाषाएँ धर्म रीति रिवाज व सस्कृति वाले लोग होते हैं वहाँ एकात्मक शासन सफल नही हो सकता क्योकि एकात्मक शासन मे उनकी भाषा, सस्कृति या जातिगत भिन्नता पग पग पर रोडे अटकाती है। भिन्न भिन्न जातिया, भाषाओं या सस्कृतियो वाले समूह जब काफी समय तक एक स्थान पर रह लेते है तो उनम सास्कृतिक एकरूपता उत्पन्न हो जाती है जो अन्तत राजनीतिक एकता की कामना करती है। फलस्वरूप सघात्मक शासन प्रणाली की आवश्यकता होती है। कनाडा म यही हुआ। वहाँ अग्रेज और फ्रासीसियो मे, जिनकी भाषा व सस्कृति भिन्न थी, काफी समय से फूट चली आ रही थी जिसे मिटाने के लिये १८६७ म सघ शासन की स्थापना के अतिरिक्त विकल्प ही नही था। स्विटजरलण्ड मे फ्रासीसी, जर्मन, व इटलीवासी रहते हैं जिन्हे एकता के सूत्र म बाधकर रखना असम्भव है। अत वहाँ भी सघ की स्थापना की गयी। भारत मे भी सघीय व्यवस्था की स्थापना का कारण भाषा, धर्म और सस्कृति की अनेकता है।

(४) इकाइयों मे समानता—सघ की सफलता के लिये सघ निर्माण करने वाली इकाइयो म जनसख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से भी थोडी-बहुत समानता आवश्यक है। यदि उनम अधिक अन्तर होगा तो व सघीय शासन-व्यवस्था म बराबर के हिस्सेदार नही हो सकते। बडे राज्य छोटे राज्यो को दबा लेंगे। इस कारण सघीय विधानसभा के द्वितीय सदन म सम्मिलित राज्यो के प्रतिनिधित्व मे समानता का नियम लागू किया जाता है। अमरिका, आस्ट्रेलिया और स्विटजरलण्ड के सघ म इसी रीति को अपनाया गया है।

(५) राजनीतिक चेतना—सघ की सफलता के लिय जनता म उच्च कोटि की राजनीतिक चेतना का होना भी आवश्यक है। सघीय व्यवस्था पारस्परिक सहयोग और सहिष्णुता की भावना पर निर्भर होती है। लोगो को एक साथ ही दो प्रकार की वफादारियो को निभाना पडता है। अत राजनीतिक चेतना का होना आवश्यक है।

(६) समान राजनीतिक आदर्श—यह भी जरूरी है कि सघ म सम्मिलित होने

8 Sharma, *Federal Polity* p 102.

वाले राज्यो के समान राजनीतिक आदर्श हो। उनमे विचारधारागत एकता हो। यदि एक राज्य साम्यवाद का समर्थक और दूसरा उदारवाद या जनतन्त्र का समर्थक होगा तो यह बात संघ-निर्माण के अनुकूल नही होगी। यदि संघ की स्थापना एकीकरण द्वारा हुई होगी तो संघ के अस्तित्व को ही खतरा बना रहेगा।

(७) सामान्य आर्थिक हित—अन्त मे, संघ की सफलता सामान्य आर्थिक नीति और हितो की भावना पर निर्भर है। अमरीका का संघ इस बात का उदाहरण है। अमरीका मे गृह-युद्ध का एकमात्र कारण उत्तरी और दक्षिणी राज्यो की आर्थिक नीति म अन्तर था। दक्षिणी राज्य दास प्रथा को बनाये रखना चाहते थे जब कि उत्तरी राज्य उसके उन्मूलन के पक्ष म थे। इससे अमरीका के संघ को संकट पैदा हो गया था।

संघ शासन के पक्ष मे तर्क

संघ-शासन के अनेक गुण हैं, जिनमे स मुख्य मुख्य गुणो को निम्नांकित क्रम मे रखा जा सकता है —

(१) निर्बल राज्यो को शक्तिशाली बनाना—संघीय व्यवस्था निर्बल राज्यो को शक्तिशाली बनाने की एक अच्छी योजना है। इसके द्वारा छोटे छोटे राज्यो को यह अवसर प्राप्त हो जाता है कि वे अपने अस्तित्व को नष्ट किये बगैर मिल जुलकर अपनी रक्षा व सुविधा के लिये एक विशाल व शक्तिशाली संगठन बना सकें। संघ की स्थापना से न केवल वे आन्तरिक क्षेत्र मे ही अधिक सुख और सुविधा का अनुभव करने लगते हैं, अपितु बाहरी आक्रमण स भी सुरक्षित हो जाते है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म उनका प्रभाव बढ जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका के राज्य यदि आज सर्वथा स्वतन्त्र और पृथक पृथक होते तो व इतन शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक सिद्ध नही होते। इसी प्रकार यदि भारतीय संघ के राज्य अलग-अलग हो जाय तो उनकी स्थिति नेपाल या अफगानिस्तान से अधिक नही होगी जो अपन बहुमुखी विकास के लिये पर्याप्त साधन जुटाना भी मुश्किल पाते है।

(२) राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतन्त्रता के गुणो का समन्वय—इस व्यवस्था म राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतन्त्रता के गुणो का अच्छा सामंजस्य रहता है। विशाल जनसंख्या और विभिन्न जाति भाषा व संस्कृति वाले राज्यो के लिये संघ-शासन विशेष उपयोगी होता है। क्योकि इसम राष्ट्रीय विषयो म एक सी नीति को अपनाया जाता है तथा इकाइयो को स्वायत्त शासन का अधिकार देकर उनकी सांस्कृतिक व अन्य आवश्यकताओ को पूरा करने का समुचित अवसर दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे, संघीय व्यवस्था अनेकता म एकता को सम्भव बनाती है। भारत और रूस जैसे बडे देशो के लिये, जहाँ भाषा, क्षेत्र और जाति की अनेक समस्यायें हैं, यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। इसके द्वारा नीति, कानून और प्रशासन म जहाँ एकरूपता आवश्यक होती है वहाँ एकरूपता और जहाँ विभिन्नता आवश्यक होती है वहाँ विभिन्नता सम्भव होती है।

(३) स्थानीय स्वशासन का सफलता से संचालन—एकात्मक शासन की अपेक्षा संघात्मक शासन म स्थानीय स्वशासन अधिक कुशलतापूर्वक चलता है।

शाही के हस्तक्षेप से मुक्त होकर लोग सार्वजनिक कार्यों में रुचि दिखाते हैं। उनमें शासन करने की योग्यता व क्षमता भी विकसित होती है।

(४) निरकुशता की भावना का अभाव—सघात्मक शासन में शक्ति का विकेन्द्रीयकरण तानाशाही के स्थापित होने की सम्भावना को कम करता है। ब्राइस का मत है कि "सघीय व्यवस्था में एक निरकुश द्वारा जनता के अधिकार हडप लिये जाने का खतरा नहीं रहता।"

(५) समय और धन की बचत—शक्ति विभाजन के कारण सघीय व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार का कार्यभार कुछ हल्का हो जाता है। परिणामस्वरूप काम के निपटारे में देर होने अथवा लाल फीताशाही (red tapism) व नौकरशाही की प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। इसके अतिरिक्त, सघ-शासन कम खर्चीला होता है। सुरक्षा वाणिज्य नीति, मुद्रा आदि विषयों के लिये एक सामान्य प्रशासकीय व्यवस्था के स्थापित हो जाने से राष्ट्र के व्यय में बचत हो जाती है। अगर सभी छोटे-छोटे राज्य अपनी सुरक्षा के लिये सेनायें रखें और अपने पृथक पृथक वैदेशिक विभागों की स्थापना करें तो निश्चय ही उनका खर्च कई गुना बढ जायगा। अत सघ की स्थापना आर्थिक बचत की दृष्टि से भी उत्तम होती है।

(६) सर्वोत्तम शासन—कई राजनीति शास्त्र वेत्ताओं ने सघ शासन को सर्वोत्तम प्रणाली बताया है। लास्की लिखता है कि "मैं समझता हूँ कि इसका राजनीतिक निष्कर्ष स्पष्ट है। सामाजिक सगठन का स्वरूप सघीय होना चाहिये—तभी यह उचित और पर्याप्त होगा। उसमें मैं और राज्य—अथवा मेरे वर्ग और राज्य—ही नहीं समाये रहते वरन ये सब और इनके अन्तरसम्बन्धों का भी अन्तर्भाव उसमें रहता है।"[9] "राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक प्रयोगों के लिये सघ सरकार सबसे अच्छी होती है। भारत में मद्यनिषेध तथा कई अन्य सामाजिक और आर्थिक योजनायें सीमित क्षेत्रों में लागू की गयी हैं। उनके परिणामों का सावधानी से अध्ययन और मूल्यांकन किया जा रहा है।'[10]

विपक्ष में तर्क

(१) निर्बल शासन—डायसी का मत है कि "सघ शासन का अर्थ निर्बल शासन होता है। इस निर्बलता के दो कारण होते हैं। प्रथम केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है और दूसरा राष्ट्रीय सरकारों के विभिन्न अंगों के मध्य उस शक्ति को पुन बाँट दिया जाता है। यह शक्ति विभाजन आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में बाधायें उपस्थित करता है।[11] केन्द्र व राज्य की सरकारों में आपसी झगडे और मतभेद बने रहते हैं। सविधान के शब्दों की 'खीचतान कर बाल की खाल निकालने' की कोशिश की जाती है तथा दोनों पक्ष अपनी शक्तियों के विस्तार के लिये

9 Laski *A Grammar of Politics* p 262.
10 Ashirvatham *Political Theory* p 267
11 *op cit* pp. 171 72.

झगड़ा करते हैं। लावेल की राय है कि "इन राज्यो मे समझौता ऐसा होता है जैसा एक सिंह, आधी दर्जन लोमड़ियों और बीस चूहों मे हो।" दोहरी नागरिकता और दोहरी राज्य-निष्ठा कुप्रभावकारी होती है। दोहरी शासन व्यवस्था के कारण लाल फीताशाही को पनपने का अवसर मिलता है। लीकाक की राय है कि "आर्थिक दृष्टि से और आन्तरिक मामलों मे संघ निर्बल सिद्ध हो रहा है।"

(२) रूढ़िवादिता का पोषक—संघ शासन का दूसरा दोष यह है कि यह "रूढ़िवादिता को प्रोत्साहित करता है। इसके कई कारण हैं। संघ राज्य का संविधान न केवल लिखित होता है, अपितु दुष्परिवर्तनशील भी होता है जो साधारण विधि निर्माण प्रक्रिया द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। इसकी यह अनिवार्य दुष्परिवर्तनशीलता नागरिकों के मस्तिष्क मे इस धारणा को बैठा देती है कि संविधान अपरिवर्तनीय और पवित्र वस्तु है। संविधान मे परिवर्तन करने की परेशानी रूढ़िवादी भावनाओ को उत्पन्न करती है और राष्ट्रीय रूढ़िवादिता संविधान मे परिवर्तन करने के कार्य को दुगना मुश्किल बना देती है।"[12]

(३) धन और समय की बरबादी—संघीय व्यवस्था को मितव्ययी कहना भी गलत है। संघ शासन में धन और समय दोनो का दुरुपयोग होता है। दोहरी शासन-व्यवस्था के कारण कई गुना व्यय बढ़ जाता है। राज्यो को अपने कर्मचारी रखने पड़ते हैं और प्रत्येक राज्य की अपनी विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका होती है। एकात्मक प्रणाली की अपेक्षा संघीय प्रणाली अपव्ययी सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, संघ मे आपसी मतभेद की अवस्था मे एक राज्य या कई राज्यो द्वारा एकसाथ मिलकर केन्द्र के विरुद्ध विद्रोह करने और उससे पृथक् होने की आशंका बनी रहती है। एकात्मक प्रणाली मे, इसके विपरीत, ऐसी कोई सम्भावना नहीं होती।

(४) कानून के प्रति जागरूकता—डायसी ने अन्तिम दोष संघवाद में कानून के प्रति जागरूकता का होना बताया है। वह लिखता है कि 'संघवाद का अर्थ है वैधानिकता—संविधान में न्यायपालिका का प्रभुत्व—लोगों मे कानूनी सजगता (legal spirit) का व्याप्त होना।"[13] उसने आगे लिखा है कि "संघीय व्यवस्था केवल उन्हा लोगो म सफल हो सकती है जो कानून के प्रति जागरूक हो और जिनकी कानून म निष्ठा हो।"[14]

(५) सीमित विकास—संघीय व्यवस्था के आलोचकों म ब्राण्ड का नाम भी मशहूर है। उसका विचार है कि "मानव निर्बलता को अपरिहार्य मानकर संघीय व्यवस्था अपनायी गयी है। यदि इससे अच्छी दूसरी व्यवस्था न उपलब्ध हो तो संघीय व्यवस्था को अपनाने के अतिरिक्त चारा ही क्या है, परन्तु इसके दोष स्पष्ट हैं। इससे सरकार के अंगो के टुकड़े हो जाते हैं, फलस्वरूप उसमे निर्बलता और द्वेष की भावना भर जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत देश का विकास केवल एक संकुचित क्षेत्र के भीतर हो हो

12. Dicey, op cit, pp 173-74
13 Ibid, p 175
14 Ibid, p 179

सकता है।"[15]

भारत के लिये कौन सी प्रणाली उपयुक्त है—एकात्मक या संघात्मक?

दोहरी शासन-व्यवस्था बनाये रखने मे होने वाले खर्च को देखकर तथा यदा कदा देश मे विघटनकारी तत्वो द्वारा की जाने वाली तोड फोड को देखते हुए बहुत से लोग यह मांग करते हैं कि भारत मे संघ की अपेक्षा एकात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिये। भारतीय जनसंघ तो खुलआम एकात्मक शासन को भारत के उपयुक्त मानता है। एकात्मक व्यवस्था का समर्थन करने वाले जनता का ध्यान संघीय शासन की उन बुराइयो की ओर आकृष्ट करते है जिनकी अभी चर्चा की जा चुकी है। इस प्रश्न का सही उत्तर खोजने के लिये हम भारत की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओ की ओर ध्यान देना होगा।

प्रथम, हमे यह नही भूलना चाहिये कि भारत एक विशाल क्षेत्र व जनसंख्या वाला देश है जिसमे अनेक जाति भाषा, धर्म, सम्प्रदाय व विचारधारा वाले लोग रहते है। इन्हे एक कठोर एकात्मक व्यवस्था के अधीन रखना असम्भव है।

दूसरे, इसकी विशालता और विभिन्नता के कारण अकेले केन्द्रीय सरकार सारे विषयो पर ठीक से कानून नही बना सकती। एक क्षेत्र के रीति रिवाज दूसरे से भिन्न होते हैं। लोगो की जीवन पद्धतियाँ भिन्न है। सब को एक लकडी से नही हांका जा सकता।

तीसरे, एकात्मक व्यवस्था लाकर हम अतीतकाल की पुनरावत्ति नही करना चाहते। एकात्मक सरकार की प्रवृत्ति अधिनायकवादी होती है, जनतान्त्रिक नही।

यह सत्य है कि दोहरी व्यवस्था के कारण संघ शासन मे समय और धन की बरबादी होती है भारत एक गरीब देश है, जो इतने बडे बोझ को नही उठा सकता। लेकिन यह बुराई तो चुनाव के खर्चे विधानसभाओ मे होने वाले धन के अपव्यय, विधान सभा आदि के सदस्यो की सुविधाओ मे कटौती करके भी दूर की जा सकती है। एकात्मक शासन व्यवस्था मे तो गाँव के सामान्य नागरिक की बात भी सरकार तक नही पहुँचेगी। प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि के बडे चुनाव के समय उत्तर दक्षिण, हिन्दू मुसलमान आदि के झगडे उठ खडे होगे और दलो के भीतर ऐसा आन्तरिक संघर्ष शुरू होगा कि देश की शान्ति, व्यवस्था और अखण्डता को संकट उत्पन्न हो जायेगा।

विभिन्नता और विशालता को देखते हुए भारत के लिये संघीय शासन उपयुक्त है तथापि देश का सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन जिन पृथक्तावादी, प्रतिक्रियावादी और विघटनकारी शक्तियो से ग्रस्त है उनको कुचलने के लिये एकात्मक व्यवस्था उपयुक्त होती है। ऐसी अवस्था मे निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि भारत को एस संघीय शासन की आवश्यकता है जिसमे एकात्मक सरकार के सुदृढ़ और मितव्ययी शासन प्रदान करने वाले गुण हो। ऐसा केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बना कर दोहरी शासन-व्यवस्था को बनाये रखने में होने वाले खर्चे को घटाकर, संकटकाल

15 Brand *The Union of South Africa* pp 146-47

म केन्द्र को विशेष अधिकार प्रदान करने आदि की विशेषताओ से युक्त सघीय शासन-व्यवस्था का निर्माण करके किया जा सकता है। वत्तमान भारतीय सघ का निर्माण इस दृष्टि से देश की परिस्थितियो के बहुत अनुकूल है। देश पर बाहरी आक्रमण, अनेक आन्तरिक सकट इस बात का प्रमाण हैं कि भारत के सघीय शासन मे परिस्थितियो का सामना करने की क्षमता है। के वी राव का तो दृढ मत है कि "भारत मूलत और स्वभावत सघात्मक व्यवस्था के उपयुक्त देश"[16] है। एकात्मक व्यवस्था यहाँ सफल नही हो सकती। आवश्यकता इस बात की है कि सघीय विधान मे पाये जाने वाले दोषो को यहाँ क्रम से कम करने की चेष्टा की जाय।

ससदात्मक शासन
(Parliamentary Government)

ससदात्मक शासन म कायपालिका, विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इसमे व्यवस्थापिका और कायपालिका मे घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। राज्य का अध्यक्ष केवल नाममात्र या दिखावे का अध्यक्ष होता है। वह राज्य जरूर करता है, लेकिन शासन नही।' उसके नाम से शासन की सभी शक्तिया का प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है जो जनता द्वारा चुनी गयी विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होता है। यही कारण है कि इस शासन व्यवस्था को मन्त्रिमण्डलीय शासन' (Cabinet Government) या 'उत्तरदायी शासन' (Responsible Government) भी कहा जाता है।

परिभाषा और विशेषतायें

गटिल के शब्दों मे, 'ससदात्मक सरकार उसे कहते हैं, जिसमे प्रधानमन्त्री एव मन्त्रिपरिषद से निर्मित वास्तविक कायकारिणी अपने सभी कार्यों के लिये कानूनत व्यवस्थापक मण्डल के समक्ष उत्तरदायी होती है।"[17]

गानर के अनुसार, "मन्त्रिमण्डलीय शासन वह प्रणाली है जिसमे वास्तविक कायपालिका—मन्त्रिमण्डल—अपनी राजनीतिक नीतियो तथा कार्यों के लिये विधान-पालिका अथवा उसके एक सदन (सामान्यत लोकप्रिय सदन) के प्रति और अन्तिम रूप से मतदाताओ के प्रति उत्तरदायी होती है।"[18]

प्रो० स्ट्रॉग के शब्दों मे किसी कायपालिका के "तात्कालिक रूप से ससद् के प्रति उत्तरदायी होने की अवस्था मे उसे ससदीय कायपालिका कहा जाता है परन्तु यदि वह निश्चित अवधि पर किसी अधिक विस्तृत निकाय के प्रति तात्कालिक रूप से उत्तर-दायी और ससदीय कायवाही द्वारा हटायी जा सकती हो तो उसे असंसदीय अथवा स्थायी कायपालिका (अथवा अध्यक्षात्मक, अमेरिका की भांति) कहा जाता है।"[19]

---

16 K V Rao *Parliamentary Democracy In India* p 262.
17 Gettell *Political Science* p 218
18 Garner *Political Science and Government* p 296
19 सी एफ स्ट्रॉग आधुनिक राजनीतिक सविधान, पृ ६१

संसदात्मक शासन व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें निम्नांकित हैं —

(१) नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका में भेद—संसदीय शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका के दो रूप होते हैं। **प्रथम,** नाममात्र की कार्यपालिका जिसके नाम से देश का सम्पूर्ण शासन चलता है और दिखावे को मंत्रिमण्डल के सारे सदस्य भी उसके अधीन माने जाते हैं, लेकिन उसके हाथ में सरकार की वास्तविक शक्ति नहीं होती। दूसरी कार्यपालिका वास्तविक होती है, जो संसद् का ही एक अंग होती है और संसद के प्रति उत्तरदायी भी होती है। इसे मंत्रिमण्डल या मंत्रिपरिषद् कहते हैं। इसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है जो संसद के बहुमत दल का नेता होता है। इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड तथा भारत के उदाहरण दिये जा सकते हैं। नाम के लिये इंगलैण्ड की वर्तमान रानी सब कुछ कर सकती है, लेकिन वास्तविक शासन सत्ता वहाँ मन्त्रिमण्डल के हाथ में है। भारत के राष्ट्रपति की भी यही स्थिति है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाममात्र का कार्यपालक इंगलैण्ड की रानी की तरह वंशानुगत अथवा भारत के राष्ट्रपति की भाँति निर्वाचित दोनों में से किसी प्रकार का हो सकता है।

(२) व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में अटूट सम्बन्ध—संसदीय व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका व्यवस्थापिका का ही एक अंग होती है। मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। वे उसकी कार्यवाही में भाग लेते हैं, वाद विवाद में हिस्सा लेते हैं, मतदान में भाग लेते हैं और व्यवस्थापिका का नेतृत्व करते हैं तथा सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक मंत्रियों द्वारा ही रखे जाते हैं। प्रधानमन्त्री विधानपालिका को भंग भी कर सकता है। दूसरी ओर, व्यवस्थापिका प्रश्न पूछकर, 'निन्दा प्रस्ताव' रख कर, बजट को अस्वीकृत करके तथा 'अविश्वास प्रस्ताव' लाकर मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखती है। मन्त्रिमण्डल या मंत्रिपरिषद केवल उस समय तक ही टिका रह सकता है जब तक कि विधानपालिका का विश्वास उसे प्राप्त रहे।

(३) मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व—इस प्रणाली में मंत्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। वह एक इकाई के रूप में कार्य करता है। मंत्रिमण्डल द्वारा निर्णय लिये जाने के बाद उस निर्णय का समर्थन करना प्रत्येक मन्त्री के लिये अनिवार्य होता है, चाहे वह व्यक्तिगत रूप से उस निर्णय से असहमत हो। कहा जाता है कि सारे मन्त्री "एकसाथ तरते और डूबते हैं।" लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि किसी एक मन्त्री को अपनी भूल के कारण त्यागपत्र देना पड़े तो सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल को अनिवार्यतः उसके साथ जाना पड़ेगा। भारत में मूँदड़ा के मामले में श्री कृष्णमाचारी को और भारत-चीन सीमा युद्ध के समय (१९६२) श्री कृष्णा मेनन को हटना पड़ा था, सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र नहीं दिया था।

(४) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। वह मन्त्रिमण्डल का नेता होता है। लास्की के शब्दों में, "वह मन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन तथा मृत्यु का केन्द्र बिन्दु है।" वह मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। उनके बीच विभागों का बँटवारा करता है। सारा मन्त्रिमण्डल उसी के निर्देशन में कार्य करता है। सोल्टाऊ के अनुसार, "प्रधानमन्त्री में एकसाथ चार

व्यक्तित्व मिले हुए होते हैं। प्रथम, वह मन्त्रिमण्डल अर्थात् देश की सरकार का प्रधान होता है। द्वितीय, वह संसद का नेता होता है। तृतीय, वह मन्त्रिमण्डल का राज्य के प्रधान के साथ सम्बन्ध स्थापित-कर्त्ता होता है और चतुर्थ, वह राजनीतिक दल का प्रधान होता है।

(५) कार्यपालिका की अस्थिरता—संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है। संसद द्वारा अविश्वास व्यक्त किये जाने पर उसे तुरंत त्यागपत्र देना पड़ता है। उसका स्थान दूसरा मन्त्रिमण्डल (यदि उसे सदन के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो जाय) ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिये, यद्यपि भारत में इंग्लैण्ड की तरह प्रति पाँचवें वर्ष चुनाव होने की व्यवस्था है, लेकिन १९६७ के आम चुनाव के बाद दल बदल की घटनाओं के कारण अनेक राज्यों में कार्यपालिकाओं का जीवन अनिश्चित हो गया था।

(६) शक्ति पृथक्करण का अभाव—संसदात्मक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को लागू नहीं किया जा सकता। कर्टनी इलबर्ट (Courtenay Ilbert) लिखता है, "इस प्रणाली में कार्यपालिका और विधायनी शक्तियों का वैसा कोई पृथक्करण नहीं होता जो अमरीकी संविधान का विशिष्ट लक्षण है।"

गुण

संसदात्मक शासन प्रणाली के पक्ष में निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं —

(१) विधानपालिका और कार्यपालिका में सहयोग—विधानपालिका और कार्यपालिका में पूर्ण सहयोग और सामंजस्य इस शासन व्यवस्था का महानतम गुण है। कार्यपालिका वस्तुतः विधानपालिका की ही एक समिति होती है इसलिये प्रशासन और कानून के बीच कभी अन्तर्विरोध नहीं होता। सरकार के दोनों अंग एक दूसरे के विरुद्ध अथवा भिन्न दिशाओं में नहीं चल सकते। विलोबी लिखते हैं, "यह प्रणाली उत्तर दायित्व निर्देशन एवं प्रभुसत्ता की एकता की समर्थक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत वास्तविक रूप में उत्तरदायी एक ही अंग रहता है, इसलिये शासन के विभिन्न अंगों के मध्य संघर्ष असम्भव है।"

संसदीय शासन प्रणाली, ब्राइस के विचार से, मन्त्रिमण्डल को यह बोध कराती है कि देश के लिये कब और किस प्रकार के कानून की आवश्यकता है। विधानपालिका का बहुमत उसके साथ होता है इसलिये वह जो कानून आवश्यक समझे उसे पास करा लेता है और जो धन चाहे उसे स्वीकृत करा लेती है। इतना ही नहीं, दो अंगों के बीच सामंजस्य होने के कारण किसी समस्या पर शीघ्र निर्णय लिया जा सकता है और कार्यपालिका विश्वास के साथ निश्चिन्त होकर देश के प्रशासन व वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करती है।

(२) उत्तरदायी शासन व्यवस्था—इस व्यवस्था में कार्यपालिका विधानपालिका के सदस्यों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होती है। इस प्रणाली में डायसी के शब्दों

मे "मंत्रिमण्डल को जनता के प्रति अधिक सचेत रहना पड़ता है क्योंकि इस पर ही उसका अस्तित्व निर्भर है।" डा अम्बेडकर लिखते हैं, "संसदात्मक व्यवस्था शासन के सामयिक मूल्यांकन के साथ दिन प्रतिदिन के मूल्यांकन का भी अवसर प्रदान करती है।" यह गुण अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली म नही पाया जाता।

(३) शासन निरकुश नहीं हो पाता—ससदीय व्यवस्था म विधानपालिका द्वारा नियंत्रित होने के कारण कार्यपालिका या सरकार निरकुश नही हो पाती। विरोधी दल भी सजगता उस सन्दर्भ सचेत रखती है। जहा द्विदलीय व्यवस्था होती है वहाँ विरोधी दल का छाया मंत्रिमण्डल (Shadow Cabinet) उसके अस्तित्व का चुनौती देता हुआ हमेशा विकल्प के रूप म उपस्थित रहता है। सरकार की स्वेच्छाचारिता पर एक सशक्त लगाम ससदीय व्यवस्था म ही लगी रहती है।

(४) नमनशीलता—डायसी के अनुसार ससदात्मक शासन का प्रमुख गुण उसकी नमनशीलता (flexibility) या लचीलापन है। इसमे परिस्थिति के अनुसार सरकार को परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसा सम्भव है कि शातिकाल मे जो सरकार कुशलता पूर्वक देश का सचालन करती हो, युद्धकाल मे न कर सके। ऐसी व्यवस्था मे समयानुकूल सरकार या उसके नेतृत्व मे परिवर्तन सम्भव है। आवश्यकता पडने पर विभिन्न दलो का सयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाकर राष्ट्रीय सरकार की स्थापना भी ससदीय प्रणाली ही मे सम्भव है अन्य व्यवस्थाओ विशेषकर अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे ऐसा नही हो सकता।

(५) योग्य व्यक्तियो का शासन—प्रो लास्की ने ससदीय व्यवस्था के गुणो की चर्चा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस व्यवस्था म मन्त्री केवल वे ही व्यक्ति नियुक्त हो सकते है जो जनता के स्वाभाविक नेता हो जिन्होंने राजनीतिक जीवन की परख हो और जिन्होने अपनी योग्यता का सिक्का ससद मे जमा लिया हो।[20] इसके विपरीत, अध्यक्षात्मक शासन मे सारे मन्त्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जो केवल उसी के इशारो पर नाचने वाले होते हैं। जनता के माने हुए नेताओ को राष्ट्रपति कभी भी स्वीकार नही करेगा। जनता के नेताओ का मन्त्री बनने का सबसे बडा लाभ यह है कि वे शासन की नीतियो को नौकरशाही की सनक से मुक्त कराते हैं।

(६) लोकमत का सम्मान—इस प्रणाली मे वास्तविक कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और व्यवस्थापिका के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं अत वे लोकमत का विशेष सम्मान करते हैं। लोकमत के आदर के साथ ही उन्हे जनता को सन्तुष्ट करने के लिये लोक कल्याणकारी कार्यों का विकास भी करना होता है।

(७) गैर राजनीतिक शासनाध्यक्ष—इस प्रणाली मे सवैधानिक प्रमुख—राजा या राष्ट्रपति—किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं होता है। वह निष्पक्ष और तटस्थ सम्मति रखता है। उसका विरोधी और शासक दल दोनो सम्मान करते हैं। शासनाध्यक्ष शासन की भलाई या बुराई के लिये स्वय उत्तरदायी नहीं होता। इसलिये उसका पद प्रतिष्ठा और गरिमा का बना रहता है।

20 Laski *A Grammar of Politics* p 300

(८) राजनीतिक शिक्षण का अवसर—गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि ससदीय प्रणाली से नागरिको को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। मन्त्रिपरिषद के सदस्या क कार्यो की ससद मे कडी आलाचना होती है। मन्त्री भा अपनी नीतिया व कार्यो क पक्ष पोषण म कोई कसर उठा नही रखत। जनता ससद की कायवाही का बडी दिलचस्पा क साथ पढती है। इससे साधारण नागरिक के समक्ष किसी समस्या का प्रत्यक पहलू आ जाता है जिसस उसका राजनीतिक ज्ञान और चेतना बढती है। वह यह भलाभांति जान जाती है कि म त्रा लोग जो काय कर रहे हैं या जिस नीति का अनुसरण कर रहे हैं वह राज्य क लिये हितकर है अथवा नही।

दोष

ससदात्मक व्यवस्था म अनक दोष पाय जाते है जिनमे प्रमुख निम्नाकित है —

(१) शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त क विरुद्ध—ससदात्मक व्यवस्था म कायपालिका और विधानपालिका की शक्तियो का पूण रूप स एकीकरण हो जाता है। इस से जनता की स्वतन्त्रता क लिये सकट खडा हो जाता है। ऐसी व्यवस्था सरलता से निरकुश और स्वेच्छाचारी बन सकती है। माण्टेस्क्यू न इस सम्बन्ध मे ठीक लिखा है कि यदि व्यवस्थापिका और कायपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या एक हा सस्था मे केन्द्रित हो जाय तो कोई स्वतन्त्रता नही रह सकती क्योकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कही राजा या सीनेट अत्याचारी कानून बनाये और उन्ह अत्याचारी ढग स लागू करे।"[21]

(२) स्पष्ट उत्तरदायित्व का अभाव—ससदात्मक शासन प्रणाली म मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व हाने क कारण भलाई या बुराई का उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति पर नही डाला जा सकता। सामूहिक उत्तरदायित्व वस्तुत व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का निषेध है, यह किसी का उत्तरदायित्व नही है। गलती होने की दशा मे लोग एक दूसरे पर उसका उत्तरदायित्व मढकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पा लेते हैं।

(३) निबल शासन—ससदीय शासन प्रणाली मे कोई एक व्यक्ति ऐसा नही होता जिसके हाथ मे शासन की सारी शक्ति हो और जो स्वतन्त्र रूप से निणय ल सक। प्रधानमन्त्री अन्य मन्त्रियो का नेता मात्र होता है। उसे भी बहुत स दवाव और विरोध मे रहकर आचरण करना होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी क्षमता अनावश्यक रूप से क्षीण हो जाती है और वह असाधारण परिस्थितिया मे अपनी शक्ति व प्रतिमा का प्रदशन नही कर पाता। ससदीय शासन इस प्रकार निबल होता है और सकटकाल म तो कई बार घातक सिद्ध हुआ है।

(४) अनाडियो का शासन—ससदीय शासन व्यवस्था मे मन्त्रियो की नियुक्ति उनकी योग्यता व ज्ञान के आधार पर न होकर सत्ताधारी दल मे उनक प्रभाव व स्थिति के द्वारा होती है। इसका परिणाम यह हाता है कि शासन शक्ति अ नम व अयाग्य

21 Montesquieu *Spirit of the Laws*, Book VI p 151 52

व्यक्तियों के हाथ मे आ जाती है जो नौकरशाही के गुलाम बन जाते हैं। सर सिडनी लो ने इस दोष की ओर इशारा करते हुए लिखा है, "राजस्व विभाग मे कलर्की प्राप्त करने के लिये एक युवक को गणित की परीक्षा पास करना अनिवाय है परन्तु राजस्व विभाग का वित्तमन्त्री कोई भी अधेड दूकानदार हो सकता है जो इटन व आक्सफोर्ड मे पढ़ा हुआ अकगणित भूल चुका हो और दशमलव अको को समझने की चेष्टा कर रहा हो।"

(५) मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता—ससदात्मक शासन मन्त्रिमण्डल का काय काल अनिश्चित और अस्थिर होता है। उसका अस्तित्व व्यवस्थापिका मे अपने दल के बहुमत और विश्वास पर निभर करता है। यदि विधानपालिका मे उसके दल का बहुमत गिर जाता है अथवा मन्त्रिमण्डल अपना विश्वास खो देता है तो उसे त्यागपत्र देना पडता है। ऐसी दशा मे अनक ऐसी योजनायें अधूरी रह जाती हैं जो राष्ट्र के लिये महत्त्वपूर्ण हो और जिन्हे उस मन्त्रिमण्डल ने शुरू किया हो। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था म राष्ट्रपति को यह विश्वास होता है कि वह एक निश्चित अवधि तक अपने पद पर रहेगा इसलिये वह अपनी योजनाओ को अपने कायकाल मे पूरा कर सकता है।

(६) मन्त्रिपरिषद की तानाशाही—सैद्धान्तिक रूप से विधानपालिका का मन्त्रिपरिषद् पर नियन्त्रण होता है लेकिन व्यवहार मे मन्त्रिपरिषद की ससद् पर तानाशाही होती है। प्रो लास्की ने लिखा है 'यह निश्चय ही कायपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर प्रदान करती है। यदि वह चाहे तो छोटे-से छोटे विषय को विश्वास का प्रश्न बनाकर विधानमण्डल को अपनी बात मानने के लिये बाध्य कर सकती है।"[2] इस सम्बन्ध मे बेजहाट ठीक लिखता है कि "ससद् का काय तो केवल इतना ही होता है कि वह यह बात निश्चित कर दे, कि उसका नेता कौन है। एक बार अपने नेताओं का निणय कर ससद उनका अनुसरण करना ही अपना काम समझती है।"

(७) प्रशासन की ओर समुचित ध्यान नहीं—सिजविक ने लिखा है कि इस प्रणाली मे कायपालिका अपने कर्त्तव्यो की ओर समुचित ध्यान नही दे पाती। मन्त्रियो का बहुत सा समय ससद मे उपस्थित रहने तथा वहाँ के वाद-विवाद म भाग लेने मे नष्ट हो जाता है। विधायक शासन के कार्यों म हस्तक्षेप करते हैं। जिन दिनो ससद् का अधिवेशन होता है मन्त्रियो क पास समय ही नही होता कि वे शासन-कार्यों की ओर ध्यान दे सकें। उन दिनो जब अधिवेशन नही होता मन्त्री अपनी लोकप्रियता को बनाये रखने के लिय सावजनिक सम्पक स्थापित करने मे लगे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि शासन का वास्तविक काय नौकरशाही करती है और कार्यपालिका यहाँ वहाँ कवल अधकचरे से निणय लेती है।

(८) राजनीतिक दांव-पेंचों से आक्रान्त—ससदीय शासन राजनीतिक दांव-पेंचो स आक्रान्त होता है। जिस दल के हाथ म शासन की बागडोर आ जाती है। वह सब प्रकार क उपायो का प्रयोग करके सत्ता म बना रहना चाहता है। वह सभी महत्त्वपूर्ण सरकारी पदो पर अपना आधिपत्य कर लेता है। विरोधी दल भी अधिकार

2. Laski *A Grammar of Politics* p 347

और पदों की इच्छा रखते हैं इसलिये सत्तारूढ़ दल की आलोचना करना ही वे अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते हैं। दोनों का जन कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। "दलीय भावना," गटिल के शब्दों में, "बढ़ती जाती है और प्रतिपक्ष नीतियों की याम्यताओं की ओर ध्यान दिये बगर उन पर प्रहार करने में लगा रहता है। क्योंकि वहां एक तरीका है जिससे वह सत्ता में रह सकता है।" इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि उपयोगी कानूनों और प्रस्तावों को स्वीकृत होने में असाधारण देर लगती है। ब्राइस ने इस बुराई का उल्लेख करते हुए लिखा है कि संसदीय शासन व्यवस्था में "दलबन्दी की भावना बहुत प्रबल होती है। जब राष्ट्र के सम्मुख किसी महत्त्वपूर्ण नीति के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हों तब भी पदों की प्राप्ति के लिये संघर्ष जारी रहता है। एक दल के हाथ में पद रहते हैं, दूसरा दल उन्हें अपने हाथ में करना चाहता है। इस प्रकार अनन्त संघर्ष चलता रहता है जिस प्रकार कि खून में श्वेत और लाल अवयवों में निरन्तर युद्ध होता रहता है उसी प्रकार राज्यों में इन दलों में निरन्तर युद्ध चलता है।"[23] लेकिन दल प्रथा का यह दोष तो अध्यक्ष प्रणाली में भी पाया जाता है।

(६) युद्ध व संकटकाल में अनुपयोगी—यह प्रणाली युद्ध व राष्ट्रीय संकट काल के लिये उपयोगी नहीं है। कार्यों और निर्णयों में विलम्ब होना संसदीय शासन का स्वाभाविक दोष है। गिलक्राइस्ट लिखता है, "संसदात्मक शासन में बहुत सा समय बेकार के वाद विवाद में नष्ट हो जाता है। प्रथम महायुद्ध (१९१४ १८) के समय उन लोगों को जो इसके संचालन के लिये उत्तरदायी थे, बहुत समय व शक्ति व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का उत्तर देने में लगानी पड़ी। शांति के समय में वाद विवाद करना संसदात्मक शासन का एक गुण है, परन्तु युद्ध-काल में यह इसके सबसे बड़े दोषों में से एक है।"[24]

निष्कर्ष

संसदीय शासन व्यवस्था के गुण और दोषों के अवलोकन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस व्यवस्था में दलों का चरित्र इसकी सफलता और विफलता का सबसे बड़ा कारण होता है। यदि सत्ताधारी और विरोधी दोनों प्रकार के दल व्यापक दृष्टिकोण रखकर लोक कल्याण की भावना से आचरण करें तो यह प्रणाली अवश्य ही सफल हो सकता है। प्रो बार्कर ने इस व्यवस्था की सफलता के लिये दो दलों का होना आवश्यक बताया है ताकि एक दल दृढ़ता से शासन करे और दूसरा दृढ़ता से विरोध। विरोधी दल की आलोचना द्विदलीय व्यवस्था वाली संसद में कभी भी अनुत्तरदायित्व की भावना से युक्त नहीं होगी, क्योंकि उसे भी निरन्तर यह भय लगा रहेगा कि यदि सत्ताधारी दल की सरकार ने त्यागपत्र दे दिया तो उसे अपनी आलोचना को सार्थक करना पड़ेगा।

23 Bryce *Modern Democracies* Vol II p 512.
24 Gilchrist *Principles of Political Science*, pp 201 202.

अध्यक्षात्मक शासन
(Presidential Government)

जिस शासन व्यवस्था म कायपालिका विधानपालिका से स्वतन्त्र होती है और उसका प्रधान एक एसा व्यक्ति होता है जिसकी शक्ति ससद् के विश्वास पर निभर नही होती उस अध्यक्षात्मक शासन कहत हैं। इस व्यवस्था म राष्ट्र का प्रधान केवल नाम मात्र का शासक न होकर वास्तविक होता है तथा एक निश्चित अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। वह अपनी सहायता के लिय जिन मन्त्रियो की नियुक्ति करता है व सब उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, न कि विधानपालिका के प्रति।

परिभाषा और विशेषतायें

प्रो गटिल के शब्दा म, "अध्यक्षात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमे कायपालिका का प्रधान अपने कायकाल और, बहुत कुछ सीमा तक, अपनी नीतियो और कार्यों के बारे मे विधानमण्डल से स्वतन्त्र होता है।"[25]

डा गानर के अनुसार, 'अध्यक्षात्मक शासन वह व्यवस्था है जिसमे (राज्याध्यक्ष तथा उसके मन्त्रियों सहित) कायपालिका अपने कायकाल के लिये व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र और अपनी राजनीतिक नीतियो के लिये उसके प्रति अनुत्तरदायी रहती है। इस प्रकार की पद्धति मे राज्य का मुखिया नाम मात्र की कायपालिका नहीं होता है बल्कि वास्तविक कायपालिका होता है और उन शक्तियो का वास्तव मे प्रयोग करता है जो सविधान तथा कानून के अनुसार उसको मिली होती हैं।"[26]

इस शासन प्रणाली मे निम्नाकित विशषताये पायी जाती है —

(१) प्रधान स्वय शक्तियो का प्रयोग करता है—इस प्रणाली मे शासनाध्यक्ष (Chief of the State) केवल नाम मात्र का प्रधान न होकर वास्तविक कायपालिका (Real Executive) होता है। वह उन शक्तिया का वास्तविक प्रयोग करता है जो सविधान और कानूनो द्वारा उस प्रदान की जाती हैं।

(२) कायपालिका विधानपालिका से पृथक होती है—इस व्यवस्था मे कायपालिका न तो विधानपालिका के सदस्यो से बनती है और न उनके प्रति उत्तरदायी होती है। कायपालिका का अध्यक्ष और उसक सलाहकार म वो विधानपालिका की कयवाही मे भाग नही ले सकत। बेजहाट ने लिखा है, 'व्यवस्थापिका और कायपालिका शक्तियो की एक दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक शासन का ठीक वसा ही विशिष्ट लक्षण है जसा कि उनका सयोजन तथा सयोग मन्त्रिपरिषद प्रणाली का सुनिश्चित सिद्धान्त ह।"

(३) कायकाल की निश्चितता—इस प्रणाली म विधानपालिका एक निश्चित काल के लिय जनता द्वारा चुनी जाती है। साथ ही कायपालिका का अध्यक्ष भी एक

25 Gettell *Political Science* p 219
26 Garner *Political Science and Government* pp 311 312

निश्चित अवधि के लिये जनता द्वारा निर्वाचित होता है। दोनों में से किसी का कार्यकाल एक-दूसरे की इच्छा पर निर्भर नहीं होता। सिद्धान्त और व्यवहार में वे एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं लेकिन शासन को सुविधाजनक ढंग से चलाने के लिये एक को दूसरे पर कुछ रोक के अधिकार प्राप्त होते हैं जिन्हें अवरोध और सन्तुलन (checks and balances) कहा जाता है।

(४) वास्तविक मन्त्रिमण्डल नहीं—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिये जो मन्त्री होते हैं उनकी स्थिति संसदीय प्रणाली के मन्त्रियों के समान नहीं होती। वे केवल गौरवपूर्ण लिपिक (glorified clerks) होते हैं, उनकी नियुक्ति, उनका अपने पदों पर बना रहना आदि राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है। वे जो परामर्श देते हैं उसे मानना या न मानना भी अध्यक्ष की मर्जी पर निर्भर होता है।

(५) महाभियोग की व्यवस्था—इस व्यवस्था में राष्ट्रपति को केवल महाभियोग द्वारा ही विधानपालिका निश्चित अवधि से पूर्व हटा सकती है। उसे प्रधान मन्त्रियों की तरह आसानी से नहीं हटाया जा सकता है। महाभियोग लगाने की प्रक्रिया बहुत कठिन होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि अमरिका के संविधान को लागू हुए दो शताब्दियाँ होने वाली हैं लेकिन अभी तक एक भी राष्ट्रपति महाभियोग द्वारा हटाया नहीं गया।

(६) सरकार के विभिन्न अंगों में समानता—सैद्धान्तिक दृष्टि से संसदीय शासन प्रणाली में विधानपालिका सर्वोच्च होती है और कार्यपालिका केवल उसकी एजण्ट मात्र होती है। लेकिन अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका और विधानपालिका एक दूसरे के समकक्ष मानी जाती है। विधानपालिका अपनी इच्छा से कानून बनाती है और बजट पास करती है। ऐसा हो सकता है कि उसके बनाये हुए कानून और पास किया हुआ बजट कार्यपालिका की इच्छा के विरुद्ध हो फिर भी वास्तविकता को उन्हें क्रियान्वित करना पड़ता है।

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन में भेद

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में विद्यमान अन्तर का निम्नांकित चार्ट के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है —

संसदात्मक प्रणाली	अध्यक्षात्मक प्रणाली
१. इस प्रणाली में कार्यपालिका दो भागों में विभक्त रहती है नाम मात्र की कार्यपालिका तथा वास्तविक कार्यपालिका।	१ इस प्रणाली में कार्यपालिका की शक्ति एक अध्यक्ष में निहित रहती है। वह वास्तविक शासक होता है।

२ कार्यपालिका की अवधि अनिश्चित होती है। वह अस्थिर होती है।	२ कार्यपालिका का समय निश्चित रहता है। उसमे स्थिरता होती है।
३ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका म घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।	३ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध नही रहता वरन् शक्तियो का पृथक्करण रहता है।
४ मन्त्रियो की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण रहती है। वे अपने दिमाग के सर्वेसर्वा होते हैं।	४ मन्त्रियो की स्थिति दुर्बल व हाँ मे हाँ मिलाने वालो की तरह होती है।
५ कार्यपालिका व्यवस्थापिका को भग कर सकती है।	५ कार्यपालिका व्यवस्थापिका को भग नही कर सकती है।
६ इस शासन मे उत्तरदायित्व की भावना अधिक रहती है।	६ अध्यक्षात्मक शासन मे अपेक्षाकृत उत्तरदायित्व कम पाया जाता है।

गुण

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली सयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका के अनेक राज्यो मे अपनायी गयी। व्यवहार मे लागू किये जाने के उपरान्त इस प्रणाली के जो गुण और दोष उभरकर सामने आये हैं उन्हें निम्नाकित क्रम में व्यक्त किया जा सकता है —

(१) **सरकार स्थायी होती है**—इस व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि इसमे सरकार को यह भरोसा होता है कि उसे एक निश्चित अवधि से पहले हटाया नही जा सकता। इसलिये राष्ट्रपति राज्य की उन्नति के विषय मे ऐसी योजनायें बना सकते हैं जिन्हे वे आसानी से पूरा कर सकें। छागला इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि 'अध्यक्षात्मक पद्धति व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र स्थायी कार्यपालिका की व्यवस्था कर स्थायित्व प्रदान करती है।" स्थायी सरकार प्रदान करने के इस गुण के कारण १९६७ के आम चुनाव के बाद राजनीतिक अस्थिरता को दूर करने के लिये अनेक लोगों ने भारत म इस पद्धति को अपनाने पर बल दिया था।

(२) **प्रशासन मे दक्षता**—इस व्यवस्था मे मन्त्रियो व महत्त्वपूर्ण अधिकारियो की नियुक्ति का आधार दलबन्दी न होकर कार्यकुशलता होता है। मन्त्रिगण विधानपालिका की जी हजूरी करने की बजाय या उसकी बैठको म उपस्थित होकर प्रश्नो का उत्तर देने अथवा जनता म वोटो के लालच म लोकप्रिय बनने की बजाय निश्चिन्तता से उन कार्यों को पूरा करने की कोशिश करते हैं जिन्हें वे आवश्यक समझते हैं। मरियट लिखता है कि 'इस व्यवस्था में मन्त्रियों को बार बार व्यवस्थापिका म नहीं जाना पड़ता है, इससे वे अपने शासन सम्बन्धी कार्यों को अच्छी तरह से करते हैं। दूसरी ओर व्यवस्थापिका के सदस्य भी पूर्ण रूप से अपना मस्तिष्क विधि निर्माण में ही लगाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कार्य से ही मतलब रहता है।"

(३) विशाल राष्ट्रों के लिये श्रेष्ठ—अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली उन देशों के लिये अधिक उपयुक्त रहती है जिनमे अनेक राजनीतिक दल और विभिन्न राजनीतिक मान्यताओं वाले लोग बहुदलीय व्यवस्था के कारण ससदीय व्यवस्था मे सरकारों का जल्दी जल्दी बदलना बहुत सम्भव है। ऐसे देशो मे अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था विभिन्नता मे एकता का सचार करेगी और शासन स्थिर गति से चलता रहेगा।

(४) योग्यतम शासक—ससदीय व्यवस्था म मन्त्रियो की नियुक्ति करते समय दल म उनकी स्थिति और जनता मे उनकी लोकप्रियता को ध्यान मे रखा जाता है। लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था मे राष्ट्रपति का यह स्वतन्त्रता होती है कि वह जिसे योग्यतम समझे उसे अपना मन्त्री नियुक्त कर ले। अध्यक्षात्मक शासन मे इस प्रकार जनता को योग्य शासक मिलते हैं।

(५) दलगत बुराइयों में कमी—लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि "संसदीय शासन की तुलना में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था मे दलबन्दी की बुराइयाँ कम प्रकट होती हैं और राष्ट्रीय एकता का सम्वर्द्धन होता है।"[27] इस व्यवस्था में दलबन्दी केवल चुनाव के समय अपना रग दिखाती है लेकिन जब एक बार चुनाव हो जाता है तो राष्ट्रपति और विधानपालिका के सदस्य दोनों न्यूनाधिक रूप से सकुचित दलबन्दी की भावना से मुक्त हो जाते हैं। वे अपनी शक्ति का उपयोग राज्य के लिये हितकर कार्यों में करते हैं। चौबीसों घंटे विरोधियो की उखाड़ पछाड़ मे नहीं लगे रहते।

(६) संकटकाल के लिये उपयोगी—शासन शक्ति का प्रयोग एक व्यक्ति के हाथ में होने के कारण उसे अपनी नीति का प्रयोग करते समय संसद् की सहमति की आवश्यकता नहीं होती। अध्यक्षात्मक व्यवस्था संकटकाल में बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। राष्ट्रपति को आवश्यक कदम उठाने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह बिना किसी अड़चन के संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिये अविलम्ब आवश्यक कार्यवाही कर सकता है।

(७) जनतन्त्रवाद के अनुकूल—शासन और व्यवस्थापन विभागो म पृथकता होने के कारण अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था लोकतन्त्र की भावना के अधिक अनुकूल होती है। इस में संसदीय प्रणाली की तुलना में नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा अधिक अच्छे ढग से हो सकती है।

दोष

(१) निरंकुशता का भय—अध्यक्षात्मक शासन के निरकुश होने का भय होता है क्योंकि कार्यपालिका अपनी नीति व कार्यों के लिये विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। इसमें राष्ट्रपति एक निश्चित काल के लिये केवल महाभियोग के सम्भावित खतरे से शक्ति पूर्ण तानाशाह होता है। वह केवल उस दशा मे ही हटाया जा सकता है जब कि कोई भयंकर अपराध उसके विरुद्ध सिद्ध किया जा सके। लेकिन इस प्रकार के अपराध को सिद्ध करना सरल नहीं होता। संयुक्त राज्य अमेरिका मे जार्ज वाशिंगटन,

27 Bryce, *Modern Democracies* Vol. II, p 468

लिंकन, रूजवेल्ट आदि राष्ट्राध्यक्षों ने मनमाने ढंग से शासन किया।

(२) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता—अध्यक्षात्मक शासन में शासन व व्यवस्थापन की बुराई के लिए किसी को उत्तरदायी ठहराना बहुत मुश्किल होता है। यदि विधानपालिका में कोई ऐसी बात स्वीकृत हो जाय जो राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हो तो उसके सदस्य कह सकते हैं कि शासक वर्ग ने उनका ठीक से मार्गदर्शन नहीं किया। राष्ट्रपति तो यही कह सकता है कि अहितकर नियम के पास होने में उसका कोई हाथ नहीं था, उसका काम तो विधानपालिका द्वारा बने हुए कानूनों का पालन करना है। एस्मीन की युक्ति ठीक लगती है कि यह प्रणाली "स्वेच्छाचारी, अनुत्तरदायी तथा खतरनाक होती है।"

(३) शासन में समन्वय व सामंजस्य का अभाव—बेजहॉट लिखता है कि 'इसमें कार्यपालिका जैसे कानून चाहती है वैसे न पाकर अपंग हो जाती है और विधानपालिका उत्तरदायित्व के बिना भ्रष्ट हो जाती है। कार्यपालिका अपने नाम को सार्थक नहीं करती, क्योंकि वह जो निर्णय लेती है उन्हें लागू नहीं कर सकती अथवा विधानपालिका स्वतन्त्रता से पतित हो जाती है,—उन निर्णयों के कारण जिनके प्रभाव से दूसरों को पीड़ा पहुँचती है।" अनेक बार ऐसा होता है कि राष्ट्रपति एक दल का होता है और विधानपालिका में बहुमत दूसरे दल का। ऐसी अवस्था में विधानपालिका से उन कानूनों को पास कराना उसके लिये मुश्किल हो जाता है जिन्हें वह राष्ट्रीय हित में आवश्यक समझता है। राज्य के बजट को पास कराने में भी उसे परेशानी होती है।

(४) अनमनीयता—इस प्रणाली में समय के अनुसार परिवर्तन करने की क्षमता का अभाव होता है। अनेक बार यह देश में आकस्मिक परिस्थितियों से —न आवश्यकताओं के अनुसार अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाते। यदि कभी दुर्भाग्य से कोई अयोग्य व्यक्ति राष्ट्रपति बन जाय तो उसके पूरे कार्यकाल तक जनता को उसके अयोग्य शासन के अधीन रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में बेजहॉट लिखता है, 'आप पहले से ही अपने शासन को स्थिर कर लेते हैं और चाहे वह अनुकूल हो या न हो, चाहे वह ठीक प्रकार से काम करे या न करे, चाहे आप उसे चाहें या न चाहें, कानून के अनुसार आपको उसे कायम रखना होगा।"

(५) प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध—कुशल शासन संचालन के लिए प्रशासन में मानव शरीर की भाँति एकता और पारस्परिक निर्भरता आवश्यक है। अध्यक्षात्मक शासन इस सिद्धान्त के विरुद्ध है यह शक्ति पृथक्करण के गलत सिद्धान्त पर आधारित है। परिणामस्वरूप विलोबी के शब्दों में, "इसमें उत्तरदायित्व तथा सत्ता अनेक अंगों में विभाजित रहता है। इन अंगों में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या बनी रहती है और परस्पर सहयोग अत्यधिक कठिन हो जाता है। शक्ति-पृथक्करण के कारण व्यवहार में विभिन्न शासन अंगों के बीच झगड़े अवश्यम्भावी होते हैं।

(६) वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में अड़चन—अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में राष्ट्रपति द्वारा अपनायी गयी विदेश-नीति को विधानपालिका का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता है। कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब विदेश-नीति के मामलों को लेकर

कायपालिका और विधानपालिका मे मतभेद खडे हो जाते हैं जिसका प्रभाव समूचे देश और अनेक वार विश्व पर पडता है। राष्ट्रपति विल्सन का उदाहरण सामने है जिनके चौदह सूत्री कायक्रम के अन्तगत १६१६ मे राष्ट्र सघ की स्थापना हुई, लेकिन वहाँ की सीनेट ने उन्ह सयुक्त राज्य अमेरिका को राष्ट्र सघ का सदस्य बनाने की अनुमति नही दी। इस सम्बन्ध मे जान हे ने लिखा है 'सधि का सीनेट मे जाना एक बल का अखाडे में उतरने के समान है। कोई नहीं कह सकता कि अतिम प्रहार कब और कसे होगा—लेकिन एक बात निश्चित रहती है—वह अखाडे से जीवित नहीं आयेगा।"

(७) अच्छे कानून के निर्माण मे बाधा—अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था का एक दोष यह भी है कि इसमे अच्छे कानूनो का निर्माण सरलता से नही हो पाता। यदि कायपालिका चाहती है कि कोई कानून जल्दी बन जाय क्योकि वह देश के लिये विद्यमान परिस्थितियो म उपयोगी है और विधानपालिका नही चाहती तो ऐसे कानून का जल्दी बनना मुश्किल हो जाता है।

(८) राजनीतिक दल कम सक्रिय होते हैं—अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था म राजनीतिक दल केवल चुनाव के समय जागते हैं, बाकी समय में वे सोत रहते हैं। कायपालिका और विधानपालिका दोनो का कायकाल निश्चित होने के कारण कोई एक दूसरे का कुछ बिगाड नही पाता। इसलिये राजनीतिक दल न तो जनता म राज नीतिक चेतना जगाने का कार्य करते हैं और न उसकी समस्याओ पर गभीरता से सोचत विचारते हैं।

(६) न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप—इस शासन-व्यवस्था मे न्यायपालिका अनुचित रूप से कानूनो के निर्माण मे हस्तक्षेप करने लगती है। सामान्यत कानून के पास होने के बाद उनके औचित्य को न्यायालय मे चुनौती दी जाती है। न्यायपालिका का निणय ही उसके भविष्य का निर्धारण करता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे यह हस्तक्षेप इतना बढ गया कि सर्वोच्च न्यायालय को विधानपालिका का तृतीय सदन कहा जाने लगा। वहाँ यह धारणा आम हो गई है कि सविधान वह है जो न्यायाधीश बनाते हैं।

(१०) छोटे देशो के लिये अनुपयुक्त—अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था को छोटे देशों के लिये अनुपयुक्त बताया जाता है। यह व्यवस्था उन राज्यो के लिये ही उपयुक्त मानी जाती है जो आकार की दृष्टि से बडे और जाति, भाषा व सस्कृति की दृष्टि से विभिन्नता स पूण हैं। ब्राइस की राय है कि "ससदीय शासन परिमित आकार वाले देशों के लिये विविध प्रकार से लाभकारी है, अध्यक्षात्मक शासन तुरन्त कायवाही के लिये नहीं वरन सुरक्षा के लिये बनाया जाता है। किन्तु यह बडे क्षेत्र तथा छोटी जन सख्या वाले देशो जसे अमरिका तथा जमनी के लिये अधिक उचित है।"

क्या अध्यक्षात्मक शासन भारत के लिये उपयुक्त है ?

पिछले दो दशको से अधिक काल के ससदीय प्रणाली के अनुभव लोगो के लिये उत्साहवद्धक नहीं रह है। उनकी मान्यता है कि संसदीय

लिये अनुपयुक्त है। यहाँ अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिये। अपने मत के समर्थन मे ऐसे लोग मुख्यत संसदीय प्रणाली के उन दोषों का उल्लेख करते हैं जिनकी पिछले पृष्ठो में चर्चा की जा चुकी है। विशेषतया चतुर्थ आम चुनाव (१९६७) के उपरात विभिन्न राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता को देखते हुए, मन्त्रियों की लापरवाही और अयोग्यता को देखते हुए तथा वास्तविक कार्यपालक, प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री, की सम्पूर्ण शक्ति का क्षय आपसी झगड़ा को सुलझाने में व्यतीत होते देखकर अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की मांग उठायी जाती रही है। इसे शाइस के उस तर्क से भी समर्थन मिलता है कि विभिन्नताओं से युक्त बड़े राज्य के लिये अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली उपयुक्त है।

लेकिन गम्भीरता से देखने पर अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की तुलना में ससदात्मक व्यवस्था भारत के लिये कहीं अधिक श्रेष्ठ है। प्रथम, भारत एक विकास शील देश है, हमें ऐसी सरकार चाहिये जिसमें समय के अनुकूल परिवर्तन करने की आवश्यकता हो। दूसरे, आवागमन के साधन और जनमत निर्माण के साधन अधिक विकसित न होने के कारण इस देश में राजनीतिक चेतना के जागरण के लिये जन प्रतिनिधियों और जनता के मध्य विशेष सम्पर्क की आवश्यकता है। तीसरे, विधान पालिका का कार्यपालिका पर अंकुश होने के कारण यहाँ की कार्यपालिका जनमत की अवहेलना नहीं कर सकती। जहाँ तक देश की ऐतिहासिक परम्पराओं का प्रश्न है वे भी संसदीय शासन के पक्ष में हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत में संसदीय शासन की स्थापना ही हमारा लक्ष्य था और हमारा नेतृत्व भी शासन व्यवस्था की इसी शैली मे दीक्षित हुआ है।

उपर्युक्त कारणों को देखते हुए भारत में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था से अधिक आशा करना गलत है। यह सत्य है कि स्थायित्व अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था का लक्षण है लेकिन भारत में तो स्थायित्व राजनीतिक नेताओं का चरित्र है। एक बार सत्ता में आने के बाद वे चार या पांच वर्ष की तो बात ही क्या, आजन्म अपनी कुर्सी से चिपके रहना चाहते हैं। कई बार उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके बीबी-बच्चे उनकी गद्दी पर कब्जा कर लेते हैं। यही देश की सबसे बड़ी समस्या है। विफल होने पर भी लोग गद्दी नहीं छोड़ते। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में तो उन्हें गद्दी पर बने रहने का कानूनी लाइसेंस भी मिल जायेगा। रही बात संकटकाल में विशाल देश के लिये अध्यक्षात्मक शासन के उपयोगी होने की बात, तो यहाँ का समाज इतना लचीला है कि उसने संकटकाल मे अपने आप ही सरकार को बिना ताज का बादशाह बनाया। आपात्काल के नाम पर सरकार जो भी करती है लोग इसे अपना प्रारब्ध मानकर स्वीकार करते चले जाते हैं।

संसदात्मक व्यवस्था कम से-कम अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की तुलना में अधिक लोकतन्त्रवादी तो है ही। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग होता है और कार्यपालिका हर वक्त मनमानी नहीं कर सकती। अपने इसी गुण के कारण यह विश्व में आज सर्वाधिक लोकप्रिय प्रणाली बनी हुई है। यदि इसके व्यावहारिक

अध्याय १७

शासन के प्रकार
(Types of Government)

> बुद्ध तथा अरस्तू के समय से इस बारे में विवाद रहा है कि सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति कौन सी है। राजतन्त्र एवं उसके विकृत रूप अधिनायकतन्त्र, जन्म, सम्पत्ति अथवा बुद्धि का कुलीनतन्त्र तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष अथवा सीमित राजतन्त्रात्मक या गणतन्त्रात्मक लोकतन्त्र—इन तीनों शासन-पद्धतियों के प्रबल समर्थक एवं प्रबल विरोधी हुए हैं। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक शासन-पद्धति में गुण एवं दोष दोनों विद्यमान हैं तथा कोई ऐसी शासन पद्धति नहीं होती जो समस्त देशों एवं समस्त कालों के लिये अनुकूल सिद्ध हो सके।
>
> —गुरमुख निहाल सिंह

राज्य की सम्प्रभुता कहाँ निहित है, इस आधार पर शासन-व्यवस्थाओं को सामान्यत तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—राजतन्त्र (Monarchy), कुलीन तन्त्र (Aristocracy) तथा जनतन्त्र (Democracy)। इस अध्ययन में इन्हीं तीन व्यवस्थाओं के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जायेगा।

राजतन्त्र
(Monarchy)

जहाँ राज्य की सम्पूर्ण शासन शक्ति किसी एक व्यक्ति के पास हो और वही उसका प्रयोग करता हो, उस शासन प्रणाली को राजतन्त्र, नृपतन्त्र या एकतन्त्र कहते हैं। यह व्यवस्था सबसे पुरानी है। विश्व के प्राय सभी देशों में किसी-न किसी समय राजतन्त्र प्रचलित था। अरस्तू ने इसे श्रेष्ठ प्रकार की शासन व्यवस्था बताया है। यद्यपि आधुनिक युग में जनतन्त्र के विकास ने राजतन्त्र के विरुद्ध जनमत जागृत करने में सफलता पायी है, तथापि हम अभी तक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य व अकबर जैसे शासकों का नाम गर्व और सम्मान की भावना से लेते हैं।

परिभाषा व अर्थ

जलीनेक के शब्दों में राजतन्त्र 'एक ऐसी सरकार है जिसमें एक व्यक्ति की भौतिक इच्छा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो तथा इसकी मुख्य विशेषता यह है कि राजा (monarch) राज्य की सर्वोच्च शक्ति प्रकट करने में समर्थ हो।'[1]

1 Jellinek defines monarchy as a government by a single physical will and its essential characteristic is the competence of the monarch to express the highest power of the Sate

गानर के अनुसार, "अपने व्यापक अथ मे कोई सरकार जिसमे सर्वोच्च और अंतिम सत्ता एक व्यक्ति के हाथो मे हो राजतन्त्र है।"[2]

ब्राइस ने इसे वह व्यवस्था बताया है "जिसमे राजा की व्यक्तिगत इच्छा स्थायी रूप से प्रभावशाली होती है और शासन मे, अन्तिम रूप से, निर्णायक तत्त्व के रूप मे कार्य करती है।"[3]

राजतन्त्र की सबसे अच्छी व्याख्या गटिल ने की है। उसके शब्दो म, 'ऐसी सरकार जिसमे सर्वोच्च व अंतिम सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ मे हो, तो वह राजतन्त्र होगा, चाहे उसमे राजा ने अपना पद शक्ति के बल पर प्राप्त किया हो, या वह चुना गया हो, या उसे पतक उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किया हो। (लेकिन) यदि राजा नाम मात्र के लिये राज्य का प्रमुख हो और सरकार की वास्तविक शक्तियाँ दूसरों के द्वारा प्रयोग की जाती हों, तो शासन वास्तव मे राजतन्त्र की अपेक्षा कुलीनतन्त्र या लोकतन्त्र ही है। निश्चित अर्थों मे, राजतन्त्र तभी विद्यमान रहता है जबकि राज्य के प्रमुख की इच्छा निरन्तर प्रभावशाली रहती हो तथा अन्त मे सरकार के सचालन में सवप्रमुख तत्त्व के रूप में काय करती हो।"[4]

निष्कर्ष रूप मे कह सकते हैं कि राजतन्त्र कहलाने के लिये चार बातें जरूरी हैं—(१) सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे हो, (२) वह स्वय ही उसका प्रयोग करता हो, (३) उसकी इच्छा शासन-सचालन का प्रमुख तत्त्व हो, तथा (४) वह अत्याचारी न हो, क्योंकि अत्याचारी होने पर राजतन्त्र अधिनायकतन्त्र मे बदल जायेगा।

राजतन्त्र के प्रकार
(Kinds of Monarchy)

राजतन्त्र का वर्गीकरण निम्नांकित आधार पर किया जाता है —

वशानुगत या निर्वाचित (Hereditary or Elective)—जहाँ राजा की नियुक्ति ज्येष्ठाधिकार कानून (Law of Primogeniture) के अनुसार होती है, अथात् बाप के मरने पर उसकी ज्येष्ठ सन्तान (विशेषत पुत्र) को गद्दी पर बठाया जाता है वहाँ का राजतन्त्र वशानुगत कहलाता है। प्राचीन भारत मे वशानुगत राजतन्त्र थे। मगध के राजा राजसिंहासन के अधिकारी इसलिए होते थे, क्योंकि उनका जन्म मगध के राजवश म हुआ था। नेपाल, सऊदी अरब, ईरान, ईथोपिया आदि देशो मे अभी तक वशानुगत राजतन्त्र विद्यमान है।

निर्वाचित राजतन्त्र मे राजा का चुनाव जनता की एक समिति द्वारा उसके जीवनकाल के लिये होता है। एक राजा के मरने पर समिति स्वय नये राजा का चुनाव करती है। रोम के प्राचीनतम राजा निर्वाचित हुआ करते थे। प्राचीन इगलण्ड म भी यह प्रथा विद्यमान थी। भारत के अफगान सुलतान भी अपनी गद्दी के तभी

2. Garner *Political Science and Government* p 279
3. Bryce, *Modern Democracies* Vol II p 535
4. Gettell *Political Science* p 195

अध्याय १७

शासन के प्रकार
(Types of Government)

बुद्ध तथा अरस्तू के समय से इस बारे में विवाद रहा है कि सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति कौन सी है। राजतन्त्र एवं उसके विकृत रूप अधिनायकतन्त्र, जन्म, सम्पत्ति अथवा बुद्धि का कुलीनतन्त्र तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष अथवा सीमित राजतन्त्रात्मक या गणतन्त्रात्मक लोकतन्त्र—इन तीनों शासन-पद्धतियों के प्रबल समर्थक एवं प्रबल विरोधी हुए हैं। अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक शासन-पद्धति में गुण एवं दोष दोनों विद्यमान हैं तथा कोई ऐसी शासन पद्धति नहीं होती जो समस्त देशों एवं समस्त कालों के लिये अनुकूल सिद्ध हो सके।'

—गुरमुख निहाल सिंह

राज्य की सम्प्रभुता कहाँ निहित है, इस आधार पर शासन-व्यवस्थाओं को सामान्यतः तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—राजतन्त्र (Monarchy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा जनतन्त्र (Democracy)। इस अध्ययन में इन्हीं शासन व्यवस्थाओं के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जायगा।

राजतन्त्र
(Monarchy)

जहाँ राज्य की सम्पूर्ण शासन शक्ति किसी एक व्यक्ति के पास हो और वही उसका प्रयोग करता हो, उस शासन प्रणाली को राजतन्त्र, नृपतन्त्र या एकतन्त्र कहते हैं। यह व्यवस्था सबसे पुरानी है। विश्व के प्रायः सभी देशों में किसी-न-किसी समय राजतन्त्र प्रचलित था। अरस्तू ने इसे श्रेष्ठ प्रकार की शासन व्यवस्था बताया है। यद्यपि आधुनिक युग में जनतन्त्र के विकास ने राजतन्त्र के विरुद्ध जनमत जागृत करने में सफलता पायी है, तथापि हम अभी तक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य व अकबर जैसे शासकों का नाम गर्व और सम्मान की भावना से लेते हैं।

परिभाषा व अर्थ

जैलीनेक के शब्दों में राजतन्त्र 'एक ऐसी सरकार है जिसमें एक व्यक्ति की भौतिक इच्छा को प्रमुख स्थान प्राप्त हो तथा इसकी मुख्य विशेषता यह है कि राजा (monarch) राज्य की सर्वोच्च शक्ति प्रकट करने में समर्थ हो।"[1]

1 Jellinek defines monarchy "as a government by a single physical will and its essential characteristic is the competence of the monarch to express the highest power of the Sate."

गानर के अनुसार, "अपने व्यापक अथ मे कोई सरकार जिसमे सर्वोच्च और अंतिम सत्ता एक व्यक्ति के हाथो मे हो राजतन्त्र है।"[2]

ब्राइस ने इसे वह व्यवस्था बताया है "जिसमे राजा की व्यक्तिगत इच्छा स्थायी रूप से प्रभावशाली होती है और शासन मे, अन्तिम रूप से, निर्णायक तत्त्व के रूप मे काम करती है।"[3]

राजतन्त्र की सबसे अच्छी व्याख्या गैटिल ने की है। उसके शब्दो म, 'एसी सरकार जिसमे सर्वोच्च व अन्तिम सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ मे हो, तो वह राजतन्त्र होगा, चाहे उसमे राजा ने अपना पद शक्ति के बल पर प्राप्त किया हो, या वह चुना गया हो, या उसे पैतक उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किया हो। (लेकिन) यदि राजा नाम मात्र के लिये राज्य का प्रमुख हो और सरकार की वास्तविक शक्तियाँ दूसरों के द्वारा प्रयोग की जाती हो, तो शासन वास्तव मे राजतन्त्र की अपेक्षा कुलीनतन्त्र या लोकतन्त्र ही है। निश्चित अर्थों मे, राजतन्त्र तभी विद्यमान रहता है जबकि राज्य के प्रमुख की इच्छा निरन्तर प्रभावशाली रहती हो तथा अन्त मे सरकार के सचालन में सवप्रमुख तत्त्व के रूप मे कार्य करती हो।"[4]

निष्कर्ष रूप म कह सकते हैं कि राजतन्त्र कहलाने के लिये चार बातें जरूरी हैं—(१) सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे हो, (२) वह स्वय ही उसका प्रयोग करता हो, (३) उसकी इच्छा शासन-सचालन का प्रमुख तत्त्व हो, तथा (४) वह अत्याचारी न हो, क्योकि अत्याचारी होने पर राजतन्त्र अधिनायकतन्त्र मे बदल जायेगा।

राजतन्त्र के प्रकार
(Kinds of Monarchy)

राजतन्त्र का वर्गीकरण निम्नांकित आधार पर किया जाता है —

वशानुगत या निर्वाचित (Hereditary or Elective)—जहाँ राजा की नियुक्ति ज्येष्ठाधिकार कानून (Law of Primogeniture) के अनुसार होती है, अथात बाप के मरने पर उसकी ज्यष्ठ सन्तान (विशेषत पुत्र) को गद्दी पर बठाया जाता है वहाँ का राजतन्त्र वशानुगत कहलाता है। प्राचीन भारत म वशानुगत राजतन्त्र थे। मगध के राजा राजसिंहासन के अधिकारी इसलिये होते थे, क्योकि उनका जन्म मगध के राजवश म हुआ था। नेपाल, सऊदी अरब, ईरान, ईथोपिया आदि देशो मे अभी तक वशानुगत राजतन्त्र विद्यमान है।

निर्वाचित राजतन्त्र म राजा का चुनाव जनता की एक समिति द्वारा उसके जीवनकाल के लिये होता है। एक राजा के मरने पर समिति स्वय नये राजा का चुनाव करती है। रोम के प्राचीनतम राजा निर्वाचित हुआ करते थे। प्राचीन इगलण्ड म भी यह प्रथा विद्यमान थी। भारत के अफगान सुलतान भी अपनी गद्दी के तभी

2. Garner *Political Science and Government* p 2?9
3 Bryce, *Modern Democracies* Vol II p. 535
4 Gettell *Political Science* p. 195

हकदार होते थे जबकि उन्हें विविध अफगान सरदारों की सदिच्छा और समर्थन प्राप्त हो।

निरकुश या सीमित (Absolute or Limited)—निरकुश राजतन्त्र मे शासक की इच्छा ही कानून होती है। उसकी सत्ता अनन्त, असीम और अन्तिम होती है। उसके कार्यों मे कोई रुकावट नही डाल सकता। लेकिन यह जरूरी नही कि निरकुश राजतन्त्र बुरा ही हो। इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि निरकुश शासको ने जनता के हितो का ध्यान मे रखकर ही शासन किया है। इसका अभिप्राय सिर्फ यह है कि निरकुश राजतन्त्र मे शासक की इच्छा पर अकुश रखने वाली कोई सत्ता या सस्था नहीं होती। रूस और तुर्की के पुराने राजा निरंकुश थे। ब्रिटेन के स्टुअट, भारत के मुगल और फ्रास के बूर्बो वश के शासक भी निरकुश थे।

सीमित राजतन्त्र मे राजा की शक्ति को किसी विधान, परम्परा प्रथा या जनता की सभा द्वारा सीमित कर दिया जाता है। राजा वास्तविक शासक न होकर केवल नाममात्र का शासक होता है। सीमित राजतन्त्र का सर्वोत्तम उदाहरण ब्रिटेन है जहाँ सद्धान्तिक रूप से तो राजा शासन का प्रमुख है लेकिन व्यवहार मे उसकी शक्तियो का प्रयोग कॉमन्स सभा के बहुमत दल के सदस्यो से बनी मन्त्रिपरिषद करती है।

राजतन्त्र के गुण
(Merits of Monarchy)

राजतन्त्र के गुण दोष की विवेचना करते हुए हमे निरकुश और सीमित राजतन्त्रो को अलग अलग रखना चाहिये, क्योकि सीमित राजतन्त्र 'जनतन्त्र' का ही एक स्वरूप है। यहाँ जिन गुण दोषो की चर्चा की जायेगी वे मुख्यत निरकुश राजतन्त्र के ही गुण-दोष हैं। सीमित राजतन्त्र के गुण-दोष वे ही हैं जो 'जनतन्त्र' के अन्तगत इसी अध्याय मे आगे बताये गये हैं।

(१) सामाजिक हित में सहायक—तुर्जो ने लिखा है कि "राजतन्त्र मनुष्यों के हित और कल्याण की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होते हैं, क्योकि राजा को इससे कोई लाभ नहीं होता कि वह बुरे या हानिकारक कानूनों का निर्माण करे या जनता पर इस प्रकार शासन करे जो उनके अपने हित के लिये न हो।" राजा दलबन्दी से ऊपर होता है। उसका कार्यकाल चुनाव या किसी राजनीतिक दल की कृपा पर निर्भर नहीं होता। अत वह नि सकोच यथाशक्ति निष्पक्ष होकर जनता के हित को ध्यान मे रखकर ही शासन चलाता है।

(२) शान्ति व व्यवस्था मे सहायक—राजतन्त्र में शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रित होने के कारण राज्य मे शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना अधिक सरल होता है। किसी समस्या पर मतभेद या वाद विवाद की गुजाइश नही होती। एक सेनापति की भाँति शासक स्वय देश के लिये अपनी सूझ-बूझ से निर्णय लेता है। अत शासन मे न तो निष्क्रियता आती है और न विरोध उत्पन्न होता है।

(३) शासन सगठन सरल—राजतन्त्र का सगठन व स्वरूप बहुत सरल होता

है। जनता जानती है कि उसका शासक कौन है और उसे किसकी आज्ञा का पालन करना है। संसदीय जनतन्त्र की जटिलता राजतन्त्र मे नही पायी जाती। यह व्यवस्था कम खर्चीली है, इसमे चुनाव आदि का झझट भी नही होता।

(४) शासन मे स्थायित्व और दृढता—राजतन्त्र अधिक स्थिर और दृढ होता है। जनतन्त्र की तरह राजतन्त्र मे प्रति चार या पाँच वर्ष बाद चुनाव नही होते। न तो बार बार सरकारें बदलती हैं और न उनकी नीतियाँ। विभिन्न राजनीतिक दलो के पारस्परिक विरोध और उनकी गुटबन्दी से भी जनता को छुटकारा मिल जाता है। लम्बे समय तक एक ही राजा के विद्यमान रहने के कारण शासन मे स्थिरता आती है और शीघ्र परिवर्तन नही होते।

(५) देश को सर्वांगीण उन्नति मे सहायक—"शासन मे एकता, स्थायित्व और दृढता होने से देश मे कला, विज्ञान, साहित्य और अर्थव्यवस्था के विकास के लिये समुचित अवसर मिलता है। "अच्छे राजतन्त्र मे," ह्यूम के शब्दो मे, ' सम्पत्ति सुरक्षित रहती है, उद्योग धन्धा को प्रोत्साहन मिलता है, कला की उन्नति होती है और राजा अपनी प्रजा के बीच इस प्रकार रहता है जसे पिता अपने बच्चो के बीच मे रहता हो।" इस कथन की पुष्टि ब्राइस के उस वाक्य से हो सकती है कि "सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों मे विविध यूरोपीय देशो मे ऐसे अनेक सुधार हुए जिन्हें शक्तिशाली राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई ताकत सम्पन्न नहीं कर सकती थी।"

(६) विकासशील समाज के लिये विशेष उपयोगी—जिन देशो की जनता शिक्षित व उन्नत नही होती तथा अपने उत्तरदायित्वो को भलीभाँति नही समझती उनके लिये राजतन्त्र श्रेष्ठ व्यवस्था है। जान स्टुअर्ट मिल लिखता है कि "असभ्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करने के लिये राजतन्त्र ही सर्वथा उपयुक्त है। हाँ! उसका उद्देश्य यह होना चाहिये कि असभ्य मनुष्यो को उन्नत और सभ्य बनाया जाय।" वह आगे लिखता है कि "जब तक मानव समाज इस दशा को प्राप्त न कर ले कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक विचार और तर्क वितर्क द्वारा अपनी उन्नति करने मे समर्थ हो जाय, तब तक उसके लिये स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रयुक्त नहीं हो सकता। उस समय तक उसके लिये यही एक मार्ग है कि वे अकबर या शार्लमेगन जसे राजा की आज्ञाओ का आख मींचकर पालन करते रहें।"

(७) अनुभव का लाभ—जनतन्त्र, 'नौसिखियो का शासन' होता है। रोज रोज मन्त्री बदलते रहते हैं और उनकी नियुक्ति का आधार योग्यता नही, राजनीतिक गुटबन्दी होता है। इसके विपरीत राजतन्त्र मे एक राजा अपने सम्पूर्ण जीवनकाल मे अपने पद पर बने रहने के कारण अनुभवी हो जाता है। देश को शासक के प्रशासनिक अनुभव का लाभ केवल राजतन्त्र मे ही मिला है। उदाहरण के लिये, इगलण्ड की महारानी विक्टोरिया और भारत के मुगल सम्राट् अकबर का नाम लिया जा सकता है जिनके शासनकाल मे उनके प्रशासनिक अनुभव के कारण ही अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक गुत्थियो का सुलझाया जा सका था।

(८) सकटकाल मे विशेष उपयोगी—शासन सत्ता एक ही स्थान पर केन्द्रित

होने के कारण राजतन्त्र सकटकालीन अवस्था मे विशेष उपयोगी सिद्ध होता है। राजा अपने मन्त्रियों के परामर्श से तुरन्त निर्णय ले सकता है। इतना ही नहीं, "राजा," जैसा हिरोडोटस लिखता है "अपने शत्रुओं और गद्दारों के विरुद्ध जो भी कारवाई करेगा, उसे जितनी सरलता से गुप्त रखा जा सकता है, उतनी सरलता से अन्य किसी शासन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।"

दोष

(१) अत्याचार की सम्भावना—शक्ति के एक ही व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रित होने से अत्याचार की सम्भावना बढ जाती है। लार्ड एक्टन का मत है कि 'शक्ति भ्रष्ट बनाती है, पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट बनाती है।' यदि राजा सद्बुद्धि, सदाचारी और न्यायशील हो तब तो राजतन्त्र एक श्रेष्ठ व्यवस्था हो सकती है, किन्तु सभी राजा ऐसे नहीं होते। यदि इतिहास मे कुछ अशोक, अकबर और शालमेगन जैसे, जनता के हितों का ध्यान रखने वाले, शासक हुए हैं तो अनेक मुहम्मद तुगलक, चार्ल्स प्रथम और फिलिप द्वितीय सरीखे भी हुए हैं जिन्होंने अपने स्वार्थों और वासनाओं की पूर्ति के लिये जनता पर मनमाने अत्याचार किये हैं।

(२) वंश परम्परा के अनुसार योग्य शासक नहीं मिलते—राजतन्त्र में यह आवश्यक नहीं हो सकता कि किसी राजवंश मे सभी राजा वीर, धार्मिक या सदाचारी ही होंगे। लीकाक लिखता है कि "वंशानुगत राजा की कल्पना उतनी ही बेहूदा है जितनी कि वंशानुगत गणितज्ञ या वंशानुगत कवि की कल्पना।" इतिहास बताता है कि अनेक बार योग्य पिता के पुत्र निकम्मे होते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के वंश मे शालिशूक और वृहद्रथ जैसे अधार्मिक और अयोग्य राजा हुए। चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त जैसे वीर शासकों के वंश मे रामगुप्त जैसा निर्बल और कायर राजा हुआ जो अपनी जान बचाने के लिये अपनी पत्नी तक को शत्रु को सौंपने के लिये तैयार हो गया। जैफरसन शायद ठीक लिखता है कि 'राजाओं की किसी जाति ने प्राणियों पीढ़ियों मे एक से अधिक साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति कभी पैदा ही नहीं किया।'[5]

(३) नागरिक चेतना का अभाव—प्रो गुडनाउ लिखते हैं कि 'सब उत्तम शासन-पद्धतियों का चरम लक्ष्य यह होना चाहिये कि जनता मे उत्साहयुक्त राजनीतिक शक्ति का विकास हो, लोग देश के प्रति भक्ति भाव रखें और सामाजिक दृष्टि से आपस में एकरूपता का अनुभव करें।' राजतन्त्र में यह असम्भव है क्योंकि राजा और प्रजा दोनों के रास्ते पृथक पृथक होते हैं और उनके बीच में इतना गहरी खाई होती है जिसे पाटना सरल नहीं होता। गानर राजतन्त्र मे नागरिक चेतना के विकास की कोई सम्भावना नहीं देखता।

(४) निर्णय के गलत होने की सम्भावना—राजतन्त्र मे सारे निर्णय एक ही

5 Jefferson, Quoted in Garner Political Science and Government p 374

व्यक्ति का लेने होत है। वह कितना ही योग्य, दूरदर्शी और पण्डित क्यो न हो, निणय अनेक बार उसक भी गलत हो सकते हैं। अत यह कहना ठीक है कि "बुद्धिमानो की एक सभा सदव सर्वाधिक बुद्धिमान से अधिक बुद्धिमान होती है।"

(५) स्वशासन का अभाव— ब्राइस के विचार से सबस अच्छा शासन स्वशासन है। लेकिन राजतन्त्र म स्वशासन के लिय स्थान नही रहता, इसस राज्य की प्रगति का माग अवरुद्ध हो जाता है। गानर लिखता है कि 'जिस सरकार मे जनता हाथ न बटाती हो उसे हम आदश सरकार कदापि नहीं कह सकते।'

(६) आर्थिक विषमता की जननी—राजतन्त्र म राजा और उसके दरबारियो के पास धन दौलत की कमी नही रहती, लेकिन साधारण जनता की हालत बहुत गिरी हुई होती है। ऐसी आर्थिक विषमता समाज मे असन्तोष का कारण बनती है, जिसे आधुनिक युग मे स्वीकार नही किया जा सकता।

(७) विद्रोह और युद्ध की आशका—राजतन्त्र म अत्याचारी शासक स छुटकारा पाने का कोई सवधानिक उपाय नहा होता, अत राजशाही म षडयन्त्र चलत रहते हैं। असन्तुष्ट अधिकारी और जनता राजतन्त्र स छुटकारा पाने के लिय हिंसा और युद्ध का सहारा लेती है। पुरानी लोक-कथाओ मे राजतन्त्र के विरुद्ध षडयन्त्र और विद्रोह क प्रसग भरे पडे हैं।

(८) साम्राज्यवाद का पोषक—राजतन्त्र म अपने देश की सीमाओ के विस्तार की स्वाभाविक प्रवत्ति होती है, यह साम्राज्यवाद को जन्म देती है। रामचन्द्र जैस उदार और न्यायशील राजा भी अश्वमेध यज्ञ के चक्कर म पडे थे। इससे स्पष्ट है कि राजतन्त्र एक रूढिवादी शासन व्यवस्था है। यह विश्व शान्ति और एकता के लिय घातक है।

अधिनायकतन्त्र
(Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र राजतन्त्र का भ्रष्ट (perverted) रूप है। राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र मे निम्नाकित आधार पर भेद किया जा सकता है —

प्रथम, राजतन्त्र सामान्य रूप से वशानुगत होता है, लेकिन अधिनायकतन्त्र म उत्तराधिकार का नियम लागू नही होता।

दूसरे, राजतन्त्र म शासनाधिकारी जनता की किसी सभा क समक्ष उत्तरदायी हो सकते हैं, जसा ब्रिटेन के सीमित राजतन्त्र मे है अथवा भारत के प्राचीन राजतन्त्रो मे था, लेकिन अधिनायकतन्त्र म शासक अपने कार्यों के लिय किसी क प्रति उत्तरदायी नही होता।

तीसरे, दोनो म मुख्यत एक ही व्यक्ति का शासन होता है। लेकिन जहाँ राजतन्त्र मे शासक मूलत जनता के हितो को ध्यान म रखकर शासन चलाता है। अधिनायकतन्त्र म शासक की रुचि अपने निजी स्वार्थो म होती है और वह निरन्तर अपनी गद्दी को बनाये रखने की फिक्र मे लगा रहता है।

चौथे, राजतन्त्र मे कानून निश्चित होते हैं, लेकिन अधिनायकतन्त्र म कानून निश्चित नही होते। तानाशाह (अधिनायक) आदेश या राजाज्ञा जारी करके ही शासन चलाता है।

परिभाषा

फोड के शब्दो म, "राज्याध्यक्ष द्वारा असाधारण वधानिक (extralegal) सत्ता प्राप्त कर लेना अधिनायकतन्त्र है।"[6]

न्यूमन के अनुसार, "अधिनायकतन्त्र से हमारा अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समूह के शासन से है जो राज्य मे सत्ता पर बलपूवक अधिकार कर लेते हैं और उसका निर्बाध रूप से प्रयोग करते हैं।"[7]

सोल्टाऊ के विचार से यह "एक व्यक्ति का शासन होता है जो अपने पद को मुख्यत वश परम्परा से प्राप्त नहीं करता, अपितु शक्ति या सहमति—सामान्यत दोनों के सयोग से प्राप्त करता है। उसके पास पूर्ण सम्प्रभुता होनी चाहिये जिसका प्रयोग वह कानूनों की अपेक्षा मनमाने आदेश जारी करके करे।"[8]

एल्फ्रेड कॉबन के शब्दो मे, "अधिनायकतन्त्र उस एक व्यक्ति का शासन होता है जिसन अपना पद मुख्यत उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त न किया हो, अपितु बल प्रयोग या सहमति से और साधारणत दोनो के याग से प्राप्त किया हो। उसके पास निरकुश सम्प्रभुता हो अर्थात् सम्पूण राजनीतिक शक्ति का स्रोत उसकी इच्छा म होना चाहिये और वह असीमित हो। उसे इस शक्ति का प्रयोग मनमाने कानून के रूप मे नहीं वरन आदेश के रूप मे करना चाहिये, तथा अन्त मे यह किसी सत्ता द्वारा सीमित न हो, क्योकि ऐसी रुकावटें निरकुश राज्य के लिये असगत होगी।"[9]

अभ्युदय और विकास

शासन व्यवस्था के रूप म अधिनायकतन्त्र उतना ही पुराना है जितना राजतन्त्र। प्राचीन यूनान मे राज्य को सकट से बचाने के लिये सिनसिनेटस को असीमित शक्तियाँ सौंप दी गयी थी, जिनसे वह अधिनायक बन गया। रोम के सुला, जूलियस, सीजर तथा आगस्तस, फ्रास का नपोलियन बोनापार्ट तथा ईरान का नादिरशाह अधिनायको के अच्छे उदाहरण हैं। आधुनिक युग में अधिनायकतन्त्र का अभ्युदय मुख्यत प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ है। प्रथम महायुद्ध 'विश्व को जनतन्त्र के लिये सुरक्षित रखने" के उद्देश्य से हुआ था। युद्ध की समाप्ति के बाद यूरोप के बहुत से राज्यो मे जनतन्त्र की स्थापना हुई, परन्तु जनतन्त्रवाद की यह लहर अधिक दिना तक टिकी नही रह सकी। वर्साय सन्धि की अन्यायमूलक शर्तों, युद्ध से उत्पन्न होने वाले

---

6 Ford *Dictatorship in the Modern World* p 27
7 F Newmann, *The Democratic and Authoritarian State* p 233
8 R H Soltau *An Introduction to Politics* p 286
Alfred Cobban *Dictatorship* p. 16

आर्थिक सकटो, युद्धोत्तर जनतन्त्रीय सरकारो द्वारा अपने देश की समस्याओ को सुलझाने म अयोग्यता प्रदर्शित करने, जनता के उदासीन दृष्टिकोण, राष्ट्र सघ की दुर्बलताओ, विभिन्न देशो मे असामान्य प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो के उत्कर्ष आदि कारणो से यूरोप के अनेक देशो की जनता का विश्वास जन प्रतिनिधि सस्थाओ स उठ गया और वहाँ यह माँग जोर पकडने लगी कि जनतन्त्र मनुष्यो के सामाजिक हित और राष्ट्रीय विकास क लिय अपर्याप्त है। फलस्वरूप यूरोप क कई देशो म अधिनायकवादी क्रान्तियाँ हुइ और १९२१ म तुर्की म मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व म, १९२२ म, इटली म, बेनिटो मुसोलिनी के नेतृत्व म, जर्मनी म, १९३३ म, हिटलर के नेतृत्व म, १९२३ म, स्पेन म, प्राइमो डि रिवेरा के नेतृत्व म, १९२६ म, पुर्तगाल म, जनरल कारमोना के नेतृत्व मे, तथा १९२९ म, युगोस्लाविया म सम्राट अलेक्जेण्डर के नेतृत्व म अधिनायकवादी सरकारो की स्थापना हुई।

आधुनिक अधिनायकवाद की विशेषतायें
(Features of Modern Dictatorship)

आधुनिक अधिनायकवाद का दर्शन हम फ्रको, अयूब या याहया खाँ की सैनिक तानाशाही, मुसोलिनी क फासीवाद अथवा हिटलर के नाजीवाद आदि के रूप म होता है। बाह्य रूप से ये व्यवस्थायें चाहे कितनी ही भिन्न क्यों न हो उनमें वे सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं जो किसी व्यवस्था के अधिनायकतन्त्र कहलाने के लिये आवश्यक होते हैं। लेकिन य आधुनिक अधिनायकवादी व्यवस्थायें प्राचीन अधिनायकतन्त्रो स भिन्न हैं। अब इनके चरित्र और स्वरूप को समझने के लिये आधुनिक अधिनायकतन्त्र की निम्नांकित विशेषताओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है —

(१) सर्वाधिकारवादी—आधुनिक अधिनायकवादी शासन सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) होता है। नागरिक जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं होता जिस पर इसका प्रत्यक्ष नियन्त्रण न हो। शुल्त्ज लिखता है कि "एक सर्वाधिकारवादी नीति की विशेषता यह है कि उस व्यापक जीवन अथवा सामाजिक व्यवस्था की स्थापना क लिये जिसे वह आदर्श मानती है मनुष्य के विचार तथा कार्यों पर कठोर निरीक्षण व नियन्त्रण रखती है।"[10] मुसोलिनी तो खुलेआम कहता था, सब कुछ राज्य के भीतर, राज्य के बाहर कुछ नहीं और राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं।'

(२) राज्य व सरकार मे कोई भेद नहीं—अधिनायकतन्त्र म राज्य व सरकार का भेद मिटा दिया जाता है। लुई चौदहवें की युक्ति कि 'म ही राज्य हू" (I am the State) अधिनायकवाद के चरित्र की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। मुसोलिनी और हिटलर भी अपने को राज्य का प्रतीक मानते थे।

(३) जनतन्त्र विरोधी—अधिनायकतन्त्र जनतन्त्र का विलोम है। अधिनायकवादी व्यवस्था मे जनतन्त्र को 'भ्रष्ट', मन्दगति से चलने वाला,' सडा हुआ मुर्दा ' भ्रम' या मायाजाल' बताकर उसके विरुद्ध जनमत बनाया जाता है। ससद को अधिनायकवादी

10 *Essentials of A Government* p 205

'गप्प लड़ाने वाली दुकानें' बताते हैं। मुसोलिनी तो कहता था कि "मुझे जनतंत्र की की लाश से सड़ांध आती है, मैं उस पर थूकता हूँ।"

(४) उग्र राष्ट्रीय—अधिनायकतंत्र में उग्र राष्ट्रीयता का भाव होता है। शासक जनता की राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावना को भड़काकर उसे अनुशासन में रखने का प्रयास करते हैं। इसमें अपने देश, अपनी जाति, अपनी संस्कृति और अपनी व्यवस्था का यशोगान किया जाता है और दूसरे देशों को तुच्छ व हीन सिद्ध करने की कोशिश की जाती है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीयता का शत्रु—अधिनायकवादी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शांति व कानून का शत्रु होता है। अधिनायक अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये दूसरे देशों के साथ संघर्ष में उलझना आवश्यक समझता है। अधिनायकतन्त्र इस प्रकार सैन्यीकरण पर बल देता है और साम्राज्यवाद का समर्थन करता है। मुसोलिनी ने युद्ध में कूदने से पहले कई बार घोषणा की थी कि "इटली का विस्तार होगा या अन्त।"

(६) एक दल, एक नेता, एक कार्यक्रम—अधिनायकवादी व्यवस्था में केवल एक दल को ही राजनीतिक जीवन में भाग लेने की छूट होती है। दूसरा दल भी रह सकता है, लेकिन केवल इसी शर्त पर कि अधिनायक का समर्थन करने वाला दल सत्ता में रहेगा और विरोध करने वाला जेलखाने में। अधिनायक को 'वीर पुरुष' की संज्ञा दी जाती है। उसकी उपलब्धियों को बढ़ा चढ़ाकर बताया जाता है। जो उसका विरोध करने का साहस करता है उसे अपने कफन का इन्तजाम पहले से ही कर रखना पड़ता है। अधिनायकतन्त्र में अधिनायक का एक निश्चित कार्यक्रम होता है जिसे वह स्वेच्छा से लागू करता है, उसके औचित्य का निर्णय करने की सुविधा किसी को नहीं होती। इटली में फासीवादी यह प्रतिज्ञा करते थे कि "ईश्वर और इटली के नाम पर मैं ड्यूस[11] की आज्ञाओं का पालन बिना तर्क वितर्क के अपनी पूर्ण शक्ति के साथ और यदि आवश्यकता हो तो अपने खून से फासीवादी क्रान्ति के लिये कार्य करने को तैयार हूँ।"

(७) अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य पर बल—अधिनायकतन्त्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है। इसमें नागरिकों के अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं होता। जनतन्त्र के आदर्शों—'स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबन्धुत्व'—के स्थान पर अधिनायकतन्त्र में जनता के 'कर्त्तव्य, अनुशासन और त्याग' पर बल दिया जाता है। अधिनायकतन्त्र में जनप्रतिनिधि संस्थाओं, संसद आदि का या तो अन्त कर दिया जाता है या उन्हें नितान्त प्रभावहीन संस्थाओं में बदल दिया जाता है।

(८) जनमत के साधनों पर कठोर नियन्त्रण—अधिनायकतन्त्र में जनमत निर्माण के साधनों, जैसे साहित्य, समाचारपत्र, रेडियो, टेलीविजन, चलचित्र आदि पर कठोर नियन्त्रण होता है। कोई भी सूचना बिना शासकीय निरीक्षण के एक स्थान से दूसरे स्थान नहीं जा सकता। प्रेस, रेडियो आदि निरन्तर अधिनायक के पक्ष में प्रचार करते रहते हैं ताकि उसके पक्ष में जनमत बना रहे।

---

11 ड्यूस का अर्थ है वीर पुरुष जो फासीवादी इटली में मुसोलिनी के लिए प्रयुक्त होता था।

के नतिक चरित्र मे गिरावट लाता है। इसके अन्तगत नागरिकों की स्वतन्त्रता, मौलिक चिन्तन की भावना, विविधता आदि नष्ट हो जाती हैं। उनकी प्रेरणा शक्ति और सूझ बूझ का ह्रास हो जाता है। सारा देश नागरिको के लिये एक बडी जेल के समान हो जाता है। लोगो मे सावजनिक कार्यो के प्रति उदासीनता आ जाती है। वे अधिनायक से आतंकित पशुओ की तरह उसके इशारा पर अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहते हैं। शासन के कार्यों मे उनकी लेशमात्र भी रुचि शेष नही रहती।

(३) देश उन्माद का शिकार—अधिनायकतन्त्र म शासक की शक्ति अनन्त, असीमित व मर्यादाहीन होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कभी कभी देश अधिनायको की विक्षिप्तता और उन्माद का शिकार हो जाता है। अधिनायको की सनक, उनकी लिप्सा या उच्छृंखलता देश को ले डूबती है। द्वितीय महायुद्ध, न जर्मनी और इटली, १९७१ में पाकिस्तान, आदि के विनाश का कारण वहाँ के अधिनायको की उच्छृखलता ही था।

अत स्पष्ट है कि अधिनायकतन्त्र कुछ काल के लिये प्राप्त प्रशासनिक कुशलता के लिये यक्तिगत स्वतन्त्रता, शान्ति और समानता के आदर्श को छोडना है। अधिनायकतन्त्र न तो मानव स्वभाव के अनुकूल है (क्योंकि हम किसी के अधीन नही रहना चाहते) और न विश्व की वत्तमान परिस्थितियो के अनुरूप। अत इसकी गणना श्रेष्ठ शासन-व्यवस्थाओ मे नही हो सकती।

कुलीनतन्त्र
(Aristocracy)

कुलीनतन्त्र, जिसे श्रेणीतन्त्र या अभिजाततन्त्र भी कहते हैं, अंग्रेजी के शब्द **एरिस्टोक्रेसी** (Aristocracy) का हिन्दी रूपान्तर है। एरिस्टाक्रेसी यूनानी भाषा के दो शब्दो **एरिस्टॉस** (Aristos) तथा **क्रेटॉस** (Kratos) से बना है। एरिस्टास का अर्थ है श्रेष्ठ और क्रेटॉस का शासन। शब्द उत्पत्ति के आधार पर कुलीनतन्त्र (Aristocracy) का अथ हुआ, वह शासन व्यवस्था जिसम शासन शक्ति श्रेष्ठ व्यक्तियो के हाथ मे हो।

लेकिन यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सत्ता हमेशा समाज के कुछ ही श्रेष्ठ लोगो के हाथ मे होती है, अत जनतन्त्र और श्रेणीतन्त्र म अन्तर क्या रहा ? जहाँ शासन-सत्ता जनता के अच्छे बडे भाग मे (चाहे वह सम्पूर्ण जनता की अल्पसख्या ही क्यों न हो) निहित होती है, वह कुलीनतन्त्र नही, जनतन्त्र कहलाता है। कुलीनतन्त्र मे शासन सचालन का अधिकार कतिपय व्यक्तियो या किसी विशिष्ट श्रेणी को कुल, सम्पत्ति, ज्ञान या अनुभव के आधार पर दिया जाता है। जेलीनेक के अनुसार यह "वह शासन है जिसमे एक विशेष वग को प्रधानता दी जाती है। यह वग धार्मिक, सनिक, व्यावसायिक, जमींदार अथवा इन सबका मिश्रण हो सकता है।"

गटिल इसे और स्पष्ट करत हुए लिखता है कि कुलीनतन्त्र मे 'राजनीतिक शक्ति राज्य की जनसख्या के छोटे से भाग के हाथ में होती है। यह वग जन्म, धन,

सैनिक शक्ति, शिक्षा अथवा इन सबके संयोग तथा इसी प्रकार के अन्य भेदों पर आधारित होता है।"[13]

संक्षेप में, "कुलीनतन्त्र," गार्नर के शब्दों में, "वह शासन है जिसमें राजनीतिक शक्ति का प्रयोग थोड़े से लोगों द्वारा होता है।"[14]

विकास और स्वरूप

कुलीनतन्त्र भी राजतन्त्र की भांति एक बहुत पुरानी शासन प्रणाली है। प्राचीन एथेन्स में यही व्यवस्था विद्यमान थी। रोम में भी राजतन्त्र के पतन के बाद कुलीनतन्त्र को ही लागू किया गया था। रोमन साम्राज्य उस काल में दो वर्गों में विभक्त था—पैट्रिशियन (अभिजात वर्ग) और प्लेबियन (सर्वसाधारण)। पैट्रिशियन कुलीन समझे जाते थे और सम्पूर्ण राजनीतिक अधिकार उन्हीं के पास होते थे। प्लेबियन चाहे कितना ही बुद्धिमान, योग्य अथवा धनी क्यों न हो शासक श्रेणी (पट्रिसियन वर्ग) में नहीं जा सकता था। कुछ वर्ष पूर्व तक नेपाल में भी कुलीनतन्त्र था। शासन सत्ता वहाँ न तो जनता के हाथ में थी और न नेपाल नरेश के हाथ में। उस पर राणा परिवार का कब्जा था। नेपाल एक ऐसा कुलीनतन्त्र था, जहाँ शासन सत्ता राज-परिवार पर ही आश्रित एक श्रेणी के हाथ में थी। चीन के आधिपत्य से पूर्व तिब्बत में भी पुरोहित और लामाओं के कुल का शासन था। दक्षिण अफ्रीका संघ में राजशक्ति गोरे-यूरोपियनों के हाथ में है जिसका आधार नस्ल है। रंगीन जातियों का वहाँ के शासन में भाग लेने की शक्ति प्राप्त नहीं है। ऐसे शासन को नस्ल पर आधारित श्रेणीतन्त्र कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि लोकतन्त्र और समाजवाद की धारणाओं के अवतरण के बाद कुलीनतन्त्र का तेजी से पतन हुआ है और अपने मूलभूत लक्षणों सहित कुलीनतन्त्र का कोई अस्तित्व नहीं है, तथापि यत्र-तत्र विश्व में सत्ता, सम्पत्ति या कुल आदि पर आधारित कुलीनतन्त्र व्यवस्थाओं के भग्नावशेष दिखायी दे जाते हैं।

डा. गार्नर ने कुलीनतन्त्रीय के निम्नांकित रूप बताये हैं —

(१) जन्म अथवा वंशगत कुलीनतन्त्र।
(२) शिक्षा व संस्कृति सम्बन्धी कुलीनतन्त्र।
(३) वरिष्ठ नेताओं के वर्ग का शासन।
(४) सैनिक श्रेणीतन्त्र।
(५) धर्म-कुलीनतन्त्र।
(६) प्राकृतिक व कृत्रिम अभिजाततन्त्र।

स्पष्ट है कि जन्म, वर्ग, शिक्षा, राजनीतिक अनुभव, सेना, धर्म या गुटबन्दी के आधार पर जब कुछ लोग शासन पर एकछत्र अधिकार कर लेते हैं तो श्रेणीतन्त्र या कुलीनतन्त्र की स्थापना होती है। इसका स्वरूप भिन्न हो सकता है, लेकिन इस शासन व्यवस्था के संगठन के मूल में कोई एक श्रेणी, कुल या वर्ग ही रहता है।

13. Gettell *op cit* p 197
14. Garner *op cit* p 282.

गुण

(१) संख्या की अपेक्षा गुण पर बल—कुलीनतन्त्र में गुण को महत्त्व दिया जाता है, संख्या को नहीं। लाख मूर्खों की अपेक्षा कुछ विद्वानों की सम्मति का अधिक महत्त्व है। कुलीनतन्त्र में शासन शक्ति समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथ में रहती है, जो सर्वसाधारण की अपेक्षा उसका प्रयोग भली प्रकार से कर सकते हैं। मिल लिखता है कि "शक्ति और बौद्धिक योग्यता के साथ शासन संचालन की दृष्टि से इतिहास में यदि किन्हीं सरकारों ने महत्त्व प्राप्त किया है तो वे सामान्यतः कुलीनतन्त्र ही हैं।"[15]

(२) सदाचारी और संयम—कुलीनतन्त्र में जनतन्त्र की भाँति नीतियों में दिन प्रतिदिन परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि संख्या में कम होने के कारण शासक जनता के बहुमत से डरते हैं। अतः शासन कार्यों में वे बहुत संयम और सावधानी बरतते हैं। मॉण्टेस्क्यू लिखता है कि 'गुण पर आधारित परिमितता (moderation) इसकी आत्मा है।" "कुलीनतन्त्र," गार्नर के शब्दों में, "सदैव अपने विशेषाधिकारों के प्रति सतर्क और सुरक्षा के लिये भयभीत रहता है।"

(३) व्यवस्था और सुशासन की दृष्टि से उत्कृष्ट—इस व्यवस्था में शासक दलगत राजनीति से अलग रहकर ईमानदारी, निष्पक्षता और सम्मानजनक ढंग से शासन कार्यों का संचालन करते हैं। लोकतन्त्र में भी ऐसे वर्ग या श्रेणी को आवश्यक समझा जाता है जो उपयुक्त विधि से शासन कार्यों का सम्पादन करे। इसीलिये सिविल सर्विस द्वारा इस प्रकार के शासकों की एक नयी श्रेणी को खड़ा भी किया जाता है।

(४) स्थायी और कम खर्चीला—कुलीनतन्त्र जनतन्त्र की तुलना में स्थायी होता है। बार बार चुनाव नहीं होते। इससे एक ओर सरकार की नीतियों में स्थिरता पायी जाती है, दूसरी ओर चुनाव आदि के अपव्यय से समाज की रक्षा होती है।

(५) अनुदारता—कुलीनतन्त्र अनुदार और परम्परावादी होता है। इसमें आकस्मिक परिवर्तन या क्रान्ति की सम्भावना बहुत कम रहती है। शासक किसी नीति को लागू करने से पहले उसके सभी पक्षों पर पूरा सोच विचार करते हैं जिससे वे जनता के भावावेशों और उद्वेगों पर प्रतिबन्ध लगाने में सफल होते हैं। गार्नर ने माना है कि "सामाजिक व राजनीतिक उन्नति के लिये यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि उदारता को प्रगति के सिद्धान्त को सदैव स्थायित्व या अनुदारता के सिद्धान्त के साथ रखा जाय।"

(६) इसमें अनुभव सुरक्षित रहते हैं—प्रत्येक नया शासक अपने पूर्वजों के अनुभव का लाभ उठाता है। सीले इस सम्बन्ध में, विलियम पिट के सन्दर्भ में, लिखता है कि 'जो व्यक्ति राजकाज में निपुण व्यक्ति का पुत्र होता है, (ऐसे) घर में लालन पालन प्राप्त करता है उसके विषय में यह समझा जा सकता है कि वह सार्वजनिक संस्थाओं व राजकाज के विषय में इतना ज्ञान प्राप्त कर लेगा जो दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते।"

15 J S Mill *Representative Governments* p 45

(७) राजतन्त्र व जनतन्त्र दोनो के दोषो से मुक्त—कुलीनतन्त्र मे न तो राजतन्त्र की स्वेच्छाचारिता पायी जाती है और न जनतन्त्र की सख्या के बहुमत से उत्पन्न अयोग्यता। यह दोनो के दोषो से मुक्त एक मर्यादित शासन व्यवस्था है। बोधम इसके समर्थन मे लिखता है कि "इस प्रणाली की प्रशसनीय विशेषतायें उद्देश्य की स्थिरता, भयकर परिवर्तनो का विरोध, युद्धप्रिय नीति के प्रति अविश्वास और बौद्धिक प्रखरता को प्रोत्साहन देना है।"

दोष

(१) सार्वजनिक कल्याण की कोई गारण्टी नहीं—कुलीनतन्त्र मे शासक अपनी नीति व कार्यों के लिये किसी के प्रति उत्तरदायी नही होते। अत शासन के भ्रष्ट होने की पूरी आशका रहती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुलीनतन्त्र शीघ्र ही गुटतन्त्र (Oligarchy) मे बदल जाता है। शासक भ्रष्ट हो जाते हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये जनता का शोषण करने लगते हैं।

(२) असमानता का प्रसार—कुलीनतन्त्र समाज मे असमानता और वर्ग भेद की भावना को बढाता है। योग्यता का आधार व्यक्तिगत हो सकता है, धन, कुल या शिक्षा नही। इन्हे शासन की योग्यता मानने का अर्थ है, धन या कुल आदि के आधार पर समाज मे भेदभाव करना। इस तरह से समाज मे असन्तोष को बढ़ावा मिलेगा। गैटिल लिखता है कि "सभी कुलीनतन्त्र सकुचित और पार्थक्यवादी होने लगते हैं, वे वर्गीय-अहकार और मिथ्याभिमान की भावना अपना लेते हैं और इतने प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं कि प्रगति को भी रोकने लगते हैं।"

(३) नागरिक चेतना का अभाव—राजतन्त्र की तरह कुलीनतन्त्र मे भी सर्वसाधारण जनता को शासन-कार्यों मे भाग लेने का कोई अवसर नही मिलता। अत जनता मे उत्तरदायित्व की भावना और राजनीतिक चेतना का विकास नही होता।

(४) प्रगति विरोधी—आलोचको का तर्क है कि कुलीनतन्त्र के रहते लोग अपने देश की उन्नति के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य नही कर सकते। शासक रूढ़िवादी होते हैं जो बदली हुई परिस्थितियो के अनुरूप स्वय को नही ढालते। सर्वसाधारण जनता में छिपी प्रतिभाओ का देश उपयोग नही कर पाता। उदाहरण के लिये, अट्ठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी सेना के अधिकारी कुलीन वर्ग से आते थे। इसलिये जब नपोलियन सैं सीर के सैनिक प्रशिक्षणालय में भर्ती हुआ तो उसके साथी उसका मजाक उडाते थे। बाद में फ्रास में लोकतन्त्र के कारण ही नपोलियन ने उपयुक्त स्थान पाकर अपनी प्रतिभा से सारे यूरोप को चमत्कृत कर दिया और फ्रास के गौरव को बढ़ाया। कुलीनतन्त्र में नपोलियन एक साधारण सैनिक से आगे कदापि नहीं बढ़ पाता।

(५) योग्य व्यक्तियों के चुनाव मे अक्षम—नैपोलियन के उदाहरण से स्पष्ट है कि कुलीनतन्त्र में शासन-कार्यों के लिये योग्यतम व्यक्तियो का चुनाव मुश्किल है। जिस प्रकार वशानुगत गणितज्ञ प्राप्त नही हो सकते उसी प्रकार वशानुगत [illegible] या प्रशासक भी नहीं मिल सकते। गार्नर ठीक लिखते हैं कि "कुछ

उत्तराधिकारियो को राज्य करने का अधिकार देने मात्र से ही जनता के सबसे अधिक योग्य व उचित व्यक्ति नहीं चुने जा सकते, क्योकि राजनीतिक क्षमता और ईमानदारी के गुण सदय पिता से पुत्र को नहीं मिलते।"[16]

(६) असत्य मान्यताओ पर आधारित—कुलीनतन्त्र इस असत्य मान्यता पर आधारित है कि समाज में कुछ व्यक्ति योग्य और अधिकाश अयोग्य होते हैं। व्यक्ति योग्य और अयोग्य वातावरण और सुविधाओ के कारण बनते हैं, जो बाहरी परिस्थितियाँ हैं। फिर योग्य बनना एक बात है और शासन कार्यों मे निपुण होना दूसरी बात। कुलीनतन्त्र का जन सामान्य में कोई विश्वास नहीं है, यह भी निन्दनीय है।

(७) षड्यन्त्र और दिखावे की सरकार—कुलीनतन्त्र में भी राजतन्त्र की भाँति झगडे और षड्यन्त्र चलते रहते हैं। इसमें ऊपरी, शान शौकत और दिखावे की भरमार होती है।

अत सामाजिक न्याय की माँग करने वाले आधुनिक युग मे कुलीनतन्त्र भी राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र की तरह शास्त्रीय दृष्टि से एक दोषपूर्ण शासन-व्यवस्था है।

जनतन्त्र
(Democracy)

जनतन्त्र' अंग्रेजी भाषा के शब्द डेमॉक्रेसी' का समानार्थक है। 'डेमाक्रेसी' यूनानी शब्दों डेमॉस (जिसका अर्थ जनता है) तथा क्रेशिया (सत्ता या शक्ति) से मिल कर बना है। उपर्युक्त दो यूनानी शब्दो डेमास' अर्थात् जनता' और 'क्रेशिया अर्थात् 'शक्ति' के सयोग को आधुनिक विश्व मे दो तरीकों से परिभाषित किया गया है। पश्चिमी विद्वान 'डेमॉक्रेसी' का अर्थ उस व्यवस्था से मानते हैं जहाँ शासन शक्ति (क्रेशिया) जनता (डेमास) के पास हो। पूर्वी देशो, चीन तथा रूस आदि, मे डेमॉक्रेसी का अर्थ वह व्यवस्था है जहाँ शक्ति (क्रेशिया) का प्रयोग जनता (डेमास) के लिये होता हो। शासन जनता के लिये होकर पूर्ण जनता द्वारा होना कठिन है, इसलिये उनके विश्लेषण में भी तार्किक दृष्टि से कोई दोष नहीं है। हमारी भाषा मे 'जनतन्त्र' का अर्थ है—जन अर्थात् जनता का तन्त्र (शासन)। जनतन्त्र 'प्रजातन्त्र नहीं है। प्रजा राजा की होती है। हमारे देश मे जनतन्त्र है, 'प्रजातन्त्र' ब्रिटेन मे है जहाँ शासन का अध्यक्ष वशानुगत राजा होता है—चाहे वह नाम मात्र का ही क्यो न हो। 'लोकतन्त्र' 'जनतन्त्र' का पर्याय है लेकिन गणतन्त्र' नहीं। 'गणतन्त्र' लेटिन भाषा के शब्द रेसपुबलिका से बना है जिसे अंग्रेजी मे रिपब्लिक' कहते हैं। गणतन्त्र प्रतिनिध्यात्मक सरकारशाही है। इसका अर्थ है कि शासन का अध्यक्ष किसी कुल, वश या परम्परा के आधार पर नहीं चुना जायगा, वरन् जनता का निर्वाचित प्रतिनिधि होगा।

16 Garner *op cit* p 350

जनतन्त्र का अर्थ

शब्द उत्पत्ति और विश्लेषण द्वारा हमने अभी देखा कि जनतन्त्र जनता (जन) का शासन (तन्त्र) है। लेकिन जनतन्त्र को केवल जनता का शासन मानना भूल होगी। जनतन्त्र के कुछ शुभचिन्तकों ने इसकी व्याख्या कभी कभी शासन के एक रूप में अवश्य की है, लेकिन जनतन्त्र एक आदर्श है, एक व्यापक विचार दर्शन है। यह समाज का एक रूप, राज्य का एक प्रकार, जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण तथा शासन या सरकार की एक किस्म है।

समाज का एक रूप—अपने सर्वाधिक व्यापक अर्थ में जनतन्त्र समाज का एक रूप है। एलवुड के शब्दों में, "यह सामाजिक नियन्त्रण का ही एक उपादान है, एक सामाजिक प्रवृत्ति है।" ब्राउन के विचार से 'यह वह जनसमुदाय है जिसमें जनता शक्तिशाली होती है।" इससे (जनतन्त्र से) हम ऐसे समाज का भास होता है जिसमें समानता और भाईचारे की भावना प्रधान होती है। रूप, रंग, जाति, वर्ण, लिंग, धर्म, सम्पत्ति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होता। समाज में सब समान होते हैं और समाज की ओर से सबको विकास के समान अवसर प्राप्त होते हैं। हनशा ठीक लिखता है कि जनतन्त्र "वह समाज है जिसमें समानता के विचार की प्रबलता हो और जहाँ समानता का सिद्धान्त प्रचलित हो।"[17] यह जरूरी नहीं है कि ऐसे समाज में जनतान्त्रिक राज्य और जनतान्त्रिक सरकार भी हो। "मुस्लिम समाज आमतौर पर लोकतन्त्रात्मक है यद्यपि साधारणतया उसमें न लोकतन्त्रात्मक राज्य होता है और न लोकतन्त्रात्मक सरकार। पाकिस्तान का नया राज्य अपने को इस्लामी गणतन्त्र कहता है, परन्तु बहुत से लोगों की राय में धर्मतन्त्र, गणतन्त्र या लोकतन्त्र एक-दूसरे के विरोधी हैं।"[18]

राज्य का एक प्रकार—राज्य के एक प्रकार के रूप में जनतन्त्र का अर्थ है वह राज्य जहाँ जीवन के विविध क्षेत्रों में जनतन्त्रीय आदर्शों को व्यावहारिक रूप दिया जाता है। जहाँ स्वतन्त्र चिन्तन, मनन, विचार विमर्श आदि की अनुमति होती है तथा जहाँ स्वतन्त्र विचार विमर्श द्वारा जन-भावना को जानने की कोशिश की जाती है और 'सम' भाव से दूसरे के विचारों की इज्जत करते हुए कोई निर्णय लिया जाता है। इतना ही नहीं, जनतान्त्रिक राज्य में शासन सत्ता जनता में निहित होती है और वही शासक को चुनती और उसे हटाती है। जनतान्त्रिक राज्य में सरकार किसी भी प्रकार की हो सकती है—जनतान्त्रिक, निरंकुश या राजतन्त्रीय। जनता चाहे तो शासन-सत्ता अधिनायक के हाथ में सौंप दे। भारत और अमरीका में संकटकाल में सारी शक्तियाँ राष्ट्रपति को सौंप ही दी जाती हैं। संक्षेप में, हनशा के शब्दों में, राज्य के रूप में जनतन्त्र का अभिप्राय सिर्फ इतना है कि "प्रभुत्व शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामलों पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन स्थापित किया

17 Hearnshaw *Democracy at the Crossways* p 17
18 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, पृ० ३५५ ५६।

जाय।' ड्यूई एक अन्य स्थान पर लिखता है कि "राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र किसी सरकार को नियुक्त करने, उसका नियन्त्रण करने और उसे अपदस्थ करने की एक पद्धतिमात्र है।" [20]

जीवन की एक पद्धति—जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण या जीवन की एक पद्धति के रूप में जनतन्त्र मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के नैतिक आदर्शों को प्रस्तुत करता है। इसका अभिप्राय है, प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान और गौरव की रक्षा करना। इस दृष्टि से जनतन्त्र में न तो सामन्तशाही के लिये कोई स्थान है और न व्यक्तिवाद के लिये। दोनों ही व्यवस्थाओं में सामान्य नागरिक उन लोगों की कृपा पर छोड़ दिया जायेगा जिन्होंने शक्ति या सुविधाओं के साधन जुटा लिये होंगे। जिनके पास पूंजी होगी वे निधनों का शोषण करेंगे। जो दुष्ट और गुंडे होंगे वे शरीफ आदमी का जीना हराम कर देंगे। इसलिये जनतन्त्र की विजय उस समय तक पूरी नहीं होगी जब तक उद्योगों का भी पूरा जनतन्त्रीकरण नहीं हो जाता और सामन्तों, जागीरदारों, राजाओं और नवाबों का नामोनिशान नहीं मिट जाता। कोई भी समाज उस समय तक स्वयं को जनतान्त्रिक कहने का अधिकारी नहीं है जब तक वह जीवन के कुछ क्षेत्रों में जनतान्त्रिक पद्धति का पालन करता हो और दूसरे क्षेत्रों में स्वेच्छाचारी पद्धति का। मैक्सी के शब्दों में, 'यह एक ऐसी जीवन पद्धति की खोज है जिसमें न्यूनतम बल प्रयोग या दबाव से व्यक्ति की स्वतः प्रेरित स्वतन्त्र बुद्धि और उसके कार्यकलाप का मेल बैठाया जा सके और यह विश्वास है कि ऐसी पद्धति समग्र मानव जाति के लिये आदर्श पद्धति होगी जो मनुष्य की प्रकृति और विश्व की प्रकृति के साथ अधिकतम सामंजस्य स्थापित करेगी।" [21]

शासन का एक रूप—*शासन-व्यवस्था या सरकार के रूप में जनतन्त्र का अभिप्राय* उस व्यवस्था से है जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने द्वारा किसी निश्चित अवधि के लिये चुने गये प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन-शक्ति का प्रयोग करती है। एक अच्छे जनतान्त्रिक शासन में यद्यपि शासन बहुमत का होता है, तथापि अल्पसंख्यकों को सुरक्षा व तत्सम्बन्धी अधिकार भी प्रदान किये जाते हैं। जनतान्त्रिक शासन को प्रतिनिधि शासन, उत्तरदायी सरकार, बहुमत का शासन आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। शासन-व्यवस्था के रूप में जनतन्त्र की अनेक परिभाषायें हैं। यदि अब्राहम लिंकन इसे "जनता का जनता के लिये जनता द्वारा शासन" बताते हैं तो परिहास की शैली में इसके दोषों पर कटाक्ष करते हुए जुआरेज़ (Juarez) कहते हैं कि 'जनतन्त्र पशुओं का, पशुओं के द्वारा तथा पशुओं के लिये शासन है।' जेम्स रसेल लावेल के विचार से 'जनतन्त्र सरकार के एक परीक्षण के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" ब्राइस के अनुसार, "जनतन्त्र शासन का वह रूप है जिसमें राज्य के अधिकार किसी विशेष श्रेणी

19 हनवा, पूर्वोक्त पुस्तक पृ २२।
20 वही पृ १७।
21 C Maxey *Political Philosophies* p 690

के लोगो को नहीं, अपितु सारे समाज के लोगो को दिये जाते है।"[22] गटिल के शब्दो मे, "यह शासन व्यवस्था जिसमे सम्प्रभुता के अधिकार का प्रयोग केवल जनता को ही प्राप्त हो, जनतन्त्र कहलाता है।"[23] शासन-व्यवस्था के रूप मे जनतन्त्र की एक बहुत अच्छी परिभाषा सेसिल चेस्टटन ने दी है। उसके विचार से "जनतन्त्र अपने मूल रूप मे, भले ही उसमे कैसे ही साधनो का प्रयोग किया जाय, एक ऐसा शासन है जो शासितो की सामान्य इच्छा के अनुसार हो। ऐसा होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह सचमुच ऐसा शासन हो जिसमे जनता द्वारा निर्वाचित और प्रशासित लोग हो। यह निरकुश राजा का शासन भी हो सकता है, किन्तु यदि वह सामान्य इच्छा के अनुसार होगा, तो वह जनतन्त्र की मूल भावना के अनुकूल होगा।"

निष्कर्ष—जनतन्त्र के विविध रूपो मे बाहरी भिन्नता होते हुए भी उनका सार-तत्त्व एक है वह है जनता का उन्नयन। किसी भी व्यवस्था के जनतान्त्रिक कहलाने के लिये उसमे स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना का होना जरूरी है। भेदभाव और विषमता के लिये जनतन्त्र म कोई स्थान नहीं। इसके अतिरिक्त, "जनतन्त्र," जेफरसन के शब्दो मे, "इस विश्वास पर आधारित है कि साधारण जनता मे स्वशासन की क्षमता रहती है तथा औसत मनुष्य मे ऐसे शासको को चुनने की योग्यता रहती है जो समाज के हित मे शासन करेंगे।" जनतन्त्र मे सम्प्रभुता जनता के पास होती है, जिसका प्रयोग वह स्वय अथवा कुछ निश्चित अवधि के लिय अपने प्रतिनिधियो को चुनकर उनके माध्यम स करती है। इसमे व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन माना जाता है। सच्चा और पूर्ण जनतन्त्र न कहीं स्थापित हुआ है और न सम्भव ही है। यह एक उच्च आदर्श है जिसकी प्राप्ति की जानी चाहिये। सक्षेप मे, जनतन्त्र एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति, जीवन की एक पद्धति (a way of life) है। जनतान्त्रिक समाज, जनतान्त्रिक राज्य और जनतान्त्रिक शासन के आदर्श साथ-साथ चलते हैं, तथा एक अच्छे जनतन्त्र के लिये जरूरी है कि उसके समाज, राज्य और शासन तीनो का सगठन जनतान्त्रिक आधार पर किया गया हो।

यहाँ अब केवल शासन के रूप मे ही जनतन्त्र के विविध पक्षो का अध्ययन किया जायेगा।

जनतन्त्र के भेद

जनतन्त्र सामान्यत निम्नाकित प्रकार का होता है —

(१) प्रत्यक्ष जनतन्त्र (Direct Democracy)—"प्रत्यक्ष जनतन्त्र," हनशा के शब्दो मे, "शासन का वह रूप है जिसमे समस्त जनता स्वय प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्य-वाहको या प्रतिनिधियों के सम्प्रभुता का प्रयोग करती है।"[24] राज्य के सारे वयस्क नागरिक किसी निश्चित तिथि पर एक स्थान मे इकट्ठे होकर सभी महत्त्वपूर्ण

22. Bryce *Modern Democracies* Vol I p 20
23. Gettell *Political Science*, p 199
24. पूर्वोक्त पुस्तक पृ १३।

राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करते हैं, प्रशासनिक अधिकारियों को चुनते हैं, आवश्यकता हो तो युद्ध और शान्ति की घोषणा करते हैं, नीति निर्माण करते हैं तथा पुराने कानूनों में संशोधन करते और नये कानून बनाते हैं। प्रत्यक्ष ढंग से विधि निर्माण कार्य को निम्नांकित साधनों द्वारा सम्पादित किया जाता है —

(१) लोकनिर्णय (Referendum),
(२) उपक्रम (Initiative),
(३) प्रत्यावर्तन (Recall), तथा
(४) जनमतसंग्रह (Plebiscite)।

इन चारों साधनों की व्यापक व्याख्या तथा प्रत्यक्ष विधि निर्माण आदि के गुण दोषों की चर्चा 'जनतन्त्र की संरचना' नामक आगामी अध्याय में की गयी है। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त होगा कि प्राचीन भारत, यूनान आदि में प्रत्यक्ष जनतन्त्र विद्यमान था, लेकिन क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से विशाल आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों में अब प्रत्यक्ष जनतन्त्र को स्थापित नहीं किया जा सकता। केवल स्विट्जरलैण्ड के पाँच कण्टनों—इनर अपनजल (Inner Appanzell), आउटर अपनजल, उरी (Uri), उण्टकवाल्डेन (Untekwalden) तथा ग्लारस (Glarus)—में ही अब प्रत्यक्ष जनतन्त्र विद्यमान है। रूसो प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थक है, अप्रत्यक्ष जनतन्त्र को वह जनतन्त्र ही नहीं मानता।

(२) प्रतिनिध्यात्मक या अप्रत्यक्ष जनतन्त्र (Representative or Indirect Democracy)—प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र, ह्नशा के शब्दों में, "प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रभुत्वसम्पन्न जनता का शासन होता है।"[25] वर्तमान युग के विशाल क्षेत्र व जनसंख्या वाले राज्यों के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वे प्रतिनिध्यात्मक हों। इसका कारण यह है कि इन राज्यों में सभी नागरिकों का एक स्थान पर इकट्ठा होना, कानून निर्माण करना आदि सम्भव नहीं है। अतः जनता अपने कुछ प्रतिनिधियों को विधानसभा के लिये चुन लेती है जो जनता के लिये कानून बनाते व अन्य कार्य करते हैं। संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका भी इन्हीं प्रतिनिधियों में से बनता है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में जनता विधानसभा के सदस्यों के अतिरिक्त कार्यपालिका के अध्यक्ष, राष्ट्रपति, को भी चुनती है। संक्षेप में, यह एक ऐसी प्रणाली है 'जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसंख्यक भाग शासन सत्ता का प्रयोग समय समय पर चुने गये अपने प्रतिनिधियों द्वारा करता है।"[26]

प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र के निम्नांकित दो नमूने (models) आजकल विश्व में पाये जाते हैं —

(1) पश्चिमी नमूना (Western Model)—संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, भारत आदि में जनतन्त्र का पश्चिमी नमूना पाया जाता है। इन देशों में जनतन्त्र से अभिप्राय है वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनाव द्वारा गठित स्वतन्त्र विधानपालिका

25 वही पृ० १४।
26 J S Mill Representative Government p 51

द्वारा कानून निर्माण तथा कार्यपालिका का या तो विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होगा (जैसा ब्रिटेन या भारत में है) अथवा उसकी शक्तियों का प्रयोग जनता द्वारा चुने गये एक अध्यक्ष द्वारा स्वतन्त्र रूप से होगा जो सिर्फ जनता के प्रति उत्तरदायी हो (जैसा अमरीका में है)। चुनाव सामान्यत एक निश्चित अवधि में होते हैं जिसमें दो या उससे अधिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और जनता को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह उनमें से जिसे चाहे निर्वाचित करे। पश्चिमी नमूने के जनतन्त्र में विधि शासन' (Rule of Law) को मान्यता मिली होती है—इसका अर्थ है कि कानून की दृष्टि में सब समान हैं तथा जब तक कोई अपराध न करे गिरफ्तार नहीं हो सकता, उसे निष्पक्ष न्याय प्राप्त करने, विचार, भाषण, अभिव्यक्ति या संगठन बनाने की स्वतन्त्रता है, राज्य उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(ii) समाजवादी नमूना (Socialist Model)—सोवियत संघ, चीन, बुल्गारिया, रूमानिया आदि समाजवादी देशों में जनतन्त्र से अभिप्राय जनता की ऐसी शासन व्यवस्था से है जहाँ राष्ट्रीय सम्पत्ति के विकास के लिये राज्य उत्पादन के सभी साधनों पर अधिकार रखता है। जहाँ पूँजी पर व्यक्तिगत अधिकार को जनता के शोषण और उसकी स्वतन्त्रता व समानता के लिये घातक माना जाता है। जहाँ राज्य द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं में राज्य किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। उदाहरण के लिये बालक चाहे किसी जाति, वर्ग या समुदाय का हो सबको श्रेष्ठतम और समान प्रकार से शिक्षा मिलती है। जहाँ यह माना जाता है कि राज्य के निर्देशन में व्यक्ति की प्रत्येक गतिविधि यदि संचालित हो तो लोग सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र और समान होंगे, क्योंकि फिर समाज में कोई एक वर्ग दूसरे वर्ग का अपनी सम्पत्ति या शक्ति के बल पर शोषण नहीं कर सकेगा। इस विचारधारा वाले व्यक्तियों की राय है कि आर्थिक क्षेत्र में जनतन्त्र के बिना राजनीतिक क्षेत्र में जनतन्त्र असम्भव है। सच्चा जनतन्त्र वही है जिसमें लोग कल की रोटी-कपड़े की चिन्ता से मुक्त हों। यदि उन्हें अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने की चिन्ता होगी तो या तो वे अपने राजनीतिक अधिकारों व कर्तव्यों की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सकेंगे अथवा उनकी आर्थिक मजबूरी का लाभ उठाकर पैसे वाले राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर लेंगे। अपने देश का उदाहरण सामने है जहाँ लोग एक वक्त के भोजन या पाँच-दस रुपये के लिये अपना वोट बेच देते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जनतन्त्र न होने से राजनीतिक रूप से जनतन्त्र वास्तव में पैसे वालों की ऐय्याशी का विस्तर बन जाता है। अतः समाजवादी नमूने का जनतन्त्र आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता की नींव पर आधारित है। समाजवादी दृष्टिकोण से जनता के भौतिक कल्याण के लिये शासन ही सच्चा जनतन्त्र है। इस व्यवस्था में भी चुनाव होते हैं जो निष्पक्ष और वयस्क मताधिकार पर ही आधारित होते हैं। अन्तर सिर्फ यह है कि इसमें एक से अधिक राजनीतिक दलों को चुनाव में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता। इसमें उत्तरदायित्वहीन आलोचना के लिये भी कोई स्थान नहीं होता। ऐसे जनतन्त्र को 'एकदलीय जनतन्त्र' या 'दलीय अधिनायकतन्त्र' नाम भी दिया कुछ लोगों ने दी है। लेकिन अनेक रूढ़िवादी विद्वानों ने इसे लोकतन्त्र ही नहीं माना है। उनके अनुसार

जनतन्त्र कहलाने के लिये उस शासन व्यवस्था मे कम से कम दो दलो को भाग लेने की छूट होनी चाहिए।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि आधुनिक युग मे लगभग सभी जगह अब यह जनतन्त्र ही विद्यमान है। पश्चिमी देश अपनी व्यवस्था को सच्चे अर्थों मे जनतान्त्रिक समझते हैं और रूस, चीन आदि देश अपनी सरकारो को। वस्तुत जनतन्त्र एक लोकप्रिय शब्द है। सभी सरकारो मे अब जनता का हाथ होता है अत व्यापक रूप मे सभी जनतान्त्रिक हैं। यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह किसे सच्चा जनतन्त्र समझता है। उसके विचार से कोई सरकार कम और दूसरी अधिक जनतान्त्रिक हो सकती है। जनतन्त्र, इसलिये, एक आदर्श है, सरकार बनाने और उसके आचरण का। उसकी सफलता और असफलता उस समाज के निवासियो की सफलता और असफलता, उनके गुणो और अवगुणो की अभिव्यक्ति है।

जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये आवश्यक शर्तें

जनतन्त्र को सफल बनाने के लिए समाज मे कुछ विशेष परिस्थितियो का होना अनिवार्य है, जिन्हे निम्नांकित क्रम मे रखा जा सकता है —

(१) जनतन्त्र मे विश्वास—किसी भी देश मे जनतन्त्र की सफलता के लिये सबसे पहली शर्त यह है कि वहा की जनता का जनतन्त्र मे विश्वास हो। लोग अन्य शासन व्यवस्थाओ की तुलना मे इसे श्रेष्ठ समझते हो। इसको बनाये रखने मे उनकी रुचि हो तथा इसकी रक्षा के लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील भी हो।

(२) जनता की जागरूकता—कहा गया है कि "सतत जागरूकता ही स्वतन्त्रता की कीमत है" (Eternal vigilance is the price of liberty)। यदि देश के नागरिक राजनीतिक सदस्यो के प्रति जागरूक नही होगे तो जनतान्त्रिक व्यवस्था मे धूर्त नेता अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये शासन शक्ति पर कब्जा कर लेंगे। जर्मनी का एक प्रसग याद आता है—जब हिटलर के हाथ मे सत्ता आयी तो उसने हजारो लोगो को जेल मे डलवा दिया जिसमे अनेक निर्दोष विद्वान् और शिक्षक भी शामिल थे। उनमे से कुछ ने कहा कि उन्हे जेल मे क्यो डाला गया जबकि उन्होंने राजनीति मे कभी भाग ही नहीं लिया था? सुनने वाले ने उत्तर दिया कि 'इसीलिये तो आपको जेल मे डाला गया है, यदि आपने राजनीति मे रुचि ली होती तो हिटलर जैसे लोगो के हाथ मे देश की शक्ति न जाती और आपको जेल मे न आना पडता।" यह घटना जनतन्त्र मे जनता की जागरूकता के महत्त्व को बताती है और हमारे देश पर भी लागू होती है।

(३) उच्च नैतिक स्तर—जनतन्त्र मे जनता का नैतिक स्तर उच्च कोटि का होना चाहिये। लोग ईमानदार और कर्तव्यपरायण होने चाहियें। उनका दृष्टिकोण उदार होना चाहिये। प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता और जातिवाद की भावनायें जनतन्त्र को खोखला कर देती हैं। यदि लोग इनके आधार पर या पैसो के लालच में अपना वोट डालने के लिये तैयार हो जायेंगे तो देश मे जनतन्त्र कभी सफल नही होगा। इस प्रकार की योग्यता प्राप्त करना सर्वसाधारण के लिये अधिक कठिन नही है। ब्रिटेन, अमरीका,

फ्रास आदि देशो मे जनतन्त्र की सफलता का यही सबसे बडा कारण है कि वहाँ के नागरिक सकीण भावनाओ और धन के प्रलोभन से ऊपर उठ गये हैं।

(४) **आधारभूत एकता की भावना**—प्रो हनशा का मत है कि "एकता का दृढ भाव व सामाजिक जीवन की व्यापकता जनतन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक है।" जिस देश की जनता नस्ल, धम, भाषा या प्रा तीयता की भावनाओ के आधार पर बँटी होती है, जनतन्त्र वहाँ कभी सफल नही होता। भारत मे जनतन्त्र के सफल न हो पाने का यह प्रमुख कारण है। लेकिन इसका अथ यह नही है कि जिन देशो मे विभिन्न जाति, धम या भाषा वाले लोग होते हैं वहाँ जनतन्त्र सफल हो नही हो सकता। इसका अभिप्राय सिर्फ यह है कि लोगो को सावजनिक मामलो मे जाति, सम्प्रदाय या क्षेत्र के कारण उत्पन्न हुए मतभेदो को इतना महत्त्व नही देना चाहिये कि वे देश के सामूहिक हित मे बाधक होने लगें। सावजनिक महत्त्व के विषयो पर समाज के सदस्यो मे आधारभूत एकता की भावना होनी चाहिये।

(५) **उच्च बौद्धिक स्तर**—जनतन्त्र जनता का शासन होता है, इसलिय अच्छे शासन के लिय जनता का शिक्षित होना बहुत जरूरी है। हनशा लिखता है कि ' विवेक के बिना जनता की अयोग्यता के कारण जनतन्त्र या तो हल्ला मचाने वालो के शासन मे परिणत हो जायेगा अथवा तानाशाही के रूप मे विकृत हो जायेगा।" सही शिक्षा से ही लोग इस योग्य बन सकते हैं कि वे देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ को सही ढग से समझ सके और उनके विषय मे स्वतन्त्र निणय ले सकें। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक लिखा है कि जनतन्त्र तभी सफल हो सकता है जबकि रसोईघर की नौकरानी भी देश की राजनीति को समझती हो।

(६) **स्वस्थ राजनीतिक वातावरण**—जनतन्त्र की सफलता के लिये एक अन्य महत्त्वपूण आवश्यकता स्वस्थ राजनीतिक वातावरण की है। केवल सविधान मे जनतन्त्र की स्थापना का उल्लेख कर देने से देश मे जनतन्त्र नही आ जाता। जनतन्त्र के लिये जरूरी है कि नागरिक सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता का उपभोग करते हो। देश मे कम-से कम एक स्वस्थ विरोधी दल हो जिसका शासक दल आदर करता हो। देश म शान्ति और सुरक्षा का वातावरण हो। युद्ध लूटमार, अराजकता की स्थिति न हो। सत्ता का उचित प्रकार से विकेन्द्रीकरण किया गया हो। स्थानीय सस्थायें सुचारु रूप से काय कर रही हो तथा सरकार का आचरण सही हो। चुनाव की निष्पक्षता म लोगो का सन्देह न हो। भारत मे स्वस्थ राजनीतिक वातावरण की बहुत आवश्यकता है।

(७) **स्वतन्त्र और ईमानदार प्रेस**—स्वस्थ राजनीतिक वातावरण बनाने मे प्रेस या विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का बहुत बडा हाथ होता है, इसलिये जनतन्त्र की सफलता हेतु निष्पक्ष प्रेस का होना आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति उस समय तक सही राय कायम नही कर सकता जब तक कि उसके सामने सही तथ्य और आँकडे न हो। यदि प्रेस स्वतन्त्र और ईमानदार नही होगा तो जनता आसानी से गुमराह हो जायेगी और मिथ्या प्रचार व गलतफहमी का शिकार होकर राजनीतिक भूलें करेगी।

(८) **सामाजिक और आर्थिक समानता**—जिस राज्य म जन्म के कारण ऊँच-

नीच या काले-गोरे का भेदभाव होता है वहाँ जनतन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता। क्योंकि सामाजिक दृष्टि से ऊँचे समझ जाने वाले लोग आसानी से राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व प्राप्त कर लेते हैं। भारत का इतिहास इसका प्रमाण है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ने शताब्दियों से शासन पर अपना एकाधिकार रखा है। सामाजिक समानता के साथ साथ जनतन्त्र की सफलता के लिये आर्थिक समानता भी आवश्यक है। हाब्सन लिखता है कि "धनिकों का धन और निर्धनों की निर्धनता दोनों लोकतन्त्र को भ्रष्ट कर देती हैं।" अधिक गरीबी से व्यक्ति धन के प्रलोभन के आगे झुकने को विवश हो जाता है और धन की अधिकता से व्यक्ति घमण्डी, अत्याचारी और भ्रष्ट बन जाता है। दोनों अवस्थायें जनतन्त्र के लिये बुरी हैं। इसलिये जनतन्त्र की सफलता समाज में आर्थिक समानता पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम आर्थिक सुविधायें मिलने की गारण्टी होनी ही चाहिये तभी वह धन के प्रलोभन से दूर चुनाव आदि में स्वतन्त्र रूप से निर्णय ले सकेगा।

(९) प्रबुद्ध जनमत—जनतन्त्र और जनमत का अटूट सम्बन्ध है। प्रबुद्ध जनमत, एक जागरूक सामाजिक चेतना और प्रभावपूर्ण जनसम्मति जनतन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें हैं। जनतन्त्र का स्तर जनमत पर निर्भर करता है। जब कभी और जहाँ कहीं जनतन्त्र विफल होता है, उसकी विफलता का एकमात्र कारण अस्वस्थ और प्रभावहीन जनमत होता है। इसलिये जनतन्त्र की सफलता के लिये प्रबुद्ध जनमत बहुत जरूरी है।

(१०) योग्य नेतत्व—डा आशीर्वादम लिखते हैं कि "यदि लोकतन्त्र को सफल होना है तो सावधानी के साथ चुने गये नेताओं की आवश्यकता है। एक बार जब वे चुन लिये जाय तब जनता को उन पर विश्वास और उनका सम्मान करना चाहिये। नेताओं की बात न मानना उतना ही बुरा है जितना उनके पीछे आँख मूँदकर चलना। कभी कोई राष्ट्र सत्तारूढ व्यक्तियों की चापलूसी और पूजा करके महान नहीं बन सकता। फिर भी भारत में सामान्य नियम यही है कि देवता बदल सकते हैं, पर उपासक वही बने रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि जनता राजनीतिक सिद्धान्तों और नीतियों तथा व्यक्तियों के बीच भेद करना सीखे और अनुचित रूप से व्यक्तियों के साथ बँधी न रहे। दूसरी ओर नेताओं को भी अपनी आस्थाओं और अपने विश्वास पर दृढ़ रहना चाहिये। उन्हें लोकमत के हर झोंके के साथ बह नहीं जाना चाहिये। लोकतन्त्र में उन्हीं व्यक्तियों को नेता होना चाहिये जिनकी निर्णय-बुद्धि स्वस्थ हो, जिनकी क्षमता मौलिक हो, जिनमें उच्चकोटि की पहलकदमी हो और जिनका चरित्र निष्कलंक हो। यदि एक बार ऐसे नेता मिल जाय तो जनता को उनके कार्य में बहुत अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।'[7]

अन्त में हम लॉवेल (Lowell) के शब्दों में कह सकते हैं कि, यदि उपर्युक्त शर्तें पूरी हो जाती हैं तो प्रचण्ड वायु के झोंके भी लोकतन्त्र की नींव हिला नहीं पायेंगे

---

7 राजनीति शास्त्र पृ ३८।

और यह बिना हिले डुले खडा रहेगा—चाहे दूसरे स्थानों पर तूफान उत्पात मचाते रहे। जब तक ये शर्तें पूरी नहीं होतीं इसके (लोकतन्त्र के) शक्तिशाली पाँव कीचड मे धँस जायेंगे।'

जनतन्त्र के गुण

जनतन्त्र के कुछ गुणो ने इसे इतना लोकप्रिय बना दिया है कि आज हर व्यक्ति अपने देश म जनतन्त्र की स्थापना का समथक है। इतना ही नही, सरकार चाहे कैसी भी क्यो न हो जनता की निगाह म प्रतिष्ठित होने के लिये वह स्वय को जनतान्त्रिक सिद्ध करने की पूरी कोशिश करता है। जनतन्त्र के मुख्य गुणो को निम्नाकित ढग से व्यक्त कर सकते हैं —

(१) *स्वतन्त्रता और समानता का पोषक*—जनतन्त्र मानवीय स्वतन्त्रता और समानता का पोषक है। कोई अन्य प्रणाली मानव व्यक्तित्व या प्रतिष्ठा की ओर इतना ध्यान नही देती जितना कि जनतन्त्र। जनतन्त्र म प्रत्येक नागरिक समान मात्रा म स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। सबके साथ समान व्यवहार किया जाता है। "प्रत्येक को एक के बराबर माना जाता है किसी को एक से अधिक के बराबर नहीं" (Every one counts for one, and no one for more than one)। स्वतन्त्रता और समानता की यह मात्रा कितनी है, यह बुवरजर के शब्दो म, उस देश मे विद्यमान जनतन्त्र के अनुपात मे होती है।

(२) विचार विनिमय और सहमति पर आधारित—जनतान्त्रिक व्यवस्था मे राजनीतिक सिद्धान्त या निश्चय विचार विनिमय के आधार पर होता है जबकि अधिनायकवाद म शासन शक्ति के सहारे चलता है। जनतन्त्र यद्यपि बहुमत का शासन है, तथापि इसमें अल्पसख्यका को दबाया नही जाता। उनकी इच्छाओ का आदर किया जाता है। उनके सुझावो पर भी गम्भीरता से विचार किया जाता है। गटिल लिखता है कि "जनतन्त्र सम्प्रभुता का आधार शक्ति से सहमति मे स्थानान्तरित (transfer) कर देता है, तथा यह मानता है कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिये नहीं। जनतन्त्र के समथन म सर्वाधिक शक्तिशाली तक जनता के उन्नयन और विकास के इसके मूल्य, सावजनिक मामलो मे उसकी रुचि की अभिवद्धि तथा उस शासन मे निष्ठा और विश्वास, पर आधारित हैं जिसमे वह सक्रिय भाग लेती है। जनतन्त्र, इस प्रकार, नागरिकता के एक प्रशिक्षण स्कूल का काय करता है।"[28]

(३) मनोविज्ञान के अनुकूल—कोई भी शासन सारे समाज का नही हो सकता लेकिन जनतन्त्र म लोगो का जब अपने मत का प्रयोग करने का अवसर मिलता है तो उन्हें सरकार पर नियन्त्रण रखने का मनोवज्ञानिक सतोष प्राप्त होता है जो किसी भी शासन व्यवस्था का दृढ और स्थायी बनाये रखने के लिये बहुत आवश्यक है। इस तरह "जनतन्त्र" हॉकिंग के शब्दो मे, 'चेतन और उपचेतन मन की एकता है।"[29]

28 Gettell op cit pp 300-301

29 Democra y is the union of the conscious and sub co iscious mind

डा आशीर्वादम् लिखते हैं कि "लोकतन्त्र का पहला काम यह है कि वह जनता के प्रश्न 'क्या' का समाधान करे और जब वह ऐसा कर देता है तभी सरकार और जनता के बीच एक सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्ति चुपचाप स्वीकृत देने वाले की बजाय एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है।"[30]

(४) सार्वजनिक शिक्षण—जनतन्त्र सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में एक महान् प्रयोग है। भाषण व समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता जनसाधारण में विचार विनिमय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। एक चुनाव से दूसरे चुनाव के मध्य सभी राजनीतिक दल निरन्तर प्रचार द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते रहते हैं जिसके फलस्वरूप जनता का मानसिक स्तर इतना उठ जाता है कि राजनीतिक दृष्टि से कौन सी बात भली है और कौन सी बुरी इसका निर्णय सभी लोग आसानी से करना सीख जाते हैं। बर्न्स इस सम्बन्ध मे ठीक लिखता है कि "सभी प्रकार का शासन शिक्षा प्रदान करने की एक पद्धति है, परन्तु आत्मशिक्षा ही सर्वोत्तम शिक्षा है, अत सर्वोत्तम शासन स्वशासन है जो लोकतन्त्र है।"[31]

(५) जनता का नैतिक उत्थान—सॉविल लिखता है कि "शासन में श्रेष्ठता की मुख्य कसौटी शान्ति, न्याय अथवा आर्थिक समृद्धि नहीं है। राज्य शासन विधि की श्रेष्ठता की प्रमुख कसौटी वह चारित्रिक शक्ति है जो नागरिकों में विकसित की जानी चाहिये ताकि उसे जीवित रखा जा सके। स्थायी रूप से वह सरकार सबसे अच्छी है जो चारित्रिक दृष्टि से जनता को बलवान बनाती है तथा उसे दृढ़ता, परिश्रम, आत्म विश्वास और साहस से भरपूर करती है।" जनतन्त्र में प्राप्त मताधिकार की शक्ति से व्यक्तियों की नैतिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। उनमे आत्मनिर्भरता, परोपकार सहयोग व सामंजस्य की भावनाओं का विकास होता है। जनतन्त्र, इस प्रकार, नागरिकों के नैतिक उत्थान का कारक है।

(६) देश भक्ति का विकास—व्यक्ति का अपने देश से भावात्मक एकीकरण (emotional integration and identification) केवल जनतन्त्र में ही सम्भव है। जनतन्त्र देश प्रेम की भावना को बढाता है। लेवलेये (Leveleye) लिखता है कि "फ्रांसीसी लोगों को फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात जब देश के प्रशासन में भागीदार बनाया गया तभी से उन्होंने फ्रांस को सच्चे हृदय से प्यार करना प्रारम्भ किया।" जनतन्त्र की स्थापना के बाद से ही फ्रांस की जनता कट्टर देशभक्त है।

(७) क्रान्ति से रक्षा—जनतन्त्र क्रान्ति के संकट को दूर रखता है। यह क्रान्ति की सम्भावना के विरुद्ध एक अवरोध है। जब शान्तिपूर्वक सरकार बदलने का कोई उपाय नहीं होता तो जनता हिंसक क्रान्ति का सहारा लेती है। लेकिन जनतन्त्र में "मन्त्रियों और विधानसभाओं में बहुमत को बदलने की प्रक्रिया सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये क्रान्ति का एक विकल्प प्रदान करती है।"[32] अत जनतन्त्र नागरिक

30 राजनीति शास्त्र, पृ ३६०।
31 C. B Burns *Democracy* p 134
32 *Ibid* p 135

असन्तोष को क्रान्ति का ज्वालामुखी बनने से रोकता है।

(८) शान्तिपूर्वक सामाजिक सुधार सम्भव—शान्तिपूर्वक सवैधानिक ढग से देश मे सुधार काय जनतन्त्र मे ही सम्भव है। १९५२ से १९५६ के मध्य भारतीय ससद् ने जीणशीण रूढिवाद व पुरातनपथी हिन्दू समाज-व्यवस्था मे कानून द्वारा अनेक महत्त्वपूण सुधार किये जो अन्यथा सम्भव नही थ। जनतन्त्र द्वारा ही उन्हे सन्तोषजनक ढग से लागू किया जा सका।

(९) कायकुशलता मे वृद्धि—अन्य किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था की तुलना म जनतन्त्र मे कायकुशलता अधिक पायी जाती है। गानर लिखता है कि "लोकप्रिय चुनाव, लोकप्रिय नियन्त्रण तथा लोकप्रिय उत्तरदायित्व के कारण अन्य किसी भी व्यवस्था से अधिक उच्चकोटि की कायदक्षता जनतन्त्र में ही सम्भव है।"[33]

(१०) साहित्य व विज्ञान के विकास मे सहायक—जनतन्त्र मे उपलब्ध स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही श्रेष्ठ साहित्य और विज्ञान की प्रगति हो सकती है, क्योंकि अभिव्यक्ति और प्रयोग की स्वतन्त्रता से ही वैज्ञानिक सत्यो को खोजा जा सकता है। हिटलर की तानाशाही मे आइन्स्टीन तथा ओपेनहाइम जैसे वैज्ञानिक कुछ नहा कर पाये, लेकिन जमनी छोडने के उपरान्त अमरीका के स्वतन्त्र वातावरण मे उन्होने विश्व मे वैज्ञानिक व विधिशास्त्रीय जा अनुसन्धान किये वे विश्व की अमूल्य निधि हैं।

(११) निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति—निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति जनतन्त्र का विशिष्ट गुण है। इसका अथ यह नही कि जनतन्त्र मे अन्याय असम्भव है। न्याय का अथ है सबको सुनवाई का उचित अवसर, स्वेच्छाचारी ढग से किसी के साथ आचरण न किया जाना। यह सवविदित है कि निष्पक्ष न्याय प्राप्ति का इतिहास जनतन्त्र के उदय से शुरू होता है।

(१२) उपयोगिता मे वृद्धि—जनतन्त्र जनता की इच्छा पर आधारित होता है इसलिये सावजनिक उपयोगिता मे वृद्धि करना जनतन्त्र का मूल लक्ष्य है। जनता कभी भी उस सरकार को निर्वाचित नहा करेगी जो सावजनिक कल्याण और जन उपयोगी कार्य करने में समथ न हो। अत उपयोगिता जनतन्त्र का महत्त्वपूण गुण है।

जनतन्त्र के दोष

(१) अयोग्यता का शासन (Cult of incompetence)—फ्रांसीसी विद्वान फैगवे (Faguet) ने जनतन्त्र को 'अयोग्यता का शासन' कहा है। ऐसी धारणा कार्लाइल, लेकी, एच जी वेल्स आदि विद्वानो की भी है, जिनके हृदय मे जनतन्त्र के विरुद्ध कोई विशेष द्वेष भावना नही है। जनतन्त्र को मूर्खों या अयोग्यता का शासन कहने का आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति मे शासन की जटिलताओ को समझने अथवा दूसरो पर शासन करने की योग्यता नहीं होती, लेकिन जनतन्त्र में सबको समान रूप से शासन करने के योग्य समझा जाता है—जो गलत है। फगवे लिखता है कि "शासन एक कला है और इसके लिये ज्ञान आवश्यक है, लेकिन (जनतन्त्र मे) जनता

33 Garner, *Political Science and Government* p 390

डा आशीर्वादम् लिखते हैं कि "लोकतन्त्र का पहला काम यह है कि वह जनता के 'क्या' का समाधान करे और जब वह ऐसा कर देता है तभी सरकार और जनता के एक सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्ति चुपचाप स्वीकृत देने या बजाय एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है।"[30]

(४) सावजनिक शिक्षण—जनतन्त्र सावजनिक शिक्षा के क्षेत्र मे एक प्रयोग है। भाषण व समाचारपत्रो की स्वतन्त्रता जनसाधारण मे विचार विनिम प्रवत्ति को प्रोत्साहित करती है। एक चुनाव से दूसरे चुनाव के मध्य सभी रा दल निरन्तर प्रचार द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते रहते हैं फलस्वरूप जनता का मानसिक स्तर इतना उठ जाता है कि राजनीतिक दष्टि सी बात भली है और कौन सी बुरी इसका निणय सभी लोग आसानी से क जाते हैं। बन्स इस सम्बन्ध मे ठीक लिखता है कि "सभी प्रकार का शासन शि करने की एक पद्धति है, परन्तु आत्मशिक्षा ही सर्वोत्तम शिक्षा है, अत सर्वो स्वशासन है जो लोकतन्त्र है।"[31]

(५) जनता का नतिक उत्थान—लॉवेल लिखता है कि 'शास की मुख्य कसौटी शान्ति, न्याय अथवा आर्थिक समद्धि नहीं है। राज्य श श्रेष्ठता की प्रमुख कसौटी वह चारित्रिक शक्ति है जो नागरिको मे विद चाहिये ताकि उसे जीवित रखा जा सके। स्थायी रूप से वह सरकार जो चारित्रिक दृष्टि से जनता को बलवान बनाती है तथा उसे दृढ़ता विश्वास और साहस से भरपूर करती है।" जनतन्त्र मे प्राप्त मता से व्यक्तियो की नैतिक प्रतिष्ठा मे वृद्धि होती है। उनमे आत्म सहयोग व सामजस्य की भावनाओ का विकास होता है। जनतन्त्र के नतिक उत्थान का कारक है।

(६) देश भक्ति का विकास—व्यक्ति का अपने देश (emotional integration and identification) केवल जनतन्त्र देश प्रेम की भावना को बढाता है। लेवलेये (L "फ्रासीसी लोगों को फ्रासीसी क्रान्ति के पश्चात जब बनाया गया तभी से उन्होने फ्रास को सच्चे हृदय से प्या तन्त्र की स्थापना के बाद से ही फ्रास की जनता कट्टर द

(७) क्रान्ति से रक्षा—जनतन्त्र क्रान्ति के स की सम्भावना के विरुद्ध एक अवरोध है। जब नहीं होता तो जनता हिंसक क्रान्ति का सहारा लेत और विधानसभाओं में बहुमत को बदलने की करने के लिये क्रान्ति का एक विकल्प

30 राजनीति शास्त्र, पृ ३६०।
31 C. B Burns, *Democracy* p 1
32 *Ibid* p 135

शत्रुता से पूर्ण होता है। शायद यही कारण है कि कुछ लोगों ने इन बहुसंख्यकों के लिये 'मख्यासुर' शब्द का आविष्कार कर लिया है।

(५) मतदाताओं की उदासीनता—अनेक जनतान्त्रिक देशों में मतदाताओं की उदासीनता प्रसिद्ध है। मतदाता इतने उदासीन होते हैं कि वे अपने मताधिकार का प्रयोग करने ही नहीं जाते। उन्हें उनके घरों और कार्यालयों से जबरदस्ती मत देने के लिये लाया जाता है। अमरीका में लगभग ५० प्रतिशत और हमारे देश में लगभग ६५%ही मत पड़ते हैं। मतदाताओं की उदासीनता का परिणाम यह होता है कि जो ५० या ६० प्रतिशत वोट पड़ते हैं उसमें ३५-४० प्रतिशत वोट प्राप्त करके जीतने वाला वस्तुतः कुल मतदाताओं के १८-२० प्रतिशत का प्रतिनिधित्व ही करता है। इस तरह जनतन्त्र में जनता की इच्छाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं होता। "मतदाताओं की उदासीनता का नतीजा," डा. आशीर्वादम के अनुसार, "यह होता है कि शक्ति कुछ ऐसे अविवेकी लोगों के हाथ में चली जाती है जो लम्बे चौड़े वादों और झूठे सच्चे तर्कों से जनता को बहलाने और उससे अनुचित लाभ उठाने के लिये हमेशा तयार रहते हैं।"[35]

(६) पेशेवर राजनीतिज्ञों का विकास—जनतन्त्र में पेशेवर राजनीतिज्ञों का एक बड़ा वर्ग पैदा हो जाता है। वे लोग, जिन्हें अपनी जीविका के लिये काम करना पड़ता है, प्रायः राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा नहीं ले पाते। यदि वे राजनीति के लिये समय निकालें तो उनके व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। इसलिये प्रायः यह देखा गया है कि जो लोग किसी व्यापार, शिल्प या पेशे का पूरी ईमानदारी से नहीं कर पाते, वे राजनीति को ही धंधा बना लेते हैं। ऐसे लोगों की रुचि राजनीति से अपना पेट भरने में होती है, देश जाय जहन्नुम में। भारत का ऐसे ही पेशेवर राजनीतिज्ञों ने सत्यानाश कर दिया है। ऐसे लोगों का न कोई सिद्धान्त होता है और न किसी दल से लगाव। अपने स्वार्थों को पूरा करना ही उनका धर्म, दर्शन और भगवान है।

(७) दलगत राजनीति के दोषों से युक्त—जनतन्त्र में दलगत राजनीति के सारे दोष पाए जाते हैं। "लोगों की राय जानने के लिये दल-व्यवस्था इतनी अधिक यान्त्रिक जान पड़ती है कि उससे किसी भी अंश में सामान्य इच्छा का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता।"[36] दल-व्यवस्था के कारण जनतन्त्र में चरित्र के ओछेपन और असत्य को प्रोत्साहन मिलता है। भाई भतीजावाद पनपता है। प्रशासन में राजनीतिक हस्तक्षेप बढ़ता है और उसकी निपुणता व निष्पक्षता समाप्त हो जाती है। राष्ट्रीय भेदभावों को चुनाव में घसीटा जाता है। लूट-खसोट की प्रथा पनपती है और नैतिकता का ह्रास होता है। राजनीतिज्ञ अपने विरोधियों की चरित्र-हत्या कराते हैं, यदि इससे भी वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते तो फिर वे उनकी जान से मरवाने से भी नहीं हिचकते हैं।

(८) धन और समय का अपव्यय—जनतन्त्र खर्चीली सरकार है। न केवल

---

35 वही पृ ३६४।

36 Lord, Principles of Politics, p. 167

पर वे लोग शासन करते हैं जो न तो ज्ञान रखते हैं और न कला, तथा उन्हें इसीलिये चुना गया था कि उनमे ये गुण नहीं पाये जाते।"

प्रत्येक समाज मे बहुसख्यक मूर्ख होते हैं जो अपने व्यक्तिगत जीवन की समस्याओ को ही ठीक से नही सुलझा पाते। उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि वे देश की गम्भीर राजनीतिक समस्याओ को गहराई से समझ सकेंगे और उनका समाधान ढूढने मे सफल होंगे। मूर्ख तो किसी विद्वान को अपना प्रतिनिधि भी नही चुन सकते। मूर्ख कैसे जान सकता है कि समाज मे कौन सा व्यक्ति योग्य है और कौन सा अयोग्य? साधारणत लोग अपने मानसिक स्तर के आदमी से ही प्रसन्न होते हैं और चुनाव मे प्राय उसी को वोट देते हैं। अत जनतान्त्रिक समाज मे अयोग्यता की पूजा स्वाभाविक है। बर्नार्ड शॉ लिखता है कि "सड़क पर फेरी या खोमचा लगाने वाले को अपने व्यापार के लिये योग्यता का लाइसेन्स लेना पड़ता है, लेकिन ससद सदस्य बनने या ऐसे ही किसी उच्च पद पर आसीन होने के लिये जनतन्त्र मे किसी प्रकार की योग्यता की आवश्यकता नहीं होती।" अत जनतन्त्र मे सरकार मूर्खों की बनती है जो समाज मे अधिक सख्या मे होते हैं। जनतन्त्र अयोग्यता का शासन है यह आगामी कुछ अन्य तर्कों से भी सिद्ध हो जायेगा।

(२) **गुणो की अपेक्षा सख्या पर बल**—जनतन्त्र में मतदाता की योग्यता के अनुसार उसके मत का मूल्याकन नही होता, वहाँ सिर्फ मतो की गणना की जाती है। "इसमे लोगो के सिर ही गिने जाते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं की जाती कि खोपड़ियो के भीतर क्या है।"[34] लेकी लिखता है कि 'मानव प्रयत्न के प्रत्येक क्षेत्र मे जीवन की सब गणनाओ मे, जिनका अनुमान अथवा अकन निष्ठुर, प्राकृतिक कानून के द्वारा किया गया है, बडप्पन कुछ ही लोगो मे रहता है न कि बहुत से लोगो मे, तथा सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब निर्देशन तथा नियन्त्रण की शक्ति को मुख्य रूप से उनके हाथो रखा जाय।"

(३) **भीड का शासन**—कुछ लोगो के विचार से जनतन्त्र 'उत्तरदायित्व हीन भीड का शासन है। चुनाव मे तो भीड भाड होती ही है, कानून बनाने वाली सभाओ, निर्णय लेने वाली समितियो मे भी भीड होती है। हमारी ससद के दोनो सदनो मे लगभग ८०० सदस्य हैं, इगलण्ड मे यह सख्या १४०० से भी ऊपर है। मन्त्रिमण्डल मे ५०-५० सदस्य होते हैं। मनोवैज्ञानिको का तर्क है कि मनुष्य भीड मे अपना विवेक खो देता है और वह सहजबुद्धि भावनाओ अथवा पाशविकता से सचालित होता है। ऐसी अवस्था मे जनतन्त्र के अन्तर्गत शासक विवेकशून्य ढग से कार्य करें तो इसमे आश्चर्य क्या है?

(४) **बहुमत की तानाशाही**—लोकतन्त्र मे अल्पसख्यको के हितो की समुचित रक्षा नही हो पाती। बहुमत के उन्माद मे शासक दल निरकुश अधिनायको से भी कही अधिक असहिष्णु, कट्टर और अत्याचारी बनकर अल्पमत वालो को कुचलने के लिये आतुर रहता है। उनके रचनात्मक सुझावो के प्रति भी उसका दृष्टिकोण दुर्भावना व

34 आशीर्वादम् 'राजनीति शास्त्र' पृ १६३।

शत्रुता से पूर्ण होता है। शायद यही कारण है कि कुछ लोगों ने इन बहुसंख्यकों के लिये 'सत्यासुर' शब्द का आविष्कार कर लिया है।

(५) मतदाताओं की उदासीनता—अनेक जनतान्त्रिक देशों में मतदाताओं की उदासीनता प्रसिद्ध है। *मतदाता इतने उदासीन होते हैं कि वे अपने मताधिकार का प्रयोग करने ही नहीं जाते।* उन्हें उनके घरों और कार्यालयों से जबरदस्ती मत देने के लिये लाया जाता है। अमरीका में लगभग ५० प्रतिशत और हमारे देश में लगभग ६५%ही मत पड़ते हैं। मतदाताओं की उदासीनता का परिणाम यह होता है कि जो ५० या ६० प्रतिशत वोट पड़ते हैं उसमें ३५ ४० प्रतिशत वोट प्राप्त करके जीतने वाला वस्तुतः कुल मतदाताओं के १८ २० प्रतिशत का प्रतिनिधित्व ही करता है। इस तरह जनतन्त्र में जनता की इच्छाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं होता। "मतदाताओं की उदासीनता का नतीजा," डा आशीर्वादम् के अनुसार, "यह होता है कि शक्ति कुछ ऐसे अविवेकी लोगों के हाथ में चली जाती है जो लम्बे चौड़े वादों और झूठे सच्चे तर्कों से *जनता को बहलाने और उससे अनुचित लाभ उठाने के लिये हमेशा तैयार रहते हैं।*"[35]

(६) पेशेवर राजनीतिज्ञों का विकास—जनतन्त्र में पेशेवर राजनीतिज्ञों का एक बड़ा वर्ग पैदा हो जाता है। वे लोग, जिन्हें अपनी जीविका के लिये काम करना पड़ता है, प्रायः राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा नहीं ले पाते। यदि वे राजनीति के लिये समय निकालें तो उनके व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। इसलिये प्रायः यह देखा गया है कि जो लोग किसी व्यापार, शिल्प या पेशे को पूरी ईमानदारी से नहीं कर पाते, वे राजनीति को ही धन्धा बना लेते हैं। ऐसे लोगों की रुचि राजनीति से अपना पेट भरने में होती है, देश जाय जहन्नुम में। *भारत का ऐसे ही पेशेवर राजनीतिज्ञों ने सत्यानाश कर दिया है।* ऐसे लोगों का न कोई सिद्धान्त होता है और न किसी दल से लगाव। अपने स्वार्थों को पूरा करना ही उनका धर्म, दर्शन और भगवान है।

(७) दलगत राजनीति के दोषों से युक्त—जनतन्त्र में दलगत राजनीति के सारे दोष पाये जाते हैं। "लोगों की राय जानने के लिये दल व्यवस्था इतनी अधिक यान्त्रिक जान पड़ती है कि उससे किसी भी रूप में सामान्य इच्छा का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता।"[36] दल व्यवस्था के कारण जनतन्त्र में चरित्र के खोखलेपन और *असत्य को प्रोत्साहन मिलता है। भाई भतीजावाद पनपता है। प्रशासन में राजनीतिक* हस्तक्षेप बढ़ता है और उसकी निपुणता व निष्पक्षता समाप्त हो जाती है। राष्ट्रीय भेदभावों को चुनाव में घसीटा जाता है। लूट-खसोट की प्रथा पनपती है और नैतिकता का ह्रास होता है। राजनीतिक दल अपने विरोधियों की चरित्र हत्या कराते हैं, यदि इसमें भी वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते तो फिर वे उनको जान से मरवाने में भी नहीं हिचकते हैं।

(८) धन और समय का अपव्यय—जनतन्त्र खर्चीली सरकार है। न केवल

35 वही, पृ ३६४।

36 Lord *Principles of Politics* p 162

चुनावो मे अरबो की सम्पत्ति स्वाहा होती है, अपितु चुनावो के उपरान्त जन प्रतिनिधियों के वेतन, भत्ते और सुविधाओ पर भी अरबो खच होते हैं। जो धन रचनात्मक कार्यों मे लगना चाहिये, चुनाव और सरकार के निर्माण व दिखावे पर खच रुपये होता है। इसमे समय और अवसर का भी वरबादी होती है। जो काम एक व्यक्ति एक दिन मे कर सकता है उसे सात व्यक्ति सात दिन मे करते हैं। जो कानून एक दिन मे स्वीकृत हो सकता है, उसे बनने मे वष लग जाते हैं। उत्तर प्रदेश मे जमीदारी बिल पर वर्षों विचार होता रहा तब कही वह अस्तित्व मे आया। जनतन्त्र मे समय और अवसर की इस वरबादी का परिणाम यह होता है कि बार बार राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने पडते हैं।

(६) धनवानो का शासन—जनतन्त्र एक अत्यधिक खर्चीली व्यवस्था है, अत इसमे भाग लेने की हिम्मत वही कर सकता है जिसके पास चुनाव जीतने के लिये अनाप-शनाप पैसा हो। गरीब, योग्य अगर सिद्धान्त या दल के आधार पर चुनाव जीत भी लेता है तो वह उन धनिको के विरुद्ध कुछ भी नही कर पाता जिन्होने पसे के बल पर चुनाव जीता है जिनकी सख्या अधिक है और जिनकी दिलचस्पी चुने जाने के बाद अगले चुनाव के लिये पसा इकट्ठा करने मे तथा पिछले चुनाव का घाटा पूरा करने मे होती है। जनतन्त्र इस तरह सच्चे अर्थो म 'धनिकतन्त्र' होता है जिसमें निधन की चल नही सकती, चाहे वह कितना ही योग्य क्यो न हो।

(१०) अनतिकता का बोलबाला—जनतन्त्र मे छल और असत्य की प्रेरणा हमेशा ही मिलती है। 'अ' कहता है कि 'ब' बेईमान और झूठा है तो 'ब' 'अ' को झूठा और बेईमान बताता है। जनता से वोट पाने के लालच मे उनकी समस्याओ को गवारू ढग से लोकप्रिय बनाया जाता है, नोट और शराब की बोतलें बाँटी जाती हैं। मतदाता तो दूर, प्रशासकीय अधिकारी और यायाधिकारी भी धन के लोभ के सामने सिर झुका लेते हैं।[37]

(११) कुशिक्षा की निधि—जनतन्त्र कुशिक्षा का साधन है। इसमे वोट के लालच मे जनता से ही उसके दोषो को छिपाया जाता है। जनता की झूठी चापलूसी की जाती है और उसम समानता की झूठी भावना का विकास किया जाता है। लार्ड ब्राइस ठीक लिखते हैं कि "जनतन्त्र मे केवल पढ़ना सिखाया जाता है, सोचना और निणय करना नहीं, ऐसी अवस्था में पढ़ने की सामथ्य से कोई लाभ नहीं हो सकता।'

(१२) कला व विज्ञान के विकास मे बाधक—जनतन्त्र मे 'निम्न कोटि की साधारण और जड सभ्यता" का विकास होता है। इसमे साहित्य, कला, विज्ञान आदि का कोई विशेष महत्त्व नही होता, केवल राजनीतिक नताओ की पूजा होती है। यदि वज्ञानिको अथवा अथशास्त्रियो की भी कोई बडी सभा हो तो प्रमुख स्थान नेताओ को ही मिलता है। सवत्र इन्ही की तूती बोलती है। फलस्वरूप कला, सस्कृति या विज्ञान के ज्ञान की अपेक्षा राजनीतिक दावपेंच सवसे महत्त्वपूण हो जाते हैं।

(१३) स्थानीय हितों को महत्त्व—जनतान्त्रिक देशो मे स्थानिय हितो के

---

37 Bryce *The Money Power in Politics* p 69

लिये राष्ट्रीय हिता का बलिदान कर दिया जाता है।[38] इस बात की कोई चिन्ता नही करता कि व्यापक रूप से देश का क्या और कितना कल्याण होगा। जनता के प्रतिनिधि सावजनिक हित के आदश को भूलकर अपने क्षेत्र के लिये ऐसी सुविधायें प्राप्त करने की कोशिश करते हैं जिनसे उनकी वाहवाही हो।

(१४) मनोविज्ञान का दुरुपयोग—जनतन्त्र मे मनोविज्ञान का दुरुपयोग होता है। मक्सी के विचार से अधिकाश लोग भेड, बन्दर और भेडिये की मनोवत्ति वाले होते हैं। वे सहज ही विश्वास करने वाले, भावावेश से बह जाने वाले, डरपोक, असहिष्णु, विवेकहीन, निर्दयी, अन्यायी और मूख होते हैं। इसलिये नेता धर्म, सम्प्रदाय या जाति की दुहाई देकर अपने लाभ के लिये मनोविज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। परिणाम यह होता है कि कोई जाति को वोट देता है तो कोई धम को, कोई गाय को तो कोई हाथी को। देश के लिये कौन सी नीति श्रेष्ठ है यह कोई नही सोचना है।

(१५) प्राणीशास्त्र के नियमो के विरुद्ध—जनतन्त्र प्राणीशास्त्र के नियमो के विरुद्ध है। शरीर मे प्रत्यक अग सोचने का काय नही करता, जबकि जनतन्त्र मे प्रत्येक व्यक्ति को समान योग्यता और मस्तिष्क वाला माना जाता है तथा उससे सरकार के किसी भी विभाग को कुशलतापूवक सचालित करने की आशा की जाती है।

(१६) क्षमता से शून्य—जनतान्त्रिक सरकारें प्राय क्षमता से शून्य होती हैं। वोल्स्के के अनुसार आग्जबग के राथौस मे तीन आलकारिक चित्र थे। उनमें से एक कुलीनतन्त्र को प्रदर्शित करता था जिसे शिष्ट लोगो की एक गम्भीर सभा (सीनेट) के रूप में चित्रित किया गया था। दूसरा, राजतन्त्र को बताता था जिसमें एक चिन्तनशील निरकुश राजा विशाल जनसमूह से विनीत श्रद्धाञ्जलियाँ प्राप्त करते दिखाया गया था। तीसरे मे जनतन्त्र को शराब पिये हुए एक विदूषक के रूप मे चित्रित किया गया था जिसके चारो ओर चीखती चिल्लाती भीड का घेरा था। जब शासन शक्ति ऐसे अशिक्षित और गैर जिम्मेदार व्यक्तियो के हाथ मे होगी, जो सत्ता के नशे म अन्धे होगे, तो शासन मे क्षमता आ ही कैसे सकती है?

जनतन्त्र की आलोचना मे ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह केवल उसके विरोधियो या आलोचको के मस्तिष्क की उपज नहीं है। जनतन्त्र के प्रबल समथक भी उसके अनेक दोषो को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिये, लाड ब्राइस ने, (जो जनतन्त्र को एक श्रेष्ठ व्यवस्था मानते हैं) अनेक देशो मे जनतन्त्र के व्यावहारिक रूप को देखकर यह स्वीकार किया था कि जनतन्त्र मे धन के दूषित प्रभाव, राजनीति का लाभप्रद व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति, अपव्यय, समता के सिद्धान्त का दुरुपयोग, दलगत-भ्रष्टाचार और वोट के लालच मे जनता को गुमराह करने की बुराइयाँ निसन्देह पायी जाती हैं।[39] अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जनतन्त्र मे, वास्तव मे, इतनी बुराइयाँ हैं तो क्या कोई अन्य व्यवस्था आधुनिक युग मे जनतन्त्र की इस लोकप्रिय धारणा का विकल्प हो सकती है?

---

38 Lord op cit p 164
39 op cit Vol II p 504

अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प नहीं है

कुछ लोगों के विचार से अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प हो सकता है। यह धारणा गलत है। अधिनायकतन्त्र क्या, राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, वर्गतन्त्र कोई भी जनतन्त्र का विकल्प नहीं है। विश्व में आज कोई भी पढ़ा लिखा आदमी राजतन्त्र को श्रेष्ठ व्यवस्था मानने के लिये तैयार नहीं है। यह "शैतान ही से शैतान को बाहर निकालने" वाली बात है। एक कहानी याद आती है कि एक आदमी को समुद्र में एक बोतल पड़ी मिली। उसने बाहर निकालकर उसका ढक्कन खोला तो उसमें से धुआँ निकला जो बाद में जिन्द के रूप में बदल गया। जिन्द ने बोतल खोलने वाले से कहा कि अनेक वर्षों बाद आजाद हुआ हूँ अब भूख लगी है, तुम्हें खाऊंगा। आदमी हैरान हो गया। चतुराई से उसने कहा कि तुम मुझे खा तो सकते हो लेकिन यह कैसे पता लगे कि तुम इस बोतल के ही जिन्द हो, पहले इस बात का सबूत दो कि तुम इस बोतल से ही निकले हो। जिन्द झाँसे में आ गया। वह फिर धुआँ बनकर बोतल में सबूत देने के लिये घुसा कि आदमी ने बोतल का ढक्कन ठीक से बन्द करके बोतल वापस समुद्र में फेंक दी। कहानी का अभिप्राय यह है कि शताब्दियों तक राजतन्त्र के अवगुणों को भोगने के बाद अब फिर मनुष्य राजतन्त्र अपनाने के लिये कभी तैयार नहीं हो सकता।

कुलीनतन्त्र और वर्गतन्त्र भी अनुभव की कसौटी पर खरे नहीं उतरे हैं। संसार में उन व्यवस्थाओं को भी लागू किया गया लेकिन उनके परिणाम अन्तिम रूप में निराशाजनक ही रहे। अब हम उनको पुनः अपना नहीं सकते। फिर जनतन्त्र में सुव्यवस्थित कुलीनतन्त्र के लिये भी तो स्थान रहता है। उसमें सर्वाधिक बुद्धिमान लोगों के नेतृत्व में ही शासन चलाया जाता है। "कुलीनतन्त्र में विशेषज्ञ अपने-आपको जनता से दूर रखता है, लोकतन्त्र में उससे उन सामाजिक सद्‌गुणों की आशा की जाती है जो उसे उन लोगों का अपना मानने में समर्थ बना सकते हैं जिन पर उन्हें शासन करना होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के इस अन्तर से लोकतन्त्र का ही समर्थन होता है।"[40]

पिछले कुछ वर्षों से यह कथन आम हो गया है कि 'जनतन्त्र का युग बीत चुका है।' लोग जनतन्त्र को त्यागने और अधिनायकतन्त्र को अपनाने की बात करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जनतन्त्र से वर्तमान पीढ़ी को जो आशायें थीं वे पूरी नहीं हुई हैं और अधिनायकवादी व्यवस्था के गुण उन्हें ऐसे सुखद स्वप्न लगते हैं जिन्हें आसानी से साकार किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले संक्षेप में जनतन्त्र और अधिनायकतन्त्र में भेद और उनके कुछ विशेष तत्त्वों का परिचय प्राप्त कर लेना जरूरी है।

जैसा पिछले पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है जनतन्त्र जनता का शासन होता है। इसका आधार जन-सहमति है। इसकी आधारभूत मान्यतायें—स्वतन्त्रता,

---

40. आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र, पृ १११।

समानता व विश्वबन्धुत्व हैं। यह सबको समान समझता है और सब मे समान राजनीतिक योग्यता को स्वीकार करता है। अधिनायकतन्त्र, इसके विपरीत, ऐसी व्यवस्था है जिसमे जनता की अपेक्षा उसके किसी एक व्यक्ति का शासन होता है। यह एक उग्र राष्ट्रीय व्यवस्था है जिसमे राज्य और सरकार मे कोइ भेद नही किया जाता। अधिनायकवाद मे शक्तियो का केन्द्रीकरण होता है, जनमत के साधनो और सावजनिक जीवन पर शासक (अधिनायक) का कठोर नियन्त्रण होता है। यह अधिकार की अपेक्षा कत्तव्य और स्वतन्त्रता की अपेक्षा त्याग और अनुशासन पर बल देता है।

जनतन्त्रीय देशो म पायी जाने वाली बुराइयो को देखकर कुछ लोग इतने हताश हो गये हैं कि वे अनुशासन और कायकुशलता के लिये (जो अधिनायकतन्त्र के गुण है) जनतन्त्र मे मिली स्वतन्त्रता को छोडने के लिये भी तयार हैं। यह गलत दृष्टिकोण है। वस्तुत व्यवस्था कोई अच्छी या बुरी नहीं होती, उसे चलाने वाले अच्छे या बुरे होते हैं। जनतन्त्र जनता का शासन है। इसलिये यदि जनता अच्छी होगी तो शासन अपने आप अच्छा होगा। यदि जनता ही बेईमान और भ्रष्ट होगी तो शासन स्वत बुरा होगा, इसमे जनतन्त्र का क्या दोष है ?

दूसरे, किसी के अधीन रहना मानव स्वभाव के विरुद्ध है। बेटा बाप के सारे आदेशो को नही मानता। यदि पिता उस पर अपनी इच्छा थोपना चाहता है ता वह विद्रोह कर देता है। अधिनायकतन्त्र मे तो जनता का काम सिफ अधिनायक की आज्ञा का पालन करना ही होता है, उसे इस बात की स्वतन्त्रता नही होती कि वह अधिनायक के विरुद्ध कुछ कह सके। ऐसी अवस्था मे अधिनायकतन्त्र जनतन्त्र से कमे श्रेष्ठ हो सकता है, समझ से बाहर की बात है ! मेरी कक्षा म एक विद्यार्थी मानन को तयार ही नही था कि जनतन्त्र अधिनायकतन्त्र से श्रेष्ठ है। मैंने उसे तत्काल आदेश दिया कि वह अपनी कुर्सी पर खडा हो जाय। उसने पूछा, क्या ?' मैंने कहा यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है। अर्थात् जनतन्त्र मे तुम क्यो' का प्रश्न कर सकते हो, तुम्हे अधिकार है कि तुम वह कारण जान सको जिसकी वजह से तुम्ह दण्डित किया जा रहा है, लेकिन यदि यहाँ जनतन्त्र न होकर अधिनायकतन्त्र हो ा तो तुम्हारे पास मेरी आज्ञा का पालन करने के अलावा कोई चारा ही न होता। स्वतन्त्र रहना सदव किसी के अधीन रहने से अच्छा है इसलिये जनतन्त्र अधिनायकतन्त्र से अच्छा है। स्वतन्त्रता के अभाव मे सरकस के जानवरो व व्यक्तियो मे कोई अन्तर नही है। जनतन्त्र म चाहे कितनी असुविधायें क्यो न हो, कम से कम मानव बने रहने की सुविधा तो प्राप्त होनी ही है।

तीसरे, जनतन्त्र म व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन। लेकिन अधिनायकतन्त्र मे यह रिश्ता उलट जाता है। अधिनायक के लिये समाज भेड-बकरियो का रवड मात्र होता है। फाइनर लिखता है कि "अधिनायकतन्त्र को विनम्र व भयभीत जनता जीवन के उन श्रेष्ठतम मूल्यों से गिर जाती है जिनका सम्बन्ध मानव समाज की जीवन प्रणाली से है, क्योंकि उनकी महानता को खुलेआम निन्दा की जाती है।"[41]

चौथे, जनतन्त्र 'जिओ और जीने दो' म विश्वास करता है। इसका आधार

41 Finer *Theory and Practice of Modern Government* p 9?1

सहमति और सहयोग है। लेकिन अधिनायकतन्त्र 'दूसरे को मारकर जीने' मे आस्था रखता है। यह संघर्ष और हिंसा पर टिका होता है।

पांचवें, अच्छे शासन की सबसे बडी कसौटी है— लोगो के लिये विकास के अवसरों की उपलब्धि।' अधिनायकतन्त्र म मनुष्यो के व्यक्तित्व के विकास की ओर कम, अधिनायको की गद्दी बचाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। जिस सरकार की दिलचस्पी नागरिको के विकास मे न हो उसे न तो नागरिको का समर्थन मिलेगा और न अच्छी सरकार का प्रमाण-पत्र।

इसके अतिरिक्त अधिनायकतन्त्र के जितने अवगुण इस अध्याय मे पहल व्यक्त किये गये हैं वे सब जनतन्त्र का समर्थन करते हैं।

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि जनतन्त्र सर्वथा दोषमुक्त व्यवस्था है। हमारा अभिप्राय सिर्फ यह है कि जनतन्त्र अधिनायकतन्त्र (या अन्य दूसरी व्यवस्थाओ) से अच्छा है। अधिनायकतन्त्र या अन्य कोई व्यवस्था इसका विकल्प नही हो सकती। इस सम्बन्ध मे सी डी बर्न्स का कथन उल्लेखनीय है कि 'इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान प्रतिनिधि सभायें दोषपूर्ण हैं, लेकिन यदि एक मोटरकार ठीक से काम नहीं करती तो इसका अर्थ यह नहीं कि लोग बैलगाडी मे यात्रा प्रारम्भ कर दें—चाहे ऐसा करना कितना ही रोमांचकारी क्यो न हो'।[42] सत्य तो यह है कि जनतन्त्र के जो दोष गिनाये गये हैं वे जनतन्त्र के दोष ही नही हैं। यदि मतदाता उदासीन है, दलगत राजनीति मे भ्रष्टाचार है, चुनाव खर्चीले होते हैं, अयोग्य और निकम्मे लोग चुने जाते हैं सार्वजनिक जीवन मे अनाचार, घूसखोरी, बेईमानी और अक्षमता (inefficiency) पायी जाती है तो इसम जनतन्त्र का कोई दोष नही है, यह दोष तो उस देश के नागरिको का है, उनके सार्वजनिक जीवन का है।

इतना ही नही, जनतन्त्र मे एक भी दोष ऐसा नही दिखायी देता जिसे दूर न किया जा सके। इसमे सुधार की गुंजाइश होने के कारण भी यह प्रणाली अन्य प्रणालियो से श्रेष्ठ है। अत आवश्यकता इस बात की है कि जनतन्त्र को ही अपनाया जाय और उसमे देश और युग की समस्याओ का हल ढूंढ निकालने के उद्देश्य से आवश्यक सुधार किये जाय। अधिनायकतन्त्र मे तो सुधार का प्रश्न ही नही उठता। जनतन्त्र ने कम से-कम अधिनायक की स्वेच्छाचारिता से तो मुक्ति दिलायी है। देश प्रेम व साहस की भावना को तो दुर्बल नही होने दिया है। अत एडवर्ड कारपेंटर की युक्ति ठीक लगती है कि "हे! असम्मानीय जनतन्त्र! मुझे तुमसे प्यार है। इसका कारण स्पष्ट है। जनतन्त्र से अच्छा कोई विकल्प नहीं।"

भारत मे जनतन्त्र

भारतीय संविधान देश म सम्प्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना करता है। भारत म पश्चिमी नमूने का जनतन्त्र स्थापित किया गया है। वयस्क मताधिकार पर आधारित एक संसदीय सरकार यहाँ है। संविधान मे मूलाधिकारो

42. C. D Burns *Democracy* p 80

के रूप मे नागरिक स्वतन्त्रताओ का उल्लेख है जिनकी रक्षा का भार सर्वोच्च न्यायालय पर है। लेकिन पिछले २५ वर्षों के अनुभव से यह बात हमारे समक्ष आयी है कि भारतीय जनतन्त्र मे निम्नांकित दोष हैं —

(१) सत्ताधारी व्यक्तियो मे अधिकांश मूर्ख और अयोग्य हैं।

(२) अल्पसंख्यको के हितो की उचित रक्षा नही हो रही है।

(३) पेशेवर राजनीतिज्ञो की बाढ आ गयी है।

(४) दलगत-राजनीति के सारे दोष व्याप्त हैं।

(५) धन और समय की बरबादी होती है।

(६) अनैतिकता का बोलबाला है।

(७) स्थानीय हितो के लिये राष्ट्रीय हितो का बलिदान किया जाता है, तथा

(८) सार्वजनिक जीवन भ्रष्ट और क्षमता से शून्य है।

इनकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्याय मे जनतन्त्र के दोषो के अन्तर्गत क्रमांक १, ४, ६, ७, ८, १०, १३, १६ मे की जा चुकी है। यहाँ प्रश्न यह है कि जब जनतन्त्र ही सबसे अच्छी प्रणाली है तो उसे इस देश मे सफल बनाने के लिये कौन से उपाय किये जाने चाहियें ? मोटे तौर पर 'जनतन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें', जो इस अध्याय मे पहले गिनायी गयी है, इस देश मे जनतन्त्र के भविष्य के लिये आवश्यक हैं। लेकिन समस्या यह है कि उन्हे लागू कैसे किया जाय ?

लोगो का जनतन्त्र मे विश्वास कैसे पैदा किया जाये ? कैसे उनके नैतिक स्तर को उठाया जाय ? कैसे उनकी उदासीनता को कम किया जाय ? हजारो वर्ष से हमारे देश मे ऋषि मुनि तथा धर्मोपदेशक जनता को नैतिक बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं, लेकिन जनता की नींद नही टूटी है। सभ्यता के विकास से लेकर अब तक लोग बुद्धि, सम्पत्ति और संगठन शक्ति का प्रयोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये करते रहे हैं, उन्हे ऐसा करने से रोकने का जनतान्त्रिक तरीका क्या है ? जहाँ तक चुनाव का प्रश्न है, भारतीय चुनाव फिलहाल मतदाताओ को बेवकूफ बनाने और उन्हे पथभ्रष्ट करने का एक तरीका है। इसलिये इस देश मे पश्चिमी नमूने के जनतन्त्र से बहुत अधिक आशा करना व्यर्थ है। यहाँ जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये राजनीतिक स्तर के साथ साथ सामाजिक व आर्थिक स्तर पर भी एक क्रान्ति (परिवर्तन) की आवश्यकता है। ऐसा केवल ढाँचो मे परिवर्तन से ही हो सकता है। यदि समाजवादी नमूने का जनतन्त्र स्थापित किया जाय तो विचार से व्यवहार तक जो समानता और बन्धुत्व की भावना विकसित होगी वह भारतीय समाज को सच्चे अर्थों मे जनतान्त्रिक बनायगी—सुविधायें और स्वतन्त्रतायें धीरे धीरे स्वतः विकसित होती जायेंगी।

जो लोग यह सोचते हैं कि इस प्रकार की बातें करना गैर लोकतान्त्रिक है और पश्चिमी नमूने का जनतन्त्र ही सच्चा जनतन्त्र है, वे अपने विचारो मे विरोधाभास लेकर जीते हैं। पश्चिमी जनतान्त्रिक समाजो मे नस्लगत घृणा, रंगभेद, विदेशी ... का बर्बर ढंग से राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक शोषण करने तथा साम्प्रदायिक भेदभाव फैलाने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, क्या वह

आधारभूत मान्यताओं से मेल खाती है ? अत जनतन्त्र कभी भी पूरी तरह जनता का शासन नही हो सकता। जो शासन सारे जनता के लिये (जनता के कल्याण के लिये) हो वही सच्चा जनतन्त्र है। समाजवादी नमूना जनता के लिये है, पश्चिमी नमूना कुछ थोड़े स व्यक्तियो के लिये है जो धन, कुल, वश या सुविधा के आधार पर सत्ता पर अधिकार कर लेते हैं। अत भारत मे जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये पहले उसके ढांचे (नमूने) मे परिवर्त्तन की आवश्यकता है। जस्मत

शेष काय बाद

के हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ प्रजातन्त्र से आप क्या समझते हैं ? उसके गुणों का वर्णन कीजिये। (सागर १९६३)

२ प्रजातन्त्र की परिभाषा कीजिये तथा उसके गुण और अवगुण बताइये। (आगरा १९५७, ५९, ६६)

३ प्रजातन्त्र की सफलता के लिये कौन-कौन से तत्व आवश्यक हैं ? भारत में ये कहाँ तक हैं ? (आगरा १९६५ ६७, विक्रम १९६०, ६४, ६६, ६९, पटना १९६२, जीवाजी १९६६ (राजस्थान 1979 जोधपुर 1964 69)

४ राजतन्त्र कुलतन्त्र और जनतन्त्र के पक्ष में क्रमश क्या मत प्रस्तुत किये गये हैं ? वतमान परिस्थितियो में आप भारत के लिये इनमें से किसे उपयुक्त समझते हैं ? (आगरा १९६८)

५ राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के गुण दोषों का वर्णन कीजिये। (आगरा १९७०)

६ भारत मे जनतन्त्र के प्रयोग मे आपको क्या दोष दिखायी देते हैं ? इस देश में जनतन्त्र को सफल बनाने के लिये किन स्थितियो का निर्माण होना आवश्यक है ? (आगरा १९७०)

७ प्रजातन्त्र की परिभाषा देकर उसका महत्त्व स्पष्ट कीजिये। क्या यह कहना सत्य है कि आर्थिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र के अस्तित्व के बिना राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र असम्भव है ? (आगरा १९७२)

८ लोकतन्त्र एक शासन-पद्धति समाज की एक व्यवस्था, तथा जीवन का एक दर्शन है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति को सफल रूप में कार्यान्वित करने के लिये कौन-कौन आवश्यक दशायें हैं ? (आगरा १९७३, राजस्थान १९६७, विक्रम १९६०)

९ जनतन्त्र से आप क्या समझते हैं ? इसकी सफलता के लिये किन किन बातो की आवश्यकता है। (कानपुर १९७१, लखनऊ १९६४ ६९ सागर १९७०)

१० बीसवीं शताब्दी के अधिनायकवाद की क्या विशेषतायें हैं ? उसके गुण व दोषों की विवेचना कीजिये। (आगरा १९७१)

११ आप तानाशाही की तुलना में प्रजातन्त्र को क्यों महत्त्व देते हैं ? सफल प्रजातन्त्र के लिये कौन कौन सी शर्तें अनिवार्य हैं। (कानपुर १९६९, जयपुर १९७०)

१२ प्रजातन्त्र और अधिनायकवाद में आप कैसे अन्तर करेंगे ? आधुनिक अधिनायकवाद की विशेषतायें बताइये। (कानपुर १९७०, जोधपुर १९६८)

१ लोकतन्त्रात्मक सरकार के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये। इन दोषों को आप कैसे दूर कीजियेगा ? (कानपुर १९७२, विक्रम १९६४, जोधपुर १९६६)

१४ 'प्रजातन्त्र अयोग्य व्यक्तियो का शासन है —इस विचार की आलोचना कीजिये तथा यह बताइये कि प्रजातन्त्र तानाशाही से किस प्रकार उत्तम है। (जोधपुर १९६५, आगरा १९५८)

१५ 'तानाशाही लोकतन्त्र का विकल्प नहीं हो सकती —इस कथन की लोकतन्त्र के गुणों के प्रकाश में विवेचना कीजिये। (राजस्थान 1968 1965 गोरखपुर 1962)

१६ प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र मे भेद स्पष्ट कीजिये तथा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र के गुण दोषो की विवेचना कीजिये। (आगरा १९६८)

17 निम्नलिखित कथनो की व्याख्या कीजिए तथा कारण देते हुए बताइए कि आप किससे सहमत हैं—

(क) लोकतन्त्र अयोग्यता का पोषक है।

(ख) लोकतन्त्र शासन का सबसे अच्छा स्वरूप है। (राजस्थान 1971, 82)

18 आप लोकतन्त्र को अधिनायकतन्त्र से अच्छा क्यो समझते हैं ? लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए क्या आवश्यक परिस्थितियाँ हैं। (राजस्थान 1972)

19 "लोकतन्त्र केवल शासन का एक स्वरूप नही है अपितु जीवन का एक माध्यम भी है।" पाश्चात्य एवम् मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (राजस्थान 1976)

अध्याय १८

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, दलविहीन जनतन्त्र और आधारभूत जनतन्त्र

(Democratic Decentralization, Partyless Democracy and Basic Democracy)

हमारा ध्येय लाखों को सुख बनाना और साथ-साथ उनकी सम्पूर्ण बौद्धिक और नैतिक यानी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करना है। वह ध्येय केन्द्रीकरण से ही सध सकता है। केन्द्रीकरण की पद्धति का अहिंसक समाज रचना के साथ मेल नहीं बैठता।

—महात्मा गांधी

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि "स्थानीय क्षेत्र में अपने कार्यों का प्रबन्ध स्वयं करने का अधिकार जनता को मिले, जिसमें प्रान्तीय अथवा राष्ट्रीय अधिकारी अनुचित हस्तक्षेप न करें।" इसका उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण करना है ताकि जनता को प्रत्यक्ष रूप से शासन में हाथ बँटाने का अवसर मिल सके। यह 'धरातल पर जनतन्त्र' (Grassroot Democracy) स्थापित करना चाहता है। स्थानीय क्षेत्र की इकाइयों को स्वायत्त (autonomous), स्वशासित और आत्म-निर्भर बनाकर यह ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जो वास्तव में जनतान्त्रिक होगा। विनोबा भावे लिखते हैं कि "स्वराज अथवा स्वशासन शब्द में सत्ता का विकेन्द्रीकरण अन्तर्निहित है। इस सिद्धान्त को प्रत्येक सम्भव सीमा तक जीवन के समस्त क्षेत्रों—सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक—में लागू किया जाना चाहिये।"[1]

महत्व और आवश्यकता

जनतन्त्र में विभिन्न राजनीतिक दल निरन्तर सत्ता के लिये संघर्ष करते रहते हैं। उनकी बागडोर मुट्ठी भर नेताओं के हाथ में होती है। ये ही नेता संसद् या विधान सभाओं में बैठकर अपनी मर्जी से कानून बनाया करते हैं और जनता से आशा की जाती है कि वह आँख मूँदकर उनका पालन करती रहे, चुनाव के मौकों पर वह उनके ही थोड़े से प्रत्याशियों में से ही किसी को चुने जिनके पास जनता को लुभाने और यदाकदा धमकाने के साधन हुआ करते हैं। इन सब बातों से जनतन्त्र एक मखौल बन गया है

1 *Bhoodan to Gramdan* p 8

और सावजनिक प्रभुसत्ता की धारणा एक थोथा नारा या कपोल कल्पना बनकर रह गयी है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता को इस ढग से शिक्षित और अनुशासनबद्ध किया जाय ताकि वह स्वय अपने मामलो का प्रब ध या सचालन कर सके। इसके लिये जरूरी है कि सारे देश को छोटे छोटे ग्रामीण समुदायो मे बाँट दिया जाय तथा वे ग्रामीण समुदाय इस ढग से काय करें कि वे गणत त्रवाद और सामुदायिक जनत त्र के प्रशिक्षण का के द्र बन सकें। जब सम्पूण राजनीतिक सत्ता का प्रयोग ग्रामवासी करेंगे और जनता द्वारा प्रशासन का यही सिद्धान्त जिला तथा प्रान्त के स्तर पर लागू किया जायेगा, तो देश का प्रशासन के द्रीय सरकार की इच्छा का केवल यात्रिक किया वयन नही होगा अपितु जनता के शासन का सफल और वास्तविक रूप होगा। 'के द्रीय सत्ता रेलगाड़ी मे खतरे की जजीर के समान होगी। यात्रियों का ध्यान जिसकी ओर सदव केद्रित नहीं रहता, वरन् केवल सकट के समय ही वे उसका प्रयोग करते हैं।"[2]

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के गुण

लोकता त्रिक विकेद्रीकरण से अनेक लाभ हैं —

(१) यह सच्चे अर्थो मे ' जनता का जनता द्वारा और जनता क लिये शासन" स्थापित करेगा तथा सावजनिक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान करेगा।

(२) ऐसी व्यवस्था मे लोगो के निजी मतभेद कम होंग और दलगत-राजनीति के दोषो से मुक्त लोकत त्र की धारणा को साकार करने की सम्भावनायें अधिक होगी।

(३) ऐसे शासन मे के द्र का भार हल्का होगा और वह प्रतिरक्षा व विदेश-नीति ऐसे महत्त्वपूण मामलो पर अधिक ध्यान दे सकेगा।

(४) जयप्रकाश नारायण के विचार से 'यह योजना इसलिये प्रशसनीय है कि वह स्वशासित, आत्म निभर, खेतिहर औद्योगिक, शहरी-देहाती, स्थानीय समाजो को अधिक महत्त्व देती है। उसमे अवयवी सामुदायिक जीवन की पुन स्थापना का जो समथन किया गया है वह भी प्रशसा के योग्य है।"

(५) लोकतान्त्रिक विके द्रीकरण से जन सहयोग बढेगा जिससे कायकुशलता मे वृद्धि होगी। जनता की सुविधाओ का विकास होगा। शासन के खर्चे मे कमी आयेगी और विश्वब धुत्व की भावना का प्रसार होगा।

(६) यह व्यवस्था नागरिको मे राष्ट्रप्रेम की भावना को बढ़ावा देती है, क्योकि व्यक्ति जो काय राष्ट्र के लिये करता है उसे अपना काय समझकर करता है। इससे उसे राजनीतिक और नागरिक शिक्षा प्राप्त होती है। जवाहरलाल नेहरू ने इससे प्रभावित होकर लिखा है कि "आप मुझे एक स्वस्थ पचायत, एक स्वस्थ सहकारिता और एक स्वस्थ ग्रामीण स्कूल दे दो—आपको जनत त्र और समाजवाद दोनो ही निश्चित रूप से प्राप्त हो जायेंगे।"

---

2. Quo ed in Jaiprak*sh Narayan *A Picture of Sarvodaya Social Order*, p 1

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के दोष

यद्यपि सद्धान्तिक रूप से लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण एक आदर्श योजना है, तथापि व्यावहारिक रूप से इसमे अनेक दोष पाय जाते हैं —

(१) लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के अन्तगत स्थापित की गयी पचायतें अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे असफल रही हैं। वे जातिवाद और अन्य प्रकार के कुत्सित तत्त्वो के प्रभाव का अखाडा बनी हुई हैं।

(२) दलगत राजनीति के सारे दोष इस व्यवस्था मे विद्यमान हैं। प्रत्यक गाँव की जनता दो गुटो—सत्ताधारी और विरोधी—मे बँटी हुई है और उनके पारस्परिक सम्बन्धो मे घोर कटुता पायी जाती है।

(३) यह कहना गलत है कि यह व्यवस्था कम खर्चीली है। गाँवो का शासन प्रबन्ध करने के लिये अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती है। पचायत आदि के चुनावो मे विशाल धनराशि खच होती है जिसे भारत ऐसा विपुल जनसख्या वाला किन्तु आर्थिक दृष्टि से कमजोर राष्ट्र आसानी से वहन नही कर सकता। इतना ही नही, पचायत के चुनाव के दौरान गाँवो में जो हत्यायें होती हैं वे लोकसभा और विधानसभा के चुनावो को लेकर हुए झगडो और हत्याओं से कही अधिक होती हैं।

(४) पचायत के सदस्यो और विकास अधिकारियो मे मधुर सम्बन्धो का सवथा अभाव होता है। उनके बीच इस तरह की खाई होती है जैसे कि वे अलग-अलग दो स्वतन्त्र द्वीप हो। इस तनाव की स्थिति स विकास कायक्रमो मे रुकावटें आती हैं।

(५) भारत के पचायती राज के ढाँचे मे सरचनात्मक दोष भी पाया जाता है। यहाँ पचायतो और जिला परिषदो को बहुत कम शक्तियाँ दी गयी हैं जबकि पचायत समितियो को बहुत शक्तियाँ मिली हुई हैं। दूसरे, पचायत और पचायत-समितियो के कायक्षेत्र मे स्पष्ट विभाजन नहीं है जिसके फलस्वरूप अनेक कार्यों की पुनरावृत्ति होती है।

(६) जनतन्त्र के लगभग सारे दोष लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना मे पाये जाते हैं (विवरण के लिय जनतन्त्र क दोष इसी पुस्तक मे २२८–३२ देखें)।

भारत मे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण

२ अक्टूबर १९५८ को राजस्थान के नागौर जिले म पचायती राज का उद्घाटन करके तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने भारत मे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का श्रीगणश किया था। राजस्थान मे २६ जिलों क अन्तगत २३२ पचायत समितियाँ काम कर रही हैं। राजस्थान के उपरान्त आन्ध्र प्रदेश महाराष्ट्र, गुजरात, असम बिहार उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पजाब आदि लगभग सभी राज्यो मे पचायत राज की स्थापना हुई है। देश की लगभग ९८% ग्रामीण जनता आज पचायतो के क्षेत्राधिकार म है। विकेन्द्रीकरण की इस योजना क द्वारा ग्रामीण जनता मे एक नयी चेतना फूकने का प्रयास किया गया है।

पंचायती राज का स्वरूप—बलवन्त राय मेहता समिति (१९५७) की सिफारिशों के अनुरूप भारत के सभी राज्यो मे सत्ता का ग्राम, खण्ड और जिला स्तर पर विकेन्द्रीकरण किया गया है। पंचायती राज एक तीन स्तरीय योजना है, जिसमे ग्राम स्तर पर ग्राम-पंचायतें, खण्ड स्तर पर पंचायत समितियाँ तथा जिला स्तर पर जिला परिषदो की स्थापना की गयी है।

ग्राम-पंचायत—पहले पंचायत क्षेत्र की आबादी निश्चित कर दी जाती है, फिर उस आबादी के आधार पर एक या एक से अधिक गाँव मिलाकर पंचायत बनायी जाती है। पंचायत म प्रत्येक वार्ड से एक पंच चुना जाता है। पंचायत का अध्यक्ष सरपंच होता है जिसे पंच मिलकर चुनते हैं। पंचायत का कार्यकाल तीन से पाँच वर्ष होता है। वह ग्राम की सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा, कृषि, परिवार नियोजन और बीमा सम्बन्धी कार्य करती है या उनम योग देती है। सरकारी अनुदान, चुंगी, मकान-कर, यात्री कर व गाडी-कर आदि इसकी आय के साधन हैं।

पंचायत-समिति—तहसील स्तर पर पंचायत समितियाँ बनायी गयी हैं। दक्षिण मे इन्हे तहसील-बोर्ड कहते हैं। इनका कार्यकाल तीन वर्ष है। इनका अध्यक्ष प्रधान कहलाता है। ग्राम-पंचायतो को सौंपे गये कार्यों के निरीक्षण के अलावा ये सामुदायिक विकास, सहकारिता, कुटीर उद्योग, न्याय आदि का कार्य करती हैं। हर महीने पंचायत-समिति की एक सभा होती है जिसमे सभी सदस्य मिलकर विभिन्न समस्याओ पर विचार करते हैं।

जिला परिषद—जिला परिषद् का कार्यकाल भी तीन वर्ष होता है। इसका अध्यक्ष 'जिला प्रमुख' होता है। राज्य सरकार की ओर से एक विकास-अधिकारी भी इस परिषद् के लिये नियुक्त किया जाता है। जिला परिषद विचार विमर्श करने वाली संस्था है। अब इसके प्रशासनिक कार्य और आय के साधन सीमित हैं। जिले के विकास-कार्यों का सम्पादन करना, उनके विषय म राज्य सरकार को परामर्श देना, पंचायत व पंचायत समितियो के कार्यों का निरीक्षण करना, उनके बजट की जाँच करना आदि इनके मुख्य कार्य हैं।

इस प्रकार पंचायती राज द्वारा सर्वसाधारण जनता से लेकर केन्द्रीय सरकार *तक पारस्परिक सम्पर्क की एक कडी बैठाने का प्रयास किया गया है ताकि सच्चे अर्थों* मे भारत में जनतन्त्र की स्थापना हो सके।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का परिणाम

पंचायती राज ने लोगो का सामाजिक सेवा का एक नया अवसर प्रदान किया है, लोगो को स्वशासन और मूलाधिकारो के महत्त्व का ज्ञान कराया है। आम जनता और सरकारी अधिकारियो के मध्य की दूरी कम होती जा रही है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण *ने देश मे जनतन्त्र की नींव को सुदृढ़ बनाया है। सामाजिक बुराइयो का निराकरण* हो रहा है। यह सामाजिक क्रान्ति निःसन्देह महत्त्वपूर्ण है क्योकि शक्ति के बल पर इसे कभी भी नही लाया जा सकता था।

किन्तु इसका एक निराशाजनक पहलू भी है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण से भारत म पशवर राजनीतिज्ञो की बाढ आ गयी है। ग्रामो का सुरम्य वातावरण राजनीति का अखाडा बन गया है। गुटबन्दी, गुण्डागर्दी, हिंसा का बोलवाला हो गया है। सरकारी व गैर सरकारी कमचारियो के आपसी सम्बन्ध द्वेषपूण बन गये हैं। पचायती राज 'निम्न स्तर से योजना' के स्वप्न को साकार करने मे असमथ रहा है। कृषि उत्पादन के क्षेत्र मे आशातीत वद्धि नही हुई है जो पचायती राज की विफलता की द्योतक है। कुछ प्रभावशाली व्यक्ति पचायती राज के आर्थिक साधनो पर एकाधिकार कर बठते हैं, जिमका फल यह होता है कि जरूरतमन्द लोगो को आवश्यक सहायता नही मिलती और प्रभावशाली लोगा को इतनी प्रचुर मात्रा मे आर्थिक साधन उपलब्ध हो जाते हैं कि व उनका सही उपयोग भी नही कर पाते।

भविष्य

पचायती राज अभी प्रयोग की अवस्था मे है। इसकी सफलता के लिये जहाँ यह आवश्यक है कि जनता इसके आदर्शों के प्रति निष्ठावान, सच्चरित्र और जागरूक हो वहाँ यह भी आवश्यक है कि सरकार भी उन सुझावो और आवश्यकताओ को अपनी योजनाओ मे स्थान दे जो ग्रामीण सस्थाओ द्वारा समय-समय पर बताये जाते हैं। जहाँ एक ओर देश मे होने वाली उत्तरोत्तर चारित्रिक गिरावट पचायती राज की सफलता के विषय मे शका और सन्देह उत्पन्न करती है, वहाँ इस सम्भावना को भी दृढ करती है कि शिक्षा के प्रसार से जनता मे जागरूकता उत्पन्न होने पर वे सभी रोग मिट जायेंगे जिनसे आज का पचायती राज ग्रस्त है। यदि २०' वष और भारत मे पचायती राज टिक गया तो वह अमर हो जायेगा।

दलविहीन जनतन्त्र
(Partyless Democracy)

रूसो के अनुसार जनतन्त्र का सार यह है कि समाज को अपनी 'सामान्य इच्छा' को लागू करने की सुविधा मिले। लेकिन आधुनिक जनतान्त्रिक राज्यो मे ऐसा नही होता। राजनीतिक दलो का अस्तित्व सच्चे जनतन्त्र के निर्माण मे बाधा डालता है। वह जनता और सरकार के मध्य अवरोध की भूमिका निभाता है जिसके कारण व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना मुश्किल हो गयी है। वत्तमान जनतान्त्रिक व्यवस्थाओ को राजनीतिक दलो ने अपन बाहुपाश मे इस तरह जकड लिया है कि 'जनतन्त्र' 'दलतन्त्र' बन गये हैं और व्यक्ति पूरी तरह राजनीतिक दलो की कृपा पर निभर हो गया है। उसकी प्रेरणा शक्ति और निणय की क्षमता दोनो को दल व्यवस्था ने कुठित कर दिया है। जनता के पास यह स्वतन्त्रता नही रही है कि वह स्वय अपनी समस्याओ पर चिन्तन कर सके। नेहरू ऐसे शक्तिशाली प्रधानमन्त्री भी दलीय-व्यवस्था के दोषो के कारण अनेक बार स्वतन्त्र निणय नही ले पाते थे। दल-पद्धति ने राजनीति को भ्रष्ट बना दिया है। चुनाव के दौरान मतदाताओ से मत प्राप्त करने के लिये राजनीतिक

दल धन का प्रयोग, जातिवाद और सम्प्रदायवाद आदि के जो हथकण्डे अपनाते हैं उनसे यह सम्भव नहीं हो पाता कि जनता खड़े होने वाले थोड़े से उम्मीदवारों में किसी योग्य व्यक्ति को चुन सके। अमरीका ऐसे 'महान जनतन्त्र' में भी यह सम्भव नहीं रहा है—वाटरगेट काण्ड इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। आधुनिक भारत में तो कुछ राजनीतिक दल अब अपने विरोधियों पर सगठित रूप से शारीरिक आक्रमण भी करने लग हैं। पद और शक्ति प्राप्त करने के लिये हिंसा और धन का राजनीतिक दल अब जिस प्रकार प्रयोग करते हैं उससे लोगों का जनतन्त्र में विश्वास डिगने लगा है। अतः जनतन्त्र को दलगत-बुराइयों से मुक्त कराने तथा उसे वास्तविक बनाने के लिये आधुनिक युग में कुछ राजनीतिज्ञों ने 'दलविहीन जनतन्त्र' की आवश्यकता पर बल दिया है। इनमें मानवेन्द्रनाथ राय, जयप्रकाश नारायण, विनोबा भावे आदि का नाम प्रमुख है।

दलविहीन जनतन्त्र का अर्थ और स्वरूप

'दलविहीन जनतन्त्र' का अर्थ है कि सरकार का सगठन दलगत राजनीति के आधार पर नहीं होना चाहिये। जनता को स्वतन्त्र रूप से सगठित करके उसे शासन में प्रत्यक्ष भाग लेने का अवसर दिया जाना चाहिये। 'राज्य विधानमण्डलों व संसद् के भीतर दलों के आधार पर स्थान विभाजन की व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिये। सदस्यों के बैठने का कोई दलीय आधार नहीं होना चाहिये। समस्त सदस्यों को एक समूह के रूप में संसद के सदनों में बैठना चाहिये। सदस्यों के बहुमत से नेता का निर्वाचन होना चाहिये तथा नेता को अपने साथी मन्त्रियों का चयन दलीय निष्ठाओं के आधार पर नहीं अपितु योग्यता के आधार पर करना चाहिये।"[3]

दलविहीन लोकतन्त्र को साकार बनाने के लिये सर्वोदयी नेताओं ने चार मार्ग बताये हैं —

प्रथम, ग्राम पंचायतों का विकास करके उन्हें स्थानीय स्वशासन का स्वस्थ इकाई का रूप प्रदान करने का कार्य किया जाना चाहिये। जिन कार्यकर्त्ताओं का गाँव के सभी निवासी सर्वसम्मत से अपना सर्वोत्तम सेवक समझते हों उन्हीं को पंचायत के सदस्यों के रूप में मनोनीत किया जाना चाहिये। "इस कार्य में दलों की परम्परागत कार्य-पद्धति से काम नहीं लिया जायगा तो इससे सामुदायिक भावना के विकास में योग मिलेगा। जिस पद्धति से गाँव के स्तर पर काम किया जायेगा उसी का उच्च स्तरों पर भी प्रयोग होगा। थाना पंचायत को ग्राम पंचायत के सदस्य चुनेंगे। जिला पंचायत थाना-पंचायत के सदस्यों द्वारा चुनी जायेगी। प्रान्तीय शासन तथा केन्द्रीय शासन की रचना भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होगी। दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने का यह रचनात्मक उपाय है।"[4]

दूसरे, इसके समर्थक वर्तमान दलगत राजनीति से अपने-आपको दूर रखेंगे। वे

---

3 *Indian Express* August 22 1960

4 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन लक्ष्मीनारायण आगरा पृ ४२१।

किसी निर्वाचित पद को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे और न चुनावों मे भाग लेंगे। जब तक दलविहीन जनतन्त्र की अवस्था नहीं आ जाती तब तक यदि चुनाव मे भाग लेना पडे तो मतदाता सावधानी और विवेक से काम लेकर उस व्यक्ति को मत देगा जो उसके विचार से जनता की सबसे अच्छी सेवा कर सकता है।[5]

तीसरे, विभिन्न राजनीतिक दलो को आमन्त्रित करके इस व्यवस्था को साकार करने के लिये एक सयुक्त मोर्चे के रूप मे सगठित करने की कोशिश की जाय ताकि देश के समस्त अच्छे और ईमानदार लोग मिलकर सवसम्मति से इसके कार्यक्रम को लागू कर सकें।

चौथे, "विधानागो तथा ससद् मे दलीय उग्रता एव मतभेदो को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय। यदि विधायी निकायो के लिये दलीय टिकटो पर निर्वाचित होने की वर्तमान प्रणाली कायम भी रहे तो भी यह व्यवस्था की जा सकती है कि विधानागो मे प्रविष्ट होने के बाद प्रतिनिधिगण दलीय लगाव और भक्ति की भावना से मुक्त होने का प्रयत्न करें। वे दल के सदस्यो के रूप मे मत देने की बजाय राष्ट्र के प्रतिनिधियो के रूप मे मतदान करें। वे अपने दल के सचेतक के आदेशानुसार कार्य न करके अपनी आत्मा के उच्च न्यायालय के निर्णय का पालन करें। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रियों को दल के आधार पर नही चुना जायेगा। हर सदस्य से कहा जायेगा कि वह मन्त्रिपद के लिये नामो की एक सूची प्रस्तुत करे। उन नामो में से जिनको सबसे अधिक मत मिलेंगे उन्हें चुन लिया जायेगा।"[6]

आलोचनात्मक मूल्यांकन

जनतन्त्र को वास्तविक बनाने के लिये नि सन्देह दलविहीन जनतन्त्र' एक अच्छा सुझाव है। राजनीतिक दलो ने सकीर्ण भावनाओ को उकसाकर और उचित-अनुचित साधनो का प्रयोग करके जनतान्त्रिक देशो के राजनीतिक वातावरण को दूषित कर रखा है, और मानवेन्द्रनाथ राय की यह बात समझ मे आती है कि "यद्यपि जनतन्त्र का उद्देश्य जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिये शासन स्थापित करना है, तथापि दल पद्धति के कारण जनता का और जनता के द्वारा शासन तो स्थापित हो नहीं किया जा सकता। दलीय शासन अधिक से अधिक लोकतन्त्र की तीसरी शर्त (जनता के लिये शासन) पूरी करता है। यदि यही बात है तो 'उदार निरकुशतन्त्र' को सर्वश्रेष्ठ लोकतन्त्र समझना चाहिये, क्योंकि यह भी अन्तत जनता के लिये ही होता है।" लेकिन मूल प्रश्न यह है कि क्या 'दलविहीन लोकतन्त्र' स्थापित हो सकता है और भारत ऐसे बड़े देश में सफलतापूर्वक चल सकता है? उस देश मे जहाँ गुरबत है, जहाँ निरक्षरता है, जहाँ आम जनता के लिये दो वक्त की रोटी जुटा पाना एक मुश्किल काम है, जहाँ राजनीति भ्रष्टो और पर्मेवर राजनीतिज्ञो की स्वार्थपूर्ति का माध्यम है, जहाँ गम्भीर सघर्ष मे भाग लेकर सत्ता मे आने वाले व्यक्ति से यह आशा की जा रही है कि वह विजय के

5 वही प ४५२।

6 वही प ४५३।

समस्त उपहारो को त्याग देगा, जहाँ एक नही दो दो, विचारधारा की दृष्टि से, सुसंगठित साम्यवादी दल हैं—यह एक मग मरीचिका से अधिक कुछ नहीं है।

सिद्धान्त रूप से छोटे देशो अथवा कम आबादी वाले गाँवो मे जहाँ सामजस्यपूण वातावरण हो यह योजना अवश्य लागू की जा सकती है। लेकिन देखने मे आया है कि वहाँ तो जाति, सम्प्रदाय और धर्म के भेदभाव बडे नगरो की अपेक्षा अधिक उग्र होते हैं। राजनीतिक दल यदि किसी प्रकार विलुप्त भी हो गये तो सगठन का आधार पुन धम, जाति, भाषा या सम्प्रदाय बन जायेंगे। सारी योजना मनुष्य की सकीण मनोवृत्ति के कारण धरी रह जायेगी। 'दलविहीन जनतन्त्र' की स्थापना और भविष्य के लिये इस प्रकार मनुष्य के हृदय-परिवत्तन और उच्च नतिक शिक्षा की आवश्यकता है। लेकिन यदि मनुष्य किसी प्रकार व्यापक हृदय और उच्च वत्तियो वाला बनाया जा सके तो फिर 'दलविहीन लोकतन्त्र' की आवश्यकता ही क्यो रहेगी, क्योकि ऐसे समाज में राजनीतिक दल किसे दूषित करेंगे ? अत अपने समस्त गुणो के बावजूद 'दलविहीन जनतन्त्र' एक अव्यावहारिक स्वप्न है। यह सिद्धान्त राजनीति शास्त्र मे केवल एक आदश बनकर रह जायेगा।

बेसिक या आधारभूत जनतन्त्र
(Basic Democracy)

बेसिक या 'आधारभूत जनतन्त्र,' न्यूमन के शब्दो मे, "जनतन्त्र के ऐसे रूप की प्राप्ति का एक प्रयास है जिसकी उत्पत्ति विशुद्ध पूर्वीय (Eastern) हो।"[7] यह व्यवस्था दिसम्बर १९५९ मे अयूब खाँ ने पाकिस्तान मे लागू की थी। अक्टूबर १९५८ मे सत्ता में आने के उपरान्त उसने कहा था कि पश्चिम का ससदीय जनतन्त्र पाकिस्तान में विफल रहा है। लेकिन चूकि जनतन्त्र ही एकमात्र ऐसी व्यवस्था है जिसमे सम्मानपूण ढग से जनता का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है, अत पाकिस्तान के चरित्र, स्वरूप और उसकी आवश्यकताओ को देखते हुए उनके अनुरूप ही यहाँ एक नये प्रकार के जनतन्त्र की स्थापना की जायेगी जिनकी चार विशेषतायें होंगी —

प्रथम, यह साधारण बुद्धि से समझ मे आन वाला, कारवाई की दृष्टि से सरल और लागू करने मे किफायती (कम खर्चीला) होगा।

दूसरी, यह मतदाता से केवल वे प्रश्न पूछेगा जिनका वह अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर बिना किसी बाहरी दबाव के उत्तर दे सके।

तीसरी, देश के प्रत्येक नागरिक से उसकी योग्यता के अनुरूप यह शासन में उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त करेगा।

चौथी, यह सुदृढ़ और स्थायी शासन दने म सक्षम होगा।[8]

---

7 K. J Newman *Basic Democracy as an Experiment* Political Studies, Vol X 1 (Feb 1 1962) p. 46.

8 Iqbal Narain Basic Democracies in Pakistan *Political Science Review* Vol, 4 I, April 1965, pp 81-82.

स्वरूप

'आधारभूत जनतन्त्र' एक चार स्तरीय (Four tiered) ढाँचा था जिसे श्रेणी बद्ध क्रम (पद सोपान नियम) मे स्थापित किया गया था।[9]

सबसे निचले स्तर पर यूनियन कौंसिलें (गाँव मे) और टाउन कमेटियाँ (शह मे) स्थापित की गयी थी। इन्हे आधारभूत जनतान्त्रिक सस्थायें (Basic Democrati Institutions) कहा जाता था और इनके सदस्यो को बेसिक डेमोक्रेट्स। बेसिक डमो क्रेटस का चुनाव उनके क्षेत्र की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से होता था।

दूसरे स्तर पर तहसील या थाना कौंसिलें थी। इनम सभी यूनियन कौंसिल तथा टाउन कमेटियों के अध्यक्ष होते थे तथा जितनी उनकी सख्या होती थी उतनी ह संख्या मे सरकार द्वारा सरकारी और गर-सरकारी सदस्य इसमे भेजे जाते थे। तहसील सब डिवीजनल आफिसर इनका अध्यक्ष होता था।

तीसरे स्तर पर जिला कौंसिलें होती थी जिनका अध्यक्ष कलक्टर होता था इन सगठन का आधार यह था कि इनम आधे गर सरकारी सदस्य यूनियन कौसिला औ टाउन कमेटियो के अध्यक्षो मे से नियुक्त किये जाते थे, तथा उनके समान सख्या मे ह सरकारी सदस्यो की नियुक्ति सरकार द्वारा तहसील थाना कौसिलो तथा तकनीकी य दूसरे सरकारी विभागो के अध्यक्षो मे से की जाती थी।

चौथे स्तर पर डिवीजनल कौंसिलें होती थी जिनका अध्यक्ष डिवीजन क कमिश्नर होता था। इनके आधे सदस्यो की नियुक्ति का नियम वही था जो तीसरे स्त के गैर-सरकारी सदस्यो का। शेष आधे सदस्य सरकारी होते थे जो जिला कौंसिला के अध्यक्षो तथा डिप्टी कमिश्नरो और राष्ट्र-निर्माणी विभागो के अध्यक्षो मे से मनोनीत किये जाते थे।

इस तरह स्पष्ट है कि केवल पहले स्तर पर प्रत्यक्ष निर्वाचन (वयस्क मता धिकार के आधार पर) था शेष स्तरो पर सदस्यो का निर्वाचन अप्रत्यक्ष विधि से हाता था जिनमे सरकार का पूण हस्तक्षेप स्वाभाविक था।

आलोचनात्मक मूल्याकन

आधारभूत जनतन्त्र के कायगत भूमिका की दृष्टि से तीन पक्ष थे। राजनीतिक रूप से इसका लक्ष्य पाकिस्तान में ऐसे जनतन्त्र की स्थापना करना था जो वहाँ के लोगो की रुचियो और आवश्यकताओ के अनुकूल हो। प्रशासनिक रूप से इसका उद्देश्य प्रशासनिक विकास और सुधार का एक माध्यम प्रस्तुत करना था। स्थानीय स्वशासन और राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से इसका उद्देश्य लोगो मे राष्ट्रीय चेतना का विकास करना, सरकारी भ्रष्टाचार को कम करना तथा देश के विकास-कायक्रमो मे जनता क

9 विवरण के लिये देखें Rizvi (ed) *A Reader in Basic Democracies* Pakistan S. S. Foundation Lahore, 1961

सहयोग प्राप्त करना था। लेकिन 'आधारभूत जनतन्त्र' अपने उद्देश्यो मे सफल नही रहा। इसके कई कारण थे।

प्रथम यह कि आधारभूत जनतन्त्र केवल नाम मात्र को जनतन्त्र था। यूनियन कासिलें और टाउन कमेटियाँ केवल जनता द्वारा चुनी जाती थीं। आदेश ऊपर से नीचे चलते थे अत इन सस्थाओ की बात सरकार तक नही पहुँचती थी, अपितु सरकार की बातो का पालन करना ही इनका धर्म था।

दूसरे, आधारभूत जनतन्त्र केवल निर्देशित लोकतन्त्र (Guided Democracy) या नियमित लोकतन्त्र (Controlled Democracy) का ही एक रूप था। टौरेस ने लिखा है कि "निर्देशित लोकतन्त्र जनतन्त्र ही नहीं होता, तथा यह सन्देहास्पद है कि यह कभी हो भी सकता है।"[10]

तीसरे, यह प्रणाली केवल कागज पर ही सुन्दर दिखायी देती थी। इसे व्यवहार मे लाना प्राय मुश्किल था क्योकि यह जटिल थी।

चौथे, यह व्यवस्था वर्णसकर थी। इसका जन्म जनता की जनतान्त्रिक इच्छाओ और पाकिस्तान के शासको की अधिनायकवादी वृत्तियो के सयोग से हुआ था। जनता को शीघ्र ही शासको के गद्दी बनाये रखने के इरादो का ज्ञान हो गया। व्यवहार मे इस व्यवस्था के खोखलेपन ने उनका विश्वास इस प्रणाली से उठा दिया। फलस्वरूप पाकिस्तान में अयूबशाही के विरुद्ध जनमत हो गया और २८ मार्च १९६९ को अयूब के पतन के बाद इस प्रणाली का भी पाकिस्तान मे पतन हो गया। आधारभूत जनतन्त्र का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। यह सदेहास्पद है कि भविष्य मे कोई अन्य देश या स्वय पाकिस्तान भी कभी इस प्रणाली को अपनायगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का क्या अर्थ है? भारत मे उसके क्रियान्वयन पर प्रकाश डालिये।

२ दलविहीन प्रजातन्त्र पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (कानपुर १९७०, आगरा १९७० ७२)

३ आधारभूत जनतन्त्र पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (आगरा १९७१)

४ आधारभूत जनतन्त्र के स्वरूप और उसके प्रयोग पर एक समीक्षा लिखिए।

5 स्थानीय स्वराज्य से आपका क्या अभिप्राय है? स्थानीय सस्थाओं के क्या कार्य हैं। (राजस्थान 1971)

6 विकेन्द्रित लोकतन्त्र का अर्थ स्पष्ट करें एव विकेन्द्रित लोकतन्त्र की सस्थाओं के महत्व को इगित करें। (राजस्थान 1977)

---

10 Jose Arsenio Torres, 'The Political Ideology of Guided Democracy' The Review of Politics Vol. 25 1 January 25 1963 p 63

अध्याय १९

अधिकारों के सिद्धान्त
(Theories of Rights)

'विवेक (न्याय) के नियम द्वारा रक्षित हित ही अधिकार है । यह एक ऐसा हित है जिसका सम्मान करना कर्त्तव्य और जिसका उल्लंघन करना भूल है।'

—सामण्ड

आधुनिक युग में अधिकारो का विशेष महत्त्व है। अधिकार वे सुविधायें और परिस्थितियाँ हैं जिनका उपयोग करके मनुष्य स्वय तथा समाज दोनो का बहुमुखी विकास कर सकता है। यह व्यक्ति की ऐसी माँग, एक ऐसा हक होता है जिसे समाज, राज्य व कानून मान्य ठहराते हैं और रक्षा करते हैं। बर्न्स ने अधिकारो के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने भीख नहीं मांगी थी, इसने मनुष्य के अधिकारों का दावा किया था।"

अर्थ व परिभाषा

समय और देश के अनुसार अधिकार के सम्बन्ध मे लोगो की धारणायें बदलती रही हैं। यही कारण है कि अधिकार शब्द के सही अर्थ के सम्बन्ध मे विद्वानों मे काफी मतभेद है। सत्रहवी शताब्दी के यूरोप मे निरकुश राजतन्त्र पर आधारित पुरातन व्यवस्था के विरुद्ध जब सघर्ष आरम्भ हुआ तब अधिकार शब्द ने जन्म लिया था। आज जीवन के साथ ही अधिकार-भावना का उदय हो जाता है। सभी क्रान्तियां अधिकारो के लिये ही हुई हैं। लास्की ने अधिकारो को जीवन की वे परिस्थितियाँ बताया है "जिनके बिना कोई व्यक्ति साधारणतया अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्ति नहीं कर सकता।"

बोसाके के शब्दो मे, "यह वह माँग है जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।"

डा बेणीप्रसाद के विचार से 'अधिकार उन सामाजिक दशाओं से कम या अधिक कोई वस्तु नहीं है जो व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक व सहायक हैं। सारांश मे, 'अधिकार सामाजिक जीवन के पक्ष होते हैं।"

ग्रीन के शब्दो म, 'अधिकार वह शक्ति है जिसकी लोक कल्याण के लिये माँग की जाती है और मान्यता भी दी जाती है।"

1 C. D Burns *Political Ideas* Oxford London. p 152.

विले के विचार से अधिकार विशेष काय करने मे स्वाधीनता की उचित माग है।"

हालण्ड इसे "एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के कत्तव्यो को समाज के मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता" समझता है।

मक्कन की राय मे, "अधिकार सामाजिक हित के लिये कुछ लाभकारी परिस्थितियाँ हैं जो कि नागरिक के समुचित विकास के लिये आवश्यक हैं।

सक्षेप मे, अधिकार का अथ उन बातो की स्वतन्त्रता तथा दशाओं से होता है जो नागरिक के सर्वाङ्गीण विकास के लिये आवश्यक होती हैं। कुछ अर्थों मे समाज मे अधिकार शब्द से 'प्राप्त होना चाहिये' का बोध होता है। अधिकार मनुष्य व समाज के विकास के लिये एक आवश्यक साधन है। यह आधुनिक काल मे स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति और उत्तम जीवन का आवश्यक अग है।

अधिकार के तत्त्व

अधिकार के स्वरूप को भली भाति समझने के लिये हम अधिकार के प्रमुख तत्त्वो को ध्यान मे रखना अत्यत आवश्यक है। अधिकार मे निम्नांकित पाँच तत्त्व होते हैं —

(१) सामाजिक हित मे एक स्वाथरहित माँग।
(२) बौद्धिक और नतिक आधार।
(३) समाज द्वारा स्वीकृत।
(४) अधिकार का सवव्यापी होना।
(५) अधिकार के साथ कत्तव्य का लगा होना।

सामाजिक हित मे एक स्वाथरहित माँग—अधिकार समाज के हित मे एक स्वाथरहित माँग होती है, जो समाज या राज्य से की जाती है। जीवन की आधारभूत आवश्यकताओ (जिनके अनेक रूप हैं) की पूर्ति या तुष्टि के लिये कुछ विशेष परिस्थितियो की आवश्यकता होती है। एसी दशाओ व परिस्थितियो की माँग जो नि स्वाथ भाव से समाज के हित मे की जाती है, सम्पूर्ण अधिकार के स्वरूप का एक अश होती है।

बौद्धिक और नतिक आधार—अधिकार का दूसरा प्रमुख लक्षण उसका बौद्धिक और नतिक आधार होता है। ऊपर व्यक्त की गयी स्वाथरहित माँग के लिये यह अत्यत आवश्यक है कि वह माग सामाजिक सदाचरण पर आधारित हो। एक अच्छी अधिकार-व्यवस्था के लिय उसका आधार बौद्धिक और नतिक होना आवश्यक है। आत्महत्या, बहुविवाह प्रथा, दुराचरण, शराब पीना, जुआ खेलना इत्यादि अधिकार रूप मे सामाजिक मान्यता प्राप्त नही कर सकते। इसके विपरीत, जीवन, भाषण, लेखन और जीविका उपाजन के अधिकार बुद्धि और नतिकता पर आधारित हैं।

समाज द्वारा स्वीकृत—अधिकार को समाज द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। समाज से बाहर अधिकारो की कोई अवस्थिति नही होती। अधिकारो का समाज द्वारा

मान्य होना आवश्यक है। समाज के भीतर रहते हुए यदि कोई सामाजिक या वैधानिक स्वीकृति अधिकारो को न मिली हो तथा प्रत्यक व्यक्ति को अपनी शक्ति व चतुराई के बल पर अपने अधिकारो के उपभोग की स्वतन्त्रता हो तो गरीब और दुबल, धनवान और शक्तिशाली व्यक्तियो पर अपने अधिकारो के प्रयाग के लिये निभर रहगे। एसी परिस्थिति मे 'जिसकी लाठी उसकी भस' वाले सिद्धान्त का चलन होगा। अत सामाजिक मान्यता अधिकार का तीसरा प्रमुख तत्त्व है।

अधिकार का सवव्यापी होना—अधिकारा की चौथी विशेपता यह है कि वे सवव्यापी हों। उनका प्रयोग किसी वग-विशेप सघ या राष्ट्र तक सीमित नही होना चाहिये। ऐसी स्थिति होनी चाहिये कि उनका प्रयोग सभी नागरिक कर सकें। यदि कोई अधिकार किसी वग विशेप तक ही सीमित रहेगा तो शेप व्यक्ति उसके प्रयोग से वचित रह जायेंगे और वह अधिकार उस वग की बपौती बन जायेगा जिसे अधिकार की सज्ञा नही दी जा सकेगी। ऐसा अधिकार अधिकार नही, हाँ! विशेषाधिकार अवश्य, कहा जा सकता है। इस दिशा मे 'मानवीय अधिकारो की सावभौमिक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) एक महत्त्वपूण कदम है। अत अधिकारो को सवव्यापी होना चाहिये। उनके सवव्यापी न होने से उनका आधार ही खत्म हो जायेगा।

अधिकार के साथ कत्तव्य का लगा होना—प्रत्येक अधिकार मे कत्तव्य की भावना का निहित होना आवश्यक है। अधिकार का कत्तव्य के बिना कोई अस्तित्व नही होता। एक रूप मे जो एक व्यक्ति का अधिकार है दूसरे रूप म वही उसका कत्तव्य है। यदि मुझे जीवित रहने का अधिकार प्राप्त है तो दूसरे रूप म मेरा यह कत्तव्य है कि मैं अन्य व्यक्तियो के जीवित रहने के अधिकार का सत्कार करूँ। अधिकार तथा कत्तव्य का समुचित समन्वय न हो सकने के कारण ही समाज मे अनेक दोप और विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। अधिकारो का कत्तव्यो के साथ ठीक-ठीक समन्वय अधिकार का अन्तिम प्रमुख तत्त्व है, क्योकि अधिकार और कत्तव्य एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त

समय-समय पर अधिकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। उनमे प्रमुख निम्नांकित हैं —

(१) प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त।
(२) अधिकारो का वैधानिक सिद्धान्त।
(३) अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धान्त।
(४) अधिकारो का सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त।
(५) अधिकारो का आदशवादी अथवा प्रत्ययवादी सिद्धान्त।
(६) दवी अधिकारो का सिद्धान्त।

प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त

अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तों में यह सबसे पुराना है। इसका उल्लेख प्राचीन यूनानी दार्शनिक कृतियों में भी मिलता है। परन्तु इसकी समुचित तथा लोकप्रिय व्याख्या सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दी के अनुबन्धवादी विचारकों द्वारा की गयी थी।

इस सिद्धान्त के मानने वाले अधिकारों को प्रकृति दत्त मानते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति से उसकी त्वचा का रंग अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसके अधिकार उससे पृथक् नहीं किये जा सकते। जीवित रहने का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार व आत्मनिर्णय का अधिकार कुछ ऐसे जन्मजात अधिकार हैं जिनको प्राप्त करने तथा सुरक्षित रखने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को जन्म से ही प्रकृति से प्राप्त है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों—हॉब्स, लॉक और रूसो—तथा थॉमस पेन और स्पैंसर आदि विचारकों ने अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त का बहुत समर्थन किया है। उनकी राय में जीवन सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के अधिकार जन्मजात होते हैं और इन अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये ही व्यक्ति ने समझौते के द्वारा समाज की रचना की है।

प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का यूरोप तथा अमरीका की जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। फ्रांसीसी व अमरीकी क्रान्तियों का आधार यह अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त ही था। इन दोनों राष्ट्रों के संविधानों में इनकी एक विस्तृत घोषणा की गयी तथा उन्हें मनुष्य के मौलिक अधिकारों के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

संयुक्त राज्य अमरीका के 'वर्जीनिया' राज्य के संविधान में यह लिखा हुआ है कि "सभी लोग समान रूप से मुक्त व स्वतन्त्र हैं और कुछ जन्मजात अधिकार रखते हैं जिनका वे जब समाज में प्रवेश करते हैं तो किसी भी समझौते द्वारा परित्याग नहीं करते जैसे कि जीवन व स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, प्रसन्नता व सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार।"

१७७६ की संयुक्त राज्य अमरीका की स्वतन्त्रता की घोषणा में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। १७९१ व १७९३ की फ्रांस की घोषणा में भी इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। औद्योगिक क्रान्ति से लेकर अब तक लोगों ने प्राकृतिक अधिकारों के नाम से ही राजनीतिक क्षेत्र में बड़े-बड़े लाभ उठाये हैं। रोटी कपड़ा, मकान और जीवन तथा राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये लोग निरन्तर प्रयत्नशील हैं तथा इन्हें प्राकृतिक अधिकारों की ही संज्ञा दे रहे हैं।

आलोचना—व्यावहारिक दृष्टि से प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का कितना भी महत्त्व क्यों न रहा हो, तार्किक व ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धान्त असंगत व भ्रमपूर्ण है। सबसे पहले तो 'प्रकृति' शब्द की व्याख्या करना ही बहुत कठिन है। प्रोफेसर री जी रिची ने प्राकृतिक अधिकारों पर एक पूरी पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने 'प्रकृति' शब्द के पाँच अर्थ बताये हैं (१) सम्पूर्ण विश्व, (२) आदर्श (काल्पनिक ध्येय), (३) प्रारम्भिक (अपूर्ण), (४) मानव रहित सम्पूर्ण विश्व, और

(५) सामान्य (Average)। इन पाँचों में से प्राकृतिक अधिकारों में प्राकृतिक शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया जाय ?

सिसरो ने प्रकृति शब्द से अर्थ 'आत्मा की पुकार या अन्तःकरण की विवेक शक्ति' से लगाया है। किसी भी पाश्चमी लेखक ने 'प्रकृति' शब्द का ऐसा अर्थ नहीं बताया जो सवमान्य हो। कुछ लोगों ने दासता की प्रथा को प्राकृतिक बताया है तो कुछ ने बहुविवाह, अस्थायी विवाह आदि प्रथायें प्राकृतिक बतायी हैं क्योंकि पशु पक्षी सामान्यतः ऐसे नियमों से आचरण करते हैं जो इनसे मेल खाते हैं। रिशी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "यदि प्रकृति का निरीक्षण किया जाय तो हम आपके किसी काय को दोषपूर्ण नहीं कह सकते, परन्तु इतना अवश्य है कि आप भी यह सिद्ध नहीं कर सकते कि आप ठीक हैं।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि जब प्रकृति शब्द का कोई निश्चित अर्थ ही नहीं तब उसके आधार पर सिद्धान्त कैसे खड़ा किया जा सकता है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में विरोधाभास का बोध भी दिखायी देता है। फ्रांस की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता व विश्वबन्धुत्व को प्राकृतिक अधिकार बताया था, परन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता व समानता की धारणायें न केवल काल्पनिक हैं अपितु परस्पर विरोधी भी हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता का अर्थ असमानता है। सभी सदस्यों को यदि पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज में असतुलन पैदा हो जायेगा तथा असमानता उत्पन्न हो जायेगी। समाज की रक्षा के लिये स्वतन्त्रता व समानता में समन्वय आवश्यक है। अतः प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त उपयोगी नहीं दिखायी देता।

एक अन्य उलझन भी इस सिद्धान्त में परिलक्षित होती है। इस सिद्धान्त के मानने वालों का विश्वास है कि मनुष्य के अधिकार राज्य और समाज से पहले के हैं। लेकिन गिलक्राइस्ट का मत है "अधिकारों की उत्पत्ति इस कारण से हुई कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।"[3] राबिन्सन क्रूसो को निर्जन द्वीप पर अपने अधिकारों का बोध नहीं हुआ होगा। प्राकृतिक जगत में तो जीवों को केवल एक अधिकार—शक्ति का अधिकार—ही प्राप्त होता है। इसलिये प्रकृति में समानता हो ही नहीं सकती हिन्दू दार्शनिकों की भाषा में प्रकृति केवल मात्स्य न्याय को मानती है। अतः अधिकारों का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वे केवल सामाजिक जीवन से उत्पन्न होते हैं।

प्रत्यालोचना—इन आलोचनाओं का उत्तर देते हुए लार्ड ने लिखा है कि "हम प्राकृतिक अधिकारों को परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि प्राकृतिक अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जो चाहे मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न हों या न हों, लेकिन जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं।'[4] इस दृष्टि से भोजन, वस्त्र, जीवन शिक्षा व काय प्राप्त करने के अधिकार प्राकृतिक अधिकार कहे जा सकते हैं जिनके बिना मनुष्य की बहुमुखी उन्नति नहीं हो सकती।

---

2 D G Ritchie *Natural Rights* Allen & Unwin London p 105

3 पूर्वोक्त पुस्तक पृ १३४।

4 A R Lord *The Principles of Politics* Oxford London p 254

अधिकारो का वैधानिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के मानने वाले अधिकारो को प्राकृतिक नही, वरन् कृत्रिम मानते हैं। उनका मत है कि जिन जिन कार्यों को करने के लिये राज्य के कानून हम अनुमति देते है वे ही वास्तव मे हमारे अधिकार हैं। स्वतन्त्रता, जीवन, सम्पत्ति आदि सभी अधिकार इस प्रकार राज्य द्वारा निर्धारित होते हैं।

इस सिद्धान्त के समर्थकों मे बेन्थम, आस्टिन, हालैण्ड आदि मुख्य है। बेन्थम के शब्दों मे "अधिकार उचित अर्थ मे कानून की ही कृति है।" प्राकृतिक अधिकार उसके शब्दो मे बकवास (nonsense) हैं। यद्यपि थामस हाब्स अधिकारो के प्राकृतिक सिद्धान्त की धारणा को लेकर चला था, तथापि वह भी बाद मे अधिकारों की कानूनी धारणा के निकट आ गया। उसके अनुसार, सामाजिक समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति अपने अधिकार राज्य को सौंप देता है और फिर जो कुछ सम्प्रभु उसे देता है वही उसका अधिकार होता है। इस तरह, नागरिक के पास सम्प्रभु के विरोध करने का अधिकार भी नहीं रह जाता, क्योंकि सभी अधिकार कानून की कृति हैं और कानून किसी भी व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार नहीं दे सकता।

जनतन्त्र मे भी व्यक्ति उन्ही अधिकारो का प्रयोग कर पाता है जिनकी रचना राज्य द्वारा हुई हो। हमारे मौलिक अधिकार तब तक सारहीन व सत्ताहीन हैं जब तक उन्हे कानूनी मान्यता प्राप्त न हो।

आलोचना—यह विचार गलत है कि अधिकारो का निर्धारण राज्य के कानूनो द्वारा होता है। यदि राज्य भ्रष्टाचार, घूसखोरी, बेईमानी दगाबाजी की विधान द्वारा आज्ञा दे दे तो क्या ये अधिकार हो जायेंगे। लास्की ने तो यहाँ तक कहा है कि "अधिकार राज्य की स्वीकृति की सीमा से बाहर है।" 'राज्य अधिकारो को बनाता नहीं है, वह केवल उन्हे मान्यता प्रदान करता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकारो का अस्तित्व स्वयं अपने आप रहता है, उन्हे विधि का रूप दिया जाय या नहीं। विधि द्वारा उन्हे इसलिये लागू किया जाता है कि वे अधिकार हैं, वे विधि द्वारा लागू होने से अधिकार नहीं बन जाते।'[5]

दूसरे, इस सिद्धान्त से राज्य की निरकुशता का समर्थन होता है। इसके मानने का अर्थ होगा कि राज्य मनमानी कर सकता है और उसे व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप का अधिकार मिल जायेगा।

तीसरे, मनुष्य के अधिकार रीति रिवाज, परम्परा तथा आचार विचार पर निर्भर रहते हैं, लिखित विधानो से उनका सम्बन्ध नहीं होता। लास्की का कथन है कि 'अधिकार की पुष्टि आदत और परम्परा से होती है न कि इसलिए कि वह अधिकार विधान द्वारा कागज पर लेखबद्ध कर दिया गया है।' क्या छुआछूत, सतीप्रथा जो कभी अधिकार के रूप मे थे आज अधिकार के रूप मे कानून द्वारा लागू किये जा सकते हैं? कानून बदलते रहते हैं, परन्तु अधिकारो मे परिवर्तन कानूनो के बदलने का साथ नही

5 नॉरमन विले (Wilde), आशीर्वादम् द्वारा राजनीति शास्त्र पृ १६९ मे उद्धृत।

अपितु हमारी सामाजिक सदाचरण सम्बन्धी धारणाओं द्वारा होता है। लास्की लिखता है कि "अधिकारों के वैधिक सिद्धान्त के पीछे अनुमानों की एक लड़ी है। राजनीति में इन अनुमानों को प्रमाणित मानने से पहले इन अनुमानों में से प्रत्येक का सावधानी से विवेचन करना होगा।'[6]

अन्त में, वैधानिक सिद्धान्त यह नहीं बताता कि जिन अधिकारों को विधान स्वीकार करता है, वास्तव में, वे अधिकार विधान द्वारा स्वीकार किये जाने चाहियें या नहीं। इस 'चाहिए' का निर्णय विधान नहीं कर सकता। यह निर्णय, लार्ड के अनुसार, मनुष्यत्व' करता है। अतः मनुष्यत्व ही अधिकारों का मूल स्रोत है।

प्रत्यालोचना—आलोचकों का यह मत कि "अधिकारों का कानून से कोई सम्बन्ध नहीं होता" और समर्थकों का यह कथन कि "अधिकारों का निर्णय कानून करता है' दोनों ही भ्रमपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि कोई भी कानून सामाजिक सदाचरण का उल्लंघन करके अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। इस प्रकार, नैतिक धारणा कानून के स्वरूप को निर्धारित करती है। अधिकारों का आधार चूंकि नैतिक होता है इसलिये वह उस समय तक अधिकार कहलाने के योग्य नहीं होता जब तक कि उसे कानूनी मान्यता प्राप्त न हो जाय।

अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक अधिकार के कानूनी तथा नैतिक दो पक्ष होते हैं और दोनों की उपस्थिति में ही वे अधिकार बन पाते हैं। बोसांके लिखता है कि "एक आदर्श अधिकार में ये दोनों पक्ष मिले हुए रहते हैं। अधिकार का विधि द्वारा लागू किया जाना सम्भव होना चाहिये और उसे लागू किये जाने के योग्य होना चाहिये।"[7]

अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का सार यह है कि 'इतिहास अधिकारों की सृष्टि करता है।" लगातार व्यवहार में अपनाये जाने वाले रीति रिवाज व परम्परायें कालान्तर में अधिकारों का रूप ले लेती हैं। रिशी लिखता है कि जिन अधिकारों के विषय में लोग यह सोचते हैं कि वे उन्हें मिलने ही चाहिये वे साधारणतः "ऐसे ही अधिकार होते हैं जिनके वे अभ्यस्त होते हैं और जिनके विषय में—चाहे गलत हो या सही—यह परम्परा रहती है कि वे उन्हें कभी प्राप्त थे।"[8] सम्पत्ति व्यवस्था रीति रिवाज ही थी जो अधिकारों में परिवर्तित हो गयी। इस सिद्धान्त के मानने वाले कहते हैं कि जिन्हें लोग प्राकृतिक अधिकार समझते वास्तव में वे परम्परागत रीति रिवाज ही हैं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड की क्रान्ति केवल इसलिये हुई थी कि जिन परम्परागत अधिकारों का प्रयोग वहाँ की जनता सैकड़ों वर्ष से करती चली आ रही थी उन पर शासकों ने नवीन प्रतिबन्ध लगाकर कुठाराघात किया था। लोग इसे सहन नहीं कर सके तथा उन्होंने क्रान्ति द्वारा आदि काल से चली

6 Laski *A Grammar of Politics* Allen Unwin London p 91
7 Bosanquet *The Philosophical Theory of State* Macmillan London p 187
8 op cit p 8-

आ रही सुविधाओं को 'महाधिकार पत्र' (Magna Carta) तथा 'अधिकार याचना-पत्र' (Petition of Rights) के रूप में सामने रखा।

आलोचना—गुमनर' के इस बहुचर्चित वाक्य की कि 'रीति रिवाज ही अधिकार होते हैं,' प्रोफेसर हॉकिंग ने जबरदस्त आलोचना की है। वह लिखता है कि 'जिस समय विधान द्वारा दास बनाना स्वीकृत था तो क्या वह अधिकार था? क्या शिशु-हत्या अधिकार रहा है? नहीं!" यह सत्य है कि हमारे बहुत से अधिकार रीति-रिवाज व परम्पराओं की उपज हैं, परन्तु रीति रिवाजों का आधार नैतिक होता है। नैतिक धारणाओं के बदलने के साथ-साथ उनमें भी स्वाभाविक परिवर्तन होता रहता है। अतः नैतिक प्रतिमान के आधार पर यह सिद्धांत खरा नहीं उतरता। सभी अधिकारों के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे परम्परागत हुए हैं और परम्पराओं के बदलने पर उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। अतः अधिकारों का केवल एकमात्र ऐतिहासिक आधार नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि उनका केवल कानूनी आधार सम्भव नहीं है। हॉकिंग की युक्ति ठीक जँचती है कि 'इतिहास की उपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन उस पर भरोसा भी नहीं किया जा सकता।'"

दूसरे, अधिकारों के ऐतिहासिक रूप को मान्यता देने का अर्थ हुआ कि सामाजिक रीति रिवाजों में सुधार नहीं हो सकता। छुआछूत, दास-प्रथा, सती प्रथा सभी का आधार ऐतिहासिक था। इस प्रकार तो समाज का प्रगति अवरुद्ध हो जायगी।

प्रत्यालोचना—इन आलोचनाओं के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि इस सिद्धान्त में पर्याप्त सत्यांश है। अधिकारों के विकास पर ऐतिहासिकता का योगदान अवश्य होता है।

अधिकारों का सामाजिक कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के मानने वाले अधिकारों का स्वरूप की देन मानते हैं और उनका आधार सामाजिक कल्याण बताते हैं। यह सिद्धान्त वस्तुतः उपयोगितावादियों का है, क्योंकि उपयोगिता के सिद्धान्त में व्यक्ति व समाज दोनों का कल्याण निहित है। इसके समर्थकों में बेन्थम, मिल, रोज, रस्को पाउण्ड, चफी और लास्की का नाम मुख्य है। चफी लिखता है कि "अधिकारों का निर्माण दृष्टि के सम्बन्ध में होता है।"

धारणायें स्पष्ट व सर्वमान्य नहीं है। गांधी व मार्क्स का सामाजिक कल्याण सम्बन्धी धारणायें एक सी नहीं थी।

सामाजिक कल्याण के नाम पर ही हिटलर ने जर्मनी में यहूदियों का मौत के घाट उतारा था। इसी के नाम पर मंसूर को फाँसी दी गयी और सुकरात को जहर। सामाजिक कल्याण के नाम पर ही पाकिस्तान में मुसलमान हिन्दुओं तथा भारत के विरुद्ध जिहाद (धर्मयुद्ध) का नारा बुलन्द करते हैं। अतः सामाजिक कल्याण को अधिकारों का आधार मानने से राज्य को यह अधिकार मिल जायगा कि वह व्यक्तिगत जीवन में दखल दे सके और अनेक मूल्यवान स्वतन्त्रताओं को छीन सके।

संयुक्त राज्य अमरीका का एक जहाज दुर्भाग्यवश तूफान में चट्टान से टकराकर नष्ट हो गया। जब कई दिनों तक एक जान बचाने वाली नाव में सवार कुछ लोगों को भोजन न मिला तो उन्होंने अपने में से ही एक व्यक्ति को मारकर खा लिया। क्या सामाजिक कल्याण के लिये इस प्रकार एक व्यक्ति को मारकर खा जाना उचित था? सर्वोच्च न्यायालय में उन पर मुकदमा चला और उन्हें दण्ड मिला। स्पष्ट है कि सामाजिक कल्याण के नाम पर उचित अनुचित का निर्णय नहीं हो सकता। एक दार्शनिक ने भी कहा है कि, 'यदि अधिकारों का निर्णय समाज की स्वीकृति पर निर्भर रहेगा तो मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से अपील करने का अधिकार ही नहीं रहेगा और उसे समाज की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर रहना पड़ेगा।'

अधिकारों का आदर्शवादी या प्रत्ययवादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार वास्तव में वे बाह्य परिस्थितियाँ होती हैं जो मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक होती हैं।[11] इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में टी. एच. ग्रीन का नाम मुख्य है। वह इस धारणा को लेकर चलता है कि तत्त्वतः मनुष्य ईश्वर का अंश है इसलिये उसमें नैतिक चेतना व नैतिक इच्छा स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है। इस नैतिक इच्छा की पूर्ति करना ही जीवन का परम उद्देश्य है। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब कि नैतिक इच्छा के मार्ग में रुकावटें न हों अर्थात् व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र हो। अतः व्यक्ति के विकास के लिये स्वतन्त्रता एक मूलभूत अधिकार है तथा सभी अधिकारों का सम्बन्ध इस नैतिक स्वतन्त्रता से होता है।

इस सिद्धान्त से अर्थ निकलता है कि—(१) अधिकार व्यक्ति के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों की एक नैतिक माँग है, (२) जो समाज से सम्बन्धित है क्योंकि समाज से बाहर उसकी अनुभूति असम्भव नहीं, तथा (३) वह कर्त्तव्य रूप भी है।

आलोचना—दार्शनिक दृष्टि से ग्रीन का सिद्धान्त बहुत ही आकर्षक है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से इसमें अनेक दोष दिखायी देते हैं। नैतिकता का कोई पूर्णतः सर्व

11 ग्रीन ने अधिकारों को विवेकपूर्ण जीवन के विकास के लिये आवश्यक बाहरी परिस्थितियाँ माना है।—आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र पृ० १७६।

व सवमा`य मापदण्ड नही मिलता। अत इस आधार पर अधिकारा का कोई सिद्धान्त खड़ा नही किया जा सकता।

दूसरे सभी व्यक्तियो मे नतिक चेतना का होना आवश्यक नहीं है। व्यक्ति प्राय अपने स्वाथ के लिये काय करता है। अत यह कहना गलत है कि हर व्यक्ति की नतिक चेतना दूसरो के नतिक कल्याण का ध्यान रखती है। इस तरह यह सिद्धा`त व्यक्तिगत कल्याण और सामाजिक कल्याण म उचित तालमेल नही बठा पाता।

प्रत्यालोचना—उपयुक्त आलोचनाआ के बावजूद यह मानना पडेगा कि यह सिद्धा`त पर्याप्त तकसगत है, क्योकि यह अधिकारा के नैतिक व सामाजिक दानो पक्षा को स्वीकार करता है।

दवी अधिकारो का सिद्धान्त

इस सिद्धा`त के मानने वाले ईश्वर को अधिकारा का स्रोत मानते है। इसके अतिरिक्त उनकी यह धारणा भी है कि ईश्वर ने व्यक्ति को अधिकार इसलिये दिये हैं कि वह उसके उद्देश्यो को पूरा करने क लिय उचित साधन बन सके। इस प्रकार अधिकार न केवल व्यक्ति व समाज के लिये हैं, अपितु ईश्वर द्वारा ईश्वर की इच्छा की पूर्त्ति के लिये हैं।

आलोचना—इस सिद्धा`त म अनेक उलझनें हैं। साथ ही आज क युग म केवल आस्था के आधार पर किसी सिद्धा`त का मा यता नही दी जा सकती। यह पूणत तक-हीन सिद्धा`त है और अधिकारो के प्राकृतिक सिद्धा त का ही एक रूप है।

विभिन्न सिद्धा`तो का मूल्याकन

युग, दश और वातावरण के अनुसार अधिकार सम्ब धी धारणाये बदलती रही हैं। इसलिये कोई भी अधिकार विषयक सिद्धा`त एसा नही है जो सावकालिक व सवमा`य हो। सभी सिद्धान्तो मे सत्य का कुछ न कुछ अश है, अत अधिकारा की समुचित व्याख्या के लिये इन सभी सिद्धा`तो की उपयोगिता को स्वीकार करना पडेगा। लेकिन यदि किसी एक सिद्धान्त को श्रेष्ठ बताने की विवशता ही आ जाय तो कहना पडेगा कि आदशवादी सिद्धा`त दूसरो की अपेक्षा अधिक स`तोषप्रद है। इसका कारण यह है कि वह मनुष्य के व्यक्तित्व की पूणता के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियो की रक्षा करने का वचन देता है। लेकिन मुश्किल उस व्यावहारिक रूप देने के समय आती है। सामाजिक कल्याण सिद्धा`त और आदशवादी सिद्धा`त अधिकारा के विषय मे काफी सीमा तक एक-सी धारणा रखते हैं—क्योकि दोनो म व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित जुड़े हुए है। लेकिन यदि कभी व्यक्तिगत और सामाजिक हिता म टकराव की स्थिति आ जाय तो सामाजिक कल्याण सिद्धा त एक ओर जायगा और आदशवादी सिद्धान्त दूसरी ओर। सामाजिक कल्याण' का निर्धारण मुश्किल भी हो सकता है। आदर्शवादी सिद्धा`त चूकि किसी भी व्यक्ति के हितो का बलिदान दूसरे क विकास के लिये करना स्वीकार नहीं करता, अत 'सामाजिक कल्याण' का

उसमें स्वतः आ जाता है। इसलिये कहा जा सकता है कि अधिकार विषयक सभी सिद्धान्तों में आदर्शवादी सिद्धान्त सर्वाधिक सन्तोषप्रद है।

नागरिकों के विशिष्ट अधिकार

विश्व के प्रायः सभी देशों के नागरिकों को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं और सरकार को यह शक्ति नहीं दी जाती कि साधारणतया वह उन्हें छीन सके। इनमें मुख्य-मुख्य निम्नांकित हैं जिन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—सामाजिक अधिकार और राजनीतिक अधिकार।

सामाजिक अधिकार

जीवन का अधिकार—सामाजिक अधिकारों में सबसे पहला जीवन का अधिकार है। इसका अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति आत्महत्या नहीं कर सकता क्योंकि समाज के लिये सभी का समान महत्त्व है। मनुष्य को निराश होकर जीवन से भागने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। दूसरे, किसी व्यक्ति को दूसरे के प्राणों का हरण करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे दूसरे व्यक्ति के जीवित रहने का अधिकार नष्ट हो जाता है। लेकिन संकटकाल में आत्मरक्षा के लिये आक्रमणकारी को चोट पहुँचाने की स्वतन्त्रता इस अधिकार में शामिल है। इसके अतिरिक्त, इस अधिकार में सन्तति-उत्पादन और बन्धनमुक्त जन्म का अधिकार तथा काम पाने का अधिकार भी शामिल हैं, क्योंकि इनके अभाव में व्यक्ति व समाज दोनों का विकास रुक जायेगा।

स्वतन्त्रता का अधिकार—इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी जीवन से सम्बन्धित समस्त कार्यों को स्वतन्त्र रूप से करने का अधिकार है, बशर्ते कि वे अन्य व्यक्तियों के उसी प्रकार के कार्यों पर अतिक्रमण न करते हों। इसमें भाषण, लेखन, प्रकाशन व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, अपनी रुचि व भावना के अनुकूल धर्म को मानने, उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समुदायों को बनाने की स्वतन्त्रता आदि के अधिकार निहित हैं।

सम्पत्ति का अधिकार—व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार सभी देशों में पाया जाता है, लेकिन इसके रूप में भिन्नता है। इसका कारण यह है कि कुछ देशों में लोग व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाकर उसका प्रयोग सामाजिक हित को ध्यान में रखकर नहीं करते। अतः राज्य के कानून निजी सम्पत्ति के अधिकार को निर्धारित करते हैं और यह अधिकार कहीं भी निस्सीम या निरपेक्ष नहीं होता। इस पर समाज-कल्याण की मर्यादा स्वीकार की जाती है।

सम्पत्ति का अधिकार इस मूल मान्यता पर आधारित है कि निजी सम्पत्ति रखना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह मनुष्य को लगन व परिश्रम से कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करती है और उसे आने वाले कल की चिन्ता से मुक्त कराती है। सम्पत्ति के अधिकार का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी जमीन, जायदाद या रुपये-पैसे के रूप में सम्पत्ति धारण कर सकता है और राज्य उसकी रक्षा करेगा। लेकिन सम्पत्ति उसी

नुपात मे रखी जानी चाहिये जिसकी राज्य ने आज्ञा दी है।

शिक्षा का अधिकार—इस अधिकार का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक को उस प्रकार की शिक्षा पाने की सुविधा मिलना जिसमे उसकी रूचि हो। इसका अर्थ सभी नागरिको के लिये एक-से प्रशिक्षण की व्यवस्था करना नही है। राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह नागरिको की शिक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध करेगा। नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करना इसी का एक रूप है। लास्की ने लिखा है कि नागरिकता के कार्यों को करने के लिये शिक्षा की व्यवस्था परमावश्यक है। शिक्षा की असमानता नागरिको को अपने अधिकार प्राप्त करने से वंचित कर देती है।[12]

राजनीतिक अधिकार

मतदान का अधिकार—राजनीतिक अधिकारो मे सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार मतदान का होता है। इसका अभिप्राय है कि चुनाव के दौरान प्रत्येक वयस्क को अपना मत प्रकट करने के लिये मतदान का अधिकार है। यह अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक माना जाता है, क्योकि सम्पत्ति, जाति, लिंग, रूप या रग आदि के आधार पर भेदभाव करके यदि किसी व्यक्ति या वर्ग को इस अधिकार से वंचित कर दिया जाय तो वह व्यक्ति या वर्ग राज्य की सुविधाओ से दूर रह जाता है और राज्य इस अधिकार से सम्पन्न कुछ व्यक्तियो के हितो का साधन मात्र बनकर रह जाता है।

वयस्क मताधिकार के विपक्ष मे कहा जाता है कि सामान्य व्यक्ति अज्ञानी होते हैं और मत देने की उनमे योग्यता नही होती। लेकिन यह तर्क आधुनिक युग मे माना नही जाता। लास्की ने लिखा है कि मताधिकार को सीमित नही किया जाना चाहिये।[13]

चुनाव मे खडे होने का अधिकार—मत देने के अधिकार के साथ साथ प्रतिनिधि चुने जाने का अधिकार भी आवश्यक है। किसी भी व्यक्ति को जन्म, जाति, रग आदि के आधार पर चुनाव लडने से रोकना नही चाहिये। यदि प्रतिनिधि का कर्त्तव्य पालन करने के लिये किसी विशेष योग्यता को आवश्यक समझा जाय तो प्रतिनिधि बनने के लिये इस प्रकार की योग्यता होने की शर्त लगायी जा सकती है। लास्की ने इस मत का दृढता से समर्थन किया है।[14]

सुनवाई का अधिकार—इस अधिकार द्वारा प्रत्येक नागरिक को अपनी शिकायतो को व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से योग्य शासको तक पहुँचाने का अवसर दिया जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि अपनी शिकायतो की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिये लूटपाट, तोड फोड, आगजनी या विद्रोह किया जाय। अपने प्रतिनिधियो के माध्यम से अथवा आवेदन-पत्र भेजकर सरकार का ध्यान अपनी

12 *A Grammar of Poli s* p 113
13 *Ibid* p 115
14 *Ibid*, p 117

शिकायतों की ओर खींचा जा सकता है।

सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार—यह अधिकार जनतन्त्र की देन है। इसका अर्थ है कि नागरिक चाहे किसी वर्ग, जाति, रूप, रंग, वर्ण, लिंग का क्यों न हो यदि वह निर्धारित योग्यता रखता है तो उसे सरकारी पद पाने का अन्य नागरिकों के समान अधिकार प्राप्त है। इसे 'अवसर की समानता' भी कहते हैं।

न्याय पाने का अधिकार—सभ्य समाज में नागरिक को न्याय दिलाने की व्यवस्था होती है। इसके लिये राज्य स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका का गठन करके नागरिकों के न्याय प्राप्त करने के अधिकार की व्यवस्था करता है।

निष्कर्ष—अधिकारों की सूची से स्पष्ट है कि राज्य में अधिकारों की व्यवस्था के बिना नागरिक का विकासोन्मुख जीवन असम्भव है। इन्हें अस्वीकार करके राज्य अपने अस्तित्व का जोखिम ही उठायेगा। अधिकारों की सूची से ही राज्य के स्वरूप का ज्ञान होता है। अधिकार वह कसौटी है जिससे राज्य की स्थिति का परीक्षण किया जा सकता है।

अधिकार और कर्त्तव्य का सम्बन्ध

'कर्त्तव्य का शाब्दिक अर्थ है करने योग्य काम'। कर्त्तव्य एक प्रकार का बन्धन है। यह कार्य करने का दायित्व है जिसे एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति या समाज के प्रति निभाना चाहिये। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण के साथ कर्त्तव्यों की शृंखला बँधी हुई है। हम कभी सामाजिक ऋण से मुक्त नहीं हो सकते, इसलिये हमें सदैव अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखना चाहिये। बिना कर्त्तव्यों के अधिकार का टिकना असम्भव है। वाइल्ड लिखता है कि "अधिकार कर्त्तव्यों पर आश्रित होते हैं। अधिकारों का महत्त्व कर्त्तव्यों की दुनिया में ही होता है।"[15] यही कारण है कि कुछ विचारक कर्त्तव्यों को अधिकारों से भी अधिक महत्त्व देते हैं। गांधी जी कहा करते थे कि व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये, अधिकार तो उसे स्वतः मिल जायेंगे। गांधी जी के अनुसार कर्त्तव्य पहले और अधिकार बाद में आते हैं, अर्थात् अधिकार कर्त्तव्यों से ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिये शिक्षा के अधिकार को ही ले लीजिये। यदि व्यक्ति समाज से शिक्षा के अधिकार की माँग करते हैं तो उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने परिश्रम और सहयोग द्वारा समाज को इतना समृद्ध बना दें कि वह उन्हें शिक्षा प्रदान कर सके—अन्यथा उनके शिक्षा के अधिकार का महत्त्व ही क्या है।

सिजविक ने लिखा है कि "थोड़ा-सा मनन करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि जब हम किसी व्यक्ति के अधिकारों की कल्पना करते हैं तो उसमें यह निहित रहता है कि दूसरे को कुछ कर्त्तव्यों का अवश्य पालन करना पड़ेगा जिससे कि वह व्यक्ति अपने उन अधिकारों का उपभोग कर सके।"[16]

प्रो. हॉबहाउस भी ऐसा ही मत रखते हैं। उनके शब्दों में, "अधिकार और कर्त्तव्य सामाजिक कल्याण की शर्तें हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य का इस कल्याण के साथ

15 Wilde: Ethical Basis of the State, Oxford, London, p. 119

दोहरा सम्ब ध है। उसका इसमे माझा है, यह उसके अधिकार हैं। इसमे उसको योग देना है, यह उसका कत्तव्य है।'

इस प्रकार, प्रत्येक अधिकार व्यक्ति के लिये एक कत्तव्य भी है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नही है। इसलिये कहा जाता है कि "अधिकार और कत्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।" अधिकार, वास्तव मे, कत्तव्य के दपण मे एक प्रतिबिम्ब मात्र है और कत्तव्य अधिकार के दपण मे एक प्रतिबिम्ब। एक के हट जाने से दानो का अस्तित्व मिट जायेगा। प्रो लास्की ने इसे बडे ही सुन्दर शब्दो मे समझाया है—"प्रथम, मेरा अधिकार तुम्हारा कत्तव्य है, द्वितीय, मेरे अधिकार मे यह कत्तव्य निहित है कि म तुम्हारे समान अधिकार को स्वीकार करूँ, तृतीय, मुझे अपने अधिकारो का प्रयोग सामाजिक हित मे वद्धि करने की दृष्टि से करना चाहिये, चतुथ, क्योंकि राज्य मेरे अधिकारो को सुरक्षित रखता है तथा उनकी व्यवस्था करता है, अत राज्य की सहायता मेरा कत्तव्य है।"

आज के युग मे लोग दुर्भाग्य से कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिकारो पर विशेष बल देते हैं। यही कारण है कि समाज मे अधिकारो और कत्तव्यो का सन्तुलन बिगड जाने से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अनेक सामाजिक बुराइयो का कारण हमारी अधिकारो की जिद और कत्तव्य भावना की कमी है। कत्तव्यो का पालन तो स्वेच्छा से होना चाहिये, क्योंकि तभी समाज मे नागरिक बिना रोक-टोक अधिकारो का प्रयोग कर सकता है।

कर्त्तव्य के प्रकार

कत्तव्य दो प्रकार के होते हैं—नतिक और कानूनी। नतिक कत्तव्य बहुत व्यापक हैं—जसे माता पिता, शिक्षक का सम्मान करना सत्य बोलना, दीन-दुखियो की मदद करना आदि। कानूनी कत्तव्य वे होते हैं जिन्हे र द निश्चित करता है और जिनके उल्लघन करने पर सजा देता है।

इस सम्ब ध म एक बात ध्यान मे रखने योग्य , कि यह आवश्यक नही होता कि अधिकारो के साथ नागरिक के कत्तव्यो की भी अलग-अलग गणना करायी जाय। भारत व अन्य देशो के सविधाना म नागरिक के अधिकारो का विवेचन तो मिलता है, लेकिन कत्तव्यो का नहीं। सोवियत सघ को छोडकर अन्य किसी देश के सविधान म कत्तव्यो का उल्लेख नही है। फिर भी प्रमुख कत्तव्य निम्नांकित हैं, जिनके निवहन की अपेक्षा सभी राज्य अपन नागरिको स करत हैं—

राज्य के प्रति भक्ति—नागरिक की अपने राज्य के प्रति भक्ति होनी चाहिय। उसे दश की सुरक्षा के लिय आवश्यकता पडने पर अपने प्राण न्योछावर करने के लिये तत्पर रहना चाहिय। शान्तिकाल म राष्ट्र म व्यवस्था और एकता बनाय रखने के लिय उसे प्रयास करना चाहिय। सोवियत सविधान न सावजनिक सनिक सेवाय निर्धारित की हैं और इन्हे वह नागरिको के लिय एक आदरणीय कत्तव्य समझता है।

कानूनो का पालन—नागरिको का प्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य यह है कि वे राज्य द्वारा बनाये गये कानूनो का पालन करें। अच्छी नागरिकता

किसी चीज की अपेक्षा अधिक से अधिक कानूनों के पालन में निहित है।

कर की अदायगी—कोई भी सरकार राजकोष के बिना नहीं चल सकती। इसलिये प्रत्येक सरकार अपने देश के नागरिकों पर विभिन्न प्रकार के कर लगाती है। जनता का यह कर्त्तव्य है कि वह समय पर इन करों की अदायगी करे और इनकी चोरी से बचे। क्योंकि सरकार कर द्वारा जनता से जो लेती है उसे जनता के विकास पर खर्च करती है।

मत का उचित प्रयोग—मत को एक पवित्र धरोहर समझना चाहिये और उसका प्रयोग सोच समझकर पूरी ईमानदारी के साथ चरित्रवान लोगों के पक्ष में करना चाहिये। जो व्यक्ति चुने जायें वे अपने पदों को सेवा और त्याग की भावना से अपनायें तथा जो विश्वास समाज ने उन्हें सौंपा है उसे भली-भाँति निभायें।

संक्षेप में, कर्त्तव्य के बिना अधिकार असम्भव है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ अधिकार के विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। इनमें से कौन सा सिद्धान्त सबसे अधिक सन्तोषप्रद है?
(कानपुर १९६६ लखनऊ १९६८, आगरा १९६४ ६६ राज १९६७, गोरखपुर १९६३)

२ प्राकृतिक (नैसर्गिक) अधिकारों के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये। क्या इस सिद्धान्त में मान्य का कुछ अंश है? (आगरा १९५६, ६० ६७ ७३ कानपुर १९७१, राज १९६१, विक्रम १९६२, ६४, गोरखपुर १९६२ ६५ ६७)

३ अधिकारों की परिभाषा कीजिये और अधिकारों की आदर्शवादी धारणा की व्याख्या कीजिये।
(मगध १९६३, लखनऊ १९६४)

४ सभ्य राज्यों में साधारणतः कौन कौन से व्यक्तिगत अधिकार मान्य समझे जाते हैं?
(रांची १९६३ जीवाजी १९६३, जोधपुर १९६७)

५ अधिकारों के मुख्य प्रकार की विवेचना कीजिये और कर्त्तव्यों से उनका सम्बन्ध बताइये।
(गोरखपुर १९६४)

६ निम्नलिखित पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये—
(i) प्राकृतिक अधिकार (राज॰ 1972, 1982)
(ii) राजनीतिक अधिकार (राज॰ 1973)

7 इस दृष्टिकोण का परीक्षण करें कि कर्त्तव्यों की अनुपस्थिति में अधिकार निरर्थक हैं।
(राज॰ 1977)

8 अधिकारों का क्या अर्थ है? अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त एवं प्राकृतिक सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (राज॰ 1980)

अध्याय २०

राजनीति शास्त्र की मुख्य अवधारणायें
(Basic Concepts of Political Science)

दुबल व्यक्ति की स्वत त्रता बलवान के निय त्रण पर और गरीब की स्वतन्त्रता धनवान के नियन्त्रण पर निभर करती है। प्रत्येक व्यक्ति को केवल इतनी ही स्वत त्रता मिलनी चाहिये—और इससे अधिक कुछ नहीं—कि वह दूसरो के साथ वसा ही व्यवहार करे जसा व्यवहार वह चाहता है कि दूसरे लाग उसके साथ करें। इसी सामा य आधारशिला पर स्वतन्त्रता समानता और नतिकता का अस्तित्व है।"
—पोलार्ड

स्वतन्त्रता
(Liberty)

'स्वत त्रता' जिसे अंग्रेजी मे 'लिबर्टी' कहते है लटिन भाषा के 'लाइबर' शब्द से बना है जिसका अथ उस भाषा मे ब धनो का अभाव' होता है। शब्द-उत्पत्ति के आधार पर स्वतन्त्रता' का अभिप्राय हुआ किसी भी बाहरी दबाव से प्रभावित हुए बिना सोचने विचारने और सोचे हुए काम को करने की शक्ति। पर तु इस प्रकार की चरम स्वत त्रता सदा सम्भव नही है।[1] इसका कारण यह है कि मानव स्वभाव में दो परस्पर विरोधी तत्त्व पाये जाते हैं। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' जो एक ओर अ य मनुष्यो के साथ मिल जुलकर रहना चाहता है तो दूसरी ओर वह सबसे अलग अपने मन के अनुकूल काम भी करना चाहता है। इसलिये स्वतन्त्रता का अधिक-से-अधिक यही अथ हो सकता है कि मनुष्य को वह सब कुछ करन का अधिकार जो दूसरो के वसे ही अधिकार को हानि न पहुँचाये।[2] स्वत त्रता का सम्पूण स दभ सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओ स जुड़ा होता है। व्यक्ति को जो उपलब्ध है वह उसी सीमा तक स्वतन्त्र है। "स्वतन्त्रता को त्यागना, रूसो के शब्दो म, मनुष्यता को त्यागना है। मनुष्यता के अधिकारो और कत्तव्यो का समपण कर देना है। आज दासता की सब कही नि दा की जाती है क्याकि यह मानव जीवन के सम्पूण उद्देश्य को नष्ट कर देती है और मनुष्य को एक जीवित औजार बना देती है।'

1 Laski *A Grammar of Politics* p 142.

2 रेम्जे म्योर के अनुसार स्वत त्रता से अभिप्राय व्यक्ति या समूहों की इच्छानुसार काम करने की पूरी छूट से है जहाँ तक कि वह उसी प्रकार की अ य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को हानि न पहुंचाये।

किसी चीज की अपेक्षा अधिक से-अधिक कानूनों के पालन में निहित है।

कर की अदायगी—कोई भी सरकार राजकोष के बिना नहीं चल सकती। इसलिये प्रत्येक सरकार अपने देश के नागरिकों पर विभिन्न प्रकार के कर लगाती है। जनता का यह कर्त्तव्य है कि वह समय पर इन करों की अदायगी करे और इनकी चोरी से बचे। क्योंकि सरकार कर द्वारा जनता से जो लेती है उसे जनता के विकास पर खर्च करती है।

मत का उचित प्रयोग—मत को एक पवित्र धरोहर समझना चाहिये और उसका प्रयोग सोच समझकर पूरी ईमानदारी के साथ चरित्रवान लोगों के पक्ष में करना चाहिये। जो व्यक्ति चुने जायं वे अपने पदों को सेवा और त्याग की भावना से अपनायें तथा जो विश्वास समाज ने उन्हें सौंपा है उसे भली भाँति निभायें।

संक्षेप में, कर्त्तव्य के बिना अधिकार असम्भव हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ अधिकार के विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। इनमें से कौन सा सिद्धान्त सबसे अधिक संतोषप्रद है?

(कानपुर १६६६ लखनऊ १६६८ आगरा १६६४ ६६, राज १६६७, गोरखपुर १६६३)

२ प्राकृतिक (नैसर्गिक) अधिकारों के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये। क्या इस सिद्धान्त में सत्य का कुछ अंश है? (आगरा १६५६, ६० ६७ ७३, कानपुर १६७१ राज १६६१, विक्रम १६६२, ६४, गोरखपुर १६६२, ६५ ६७)

३ अधिकारों की परिभाषा कीजिये और अधिकारों की आदर्शवादी धारणा की व्याख्या कीजिये। (मगध १६६३ लखनऊ १६६४)

४ सभ्य राज्यों में साधारणतः कौन कौन से व्यक्तिगत अधिकार मान्य समझे जाते हैं? (रांची १६६३ जीवाजी १६६३ जोधपुर १६६७)

५ अधिकारों के मुख्य प्रकार की विवेचना कीजिये और कर्त्तव्यों से उनका सम्बन्ध बताइये। (गोरखपुर १६६४)

६ निम्नलिखित पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये—

(i) प्राकृतिक अधिकार (राज० 1972 1982)

(ii) राजनीतिक अधिकार (राज० 1973)

7 इस दृष्टिकोण का परीक्षण करें कि कर्तव्यों की अनुपस्थिति में अधिकार निरर्थक हैं। (राज० 1977)

8 अधिकारों का क्या अर्थ है? अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त एवं प्राकृतिक सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (राज० 1980)

अध्याय २०

राजनीति शास्त्र की मुख्य अवधारणायें
(Basic Concepts of Political Science)

दुर्बल व्यक्ति की स्वतन्त्रता बलवान के नियन्त्रण पर और गरीब की स्वतन्त्रता धनवान के नियन्त्रण पर निर्भर करती है। प्रत्येक व्यक्ति को केवल इतनी ही स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये—और इससे अधिक कुछ नहीं—कि वह दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसा व्यवहार वह चाहता है कि दूसरे लोग उसके साथ करें। इसी सामान्य आधारशिला पर स्वतन्त्रता समानता और नैतिकता का अस्तित्व है।"

—पोलार्ड

स्वतन्त्रता
(Liberty)

'स्वतन्त्रता' जिसे अंग्रेजी में 'लिबर्टी' कहते हैं लैटिन भाषा के 'लाइबर' शब्द से बना है जिसका अर्थ उस भाषा में 'बन्धनों का अभाव' होता है। शब्द उत्पत्ति के आधार पर 'स्वतन्त्रता' का अभिप्राय हुआ किसी भी बाहरी दबाव से प्रभावित हुए बिना सोचने विचारने और सोचे हुए काम को करने की शक्ति। परन्तु इस प्रकार की चरम स्वतन्त्रता सदा सम्भव नहीं है।[1] इसका कारण यह है कि मानव स्वभाव में दो परस्पर विरोधी तत्त्व पाये जाते हैं। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' जो एक ओर अन्य मनुष्यों के साथ मिल जुलकर रहना चाहता है तो दूसरी ओर वह सबसे अलग अपने मन के अनुकूल काम भी करना चाहता है। इसलिये स्वतन्त्रता का अधिक-से-अधिक यही अर्थ हो सकता है कि मनुष्य को वह सब कुछ करने का अधिकार जो दूसरों के वैसे ही अधिकार को हानि न पहुँचाये।[2] स्वतन्त्रता का सम्पूर्ण सन्दर्भ सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं से जुड़ा होता है। व्यक्ति को जो उपलब्ध है वह उसी सीमा तक स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता का त्यागना, रूसो के शब्दों में, मनुष्यता को त्यागना है। मनुष्यता के अधिकारों और कर्त्तव्यों का समर्पण कर देना है। आज दासता की सब कहीं निन्दा की जाती है क्योंकि यह मानव जीवन के सम्पूर्ण उद्देश्य को नष्ट कर देती है और मनुष्य को एक जीवित औजार बना देती है।'

---

1 Laski *A Grammar of Politics* p 142.

2 रेम्जे म्योर के अनुसार स्वतन्त्रता से अभिप्राय व्यक्ति या समूहों की इच्छानुसार कार्य करने की पूरी छूट से है जहाँ तक कि वह उसी प्रकार की अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को हानि न पहुँचाये।

परिभाषायें

गटिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो पक्ष होते है—सकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative)। सकारात्मक ढग से इसका अर्थ है अवसरो की उपस्थिति तथा नकारात्मक ढग से इसका अर्थ है बन्धनो का अभाव। स्वतन्त्रता की जो भी परिभाषायें विद्वानो द्वारा दी गयी हैं उनमे इन्ही मे से किसी एक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है।

सीबर के अनुसार, "स्वतन्त्रता अपने पूर्ण अर्थ मे बिना किसी अन्य स्रोत अथवा बाहर से प्रभावित हुए कार्य करने की छूट है।"

सीले के विचार से "स्वतन्त्रता शासनाधिक्य (over government) का विलोम है।"

मेसीमो सल्वाडोरी के अनुसार, "स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति की निजी कार्यों मे स्वच्छानुसार निर्णय लेने की उन्मुक्त इच्छा है, इसका सम्बन्ध स्वयं से है; न कि बाहरी जगत से जो उसे घेरे हुए है।

ग्रीन के विचार से "स्वतन्त्रता से अभिप्राय करने योग्य कार्यों की छूट से है।'

मकेन्जी के शब्दो मे "स्वतन्त्रता समस्त प्रतिबन्धो का अभाव नही अपितु अविवेकपूर्ण प्रतिबन्धो के स्थान पर विवेकशील प्रतिबन्धो की व्यवस्था है।'

लास्की का कथन है कि "स्वतन्त्रता से मेरा तात्पर्य उस पर्यावरण को बनाये रखने से है जिसमे रहकर मनुष्य को अपने पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त हो। स्वतन्त्रता अधिकारो से ही उत्पन्न होती है इसलिये यह एक सकारात्मक वस्तु है। इसका अर्थ केवल प्रतिबन्धो का अभाव नही है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ मे पहली तीन परिभाषायें नकारात्मक है क्योकि ये बन्धनो के अभाव के रूप मे स्वतन्त्रता की व्याख्या करती हैं। इसके विपरीत बाद की तीन परिभाषायें सकारात्मक हैं जिनमे अवसरो की उपस्थिति की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सम्पन्न लोग स्वतन्त्रता के अन्तर्गत बन्धनो के अभाव' पर बल देते हैं, जबकि सर्वहारा या विपन्न वर्ग के लोग स्वतन्त्रता के सकारात्मक पक्ष पर जोर देते हैं, क्योकि उनकी इच्छा होती है कि उन्हे भी विकास के समुचित अवसर प्राप्त हो। शायद इसी कारण गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि 'प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता के विषय मे एक प्रकार की अस्पष्ट कल्पना रखता है और वह इसकी इच्छा करता है, परन्तु इस शब्द के प्रयोग करने वाले दस व्यक्तियों मे से दो व्यक्ति भी यह नहीं कह सकते कि उनका क्या अभिप्राय है और यदि वे कहते है तो अपनी परिभाषाओ मे एक-दूसरे से सहमत होंगे।'[3]

अन्त मे हम बिसप्टम रोजोटर के शब्दो मे कह सकते हैं कि "स्वतन्त्रता की प्रामाणिकता चार तत्त्वों मे निहित है बाह्य नियन्त्रण, आत्मनिर्भरता, समता एवम अवर।"

3 R. N Gilchris

स्वतन्त्रता के प्रकार

स्वतन्त्रता का कोई एक रूप नहीं है। इसके विविध रूप होते हैं। कार का कथन ठीक है कि "स्वतन्त्रता का रूप, सर्वत्र एक सा नहीं रहा। यह बदलता रहा है। एक पीढ़ी जिस स्वतन्त्रता को आवश्यक समझती है, दूसरी पीढ़ी उसे युग व सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकता के नाम पर बलिदान करने पर जोर देती है।" स्वतन्त्रता के विभिन्न रूपो मे, फिर भी, निम्नांकित रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं —

नैसर्गिक स्वतन्त्रता—आधुनिक युग के विचारकों ने राज्य की सत्ता पर सीमायें लगाने के उद्देश्य से नैसर्गिक या प्राकृतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनमे हॉब्स, लॉक और रूसो प्रमुख हैं। उन्होने यह धारणा व्यक्त की है कि राज्य व समाज की स्थापना से पूर्व मनुष्य नैसर्गिक (प्राकृतिक) जीवन व्यतीत करता था। पशु-पक्षियों के समान वह रहने व विचरण करने के लिये स्वतन्त्र था। भोजन आदि जरूरी चीजो की कोई कमी नही थी। यह बन्धनहीन वातावरण नैसर्गिक स्वतन्त्रता का परिणाम था।

समाज और राज्य की स्थापना होने से नैसर्गिक स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। समाज मे रहने के कारण व्यक्ति का अपने साथियो के समान हितो का ध्यान रखना आवश्यक हो गया जिसके फलस्वरूप उस पर कुछ नियन्त्रण लगे। इसी तथ्य को प्रगट करने के लिये रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल काण्ट्रेक्ट' की प्रारम्भिक पंक्तियो मे लिखा कि "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र पैदा हुआ है, परन्तु सब कहीं वह बन्धनों मे जकड़ गया है।" संयुक्त राज्य अमरीका के स्वाधीनता संघर्ष तथा फ्रांस की राज्यक्रान्ति मे इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का आह्वान किया गया था।

नैसर्गिक स्वतन्त्रता की इस धारणा को आज के युग मे मान्यता नहीं दी जा सकती, क्योंकि बन्धन के अभाव में आधुनिक समाज में सर्वत्र 'मात्स्य न्याय' फैल जायेगा और शक्तिशाली दुर्बल को दबा लेंगे। वर्तमान युग में समाज में रहकर ही व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकता है लेकिन इस दोष के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि आज भी नैसर्गिक स्वतन्त्रता का प्रयोग कुछ ऐसी व्यवस्थाओ के लिये हो सकता है जो मानव की प्रकृति के कारण आवश्यक हैं। उदाहरण के लिये, जीवन की स्वतन्त्रता नैसर्गिक स्वतन्त्रता कही जा सकती है।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिये कुछ अवसर चाहता है जिसमे समाज का कोई हस्तक्षेप न हो। समाज के नियन्त्रण से स्वतन्त्र अपने जीवन को स्वयं व्यतीत करने की स्वतन्त्रता को ही 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' की संज्ञा दी जाती है। हेयक ने लिखा है कि 'यह मनुष्यों की वह अवस्था है जिसमे दूसरो के द्वारा किसी भी व्यक्ति के जीवन मे हस्तक्षेप यथासम्भव न्यूनतम रहता है। यह वह अवस्था है जिसमे कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की मनमानी के अधीन नहीं होता।"[4] जीवन के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता परमावश्यक होती है। उदाहरण के लिए

4 F. A. Hayek, *The Constitution of Liberty* p. 11

भोजन, धम, वस्त्र आदि के विषय मे व्यक्ति सामाजिक बधन नहीं चाहता। वह वस्त्रो को इच्छानुसार पहनना चाहता है, स्वेच्छा से धम का पालन करना चाहता है। इन क्षेत्रों मे यदि उसे स्वतन्त्रता न मिले तो वह दु खी होगा और कष्ट का अनुभव करेगा।

लेकिन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र आधुनिक युग में पर्याप्त सीमित हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत कार्यों का प्रभाव समाज पर पडता है इसलिये समाज उसके प्रत्येक काय को मर्यादित करने की चेष्टा कर रहा है। व्यक्तिगत के स्थान पर सामाजिक दृष्टिकोण की प्रधानता हो गयी है। किन्तु कुछ अशो मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता फिर भी स्वीकार की गयी है। जब तक व्यक्ति की भोजन व्यवस्था, वस्त्र पहनने की प्रणाली तथा धार्मिक उपासना का ढग समाज की भावना को ठेस नही पहुँचाता तब तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर किया जाता है। लेकिन यदि कोई महिला टॉपलस वस्त्र (जिनमें वक्षस्थल का पर्याप्त भाग खुला रहता है) पहने तो समाज की नतिक भावना को ठेस पहुँचने की दृष्टि से अमरीका आदि उदारवादी देश भी उसके पहनावे पर रोक लगाते हैं। इसी प्रकार यदि व्यक्ति ऐसे भोजन को खाने की स्वतन्त्रता चाहे जिससे हैजा आदि महामारी फलने का भय हो तो उसे उनके खाने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। भारतीय मुसलमान यदि ईद या मुहरम के अवसर पर गाय की कुर्बानी देना चाहे तो हिन्दुओ की नतिक भावना को ठेस पहुँचने की दृष्टि से उन्हे यह अनुमति नहा दी जा सकती। अत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि जब तक व्यक्ति के कार्यों से समाज को कोई आघात नही पहुँचता वह स्वतन्त्र है।

नागरिक स्वतन्त्रता—समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति जिस स्वतन्त्रता का उपभोग करता है उसे 'नागरिक स्वतन्त्रता' कहते हैं। गटिल के शब्दों मे, "इसमे स्वतन्त्र रूप से काम करने की स्वाधीनता और हस्तक्षेप से मुक्ति शामिल है।"[5] इसके अन्तगत शारीरिक स्वतन्त्रता, कानून के समक्ष समता, भाषण विचरण, सम्पत्ति और स्वतन्त्र रहने की स्वतन्त्रता, अपनी सस्कृति बनाये रखने की स्वतन्त्रता आदि आती हैं। सक्षेप मे, 'नागरिक स्वतन्त्रता शारीरिक और मानसिक दबाव के विरुद्ध सरक्षण है।"[6] अधिकाश सविधानो मे नागरिक स्वतन्त्रताओ का उल्लेख कर दिया जाता है ताकि राज्य उन पर अतिक्रमण न कर सके। यदि कभी ऐसा अवसर आ जाये तो नागरिक को यह अधिकार होता है कि वह न्यायालय मे राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध याचिका प्रस्तुत करके नागरिक स्वतन्त्रता को पुन प्राप्त कर सके।

राजनीतिक स्वतन्त्रता—राज्य के सचालन मे सक्रिय भाग लेने के अवसरो को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। डा विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के अनुसार 'राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल आधार है—व्यक्ति के अधिकारो का पालन। एक व्यक्ति स्वतन्त्र रह सके इसके लिये उसको स्वतन्त्रता का अन्य अनगिनत लोगों के अधिकार के साथ समन्वय करना होगा।"[7] लोकॉक के विचार से 'राजनीतिक स्वतन्त्रता सवधानिक

5 op cit p 111
6 आशीर्वादम्, पूर्वोक्त पुस्तक पृ १८३।
7 राजनीति और दर्शन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६, पृ १०० ।

स्वतन्त्रता होती है और इसी के आधार पर जनता को अपनी सरकार चुनने का अधिकार मिलता है।" राजनीतिक स्वतन्त्रता मे मत देने, चुनाव में खड़े होने, उचित योग्यता प्राप्त होने पर सावजनिक पद पाने, सरकार की आलोचना करने आदि की स्वतन्त्रता आती है। 'मैं राज्य के मामलो मे खुलकर भाग ले सकता हूँ, मेरे उच्च पद पर पहुँचने के माग मे कोई ऐसी रुकावट नही है जो दूसरो के लिये न हो तथा मैं अपने विचारों को स्वय अथवा दूसरो के साथ सम्मिलित होकर प्रकट कर सकता हूँ," लास्की के विचार से, राजनीतिक स्वतन्त्रता का सार है।

लेकिन राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल जनतन्त्र मे सम्भव है, क्योंकि उसमे ही जनता को मत देने, चुनाव में खड़े होने और शासन की आलोचना का अधिकार मिलता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता इतनी महत्त्वपूण है कि इसके अभाव मे नागरिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता और मनुष्य राज्य रूपी मशीन का पुर्जा-मात्र बनकर रह जाता है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—इस स्वतन्त्रता का सम्बन्ध राष्ट्र से है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को भी स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की इस धारणा के अनुसार किसी समाज के व्यक्तियो का यह अधिकार है कि वे अपनी सास्कृतिक व ऐतिहासिक एकता, भाषा, धम आदि के आधार पर ऐसे स्वतन्त्र राज्य की रचना कर सकें जो किसी दूसरे राज्य के अधीन न हो। फ्रास की राज्यक्रान्ति के बाद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का विकास हुआ है। इसी के आधार पर १५ अगस्त १६४७ को भारत को आजादी मिली और पिछले २० वर्षों मे एशिया और अफ्रीका के अनेक देश स्वतन्त्र हुए हैं।

आर्थिक स्वतन्त्रता—जीवन की न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के अवसरो की प्राप्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। "जब तक समाज का अधिकाश भाग, कल क्या होगा, इसके विषय मे निश्चित नही है, तब तक वह स्वतन्त्रता का कदापि उपयोग नही कर सकता। स्वतन्त्रता का सम्बन्ध मानसिक स्वास्थ्य, शान्ति और सतुलन से है। निराशा और बेरोजगारी की सक्रामक विभीषिका से सतप्त मानव के लिये स्वतन्त्रता एक काल्पनिक आदश मात्र है।"[8] "आर्थिक स्वतन्त्रता का अथ," टॉनी के विचार से, 'ऐसी आर्थिक विषमता के अभाव से है जिसका उपयोग आर्थिक दबाव के रूप मे किया जा सके।" इसके अन्तर्गत काम करने, उचित वेतन पाने, काम की यथोचित अवस्थाओ को प्राप्त करने, अवकाश प्राप्त करने, शोषण के विरुद्ध स्वतन्त्रता आदि की गणना की जाती है। लास्की ने इसका अथ 'उद्योग मे जनतन्त्र' तथा 'अपनी जीविका कमाने मे उचित महत्त्व प्राप्त करने का अवसर और उसकी सुरक्षा' से लिया है।[9]

आधुनिक युग मे आर्थिक स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्वपूण माना गया है। डा आशीर्वादम ने इसके समथन मे लिखा है कि "आर्थिक स्वतन्त्रता मजदूर को उचित

8 डा विश्वनाथ प्रसाद वर्मा पूर्वोक्त पुस्तक प ३१५ १६।
9 *A Grammar of Politics*, p 148

मजदूरी दिलाती है। यह मजदूरों को घातक प्रतियोगिता तथा असम्बद्ध उद्योग से बचाती है। यही नहीं, यह उत्पादन और व्यापार की उन अवस्थाओं को भी समाप्त कर देती है जो मिल-मालिक अपने स्वार्थ के लिये बनाते हैं और जिनसे मजदूरों का नैतिक पतन होता है। यह एक ऐसी स्वतन्त्रता है जिससे ऐसी सुविधाजनक औद्योगिक पद्धति का विकास होगा जिससे हर व्यक्ति वही उत्पन्न करेगा जिसे उत्पन्न करने के लिये वह सबसे अधिक योग्य है और वह वही पैदा करेगा जिसकी समाज को जरूरत होगी। जब तक यह स्वतन्त्रता नहीं मिल जाती तब तक नहीं कहा जा सकता कि स्वतन्त्रता की समस्या पूरी तरह से हल कर ली गयी है।"[10]

नैतिक स्वतन्त्रता—यदि किसी व्यक्ति के पास ऊपर बतायी गयी सारी स्वतन्त्रतायें हैं, लेकिन उसे नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है तो उसका जीवन व्यर्थ है। नैतिक दृष्टि से दास वह व्यक्ति है जो अपने विवेक के विरुद्ध काम करने को विवश होता है। अतः नैतिक स्वतन्त्रता उस आधारशिला के समान है जो स्वतन्त्रताओं के महल की नींव को मजबूत बनाती है। यह मनुष्य की विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति है जिसके अनुसार वह अपने-किये जाने योग्य कार्यों को करता है तथा अनुचित कार्यों से दूर रहता है। नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य को मद, मोह, लोभ, स्वार्थ, घृणा से बचाती है। जब तक व्यक्ति अपने आपको ऐसे नैतिक बन्धनों से आजाद नहीं कर लेता वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। अरस्तू, काण्ट, ग्रीन, बोसांके आदि दार्शनिकों ने नैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर पर्याप्त बल दिया है। समाज के विकास के लिये नागरिकों में नैतिक स्वतन्त्रता परमावश्यक है, जिसके अभाव में कोई समाज भविष्य के लिये अपने विनाश के साधन ही जुटायेगा।

समानता
(Equality)

समानता को व्यावहारिक राजनीतिक रूप देने का प्रयास फ्रांस की राज्यक्रांति से शुरू होता है तथा समाजवाद के प्रचार से इसको प्रश्रय मिला है।[11] सामान्यतः समानता का अर्थ यह लगाया जाता है कि मनुष्य जन्म से समान होते हैं (दो पैर, दो हाथ, एक मुंह आदि) अतः समाज में उन्हें एक सा व्यवहार, वेतन, सुविधायें आदि मिलनी चाहियें। प्रकृति की दृष्टि में सब समान हैं अथवा प्रकृति ने सबको समान बनाया है यह धारणा समानता की माँग का सही रूप प्रस्तुत नहीं करती। "न्यूटन तथा बायरन, कावनेल तथा रूसो जैसे भिन्न प्रकार के लोगों के साथ एक सा व्यवहार करना," लास्की के शब्दों में स्पष्टतः मूढ़ता होगी।" समानता को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात का ध्यान में रखें कि 'असमानता प्राकृतिक अवस्था में नहीं अपितु नागरिक समाज में उत्पन्न होती है,"[12] इसलिये समाज में उत्पन्न असमानता

10. राजनीति शास्त्र पृ १८८।
11. Oswald Spengler *Decline of the West* Vol II p 449
12. Rousseau *The Origin of Inequality* in V P Varma राजनीति और दर्शन पृ ३३२।

का निराकरण किया जाना चाहिये। इसका अर्थ, लास्की के शब्दों में, "एक-सा व्यवहार करना नहीं है, इसका तो आग्रह इस बात पर है कि मनुष्यों को सुख का समान हक होना चाहिये, उनके इस हक में किसी प्रकार का आधारभूत अन्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता। समानता मूलत समानीकरण की एक प्रक्रिया है। "प्रथमत इसका अभिप्राय विशेषाधिकारों की समाप्ति से है (और) दूसरे, सभी व्यक्तियों को विकास के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराने से है।"[13] उदाहरण के लिये हम देखते हैं कि साधनों के अभाव मे एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपना विकास नहीं कर पाता और दरिद्रता में जीवन बिताता है, लेकिन एक मूर्ख यदि सेठ-साहूकार के घर में पैदा हुआ है तो सारा जीवन बैठे-बिठाये मौज-मस्ती से गुजारता है। समाज में व्याप्त इस विरूपता का अन्त करने के लिये समानता के सिद्धान्त का जन्म हुआ है। इसका अर्थ है समाज की ऐसी व्यवस्था जिसमें किसी व्यक्ति की स्थिति जन्म, जाति, वर्ण, रूप, रंग, लिंग या धन के कारण विषम न हो। सभी को अपनी योग्यता व श्रम के द्वारा अपनी स्थिति के निर्माण का अवसर मिले। "समानता का अर्थ है, मानव-विकास के निमित्त आवश्यक उपकरणों का समान विभाजन। इसका अर्थ होता है—न्यस्त स्वार्थों और वर्ग-स्वार्थों का विनाश तथा सामाजिक जगत में अतर्कसंगत समस्त रूढ़िवादिता का उन्मूलन।"[14]

समानता के प्रकार

समानता के अनेक रूप हैं। जीवन के विविध पक्षों के आधार पर उनका निम्नांकित वर्गीकरण किया जा सकता है —

प्राकृतिक समानता—प्राकृतिक समानता का अर्थ यह है कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है और समाज में व्याप्त विषमता मनुष्यकृत है। अमरीकी स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र मे इसका उल्लेख मिलता है जिसमें कहा गया है कि "हम इस सत्य को स्वयंसिद्ध मानते हैं कि सभी व्यक्ति समान उत्पन्न हुए हैं।"

आधुनिक युग में यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। सम्भवत व्यक्तियों के मध्य प्रकृति ने जितना अन्तर उत्पन्न किया है यह समाज की तुलना में कहीं अधिक है। कोल लिखता है कि 'मनुष्य शारीरिक शक्ति, पराक्रम, मानसिक योग्यता, सृजनात्मक प्रवृत्ति, समाज-सेवा की भावना और सम्भवत सबसे अधिक कल्पना-शक्ति में एक-दूसरे से मूलत भिन्न है।" प्राकृतिक समानता से अब केवल यही अर्थ लिया जाता है कि सभी व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिये।

नागरिक समानता—नागरिक समानता का अर्थ है विचार, पद योग्यता आदि के आधार पर नागरिकों में भेदभाव न करना। नागरिक समानता के अन्तर्गत कानून के समक्ष समता भी आ जाती है—जिसका अभिप्राय है कि जो सर्वव्यापक नियम हैं उनका निष्पक्ष रूप से प्रयोग होना चाहिये।[15] न्यायालय कानून के आधार पर गरीब-अमीर,

---

13. *A Grammar of Politics*, pp. 153-4

14 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, राजनीति और दर्शन पृ ३३३।

15. R. M MacIver *The Ramparts We Guard*, pp. 125-26, L. T. Hobhouse, *Elements of Social Justice* p. 10.

शिक्षित अशिक्षित, राजकर्मचारी—साधारण नागरिक मे किसी प्रकार का भी भेदभाव न करे। वे सभी कानून की दृष्टि मे समान माने जाय। 'विधि शासन' (Rule of Law) नागरिक समानता का एक उदाहरण है।

सामाजिक समानता—सामाजिक समानता मे धर्म, सम्पत्ति, वर्ग, जाति रूप, रंग या लिंग आदि के आधार पर भेदभाव करने की अनुपस्थिति आती है। अमरीका यद्यपि विश्व के पुराने जनतन्त्रवादी देशो मे है, तथापि वहाँ भी अभी तक सामाजिक समानता नही पायी जाती। काले गोरे का भेदभाव उसी तरह विद्यमान है जिस तरह भारत के ग्रामीण क्षेत्रों मे मानसिक रूप से छूत-अछूत का भेदभाव। कानूनी रूप से गोरे काले का भेद, अमरीका मे, और छुआछूत को भारत मे अवैध घोषित कर दिया गया है फिर भी केवल कानूनो के बल पर सामाजिक समानता को प्राप्त नही किया जा सकता। उसके लिये शिक्षा पद्धति, नैतिक मानदण्डो और अर्थ व्यवस्था मे परिवर्तन की आवश्यकता पडती है। सोवियत संघ ही एक मात्र ऐसा देश है जहाँ सामाजिक समानता पूरी तरह व्याप्त है।

राजनीतिक समानता—राजनीतिक समानता से तात्पर्य सभी व्यक्तियो को बिना किसी भेदभाव के समान राजनीतिक अधिकार व अवसर प्राप्त होने से है। वोट देना, चुनाव मे खडा होना, उचित योग्यता होने पर सरकारी पद प्राप्त करना आदि के अधिकार और अवसर समान रूप से प्राप्त होना राजनीतिक समानता है। पागल, अपराधी और नाबालिग व्यक्तियो को समाज के हित मे यह समानता प्रदान नही की जाती। १५ अगस्त १९४७ से पूर्व हमारे देश मे राजनीतिक समानता का अभाव था। इसके संरक्षण के लिये विकेन्द्रीकरण, स्वशासन, उच्च शिक्षा और प्रबुद्ध जनमत का होना आवश्यक है।

आर्थिक समानता—आर्थिक समानता, ब्राइस के शब्दों मे, 'प्रत्येक पुरुष व स्त्री को सासारिक वस्तुओ में समान हिस्सा प्रदान करने और सम्पत्ति के अन्तर को मिटाने का एक प्रयास है।" लेकिन इसका यह अर्थ नही कि सभी व्यक्तियों के पास समान मात्रा मे धन या सम्पत्ति होगी। ऐसी समानता को व्यावहारिक रूप देना राजनीति की सामर्थ्य मे नहीं है।[16] आर्थिक समानता का सही अर्थ है—सभी के लिये समुचित अवसरो की उपस्थिति, काम करने का अधिकार, उचित मजदूरी, काम के उचित घंटे, विश्राम, उद्योग नीति के निर्धारण मे हिस्सा आदि। आर्थिक समानता तभी सम्भव है जबकि किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष को अतिरिक्त सुख-सुविधायें न हो, सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध कानून का संरक्षण हो, राजनीतिक सत्ता का प्रयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये न किया जाय तथा सभी के लिये समान अवसरो की सुविधा हो। रूस मे यह स्थिति आ चुकी है।

संक्षेप मे, 'समानता", जैसा लास्की ने लिखा है, "अवसर की एक व्यवस्था का नाम है जिसमे एक के व्यक्तिगत लाभ के लिये दूसरे के व्यक्तित्व का ह्रास न होने दिया जाय।'

16 A Appadorai *Substance of Politics* p 95

समानता और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध

समानता और स्वतन्त्रता के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर दो सर्वथा विपरीत धारणायें प्रचलित हैं। कुछ लोग इन्हें परस्पर विरोधी मानते हैं और अन्य इन्हें एक-दूसरे की पूरक।

स्वतन्त्रता और समानता विरोधी हैं—स्वतन्त्रता के अतिशयवादी समर्थक स्वतन्त्रता और समानता में मौलिक विरोध देखते हैं। इस पक्ष का समर्थन लार्ड एक्टन, टॉकविल, क्रोचे (Croce), मकाइवर आदि विद्वानों ने किया है। एक्टन लिखता है कि "समानता के आवेश ने स्वतन्त्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है।" टॉकविल के विचार से "वे न केवल भिन्न मार्ग हैं, अपितु परस्पर विरोधी विचार हैं।" क्रोचे ने भी इन्हें "परस्पर विरोधी" माना है। मैकाइवर ने अधिक तार्किक ढंग से इस समस्या का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि एक निश्चित सीमा से परे स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं। उसका मत है कि योग्यताओं व प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्यों में भिन्नता होती है और यदि हम यान्त्रिक या अस्वाभाविक तरीके से समानता उत्पन्न कर भी लें तो इसका अर्थ होगा तानाशाही को निमन्त्रण देना तथा लोगों के व्यक्तित्व को कुण्ठित बनाने के लिये प्रयास करना। मकाइवर इसलिये मनुष्यों को आर्थिक दृष्टि से समान बनाने के विरुद्ध है।[17]

बाह्य रूप से इस तर्क में कोई दोष नहीं दिखता। व्यक्तिवादी विचारक स्पेन्सर आदि समानता के नाम से ही चौंकते हैं। उन्हें समानता के आदर्श के पीछे ईर्ष्या तथा निकम्मेपन का भाव छुपा हुआ दिखायी देता है। आलसी और अयोग्य व्यक्तियों का परिश्रमी और बुद्धिमान व्यक्तियों से दौड़ में पीछे रहना ही अच्छा है। इससे समाज को भी लाभ होगा और पिछड़े लोगों में आगे बढ़ने के उपक्रम का विकास होगा। लेकिन यह विचार स्वतन्त्रता और समानता की भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित है। स्वतन्त्रता का अर्थ बन्धनहीन वातावरण नहीं है। जो इच्छा में आये वह करने की सुविधा तो हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में थी, लेकिन क्या उसके समाज में कोई स्वतन्त्र था? इसी तरह सभी लोगों को आय या सुविधाओं की दृष्टि से समान बनाना समानता नहीं है। समानता का अर्थ है व्यक्तित्व के विकास के लिये समान अवसरों की उपलब्धि जिससे सामाजिक विषमता समाप्त हो सके। लास्की लिखता है कि 'शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि सभी नागरिकों को एक-सी बौद्धिक शिक्षा मिलेगी।'[18] अतः समानता और स्वतन्त्रता में विरोध इन सिद्धान्तों की भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित है। इनका सर्यमित अर्थ लेने से इनके परस्पर विरोधी होने का विचार निराधार हो जाता है।

स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे की पूरक हैं—स्वतन्त्रता और समानता वास्तव में एक-दूसरे की सहयोगी हैं। 'फ्रांस के क्रान्तिकारी मूर्ख नहीं थे कि उन्होंने

17 R M MacIver *The Ramparts We Guard* pp 15-34
18 *A Grammar of Politics*, p. 114

'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' का नारा बुलन्द किया था। यदि स्वतन्त्रता का अपना लक्ष्य प्राप्त करना है तो यह जरूरी है कि समानता भी किसी-न किसी रूप में उसके साथ रहे। ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि समाज हर एक व्यक्ति के ऊपर एक निर्जीव या यान्त्रिक समानता लाद दे। प्रकृति ने सभी व्यक्तियों को एक-समान या समरूप नहीं बनाया है। समानता का अर्थ यह नहीं है कि सभी व्यक्तियों के लिये एक ही व्यवहार, एक ही काम और एक ही पुरस्कार रहे। समानता का मतलब है निष्पक्षता (impartuality) और आनुपातिकता (proportionality) अर्थात बराबर वालों में समानता और विषम कोटि के व्यक्तियों में असमानता।"[19] इस सत्य को स्वीकार करते हुए टॉनी ने माना है कि "समानता की एक बड़ी मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी न होकर इसके लिये आवश्यक है। आधुनिक युग में कोई भी राज्य पूंजीपतियों को उनकी इच्छानुसार कार्य नहीं करने देता।" समानता के अभाव में किस प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति असम्भव है, इसे निम्नांकित समीकरण द्वारा भली भाँति समझा जा सकता है —

प्रथम, यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी तो स्वतन्त्रता नग्न व अर्थहीन हो जायेगी और नागरिकों के एक बहुत बड़े भाग को शासन में किसी भी प्रकार का हिस्सा नहीं मिलेगा।

द्वितीय, यदि सामाजिक समानता नहीं होगी तो स्वतन्त्रता कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार बनकर रह जायगी।

तृतीय, यदि नागरिक समानता नहीं होगी तो जो नागरिक पिछड़े हुए हैं वे स्वतन्त्रता के उपभोग से वंचित रह जायेंगे।

अन्त में, यदि आर्थिक समानता नहीं होगी तो सम्पत्ति मुट्ठी भर पूंजीपतियों के हाथ में संचित हो जायेगी और शेष समाज वास्तविक स्वतन्त्रता से वंचित हो जायेगा।

अन्तिम विचार को आधुनिक युग में पर्याप्त बल मिला है। कोल लिखता है कि "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता कपोल कल्पना मात्र है।" पहली के अभाव में दूसरी निरर्थक है। इसके तीन कारण हैं। प्रथम यह कि एक साधारण नागरिक सार्वजनिक कार्यों में उसी समय रुचि ले सकता है जबकि उसके पास *अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। एक निर्धन और भूखे नागरिक के लिये चुनाव में मत देने का कोई महत्व नहीं होता।* कोई भी दो वक्त उसे भरपेट भोजन कराकर के उसके वोट को प्राप्त कर सकता है। भूखा आदमी धर्म, ईमान और 'वाद' की परवाह नहीं करता, क्योंकि न तो इससे उसकी और न उसके बच्चों की पेट की आग बुझती है। मोरज इस भावना का व्यक्त करते हुए लिखता है

"तन की हविस मन को गुनहगार बना देती है,
बाग के बाग को बीमार बना देती है।
भूखे पेटों को दशभक्ति सिखाने वालो,
भूख इन्सान को गद्दार बना देती है।।"

19 आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र, प १६

दूसरे, साधारण नागरिक को इतना अवकाश प्राप्त होना चाहिये कि वह सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का अवसर पा सके, जो केवल आर्थिक समानता के कारण ही सम्भव है। अठारहवी शताब्दी के फ्रांस में लोग सुबह से शाम तक केवल मजदूरी की चिन्ता में लगे रहते थे, उनके पास न तो सार्वजनिक विषयों मे सोचने का समय था और न भाग लेने का अवकाश। ऐसे समाज मे राजनीतिक स्वतन्त्रता किस प्रकार वास्तविक होगी, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

तीसरे, आर्थिक समानता के अभाव में एक ओर धनी वर्ग निर्धन वर्ग के जीवन पर अधिकार स्थापित कर लेगा और अपने लाभ के लिये उसका शोषण करेगा तथा दूसरी ओर राजनीतिक शक्ति पर नियन्त्रण स्थापित करके वह उन्हे शिक्षा आदि ऐसी सुविधाओं व अन्य दशाओ से वंचित कर देगा जिनसे उन्हे राजनीतिक स्वतन्त्रता के बोध की सम्भावना हो। अनुभव बताता है कि राजनीतिक शक्ति हमेशा आर्थिक शक्ति की गुलाम रही है। इस सम्बन्ध में जारशाही के रूस की वह वार्ता याद आती है जबकि एक इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल साम्राज्ञी जारीना के पास गया और पूछा कि उसे क्यो नियुक्त किया गया जबकि स्कूलों में बच्चे नही आते? जारीना ने उत्तर दिया आपको स्कूलों में बच्चे लाने के लिये भर्ती थोड़े ही किया गया है। स्कूलो में बच्चे पढ़ने लगे तो हमारी हुकूमत कितने दिन चलेगी?

इसलिये स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता उस समय तक वास्तविक नही हो सकती जब तक कि उसके साथ वास्तविक आर्थिक समानता भी न हो।[20] इसके लिये डा आशीर्वादम् का सुझाव है कि "आर्थिक शक्ति का उपयोग करने वाली सत्ता को लोकतन्त्रीय नियन्त्रण के अधीन होना चाहिये और यह अपेक्षित है कि एक ओर किसी भी व्यक्ति का आर्थिक स्तर निर्धारित निम्न स्तर से नीचा न हो और दूसरी ओर किसी भी व्यक्ति का स्तर निर्धारित उच्चतम स्तर से ऊँचा न हो।"[21]

निष्कर्ष रूप में, हरबर्ट डील के शब्दो मे, कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता में समानता निहित है, स्वतन्त्रता तथा समानता में परस्पर कोई द्वन्द्व नहीं है और न ही वे एक-दूसरे से पृथक् हैं, वरन् एक ही अवस्था के दो तथ्य हैं।"

कानून
(Law)

कानून शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे होता है। भौतिक शास्त्र मे कार्य-कारण सम्बन्ध बताने वाले नियमो को कानून कहा जाता है, जैसे 'गुरुत्वाकर्षण नियम' (Law of Gravitation)। नीति शास्त्र में अच्छे-बुरे कार्यों का बोध कराने वाले नियमों को कानून कहा जाता है, जैसे 'आचरण का नियम' (Code of Conduct)। समाज शास्त्र में रीति-रिवाज और प्रथायें नियम का रूप ले लेते हैं। राजनीति शास्त्र मे, इन सब अर्थों से भिन्न, उन नियमों को कानून कहा जाता है जो नागरिकों के पारस्परिक

20 Laski *op. cit.*, p. 160.
21 राजनीति शास्त्र, पृ १९९।

सम्बन्धों को नियमित करने के लिये राज्य द्वारा बनाये और लागू किये जाते हैं।

'कानून' अंग्रेजी भाषा के लॉ (Law) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। गिलक्राइस्ट ने बताया है कि लॉ की उत्पत्ति ट्यूटन (जमन) भाषा के लॅग (Lag) शब्द से हुई है, जिसका अथ उस भाषा मे 'स्थिर या निश्चित' होता है। अंग्रेजी मे लॅग का अर्थ है—'वह जो एक-सा रहे'। शब्द की उत्पत्ति के आधार पर, इस प्रकार, कानून (Law) का अर्थ हुआ, वह नियम जो स्थिर और निश्चित हो।

परिभाषायें

आस्टिन के विचार से "कानून सम्प्रभु का आदेश है।"[22]

रूसो के शब्दो मे, "कानून सामान्य इच्छा का उपादान है। यह समस्त जनता का प्रस्ताव है।"[23]

हॉलैण्ड की राय में, "कानून हमारे बाहरी आचरण को नियन्त्रित करने वाला वह सामान्य नियम है जिसको कि एक निश्चित मानवी सत्ता लागू करती है और यह सत्ता राजनीतिक समाज में उपलब्ध सभी मानवी सत्ताओं मे श्रेष्ठ होती है।"[24]

विलोबी के शब्दों में, "ये वे नियम हैं जिनकी सहायता से न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार में अपना कार्य करते हैं। ये नियम, अन्य सभी नियमों से जिन्हें समाज सामान्यत मानता है, भिन्न हैं, क्योंकि इन नियमों को लागू करने में राज्य अपनी सारी शक्ति का उपयोग करता है।"[25]

विल्सन के विचार से कानून "स्थापित विचारों और आदतों का वह अंश है जिसे सर्वत्र समान नियमों के रूप में निश्चित मान्यता प्राप्त हो जाती है और जिसको सरकार की शक्ति व सत्ता का समथन प्राप्त रहता है।"[26]

सोल्टाऊ के शब्दों में, "कानून राज्य के सदस्यों के लिये आचरण का वह नियम है जिसे राज्य की शक्ति के यन्त्र द्वारा लागू किया जाता है और जिसको अवज्ञा से दण्ड मिलता है।"[27]

सिजविक की राय में, "समाज के सदस्यों के लिये यह एक ऐसा आदेश है जिसे न मानने पर राज्याधिकारी कोई-न-कोई दण्ड दे सकता है।"[28]

लेकिन लास्की के विचार से "कानून केवल सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं है,

---

22. Law is the command of the sovereign" —*Austin*.
23. "Law is an act of general Will the resolution of the whole people." —*Rousseau*.
24. *Elements of Jurisprudence Oxford*, 1906, p 40
25 Willoughby *Social Justice* p 177
26. Quoted in Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 161
27 R. H. Soltau, *An Introduction to Politics* p. 76.
28. "The general directions as to the conduct of members of the for disobedience to which a penalty of some kind will normally be by the authority of Government." —*Sidgwick*.

यह तो वयक्तिक चेतना मे अन्तर्निहित एक तत्त्व है।"[29]

उपर्युक्त परिभाषाओ के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कानून में निम्नांकित तत्त्वों का समावेश होता है —

(१) कानून को लागू करने के लिये एक नागरिक समाज का होना आवश्यक है।

(२) कानून में एकरूपता होनी जरूरी है।

(३) कानून के निर्माण और क्रियान्वयन के लिये एक सम्प्रभुत्वसम्पन्न सत्ता जरूरी है।

(३) कानून का सम्बन्ध नागरिको के बाहरी आचरण से है।

(४) कानून का पालन करने के लिये नागरिक बाध्य हैं।

(६) कानून के पीछे राज्य की शक्ति है जो इसका उल्लंघन करने वाले के लिये दण्ड की व्यवस्था करती है।

कानून के विभिन्न सिद्धान्त या सम्प्रदाय
(Different Schools of Law)

कानून की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणो से की गयी है। इसकी व्याख्या को लेकर निम्नांकित पांच सम्प्रदाय बन गये हैं —

१ ऐतिहासिक सम्प्रदाय (The Historical School)—इस सम्प्रदाय के संस्थापक सर फ्रेडरिक वॉन सेविनी हैं। हेनरी मेन, मेटलण्ड और फ्रेडरिक पोलक इसके मुख्य समर्थकों में हैं। इस सम्प्रदाय के मानने वालो का मत है कि राज्य कानूनो को नहीं बनाता। वह तो केवल उन्हें मान्यता देता है। कानून शताब्दियो से चली आ रही परम्पराओं, रीति रिवाज आदि का परिणाम होते हैं। सेविनी लिखता है कि "कानून लोकाधिकार (folk right) का अंग होता है। यह व्यक्तियों के जीवन और दूसरे पक्षो की तरह विकसित होता है और प्रगति करता है। यह परम्पराओ व लोक भावनाओ की मूक शक्तियो से बनता है, किसी विधायक की स्वेच्छाचारिता से नहीं।"

समीक्षा—ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने कानून विज्ञान के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यह विचारधारा बताती है कि कानून एक परिवर्तनशील, प्रगतिशील, सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है, अतः परिस्थितियों के बदलने पर कानून मे परिवर्तन स्वाभाविक है, लेकिन इसका सबसे बडा दोष यह है कि अतीतकाल के प्रति अपने असीम लगाव के कारण यह दृष्टिकोण रूढ़िवादी है और कानून की आदेश भावना को प्रभावहीन बना देता है।

२ विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय (The Analytical School)—इसे कानून का सकारात्मक सम्प्रदाय (The Positive School of Law) भी कहा जाता है। इसका प्रवर्तक जॉन आस्टिन है। बोदां, बेन्थम, मकियावेली, हालण्ड, विलोबी आदि इसके

29 Law is not merely command it is rooted in individual conscience —Laski

रमयक हैं। इस विचारधारा को मानने वाले कानून को 'राज्य का निश्चित और सोच-समझकर दिया गया आदेश' मानते हैं। इस विचारधारा को प्रेरणा हाब्स के विचारों से मिली है। यह एक वकील का दृष्टिकोण है जो केवल विधानमालिका द्वारा बनाये गये नियमों को ही कानून मानता है। इस सम्प्रदाय के लोग कानून के पीछे राज्य की बाध्यकारी शक्ति को मानते हैं। उनके विचार से सवसाधारण जनता दण्ड के भय से कानून का पालन करती है। हालण्ड लिखता है कि "एक प्रभुत्वसम्पन्न राजनीतिक सत्ता द्वारा लागू किये जाने वाले बाह्य आचरण के सामान्य नियम को कानून कहा जाता है।"

समीक्षा—इस विचारधारा का मुख्य दोष यह है कि कानून के प्रति इसका दृष्टिकोण विकासवादी नहीं है। गटिल लिखता है कि 'विश्लेषणात्मक सम्प्रदाय के लेखक कानून के ऐतिहासिक विकास की ओर ध्यान ही नहीं देते। फलस्वरूप कई बार पर्याप्त सामग्री से पूर्ण अध्ययन किये बिना ही निष्कर्ष निकाल लेते हैं।"[30]

दूसरे, यह सिद्धान्त भूल जाता है कि कानून का पालन जनता स्वभाव या आवश्यकता के वशीभूत होकर करती है दण्ड के भय से नहीं।

तीसरे, 'कानून', जैसा ब्राइस ने लिखा है 'सदा राज्य की कृति नहीं होता, क्योंकि ऐसे उदाहरण हैं जब राज्य का निर्माण होने से पूव समाज मे कानून की अवस्थिति थी।"[31] लास्की भी कहता है कि सारे कानूनी नियम राज्य के आदेश नहीं होते।" "कानून को केवल आदश मानना न्यायशास्त्री के लिय भी परिभाषा को सौजन्य की सीमा तक खींचना है।[32]

३ दार्शनिक सम्प्रदाय (The Philosophical School)—इस दृष्टिकोण का प्रतिपादक जोसेफ कोलर (Joseph Kohler) है। हीगल काण्ट और पाउण्ड ने उसका समथन किया है। कोलर का मत है कि 'न्यायशास्त्री का कानून के आदश से उतना ही सम्बध है जितना कि उसको विषय-वस्तु से। कानून सभ्यता की सन्तान और उसके विस्तार का साधन दोनो है।" इस पक्ष के लोग यह मांग करते हैं कि न्याय-व्यवस्था का आधार नतिक होना चाहिये और कानून के निर्माण में दार्शनिक मानदण्डो का प्रयोग होना चाहिये।

समीक्षा—इसका मुख्य दोष यह है कि यह कानून के वास्तविक और व्यावहारिक स्वरूप की अपेक्षा उसके अमूर्त और दार्शनिक पक्ष पर विशेष बल देता है। दार्शनिक दृष्टिकोण इस प्रकार वस्तुपरकता (objectivity) से कोसों दूर है।

४ तुलनात्मक सम्प्रदाय (The Comparative School)—इस सम्प्रदाय के अनुयायियो मे स्पेन्सर, मॉण्टेस्, विनोग्रेडॉफ आदि का नाम लिया जाता है। ये लोग अतीत और वतमान की विभिन्न कानूनी पद्धतियो के तुलनात्मक अध्ययन पर बल देते हैं। इनका विचार है कि विभिन्न कानूनी व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही अच्छे कानूनों का निर्माण किया जा सकता है।

---

30 Gettell op cit., p. 1-8.
31 Bryce, *Studies in History and Jurisprudence* Oxford 1901, Vol. II p. 242
32 Laski, *A Grammar of Politics*, p. 54

समीक्षा—यह दृष्टिकोण व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा लाभदायक है तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी एक कदम आगे है। यह अपने अध्ययन के लिये दूसरे सामाजिक विज्ञानो से बहुत सहायता लेता है, किन्तु अभी इसके अनुयायियों को इसे लोकप्रिय बनाने मे बहुत-कुछ करना बाकी है।

५ समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय (The Sociological School)—क्रेब, डिग्वी, गम्पलोविच, तथा होम्स इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रवक्तको में हैं। क्रेब लिखता है कि 'कानून सामान्य या विशेष, लिखित अथवा अलिखित नियमों का समुच्चय है जो लोगों की अनुभूति या अधिकार या भावना से उत्पन्न होते हैं।'[33] डिग्वी के विचार से "कानून आचरण के वे नियम हैं जो लोगों को समाज मे नियन्त्रित रखते हैं। मनुष्यों में सामाजिक सगठन की आवश्यकता की स्वाभाविक चेतना होती है, जिसके कारण वे नियमों का पालन करते हैं। अत कानून राज्य से स्वतन्त्र, पहले का, और अधिक व्यापक होता है।" सक्षेप में, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण कानूनों को मानव-जीवन के मूल्यों और सामाजिक भावना पर आधारित मानता है। इसके अनुसार श्रेष्ठ कानून वही है जिसके अनुसार इच्छाओं की अधिक-से-अधिक पूर्ति हो तथा कोई भी ऐसा कानून जो इस आवश्यकता की पूर्ति नही करता, औपचारिक तरीके के अतिरिक्त पालन किये जाने के योग्य नहीं है।

समीक्षा—यह दृष्टिकोण प्रगतिशील है। बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों में यह कानून के बदलने को उचित और स्वाभाविक मानता है। लेकिन इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि कानूनों को राज्य से स्वतन्त्र और पहले का मानता है। अनुभव बताता है कि कानून अपने निश्चित अर्थों में राज्य से स्वतन्त्र नही हो सकता, दूसरे, राज्य का सगठन कानूनो का निर्माण और उन्हें लागू करने के लिये ही होता है।

निष्कर्ष—कानून की व्याख्या से सम्बन्धित ये सभी दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदेश कानून है, वह परम्पराओ और रीति-रिवाजो पर आधारित होता है, उसे नैतिक होना चाहिये, उसमें सामाजिक हित की भावना विद्यमान हो तथा ऐसा कानून केवल विभिन्न कानूनी व्यवस्थाओ के तुलनात्मक अध्ययन से सम्भव है—ये सब ऐसे तक हैं जिन्हें अस्वीकार करना यथार्थता से मुह मोड़ना है। लेकिन इनमें से किसी एक दृष्टिकोण को पूरी तरह सही नही कहा जा सकता। सभी मे सत्यांश है और सभी का अपना महत्त्व है।

कानून के स्रोत
(Sources of Law)

रीति रिवाज (Customs)—रीति रिवाज कानून का सबसे प्राचीन तथा महत्वपूर्ण स्रोत है। जिस प्रकार खेतो मे पगडंडी बन जाती है, उसी तरह रीति रिवाज विकसित होते होते कानून का रूप ले लेते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में जब सामाजिक

33 Law is the totality of rules general or particular written or unwritten which spring from men s feeling or sense or right —Krabbe

सगठन सीधा सादा और सरल था मानव-सम्बन्ध रीति रिवाज और परम्पराओं पर आधारित थे। कालान्तर मे जब राज्य की स्थापना हुई और सामाजिक सगठन जटिल होता गया राज्य ने दीर्घकाल से चले आ रहे रीति रिवाजो को ही कानून का रूप दे दिया। रोम मे 'ट्वेल्व टेबुल्स' (Twelve Tables), इगलण्ड मे 'कॉमन लॉ' (Common Law), भारत मे 'स्मृतियो' पर आधारित 'प्रथा कानून' (Customary Laws) इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। मैकाइवर लिखता है कि "कानून के विशाल ग्रन्थ मे राज्य केवल एकाध नये वाक्य लिख देता है और इधर-उधर एकाध पुराने वाक्य काट देता है। ग्रन्थ के अधिकांश भागो की रचना मे राज्य का कभी कोई हाथ ही नहीं रहा है।"[34]

धर्म (Religion)—आरम्भिक कानूनो का प्रेरणा-स्रोत धर्म है। प्रत्येक समाज मे धार्मिक शिक्षाओ से प्रथाओ और कानूनो का निर्माण हुआ है। विल्सन के विचार से ' रोम का प्रारम्भिक कानून शास्त्रगत धार्मिक नियमो के एक सग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था।" रोम के पैंटिफ और इगलण्ड के चर्च की भाँति प्राचीन भारत मे पुरोहित विधि दाता थे। भारत का 'हिन्दू लॉ' प्राचीन धर्म ग्रन्थ था, विशेषत स्मृतियो, तथा 'मुस्लिम लॉ' (Muslim Law) हदीस और शरीयत पर आधारित है। विज्ञान और भौतिक विकास के युग म कानून के स्रोत के रूप मे अब धर्म का महत्त्व कम हो गया है और उसका स्थान विधायन (Legislation) ने ले लिया है।

विधायन (Legislation)—कानून निर्माण म सर्वाधिक महत्त्व विधायन का है। लोकतान्त्रिक देशो म जनता वयस्क मताधिकार के आधार पर विधानपालिका के सदस्यो का चुनती है और उन्हे पुराने कानूनो को रद्द करने या उनमे सशोधन करने तथा नये कानूनो का निर्माण करने की शक्ति सौंपती है। विधानपालिका द्वारा पारित कानून सम्पूर्ण देश पर लागू होते हैं। विधि के स्रोत के रूप म इस प्रकार आधुनिक युग मे *'विधायन' का सर्वाधिक योगदान है। विल्सन लिखता है कि ' कानून बनाने के सारे स्रोत* धीरे धीरे एक महान्, गम्भीर तथा विस्तृत स्रोत—विधायन—मे विलीन होते जा रहे हैं।"

वैज्ञानिक टीकायें (Scientific Commentaries)—विधानपालिकाओ की स्थापना के पूर्व कानूनो मे आवश्यक सशोधन विधिशास्त्रियो की व्याख्या द्वारा होता था। ये लोग अपनी टीकाओ द्वारा प्राचीन नियमो का नया अर्थ निकालकर उन्हे समयानुकूल परिवर्तित कर देते थे। जब इन टीकाओ को न्यायाधीशो द्वारा मान्यता मिल जाती थी तो ये न्याय व्यवस्था का अग बन जाती थी। अप्पादुराय ने लिखा है कि ' कानून के ऊपर विद्वान लेखको के मतो को बहुधा उचित कानून के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इगलण्ड म, उदाहरण के लिये, कोक एव ब्लैकस्टोन, अमरीका में स्टोरी तथा केण्ट, तथा भारत मे विजनेश्वर तथा अपक के विचारो का बडा महत्त्व है।" इस तरह कानून की वैज्ञानिक टीकाओ ने भी कानून निर्माण म उल्लेखनीय भूमिका

---

34 R M MacIver *The Modern State* Oxford p 478

निभायी है।[35]

न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions)—न्यायालयों के निर्णय भी कानून के उद्गम होते हैं। प्रसिद्ध अमरीकी न्यायाधीश होम्स का मत है कि "न्यायाधीश भी कानून बनाते हैं और उन्हें इसका अधिकार है।" मुकदमों का फैसला करते समय कई बार उनके समक्ष ऐसे विवाद आते हैं जिनके सम्बन्ध में कानून अस्पष्ट अथवा मौन होता है। ऐसे अवसर पर न्यायाधीशों को अपनी बुद्धि और विवेक के सहारे निर्णय लेना पड़ता है जो भविष्य के लिये नजीर (precedent) बन जाता है। बार-बार उन नजीरों या उदाहरण का उल्लेख होने से वे न्यायिक निर्णय कानून का अंग बन जाते हैं और उन्हें कानून जैसी मान्यता प्राप्त हो जाती है।

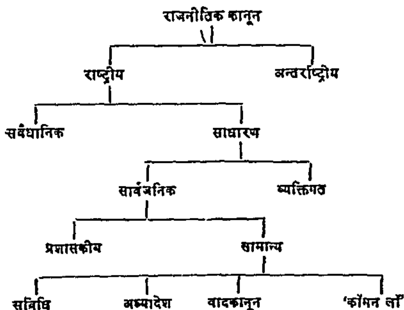
साम्य नीति या औचित्य (Equity)—साम्य नीति से तात्पर्य है 'न्यायानुसार निर्णय लेना'। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "स्वाभाविक निष्पक्षता तथा व्यवहार की समानता के आधार पर आवश्यक कानून निर्मित करने अथवा पुराना कानून संशोधित करने की अनौपचारिक पद्धति को साम्य या औचित्य कहते हैं।"[36] साम्य का प्रयोग केवल दीवानी (civil) के मुकदमों में और उन परिस्थितियों में किया जाता है जब किसी विवाद का निर्णय विद्यमान कानूनों में पायी जाने वाली किसी कमी के कारण नहीं हो पाता। न्यायाधीश ऐसी अवस्था में न्यायिक भावना के आधार पर निर्णय देते हैं जो कानूनों के विकास का अंग बन जाते हैं। इंगलैण्ड के कानूनी विकास में साम्य नीति का बहुत बड़ा हाथ है। वहाँ 'साम्य न्यायालय' (Equity Courts) हैं और 'चान्सरी' (Chancery) साम्य न्यायाधिकार का सर्वोच्च न्यायालय है।

कानूनों का वर्गीकरण
(Classification of Laws)

मकाइवर ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक राज्य' (The Modern State) में कानूनों का वर्गीकरण निम्नांकित ढंग से किया है —

35 हिन्दुओं में 'मिताक्षर' और 'दायभाग' टीकायें तथा मुसलमानों में फतवा आलम गीरी कानून का आधार मानी जाती हैं।

36 Gilchrist *Principles of Political Science* Longm - London, p 168



१ राष्ट्रीय कानून (National or Municipal Law)—राज्य के क्षेत्र के अन्दर मानवीय सम्बन्धों, समुदायों व सगठनों के आचरण का नियमन करने वाले कानूनों को राष्ट्रीय कानून की सज्ञा दी जाती है।

२ अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)—लारेन्स के शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून वे "नियम हैं जो सभ्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों का निर्धारण करते हैं।" बहुत से विद्वान् अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून ही नहीं मानते, क्योंकि राष्ट्रीय कानूनों की तरह इन्हें लागू कराने वाली कोई शक्ति या सत्ता नहीं है। फिर भी यह कानून है, क्योंकि राज्य अपनी स्वेच्छा से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का पालन करते हैं और इनका पालन करना वे अपने हित में समझते हैं।

३ सवैधानिक कानून (Constitutional Law)—यह कानून सरकार के स्वरूप व उसके कार्यक्षेत्र की व्याख्या करता है। सवैधानिक कानून लिखित व अलिखित दोनों प्रकार का हो सकता है।

४ साधारण कानून (Ordinary Law)—नागरिकों के दैनिक व्यवहार का नियमन करने वाले कानूनो को साधारण कानून कहा जाता है। साधारण कानून और सवैधानिक कानून दोनो को पारित करने की व्यवस्था (प्रक्रिया) साधारणत भिन्न होती है।

५ सार्वजनिक कानून (Public Law)—राज्य और व्यक्ति के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने वाले कानूनों को सार्वजनिक कानून कहा जाता है। इनका सम्बन्ध व्यक्ति के सार्वजनिक जीवन से होता है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति, संविदा, नियम, दुष्कृति (torts) आदि के कानून आते हैं।

६ व्यक्तिगत कानून (Private Law)—व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों

का नियमन करने वाले कानूनों को व्यक्तिगत कानून कहा जाता है। क्रय विक्रय, विवाह-तलाक आदि के कानून इसी श्रेणी में रखे जाते हैं। हॉलैण्ड व्यक्तिगत और सार्वजनिक कानूनों में भेद व्यक्त करते हुए लिखता है कि "व्यक्तिगत कानून में पक्षकार गैर सरकारी व्यक्ति हैं जिनके ऊपर और मध्य में राज्य निष्पक्ष मध्यस्थ बनकर खड़ा है। सार्वजनिक कानून में राज्य मध्यस्थ होने के साथ-साथ एक सहयोगी भी है।"

७ प्रशासकीय कानून (Administrative Law)—फ्रांस आदि कुछ देशों में यदि कोई सरकारी कर्मचारी अपनी शासकीय हैसियत से कोई भूल या अपराध करता है तो उसके अपराध का निर्णय साधारण कानूनों से भिन्न उन कानूनों के अनुसार होता है जो विशेष तौर पर प्रशासकीय क्षेत्र के लिये बनाये जाते हैं। इन्हें ही प्रशासकीय कानून कहते हैं।

८ सामान्य कानून (General Laws)—सामान्य कानून 'सार्वजनिक कानून' के अन्तर्गत आता है। यह भी व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्धों का नियमन करता है। यह कई प्रकार का होता है —

(अ) सविधि (Statutes)—विधानपालिका जिन कानूनों को बनाती है उन्हें सविधि कहा जाता है। सविधि शासन के दैनिक कार्यों का सम्पादन करती है। आधुनिक कानून अधिकांशत सविधियाँ ही हैं।

(ब) अध्यादेश (Ordinances)—अध्यादेश राज्य की मुख्य कार्यपालिका द्वारा उस अवस्था में जारी किये जाते हैं जब कि विधानमण्डल का अधिवेशन नहीं चल रहा होता है। विलोबी के शब्दों में, "अध्यादेश सीमित आदेश हैं और यह आवश्यक नहीं कि वे स्थायी हों। ये साधारणत राज्य के किसी विभाग द्वारा प्रशासनिक आदेशों के रूप में दिये जाते हैं। साधारणत अध्यादेश किसी विशेष प्रशासकीय सुविधा के लिये जारी किये जाते हैं और अल्पकालिक होते हैं।"

(स) वाद कानून (Case Law)—ऐसे अवसर पर जहाँ कानून मौन होता है विभिन्न न्यायाधीश अपने विवेक के अनुसार निर्णय देते हैं। ये निर्णय भविष्य में उसी प्रकार के मुकदमों के लिये नजीर या उदाहरण बन जाते हैं। इनके अन्तर्गत अपनाये गये कानूनी दृष्टिकोण को कालान्तर में कानून का अंग मान लिया जाता है। इस ढंग से निर्मित कानून 'वाद कानून' या 'न्यायाधीश से निर्मित कानून' (Judge made Law) कहलाता है।

(द) 'कामन ला' (Common Law)—यह प्रथाओं और रीति रिवाज पर आधारित कानून होता है। यद्यपि इसे किसी विधानमण्डल द्वारा नहीं बनाया जाता, तथापि न्यायालय द्वारा इसे सविधियों की भाँति ही मान्यता प्राप्त होती है। इंगलैण्ड में सामान्य कानून देश के कानून का एक बहुत बड़ा भाग है।

कानून और स्वतन्त्रता

कानून और स्वतन्त्रता का आपस में क्या सम्बन्ध है इस विषय पर विद्वानों के विचार परस्पर विरोधी हैं। यदि स्पेन्सर, मिल, गाडविन, डायसी आदि विद्वान उन्हें

एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं तो लॉक, रूसो, हॉकिंग, रिशो, विलोबी, ग्रीन आदि विचारक उन्हें एक दूसरे का रक्षक और पूरक मानते हैं।

कानून और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी हैं— कानून और स्वतन्त्रता म परस्पर विरोध देखने वालो म व्यक्तिवादी, अराजकतावादी और श्रमसंघवादी (Syndicalists) प्रमुख हैं। मिल और स्पेन्सर व्यक्तिवादियो के सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं। उनके अनुसार राज्य का प्रत्येक आदेश व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करता है अत व्यक्ति के नैतिक गुणो के विकास के लिये कानूनो का कम से कम हस्तक्षेप होना चाहिये।

अराजकतावादियो का दृष्टिकोण भी उनसे मिलता है। गॉडविन लिखता है कि 'कानून एक अत्यधिक विनाशकारक प्रवृत्ति वाली संस्था है।" कानून का पालन जितना अधिक होगा स्वतन्त्रता अदृश्य होती जायेगी। पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति, गॉडविन के अनुसार "व्यक्ति राज्य मे रहते हुए नहीं कर सकता। जहाँ राज्य है वहाँ स्वतन्त्रता नहीं होती और जहाँ स्वतन्त्रता होगी वहाँ राज्य नहीं होगा।" श्रमसंघवादी भी गॉडविन की शैली मे बोलते हैं और स्वतन्त्रता को कानून का विरोधी मानते हुए कानून बनाने वाली संस्था राज्य का ही जड से सफाया करना चाहते हैं। कानून और स्वतन्त्रता मे उन्हें इतना विरोध दिखायी देता है कि डायसी ने एक स्थान पर लिखा है कि "एक की मात्रा जितनी अधिक होगी, दूसरे की मात्रा उतनी ही कम होती जायेगी।"

कानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के पूरक हैं—दूसरा वर्ग यह मानता है कि स्वतन्त्रता को सम्भव बनाने के लिये कानून का होना आवश्यक है। लाक लिखता है कि "जहाँ कानून नहीं है, वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं रह सकती।" स्वतन्त्रता का उपभोग सभी व्यक्ति समान रूप से कर सकें इसके लिये आवश्यक है कि स्वतन्त्रता पर उचित मर्यादायें लगायी जाय। ये मर्यादायें राज्य केवल कानून बनाकर लगा सकता है। इसलिये कानून स्वतन्त्रता का निषेध नहीं उसका माध्यम है। हॉकिंग ठीक लिखता है कि "जितनी अधिक व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है उतनी ही सत्ता मे वृद्धि होती है और उसे सत्ता के सम्मुख झुकना पडता है।"

कानून इस प्रकार, स्वतन्त्रता की आधारशिला है। गटिल के शब्दो म "यथार्थ मे स्वतन्त्रता की अवस्थिति राज्य के अस्तित्व मे ही सम्भव है। स्वतन्त्रता त्यो-त्यों पूर्ण और मूल्यवान होती जाती है ज्यो ज्यो सम्प्रभुता अधिक पूर्ण और उचित ढग से सगठित होती जाती है।[37] स्वतन्त्रता साध्य है, कानून साधन। दोनो के लक्ष्यो म समानता है। दोनो व्यक्ति के विकास म रुचि रखते हैं और इसी उद्देश्य से उनका जन्म हुआ है। दोनो मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं किन्तु उनका आधार एक है। 'स्वतन्त्रता के बढ़ते हुए कदमों के लिये कानून कुशल निर्देशक है कि कहीं वह पथभ्रष्ट हो डगमगा न जाय।'[38] रिशो लिखता है कि "स्वतन्त्रता आत्मविकास की सकारात्मक सुविधा होते हुए कानून की उपज है। यह ऐसी वस्तु नहीं है जो राज्य के बगर जीवित

37 *op cit* p 149

38 रामनारायन सिंह राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, रतन, आगरा पृ ६४२।

रह सके।"[39]

परन्तु इस सम्बन्ध मे एक सावधानी बरतने की जरूरत है। प्रत्येक कानून स्वतन्त्रता का रक्षक नही हो सकता। आदर्शवादी हीगल और संविदावादी रूसो स्वतन्त्रता और कानून को एक दूसरे का पूरक बताते हुए सीमा से बहुत आगे चले गये हैं। रूसो के विचार से "कानूनों का अधिकतम पालन ही स्वतन्त्रता है" और हीगल व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर बलिदान करके उसे सच्ची स्वतन्त्रता के लिये राज्य के प्रत्येक आदेश को आँख मूदकर मानने के लिये संदेश देता है। यह दृष्टिकोण उतना ही खतरनाक है जितना कि व्यक्तिवादियों का। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हनन होने की पूरी सम्भावना है, "प्रभुता की अति से स्वतन्त्रता का नाश होता है तथा वह अत्याचार में बदल जाती है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता की अति से अराजकता फलती है और प्रभुता का नाश होता है।"[40]

सही दृष्टिकोण यह है कि कानूनो को मानने मे स्वतन्त्रता निहित है, लेकिन केवल उन्ही कानूनो को मानने से जो नैतिक हैं और जिन्हे सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान मे रखकर बनाया गया है। इस दृष्टिकोण का समर्थक टी एच ग्रीन है। उसी के शब्दो मे, "मानव तभी स्वतन्त्र कहा जा सकता है जब वह कानून का पालन जिसका वह स्वयं निर्माता है स्वपूर्णता की भावना से करता है।" कानून निश्चय ही ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करता है जिनके बिना व्यक्ति का विकास, स्वतन्त्रता सम्भव नही है। लेकिन अनैतिक और अत्याचारपूर्ण ढग से बनाये गये कानूनो का विरोध भी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये जरूरी है। अनैतिक कानूनो के पालन की आज्ञा नही दी जा सकती क्योकि अनैतिक कानूनो से समाज मे स्वतन्त्रता असम्भव है। उनसे तो अधिक से अधिक किसी वर्ग विशेष की सुविधाओ का विकास ही हो सकता है।

नैतिकता
(Morality)

'नैतिकता नीति शास्त्र का विषय है, लेकिन राजनीति शास्त्र भी चूंकि राज की नीति का शास्त्र है अत नैतिकता राजनीति शास्त्र का विषय भी है। इसका अध्ययन राजनीति शास्त्र मे इस दृष्टि से उपयोगी है कि राज्य का वास्तविक उद्देश्य व्यक्ति के चारों ओर ऐसे सामाजिक और भौतिक वातावरण की स्थापना करना होता है जिसमें उसकी नैतिक जीवन बिताने की प्रवृत्ति स्वत विकसित हो सके। आइवर ब्राउन ने लिखा है कि "नैतिक सिद्धान्तवाद राजनीतिक सिद्धान्तो के बिना अधूरा रह जाता है, क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से पृथक् नहीं रह सकता। राजनीतिक सिद्धान्त नैतिक सिद्धान्तो के बिना अर्थहीन हो जाते हैं क्योंकि उनका अध्ययन और उनका परिणाम मूलत हमारे नैतिक मूल्यों की अवधारणा पर, हमारी उचित और अनुचित की धारणाओ पर निर्भर करता है।

39 Ritchie [illegible]
40 op cit, p 142

अर्थ

नैतिकता का साधारण अर्थ 'सही व्यवहार' या 'सदाचरण' से लिया जाता है। डा आशीर्वादम के शब्दो मे, 'नैतिकता मनुष्य की एक स्वय अर्जित विभूति है।"[1] नैतिकता मानवीय आचरण का वह मापदण्ड है जिसके आधार पर हम किसी व्यक्ति के विषय म किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं। नैतिकता शब्द का नाम लेते ही हमारे नेत्रों के समक्ष एक रूपरेखा सी खिंच जाती है जो समाज के कुछ नियमो से बंधी होती है। इन नियमो का पालन किसी व धन या शक्ति के भय से नही किया जाता, अपितु इनका पालन प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य मानकर करता है। क्योंकि वह जानता है कि यदि वह समाज द्वारा निर्धारित नैतिकता के नियमो व कानूनो का पालन नही करेगा तो स्वय के विनाश को तो आमन्त्रित करेगा ही, साथ ही समाज के विघटन को भी बुलावा देगा। इस कारण स्वय व समाज दोनो के लिये नैतिकता का पालन आवश्यक हो जाता है।

नैतिकता और कानून

सम्बन्ध

नैतिकता और कानून मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रारम्भिक समाज म नैतिकता और कानून मे कोई भेद ही नही था, दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू थे। राज्य की स्थापना होने के बाद नैतिकता को कानूनो से पृथक करने का काय शुरू हुआ तथापि अभी तक इन्हे पूरी तरह से एक दूसरे से पृथक नही किया जा सका है। नैतिकता और कानून के मध्य सम्बन्धो का निम्नांकित ढग से व्यक्त किया जा सकता है —

एक दूसरे पर निर्भर—नैतिकता और कानून एक दूसरे पर निर्भर हैं। नैतिकता कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। जो नैतिक विचार स्थायी और प्रचलित हो जाते हैं वे ही कालान्तर मे कानून का रूप धारण कर लेते है। "जो कानून,' गिल्टिन के विचार से लोगो की नैतिक धारणा के अनुकूल नही होते उन्हे लागू करना असम्भव हो जाता है तथा जो कानून प्रचलित नैतिक स्तरो को नही छूते, लोग उनकी उपेक्षा करने लगते हैं।"

लक्ष्यो में समानता—नैतिकता और कानून दोनो का लक्ष्य सार्वजनिक हित होता है। दोनो के द्वारा समाज के सदस्यो के नैतिक स्तर तथा विचारो के परिमार्जन का काय किया जाता है। हिंसा अनैतिक है क्योकि इससे समाज की शान्ति, व्यवस्था और कानून पालन को खतरा है। मद्यनिषेध कानून नैतिक है क्योकि इससे सार्वजनिक स्वास्थ्य और अच्छी दशाओ की व्यवस्था सम्भव है।

नैतिकता कानून का मार्ग प्रशस्त करती है—यह व्यक्तियो के विचार भावना और आचरण म सुधार करके कानून के पालन हेतु आवश्यक परिस्थितियो का विकास करती है। नैतिकता स्वीकृत कानून की शक्ति है। नैतिकता के बल पर ही कानून

1 राजनीति शास्त्र प ४ ४।

सवसम्पन्न बनना है। "नतिकता से पतित कानून राज्य के भविष्य के लिये धूमकेतु से कम नहा है।"

कानून नतिक विकास की परिस्थितियों का निर्माण करता है—यदि नतिकता कानून के पालन के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ लाती है तो कानून भी बदले मे नतिक विकास के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण करता है। कानून द्वारा ही उस मव्यूहन की रचना होती है जिसमे नतिक काय सम्भव होते हैं। कानून इस प्रकार, बाकर के शब्दो म, "नीति शास्त्र की रक्षा क लिये उसके घर के चारो ओर चहार दीवारी का काय करता है।"

दोनो एक दूसरे के पूरक है— नतिकता और कानून एक-दूसर के पूरक हैं। "नतिकता विहीन कानूनी अधा है और कानून विहीन नतिकता लगडी है।"[42] जो बात नतिक दृष्टि से गलत हागी वह कानन दृष्टि स भी सही नही हा सकती। 'कानून विहोन नतिकता वह विधवा है जिसको उसके परिवार के सदस्य सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते।"[43]

अन्तर

एक दूसरे से घनिष्ठ रूप स सम्बद्ध होत हुए भी नतिकता और कानून म महत्वपूण भेद पाया जाता है जिसे निम्नांकित ढग स व्यक्त कर सकते हैं —

क्षेत्र सम्बन्धी—नतिकता और कानून दोनो का क्षेत्र अलग-अलग है। कानून का सम्बन्ध मनुष्य के बाहरी जीवन स होना है और नतिकता का आन्तरिक जीवन से। कानून का सम्बन्ध उन कार्यों से रहता है जिनसे अ य व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं, जबकि नतिकता के क्षेत्र म मनुष्य के विचार उसकी प्रेरक वत्तियाँ और सदाचारी कृत्य आते हैं। कानून की तुलना म नतिकता का क्षेत्र व्यापक है।

प्रकृति सम्बन्धी—कानून सबक लिए एक होता है। वह नतिकता को तुलना मे अधिक यथाथ, स्पष्ट और निश्चित हाता है। उसका निमाण एक निश्चित विधि से, एक निश्चित सस्था द्वारा किया जाता ह। नतिकता, इसकी अपेक्षा, एक अस्पष्ट और अनिश्चित धारणा ह। प्रत्यक व्यक्ति अपने लिये स्वय ही यह निणय करता है कि क्या नतिक है और क्या अनतिक। नतिकता का मानदण्ड सभी व्यक्तियो के लिय एक नही हाता। मकाइवर लिखता हे कि "नतिकता और कानून का क्षेत्र पूणरूपेण एक नहीं हो सकता। नतिकता हमेशा व्यक्तिगत होती है, उसका निणय किसी स्थिति की सम्पूण बातों पर गौर करके ही किया जा सकता है और राजनातिक तथ्य इस स्थिति का केवल एक पहलू ही होता है।"[44]

मान्यता सम्बन्धी—कानून राज्य द्वारा लागू किये जाते हैं, उनके पीछे राज्य की शक्ति होती है, लेकिन नतिकता राज्य द्वारा लागू नही की जाती, उसके पीछ केवल

42. रामलखन सिंह, राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, रतन, आगरा प ६७५।
43 वही प ६७४।
44 R M MacIver *The Modern State*, p 156

आत्मिक शक्ति होती है। कानून का पालन अनिवार्य है, नैतिकता का पालन होना चाहिये। कानून का पालन न करने वाले को राज्य दण्डित करता है, लेकिन नैतिकता का पालन न करने वाले को, अधिक से अधिक, समाज निन्दा कर सकता है।

मापदण्ड सम्बन्धी— नैतिकता और कानून दोनों के मापदण्ड अलग अलग हैं। यह जरूरी नहीं कि जो बात नैतिक दृष्टि से गलत हो वह कानूनी दृष्टि से भी गलत हो। डा आशीर्वादम लिखते हैं कि "अपने-आपको विलासिता मे लिप्त रखना नैतिक दृष्टिकोण से निन्दनीय है, पर कानून मे वह अपराध नहीं है। नीति शास्त्र का आज इतना विकास हो चुका है कि किसी कारखाने का मालिक स्वयं यदि ५००० मासिक खर्च करे और अपने श्रमिक को ५० रु मासिक दे तो नैतिक दृष्टि से यह अनुचित कहलायेगा किन्तु विधि की दृष्टि से यह कोई अपराध नहीं है।"[45]

नैतिक कर्त्तव्य और वैधिक दायित्व सदैव एक ही नहीं होते। मकाइवर लिखता है कि " नैतिक दायित्वों को वैधिक दायित्व बना देना नैतिकता को नष्ट करना है।"[46] इसका तात्पर्य यह है कि राज्य नैतिक आदेश जारी नहीं कर सकता, क्योंकि नैतिकता आत्मप्रेरित होती है। राज्य द्वारा लादी गयी नैतिकता, नैतिकता नहीं कहलायेगी, वह जबरदस्ती होगी।

दण्ड और उसके सिद्धान्त
(Punishment and its Theories)

दण्ड राज्य का आधार है। यह अधिकारों और कर्त्तव्यों के मध्य सामंजस्य बनाये रखने का एक माध्यम है। यह एक सामाजिक व्यवस्था है जिसका उद्देश्य भावी अपराधों को रोकना तथा समाज में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना है। यदि समाज के नियमों को भंग करने वालों के लिये दण्ड की व्यवस्था न हो तो समाज में 'मात्स्य न्याय' फैल जाय। शक्तिशाली निर्बलों का खून चूस लें, विषम स्थिति उत्पन्न हो जाय और किसी के जीवन सम्पत्ति और सुरक्षा की कोई गारंटी न हो। अतः दण्ड एक अप्रिय वस्तु होते हुए भी समाज की आवश्यकता है। आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखने के लिये राज्य को अपराधियों को दण्ड देना ही पड़ता है। मनु व चाणक्य का मत है कि जहाँ पर राजा दण्ड नहीं देता, वहाँ चोर और डाकुओं का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

दण्ड सामान्यतः दो प्रकार से दिया जाता है—शारीरिक और आर्थिक। शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत पहले कोड़े से पिटाई का प्रावधान था। अधिक गम्भीर अपराधों के लिये हाथ काट लिये जाते थे या फांसी दे दी जाती थी। आजकल सपरिश्रम कारावास की व्यवस्था है। हत्या आदि भयंकर अपराधों के लिये आज भी मृत्युदण्ड का प्रावधान है। आर्थिक दण्ड के अन्तर्गत अपराधी से जुर्माना या हर्जाना अदा करने को कहा जाता है अथवा सरकार द्वारा उसकी जायदाद या सम्पत्ति जब्त कर ली जाती है। कई प्रकार

45 राजनीति शास्त्र पृ ४१६।
46 *The Modern State* p 157

के दूसरे दण्ड भी दिये जाते हैं लेकिन वे सभी इन दो श्रेणियों के अन्तगत, स्थूल रूप से, आ जाते हैं।

दण्ड का निर्धारण

दण्ड का निर्धारण एक महत्त्वपूर्ण विषय है। कौटिल्य ने अपने अथशास्त्र म लिखा है कि "जो राजा आवश्यकता से अधिक कडा दण्ड देता है, उसका लोग विरोध करने को तयार हो जाते हैं और जो आवश्यकता से अधिक नरमी बरतता है, वह घृणा का पात्र हो जाता है अर्थात् लोग उसकी परवाह छोड देते हैं, किन्तु जो न्यायपूर्ण दण्ड का प्रयोग करता है वह लोगो द्वारा सम्मानित होता है।" अत दण्ड का निर्धारण करते समय निम्नाकित बातो को ध्यान मे रखना चाहिये —

अनुपात—दण्ड अपराध के अनुपात मे होना चाहिये। साधारण अपराध के लिये सामा य या नाम मात्र के दण्ड तथा गम्भीर अपराध के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। उदाहरण के लिये, भूख से विवश होकर खाद्य सामग्री चुराने वाले व्यक्ति को प्राणदण्ड देना अ यायपूर्ण, और दण्ड के अनुपात से कही अधिक, होगा।

निष्पक्षता—दण्ड दते समय पूण निष्पक्षता बरतनी चाहिये। एक से अपराध के लिये एक ही प्रकार के दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। अपराधी की हैसियत, कुल, वश या रहन-सहन के स्तर से प्रभावित होकर दण्ड के निर्धारण मे भेदभाव नहीं करना चाहिये।

विवेक—दण्ड का निर्धारण विवेकपूण तरीके से करना चाहिये। अपराधी की आयु, लिंग, योग्यता तथा अपराध की परिस्थितियो और गम्भीरता को ध्यान मे रखकर ही दण्ड की व्यवस्था निश्चित करनी चाहिये। अभ्यस्त अपराधी और पहली बार अपराध करने वाला व्यक्ति दोनो समान दण्ड के अधिकारी नही हैं। इसी प्रकार पुरुष, स्त्री और बच्चे तीनो के लिये एक ही प्रकार के दण्ड की व्यवस्था भी विवेकपूण नही कही जायेगी। दण्ड का निर्धारण करत समय यह ध्यान म रखना चाहिये कि दण्ड-व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी मे सुधार करना है, न कि उसे अभ्यस्त अपराधी बनाना।

मानवता—दण्ड अमानुषिक और क्रूर नहीं होना चाहिये। अमानुषिक दण्ड दिये जाने से अपराधी मे समाज के प्रति घृणा की वृद्धि की सम्भावना अधिक है। क्रूर दण्ड के भय से वह एक के बाद एक गम्भीर अपराध करने के लिय उद्यत हो सकता है, ऐसी अवस्था मे उसे सुधारने की आशा निमूल होगी। आधुनिक युग मे इसीलिय अमानुषिक दण्ड देने का विरोध किया जाता है।

दण्ड के सिद्धान्त

दण्ड के सम्बन्ध मे निम्नाकित चार सिद्धान्त हैं —

(१) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory),

(२) दृष्टान्त सिद्धान्त (Deterrent Theory),

(३) सुधार सिद्धान्त (Reformative Theory), तथा

(४) निवारक सिद्धान्त (Preventive Theory)।

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त—दण्ड का यह सबसे पुराना सिद्धान्त है। इसमें "जैसे को तैसा" वाली भावना रहती है। प्राचीन और मध्य युग में, जब सभ्यता का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, अनेक समाजों में, दण्ड का यही सिद्धान्त प्रचलित था। "आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' वाले सिद्धान्त के आधार पर अपराधी से बदला लेने का नियम था। यदि कोई किसी की हत्या कर देता था तो मृत पुरुष के रिश्तेदार अपनी शक्ति के बल पर उससे प्रतिशोध लेने की कोशिश करते थे। इससे शत्रुता कई पीढ़ियों तक चलती रहती थी। यद्यपि अफगानिस्तान और पाकिस्तान के वज़ीरिस्तानी कबीलों में दण्ड का यह सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है, तथापि सभ्य राज्यों में यह सिद्धान्त अब लागू नहीं है। दण्ड का अधिकार राज्य के हाथों में आ गया है और राज्य अपराध को व्यक्तिगत न मानकर राज्य के विरुद्ध मानता है, तथा वह स्वयं शक्ति का प्रयोग करके अपराधी से प्रतिशोध लेता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में काण्ट व हीगल का नाम लिया जाता है जिन्होंने दण्ड की इस व्यवस्था को अपराध का 'नकारात्मक पुरस्कार' कहा है।

आलोचना—इस सिद्धान्त में असभ्यता की गन्ध है। आँख के लिये आँख और दाँत के लिये दाँत' वाला तरीका एकदम असभ्य, बर्बर और जंगली है। इसे सभ्य समाज द्वारा नहीं अपनाया जा सकता। इस सिद्धान्त के विरुद्ध दो तर्क और प्रस्तुत किये जाते हैं—प्रथम, राज्य प्रतिशोधात्मक संस्था नहीं है। यदि हीगल का यह कथन ठीक है कि "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का कदम है," तो वह प्रतिशोध की मूर्ति कैसे बन सकता है? दूसरे एक बुराई को दूर करने के लिये दूसरी बुराई को प्रतिष्ठित करना किस दृष्टि से न्यायसंगत कहा जायेगा। रशडल (Rashdall) का मत है कि इस सिद्धान्त के द्वारा "क्षमा की भावना का विकास नहीं हो सकता जो सार्वजनिक हित का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।" इस सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि यह व्यक्तिगत उपकार (Self-preservation) को छोड़कर सामाजिक उपकार (Social preservation) पर अधिक बल देता है जबकि दण्ड सम्बन्धी अच्छे सिद्धान्त में दोनों का मिश्रण होना चाहिये।

दृष्टान्त सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का उद्देश्य दण्ड की ऐसी व्यवस्था करना है जिससे भयभीत होकर अन्य व्यक्ति अपराध न करें। ग्रीन के शब्दों में 'दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पीड़ा के लिये पीड़ा देना नहीं, अपितु मुख्यतः उसे पुनः अपराध करने से रोकना है। इसका उद्देश्य उन अन्य व्यक्तियों के मन में आतंक पैदा करना भी है जो अपराध करने को उद्यत हों।' दृष्टान्त सिद्धान्त में न्यायाधीश के निर्णय से सम्बन्धित उस किंवदन्ती का उल्लेख किया जा सकता है कि "मैं (न्यायाधीश कहता है) तुमको दण्ड इसलिये नहीं दे रहा कि तुमने भेड़ चुराई है बल्कि इसलिये दे रहा हूँ कि भविष्य में लोग दूसरे की भेड़ न चुरायें।' इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड सार्वजनिक स्थानों पर दिया जाना चाहिये। छोटे छोटे अपराधों के लिये भी कठोर दण्ड जैसे अंग-भंग प्राण दण्ड आदि की व्यवस्था होनी चाहिये ताकि उनके भय से लोग अपराध करने का साहस न करें। सामण्ड के विचार में यह दण्ड का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

उन्हीं के शब्दों में 'दण्ड सबसे पहले भयावह है और दण्ड कानून का मुख्य उद्देश्य अपराधी को एक दृष्टान्त बनाना तथा उसी प्रकार का दिमाग रखने वालों को चेतावनी देना है।"

आलोचना—इस सिद्धान्त का प्रथम दोष यह है कि यह न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। दूसरे, अपराधी पर कठोर दण्ड की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हानिकर होती है, वह सुधरने की बजाय पक्का अपराधी बन जाता है। तीसरे दण्ड देने की व्यवस्था जितनी कठोर होगी समाज में अपराध छुपाने की प्रवृत्ति का भी उतना ही अधिक विकास होगा। चौथे, आतंक स्थापित करके राज्य कभी भी नागरिकों के नैतिक स्तर को ऊँचा नहीं उठा सकता। पांचवे, यह सिद्धान्त इस नियम का खण्डन करता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति साध्य है और उसका साधन के रूप में कभी उपभोग नहीं होना चाहिये।" ग्रीन का मत है कि 'इसमें एक व्यक्ति (अपराधी) दूसरे व्यक्तियों को शिक्षा देने का साधन बनाया जाता है।"—जो गलत है।

सुधार सिद्धान्त—सुधार सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि "पापी से नहीं पाप से घृणा करो।" इसकी मान्यता है कि मनुष्य जन्म से अपराधी नहीं होता उसे सामाजिक वातावरण व मानसिक व अन्य स्थितियां अपराध करने के लिये प्रेरित करती हैं। व्यक्ति असामान्य मनोवृत्तियों का शिकार होकर अपराध कर बैठता है जिस पर बाद में उसे स्वयं भी पश्चाताप होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी एक असामान्य व्यक्ति मूलतः मानसिक रोगी होता है, अतः उसे सुधारने के लिये अमानुषिक दण्ड की अपेक्षा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार, उचित शिक्षा और अच्छी दशाओं की उपलब्धि की आवश्यकता है। इसके अनुसार एक चिकित्सक की तरह पहले उन कारणों की खोज की जानी चाहिये जिनके फलस्वरूप व्यक्ति अपराध करने को उद्यत हुआ था और फिर उनके निराकरण की चेष्टा की जानी चाहिये। आजकल इस सिद्धान्त के बहुत समर्थक हैं जो कारागारों को सुधारगृहों व व्यावसायिक केन्द्रों के रूप में बदलना चाहते हैं।

आलोचना—इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी आलोचना यह है कि सभी व्यक्ति मानसिक या नैतिक अवस्था के रोगी नहीं होते। अधिकांश काम, क्रोध, लोभ, मोह और घमण्ड के चक्कर में पड़कर अपराध कर बैठते हैं और फिर पक्के अपराधी बन जाते हैं। ऐसे लोगों के लिये यदि कारागारों में आराम की व्यवस्था करदी जायेगी तो उससे अपराध घटने की अपेक्षा बढ़ जायेंगे। इससे लोगों में दण्ड का भय समाप्त हो जायेगा और जिनमें अपराध की प्रवृत्ति नहीं भी है उन्हें अपराध करने का प्रोत्साहन मिलेगा।

निवारक सिद्धान्त—यह सिद्धान्त दण्ड की पुनरावृत्ति को रोकने के उद्देश्य से प्रेरित है। अपराधियों को कारावास, मृत्यु दण्ड, देश निकाला आदि देकर यह उसी अपराधी द्वारा समाज में पुनः अपराध करने की सम्भावना पर रोक लगाता है, इसलिये इसे 'निवारक सिद्धान्त' कहते हैं। एक अपराधी कर्मचारी को इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यालय से निकाल दिया जाता है ताकि वह वहाँ पुनः अपराध न करे। [illegible] सिद्धान्त के समर्थकों में हैं।

आलोचना—आलोचकों की राय है कि निवारक सिद्धान्त [illegible] पड़ता है क्योंकि इसके अधीन निश्चित दण्ड की व्यवस्था से [illegible]

पहली बार अपराध करने वाला व्यक्ति भी अभ्यस्त अपराधी बनने के लिये विवश हो जाता है।

निष्कर्ष

प्रश्न उठता है कि दण्ड के उपयुक्त सिद्धान्तो मे कौन सर्वश्रेष्ठ है ? इसका उत्तर वस्तुपरक (Objective) नही हो सकता। कोई प्रतिशोधात्मक को अच्छा बतायेगा तो कोई सुधार सिद्धान्त को, कोई दृष्टान्त सिद्धान्त को अच्छा बतायगा तो कोई निवारक सिद्धान्त को। इसका कारण यह है कि सभी सिद्धान्तो मे न्याय का भाव और सत्य का अंश है तथा सभी सिद्धान्तो का अपना महत्त्व है। आधुनिक विश्व मे सामान्यत 'निवारक सिद्धान्त' लागू किया जा रहा है, यद्यपि सुधार सिद्धान्त और दृष्टान्त आदि के प्रयोग भी यदाकदा होते रहते हैं। जब तक मानव स्वभाव स्वार्थी, ग्रन्थियो से ग्रस्त और संघर्षप्रिय रहेगा, सुधार सिद्धान्त यदि लागू भी किया जाय तो विफल होगा। प्रतिशोधात्मक और दृष्टान्त सिद्धान्तो मे क्रूरता और अमानुषिकता है। अत विद्यमान परिस्थितियो में दण्ड के निवारक सिद्धान्त का प्रयोग ही उचित दिखाई देता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ स्वतन्त्रता के विभिन्न अर्थों की व्याख्या कीजिये।
(आगरा १९६० गोरखपुर १९६६, बिहार १९६१, विक्रम १९६२)

२ नागरिक स्वतन्त्रता से किन किन स्वतन्त्रताओं का आशय है ? इन स्वतन्त्रताओं की क्या मर्यादाएँ हैं ? ये मर्यादाएँ क्यों आवश्यक हैं ? (राजस्थान 1981, आगरा 1964)

३ स्वाधीनता और समानता एक दूसरे के विरुद्ध नहीं पूरक हैं' समझाइये। (आगरा १९६६)

४ आर्थिक समानता पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (आगरा १९६५, १९७३)

५ समानता की परिभाषा कीजिये। किस सीमा तक नागरिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि आर्थिक समानता पर आधारित है। (कानपुर १९६९, गोरखपुर १९६२)

६ स्वतन्त्रता की परिभाषा दीजिये। स्वतन्त्रता और समानता में क्या सम्बन्ध है।
(राजस्थान 1982, आगरा १९७१, गोरखपुर १९६७ ६९, लखनऊ १९६६)

७ स्वतन्त्रता और समानता में विभेद कीजिये। क्या दोनों परस्पर विरोधी हैं ?
(राजस्थान 1974 कानपुर 1972)

८ "स्वतन्त्रता और समानता परिपूरक हैं क्योंकि बिना कुछ अंश तक समानता के स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।
(आगरा १९६६ १९७१, कानपुर १९७०, राजस्थान १९६२ विक्रम १९६०, इलाहाबाद १९६०)

९. 'कानून तथा 'स्वतन्त्रता शब्दों का अर्थ समझाइये तथा उनके परस्पर सम्बन्धों की विवेचना कीजिये। (राजस्थान 1971, 73 75 77 80)
(आगरा १९६५, ७३ कानपुर १९६८ विक्रम १९६३, ६५, लखनऊ १९६६, ६७)

१० 'कानून' तथा 'स्वतन्त्रता' में क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध में मिल, स्पेंसर व ग्रीन के मत बिचार दें। (आगरा १९६६)

११ कानून की परिभाषा लिखें और उसके विभिन्न स्रोतों का उल्लेख करें।
(कानपुर १९७२ राजस्थान १९५८ ६१, गोरखपुर १९६२, सागर १९६६)

१२ 'कानून' की व्याख्या कीजिये तथा 'नैतिकता' से उसका सम्बन्ध बताइये। (आगरा १९७२)

१३ नैतिकता और कानून के सम्बन्धों की विवेचना कीजिये। ये किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। (आगरा १९५८ सागर १९५६, राजस्थान १९६१)

१४ 'दण्ड' सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का विवरण दीजिये। इनमें से आज किसे सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है और क्यों? (आगरा १९६६)

१५ दण्ड' के 'सुधारात्मक सिद्धान्त' पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये। (आगरा १९७०)

16 समानता का सही अर्थ क्या है? समानता के सही रूपों का वर्णन कीजिए। (राजस्थान 1972, 75)

17 इस विचार का परीक्षण कीजिए कि "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है। (राजस्थान 1976, 78)

अध्याय २१

जनतन्त्र की सरचना
(Organisation of Democracy)

> 'एक आत्मविश्वासपूर्ण जनतांत्रिक समाज अपनी कार्यप्रणाली में बहुत अधिक लचीला हो सकता है, वह आवश्यकतानुसार अपनी प्रणाली में परिवर्तन कर सकता है। वह अपनी सरकार के हाथ में अपरिमित शक्ति दे सकता है, जैसा कि आपात्काल में किया जाता है तथा खुशी-खुशी इस विश्वास के साथ दे सकता है कि सकट की घड़ी टल जाने पर वह उन अधिकारो को वापस ले सकता है।'
>
> —ए डी लिण्डसे

जनतन्त्र दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्राचीन यूनान म प्रत्यक्ष जनतन्त्र प्रचलित था। समस्त नागरिक आवश्यकता पडने पर किसी एक स्थान पर एकत्रित होकर राजनीतिक समस्याओ का समाधान कर लिया करते थे। लेकिन आज केवल स्विटजरलैण्ड के कुछ कैण्टनो (राज्यों) को छोड़कर प्रत्यक्ष जनतन्त्र कही नही पाया जाता। इसका मुख्य कारण राज्यो का क्षेत्रफल और जनसख्या की दृष्टि से बडा होना है। अत हम अब केवल 'अप्रत्यक्ष जनतन्त्र' या 'प्रतिनिधिमूलक जनतन्त्र (Representative Democracy) से ही सन्तोष करना पडता है।

'प्रतिनिधिमूलक जनतन्त्र' या 'अप्रत्यक्ष जनतन्त्र' मे सारी जनता स्वय शासन नही करती (क्योकि वह कर ही नही सकती), वह अपने प्रतिनिधियो का निर्वाचन करती है जो जनता के नाम पर शासन चलाते हैं। अत आधुनिक जनतन्त्र के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मताधिकार, निर्वाचन प्रणालियो, जनमत और दल प्रणाली का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

मताधिकार
(Suffrage)

अपने प्रतिनिधि को चुनने के लिए मत देने का अधिकार 'मताधिकार' कहलाता है। क्या मताधिकार बिना किसी भेद भाव के समाज के सभी लोगो को प्राप्त हो अथवा उसे कुछ लोगो तक ही सीमित रखा जाय ? यह विवाद का प्रश्न रहा है। प्रो शेपर्ड के विचार से इस विषय म समय समय पर तीन सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं[1]

1 American Political Science Association *Supplement to American Political Science Review* Vol. VII.

प्रथम, प्रारम्भिक जनजातीय सिद्धान्त। प्राचीन यूनान के नगर राज्यों और जर्मन जातियों के प्राचीन संगठनों में यह सिद्धान्त प्रचलित था। इसके अनुसार राज्य की सदस्यता के साथ-साथ मताधिकार भी प्राप्त हो जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन संगठनों में कुछ इने गिने लोगों को ही राज्य की सदस्यता (नागरिकता) मिलती थी, अतः मताधिकार वस्तुतः बड़ा सीमित था।

द्वितीय, सामन्ती सिद्धान्त। मध्ययुग में सामन्तशाही के अभ्युदय के उपरान्त मताधिकार एक विशेषाधिकार (Privilege) बन गया। जो लोग भूमि के स्वामी होते थे उन्हें ही मत देने का अधिकार प्राप्त था।

तृतीय, नैतिक सिद्धान्त। इसके अनुसार मताधिकार व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है, क्योंकि यह राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति (Self Expression) का साधन है। अतः मतदान जन्मजात और स्वाभाविक है। यह एक ऐसा सार्वजनिक कर्त्तव्य है जिसके बिना कोई भी व्यक्ति अपनी नागरिकता का ठीक से उपयोग नहीं कर सकता है। स्थूल रूप में यही सिद्धान्त आजकल माना जाता है।

लेकिन मतदान को सार्वजनिक कर्त्तव्य मानने के फलस्वरूप एक अन्य मताधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त का जन्म हुआ है कि यदि मतदान सार्वजनिक कर्त्तव्य है तो उसे पूरा करना नागरिक के लिए अनिवार्य होना चाहिये। "अनिवार्य मतदान-सिद्धान्त" को कुछ देशों में लागू भी कर दिया गया है, जैसे बल्जियम (१८९३), रूमानिया, अर्जेंटीना (१९१२), नीदरलैण्डस् (१९१७), चैकोस्लोवाकिया (१९२०) तथा स्विट्ज़रलैण्ड के कुछ कण्टनों में। मताधिकार का प्रयोग न करने पर वहाँ के नागरिकों को मामूली सा दण्ड दिया जाता है।

बाह्य रूप से आकर्षक होते हुए भी 'अनिवार्य मतदान सिद्धान्त' के तीन दोष हैं—प्रथम यह कि यदि लोग दण्ड से बचने के लिए मत देंगे तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि वे सार्वजनिक कल्याण का ख्याल किये बिना ही मत देंगे, जिससे मताधिकार का महत्त्व घट जायेगा। दूसरे, अनिवार्य मतदान राजनीतिक जीवन के स्तर को गिरा देगा, तथा तीसरे, अनिवार्य मतों को आसानी से खरीदा जा सकेगा, जिससे जनता में भ्रष्टाचार पनपेगा। लेकिन इन आशंकाओं के बावजूद अनिवार्य मतदान योजना बेल्जियम में बहुत सफल रही है।

वयस्क या सार्वभौम मताधिकार
(Adult or Universal Suffrage)

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों का कहना था कि मताधिकार मनुष्य का एक प्राकृतिक अधिकार है। यह मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य है। चूंकि प्रत्येक मनुष्य समाज में रहते हुये स्वयं शासन नहीं कर सकता, अतः उसे सरकार का बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। अस्तु, उसका यह अधिकार तो रहता ही है कि वह अपने शासक का निर्वाचन कर सके। लेकिन वयस्क मताधिकार को आसानी से कानूनी मान्यता नहीं मिली, क्योंकि शासक अपनी सत्ता को अनपढ़ और पिछड़ी

इच्छा पर नहीं छोड़ना चाहते थे। जनतन्त्र के समर्थक ब्लश्ली, जान स्टुअर्ट मिल, लेकी और हेनरी मेन भी वयस्क मताधिकार को एक अव्यावहारिक व्यवस्था मानते थे। जॉन स्टुअर्ट मिल कहता था कि "मैं इसे पूर्ण रूप से अग्राह्य समझता हूँ कि किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो पढ़ा-लिखा नहीं है मताधिकार में भाग लेना चाहिये तथा हिसाब-किताब का काम करना चाहिये।" उन लोगों का विचार था कि राज्य द्वारा सामाजिक आवश्यकता के कारण मताधिकार नागरिक को दिया गया एक कर्त्तव्य है और समाज का कल्याण इसी पर निर्भर करता है कि इस कार्य को अच्छे से-अच्छे ढंग से किया जाय। इसलिए यह केवल उन्हीं को मिलना चाहिये जो इसे करने की योग्यता रखते हैं।

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश विचारक मताधिकार को व्यापक करने के पक्ष में थे, क्योंकि तब तक स्वतन्त्र विचारों का प्रादुर्भाव हो चुका था। फिर भी उनके मार्ग में अधिकांश जनता का अशिक्षित होना एक बहुत बड़ी रुकावट थी। संयोग से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब राज्यों ने व्यापक और अनिवार्य शिक्षा योजनाएँ लागू की तो व्यापक मतदान का मार्ग प्रशस्त हो गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पहले केवल पुरुष वयस्कों को ही मताधिकार प्रदान किया गया और वह भी बड़ी अनिच्छा से। कई वर्षों के आन्दोलन के बाद ही वयस्क महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हुआ, तथा सार्वभौम मताधिकार का आदर्श पूरा हुआ। ब्रिटेन जैसे प्रगतिशील देश में १९१८ में महिलाओं को मत देने का अधिकार मिला और वह भी केवल उन स्त्रियों को जिनकी आयु तीस वर्ष से ऊपर थी।[2] पुरुष और स्त्री में विद्यमान, मताधिकार में, आयु की असमानता १० वर्ष बाद १९२८ में २१ वर्ष की महिलाओं को मत देने का अधिकार प्रदान करके दूर की गयी। वयस्क महिलाओं को मताधिकार मिलना 'सार्वभौम मताधिकार' की समर्थक विशाल जन आन्दोलन की विजय थी, लेकिन इसका विरोध करने वालों का अभाव भी नहीं रहा।

स्त्री मताधिकार का विरोध—स्त्री मताधिकार के विरोधियों ने तर्क दिया कि महिलाओं को मत देने का अधिकार देने का अर्थ उनके स्त्रियोचित गुणों का ह्रास होगा। स्त्रियों के लिए उपयुक्त स्थान घर है, सार्वजनिक क्षेत्र नहीं। अरस्तू कहता था कि 'राजनीतिक दलदल में फँसने के लिए पुरुष बनाये गये हैं, स्त्रियाँ नहीं।"

दूसरे, इससे रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन मिलेगा, क्योंकि स्त्रियाँ स्वभाव से अनुदारवादी और रूढ़िवादी होती हैं।

तीसरे, स्त्रियों को मतदान का अधिकार देना व्यर्थ है, क्योंकि विवाह से पूर्व वे पिता पर निर्भर होती हैं और विवाह के उपरान्त पति पर। अतः अपने अधिकार का प्रयोग वे उन्हीं की इच्छाओं के अनुसार करेंगी। यदि किसी स्त्री ने अपने अधिकार का प्रयोग पति की इच्छा के विरुद्ध किया तो घर में कलह उत्पन्न हो जायगी और पारिवारिक शान्ति संकट में पड़ जायगी।

---

2 आस्ट्रेलिया में १९०२ में सोवियत संघ में १९१७ में जर्मनी व पोलैण्ड में १९१९ में अमरीका में १९२० में जापान में १९४५ में, फ्रांस व चीन में १९४७ में इटली में १९४८ में और भारत में आजादी के बाद वयस्क महिलाओं को मत देने का अधिकार मिला है।

चौथे, स्त्रियाँ अपेक्षाकृत अधिक भावुक होती हैं। इसलिए पूरी सम्भावना है कि राजनीति मे प्रवेश करने के बाद वे तक और विवेक से निणय लेने की अपेक्षा भावना के बहाव में निणय लेंगी, जिससे सावजनिक जीवन और प्रशासन का अहित होगा।

अन्त मे, जैसा गानर लिखता है, "यदि ये अपने आपको राजनीतिक समस्याओं में उलझाकर घर से उदासीन हो जाती हैं तो जिस घर की वे रक्षक हैं और जिन बच्चों का पालन-पोषण उनका मुख्य कत्तव्य है उनकी उपेक्षा हो जायेगी।"

स्त्री-मताधिकार का समथन—मताधिकार के क्षेत्र मे सुधारवादी उपयुक्त सभी तर्कों को निरथक मानते हैं। सतत् सक्रिय आन्दोलन के परिणामस्वरूप कुछ अपवादो को छोडकर अब प्राय सभी देशो मे महिलाओ को पुरुषो के समान मताधिकार प्राप्त है। जान स्टुअट मिल ने अपनी पुस्तक "सीगल सब्जक्शन आफ वीमन" म उनको मताधिकार देने के लिये अकाट्य तक दिये है

प्रथम यह कि लैंगिक भेद के आधार पर महिलाओ को मताधिकार से वचित करना किसी भी प्रकार न्यायोचित नही कहा जा सकता। कानून स्त्रियो और पुरुषो दोनो पर समान रूप से लागू होता है अत उन्हे अधिकार भी समान मिलने चाहिये। लिंगभेद के आधार पर मताधिकार देना जनतन्त्र की भावना के विरुद्ध है।

दूसरा, समाज मे नारियो के जीवन पर अनेक अनुचित नियन्त्रण हैं जिनका निरोध राज्य की सहायता से ही हो सकता है। अत अन्य किसी वग की तुलना मे स्त्रियो को राज्य की शक्ति की सहायता अधिक आवश्यक है।

तीसरा, मताधिकार से जागति उत्पन्न होती है। मताधिकार के अभाव मे राष्ट्र का आधा भाग जो महिलाओ का है उन्नति के माग मे पिछड जायेगा। इसलिये समूचे देश के उत्थान के लिये स्त्री-मताधिकार आवश्यक है।

चौथा, जहाँ तक महिलाओ के पराश्रित होने तथा शारीरिक रूप से दुबल होने का प्रश्न है, इस तक मे कोई सार नही है। इसका कारण यह है कि मत देने मे बुद्धि-बल की आवश्यकता होती है, शारीरिक बल की नहीं। व्यवहार मे यह सिद्ध हो चुका है कि महिलायें केवल मताधिकार का प्रयोग करने मे ही कुशल नही हैं, अपितु उन्होंने शासन के उत्तरदायी पदो पर काम करके आश्चयजनक योग्यता का परिचय दिया है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवल पुरुष मताधिकार (Manhood Suffrage) की बात करना अथहीन, रूढिवादी और अनुचित है। पुरुष व स्त्रियो सभी को, यदि वे वयस्क हों तो, समान रूप से मत देने का अधिकार दिया जाना चाहिये।

वयस्क मताधिकार की शर्तें

वयस्क मताधिकार, वास्तव मे, आँख मूद कर सभी वयस्को को मत देने का अधिकार दिया जाना नही होता। व्यक्ति किस आयु पर आकर वयस्क होता है यह प्रत्येक राष्ट्र स्वय निर्धारित करता है। सोवियत सघ मे १८ वष, भारत, अमरीका व

ब्रिटेन मे २१ वर्ष, नार्वे मे २३ वर्ष, तथा बेल्जियम मे २५ वर्ष का नागरिक वयस्क माना जाता है। बेल्जियम का १८ वर्ष की आयु का व्यक्ति स्वय को वयस्क बताकर मत देने का अधिकार नही पा सकता । अत वयस्क की आयु का निर्धारण राज्य करता है।

इसी प्रकार कोई राज्य पागल, अपराधी और दिवालिय लोगो को मत दन का अधिकार प्रदान नही करता चाहे वे वयस्क और शारीरिक दृष्टि से सुदृढ क्यो न हो। वयस्क मताधिकार के अन्तगत भी नागरिकता, निवास, आयु तथा योग्यता सम्बधी आवश्यक शर्तें लगायी जा सकती हैं, लेकिन इनका युक्तियुक्त होना आवश्यक है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क

वयस्क मताधिकार के समथन में निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं

(१) *जनतन्त्र के अनुकूल*—*जनतन्त्र के आधारभूत आदश समानता तथा* लोकप्रिय सम्प्रभुता हैं। अत जनतन्त्र तब तक सार्थक नही कहा जायगा जब तक कि नागरिको को समान रूप से शासन मे भाग लेने और नीतियो के निर्धारण का अधिकार प्राप्त न हो। मिल लिखता है कि "जनतन्त्र मनुष्यो मे समानता को स्वयंसिद्ध मान लेता है तथा राजनीतिक समानता तभी आ सकती है जबकि नागरिको को मताधिकार दिया जाय। सरकार के कानून और नीतियो से सभी सम्बधित होते हैं तथा जिस बात का प्रभाव सब पर पड़ता है, उसका निर्णय भी सबके द्वारा होना चाहिये।"

(२) राजनीतिक चेतना का विकास—सावभौम मताधिकार से नागरिको मे उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। इससे उन्हे राजनीतिक *शिक्षा* मिलती है। शासन के प्रति रुचि पैदा होती है । मनोवैज्ञानिक रूप से जनता यह अनुभव करती है कि अन्तिम सत्ता उसी के पास है। ब्राइस का मत है कि 'इससे उसके नैतिक चरित्र का विकास होता है।"

(३) विभिन्न हितों की रक्षा—यदि मताधिकार किसी एक वर्ग तक ही सीमित हो तो वह वर्ग विशेष अपने ही हित मे देश का शासन चलायेगा। सीमित निर्वाचक मण्डल समाज को सम्पूर्ण रूप से लाभान्वित नही कर सकता क्योकि समाज के अनेक वर्ग शासन मे प्रतिनिधित्व पाये बिना रह जायेंगे । लास्की इस सम्बन्ध मे लिखता है कि "शक्ति से रहित होने का अर्थ है शक्ति के लाभो से वंचित होना।" *अत सावभौम मताधिकार ही जन प्रतिनिधियो को जनता की सभी बातो का ध्यान* रखने के लिए विवश कर सकता है।

(४) *न्यायोचित*—*वयस्क मताधिकार* के समथक यह तर्क भी देते हैं कि जब सरकार सभी लोगो पर कर लगाती है तो सभी लोगो को शासन मे अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिलना चाहिये। दूसरे शब्दो मे, सावभौम मताधिकार प्रतिनिधित्व के बिना कर नही (No taxation without representation)" के सिद्धान्त का समथन करता है।

(५) राष्ट्रीय एकीकरण का साधन—अन्त मे, वयस्क मताधिकार राष्ट्रीय एकता मे वृद्धि का बहुत बडा साधन है। यह प्रतिनिधियो और उनके माध्यम से सम्पूर्ण देश की जनता को भावनात्मक रूप से एक दूसरे के निकट लाता है। इससे देश मे शान्ति की आशका कम हो जाती है और सरकार को जनता का सहयोग मिलता है।

विपक्ष मे तर्क

वयस्क मताधिकार के समर्थको की भाँति उसके आलोचको की भी भरमार है। इनमे मकाले, लेकी, जेम्सस्टीफन, हेनरी मेन, लेवले, ब्लशली आदि मुख्य हैं। वयस्क मताधिकार के विपक्ष मे निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये गये हैं

(१) अबुद्धिमत्तापूर्ण—मताधिकार उन्ही को मिलना चाहिये जो इसके प्रयोग की योग्यता रखते हैं अन्यथा आज अराजकता और कल निरकुशता फैल जायेगी। लेकी लिखता है कि "यह सिद्धान्त कि, अन्तिम शक्ति निर्धनों के हाथ मे रहनी चाहिये, जो सर्वाधिक अशिक्षित और सर्वाधिक अक्षम हैं तथा जिनकी सख्या सबसे अधिक है, यह सिद्धान्त है जो निश्चित रूप से मानव जाति के अतीत के समस्त अनुभवों को उलट कर देता है।"

(२) भयानक—सार्वभौम मताधिकार एक भयानक सिद्धान्त है। मैकाले लिखता है कि "इसमे एक बडी लूटमार का भय है तथा यदि इसे कार्यान्वित किया गया तो थोडे से अधनग्न मछुवे बडे-से-बडे यूरोपीय नगरों के खण्डहरों को उल्लुओं और लोमडियों के साथ बाँट लेंगे।"[3]

(३) प्रगति विरोधी—सामान्य जनता अनुदारपन्थी होती है वह सरकार के प्रगतिशील कदमो को शका और सन्देह की दृष्टि से देखती है। हेनरी मेन के शब्दो मे वह "आधुनिक प्रगति पसन्द नहीं करती। अत वयस्क मताधिकार के कारण बहुत सी प्रगतिशील बातों पर रोक लग जायेगी।"[4]

(४) भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन—सार्वभौम मताधिकार से भ्रष्टाचार पनपता है, क्योंकि अधिकाश जनता निर्धन होती है जो धन या सुविधाओं के लालच मे पैसे वालों को अपना मत बेच देती है। ब्लश्नी लिखता है कि ऐसे "अक्षम और अयोग्य लोगों को शासकों को चुनने का अधिकार देने का अर्थ होगा आत्महत्या।"

(५) अधिकारों की सुरक्षा सम्भव नहीं—केवल सार्वभौम मताधिकार से अधिकारों की सुरक्षा सम्भव नही है। अनुभव बताता है सार्वजनिक मताधिकार की अपेक्षा स्वतन्त्र न्यायपालिका नागरिको के अधिकारो की रक्षा का अधिक प्रभावशाली साधन सिद्ध हुई है।

(६) अव्यावहारिक—व्यवहार मे सार्वभौम मताधिकार के दुरुपयोग से बचने के लिये कुछ विद्वानो ने केवल शिक्षित और सम्पत्तिवान व्यक्तियों को ही मताधिकार प्रदान करने की माँग की है। उनका कथन है कि सार्वभौम मताधिकार

3 Quoted in Fisher *The Republican Tradition in Europe* p. 325
4 Sir Henry Maine *Popular Government* p 36.

को लागू करने से पूर्व लोगों को शिक्षित बनाना आवश्यक है ताकि वे अपने मत का महत्व जान सकें। सम्पत्ति की इतनी कम से-कम व्यवस्था भी जरूरी है जिससे वे अपने कल के भोजन की चिन्ता से मुक्त सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी ले सकें।

निष्कर्ष

यह सत्य है कि वयस्क मताधिकार के कुछ दुष्परिणाम भारत आदि देशों में देखने में आये हैं, किन्तु वयस्क मताधिकार के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा चारा भी तो नहीं है जिससे जनता अपने मताधिकार का सही ढंग से प्रयोग करना सीख सके। लास्की ठीक लिखता है कि "वयस्क मताधिकार का कोई विकल्प नहीं है।" वयस्क मताधिकार अब राजनीतिक परिपक्वता का प्रतीक माना जाता है। इसलिये इसका विरोध अब प्रायः समाप्त होता जा रहा है। वर्तमान समय में निर्धन और पिछड़े लोगों को अपनी दशा सुधारने के लिये अधिकारों की अधिक आवश्यकता है। गार्नर पूछता है कि "क्या यह उचित है कि वह व्यक्ति जो दुर्भाग्य तथा परिस्थिति का शिकार होकर अपना धन खो बैठा है, सब योग्यताओं के होते हुये भी मताधिकार से वंचित किया जाय—कदापि नहीं।"

निर्वाचन प्रणाली
(Electoral Process)

सामान्यतः जनता अपने प्रतिनिधियों का चुनाव दो प्रकार से करती है—प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से।

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली—इसके अन्तर्गत मतदाता अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है तथा मतदान केन्द्र पर जाकर उस उम्मीदवार के पक्ष में अपना मत डाल आता है जिसे वह सबसे अधिक पसन्द करता है। यह प्रणाली ही विश्व में सबसे अधिक लोकप्रिय है और लगभग सभी जनतान्त्रिक देशों में विधान-पालिका के सदस्यों के निर्वाचन के लिये इसी का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये, भारत की लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा होते हैं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे जनता में राजनीतिक समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। मतदाता अपने उम्मीदवारों तथा सम्बन्धित राजनीतिक दल के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा करता है और भली भाँति जानता है कि जिसे मत दे रहा है वही व्यक्ति जीतने पर सत्ता में आयगा। दूसरे, प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रथा जनतन्त्र की धारणा के अधिक अनुकूल है। तीसरे, इस प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता और प्रतिनिधि के मध्य सीधा सम्पर्क बना रहता है। चौथे प्रतिनिधियों से मतदाता का सीधा सम्पर्क होने के कारण भ्रष्टाचार की सम्भावना कम हो जाती है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। प्रथम, यह व्यवस्था बहुत खर्चीली

है। मतदाताओं से सीधा सम्पर्क बनाने के लिये प्रतिनिधियों का बहुत धन खर्च होता है। ऐसे चुनाव भी खर्चीले होते है। दूसरे, प्रत्यक्ष निर्वाचन से पारस्परिक कलह और वमनस्य खूब पनपता है। दंगे-फसाद होते हैं और कई बार तो हत्याएँ हो जाती हैं। तीसरे, सारी व्यवस्था इतनी तनावपूर्ण हो जाती है कि विवेकशील, गम्भीर और शान्त व्यक्ति इससे दूर रहते हैं। चौथे, प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से चालाक, स्वार्थी और धूर्त लोग सत्ता में आते हैं। साधारण व्यक्ति में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह सही प्रतिनिधि का चयन कर सके। वह राजनीतिक दलों के झूठे प्रचार और प्रलोभनों तथा उम्मीदवार और उसके पक्ष में बोलने वाले व्यक्तियों के जोशीले भाषण के प्रभाव में आ जाता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों का चुनाव नहीं करता, वरन् वह कुछ निर्वाचकों का चुनाव करता है। ये निर्वाचक इकट्ठे होकर (जिसे निर्वाचक मण्डल कहते हैं) प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। इसके अन्तर्गत चुना गया प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से जनता या मतदाता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। अप्रत्यक्ष या परोक्ष प्रणाली का प्रयोग प्राय उच्च सदन के प्रतिनिधियों को चुनने के लिये किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में 'राज्य सभा' के सदस्यों का चुनाव परोक्ष रूप से (राज्यों की विधानसभाओं और भारतीय संसद् के सदस्यों द्वारा) होता है।

जिस देश में अधिकांश मतदाता अशिक्षित हो वहाँ यह प्रणाली बड़ी लाभदायक सिद्ध होगी। दूसरे, यह प्रणाली बड़े आकार वाले निर्वाचन क्षेत्रों के लिए भी उपयोगी है तथा इसमें खर्चा भी कम आता है। लेकिन इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षण नहीं मिल पाता। मतदाता उदासीन हो जाते हैं, क्योंकि प्रतिनिधियों से उनका सीधा सम्पर्क नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रणाली के जितने गुण हैं वे अप्रत्यक्ष प्रणाली के दोष हैं तथा प्रत्यक्ष प्रणाली के दोष अप्रत्यक्ष प्रणाली के गुण हैं।

मतदान
(Voting)

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की भाँति मतदान भी दो तरह से होता है—प्रगट या प्रत्यक्ष रूप से तथा अप्रत्यक्ष या गुप्त रूप से।

प्रगट मतदान—इंगलण्ड में १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मतदान प्रगट या खुले रूप से होता था। प्राचीन काल में तो प्रगट या खुले रूप से ही मत देने का नियम था। माण्टेस्क्यू, बेन्थम, ब्राइसके और जान स्टुअर्ट मिल खुले मतदान के जबरदस्त समर्थक हैं। मिल कहता था कि "मतदान के कर्त्तव्य का पालन भी अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों की भाँति जनता की आलोचना तथा देखरेख में होना चाहिये।" लेकिन बीसवीं शताब्दी में इसे अव्यावहारिक और असुविधाजनक पाकर अस्वीकृत कर दिया गया, क्योंकि देखने में यह आया कि खुले मतदान के कारण अनेक मतदाता या तो मत देना

पसन्द नही करते थे या दबाव मे आकर मत देते थे ।

गुप्त मतदान—गुप्त मतदान के अन्तगत प्रत्येक मतदाता को एक मतपत्र मिलता है जिसमे उसके क्षेत्र से लड़ने वाले सभी उम्मीदवारो के नाम होते हैं। वह एकात में जाकर अपनी पसन्द के उम्मीदवार के नाम के आगे निशान या चिन्ह ⊕ लगा देता है और मतपत्र को मोड़कर पेटी म डाल देता है ताकि किसी का भी उसकी पसन्द का पता न लग सके। एक अन्य विधि यह है कि प्रत्येक उम्मीदवार के नाम की अलग अलग पेटियाँ रखी जाती हैं और मतदाता अपना मत एकान्त मे रखी उन पेटियो मे से जिसमे चाहे डाल सकता है। आदर्श रूप मे प्रगट मतदान प्रणाली आकर्षक लग सकती है, किन्तु व्यवहार मे गुप्त मतदान प्रणाली ही उत्तम है। हैरिंगटन स्वतन्त्र मताधिकार के लिये गुप्त मतदान प्रणाली को आवश्यक मानता है। वास्तव मे, गुप्त मतदान के अभाव मे व्यक्ति अपने मत का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकता, क्योंकि प्रगट मतदान होने पर उसे डराया धमकाया जा सकता है। आजकल लगभग सभी देशों मे मतदान गुप्त रूप से ही होता है।

एकमत, अनेक मत तथा गुरुतापूर्ण मतदान (Single, Plural and Weightage Voting)

'एक व्यक्ति एक वोट' (One man one vote) प्रणाली 'एकमत प्रणाली' (Single vote system) कहलाती है। आधुनिक युग मे यही प्रणाली सबसे लोकप्रिय है, क्योंकि 'सभी व्यक्ति समान हैं' के जनतान्त्रिक आदश ने एक व्यक्ति को एक मत देने के अधिकार को ही न्यायोचित माना है।

'बहुल मताधिकार' या 'अनेक मत प्रणाली' (Plural voting system) के अन्तर्गत व्यक्ति राज्य द्वारा निर्धारित योग्यता के आधार पर अथवा भिन्न भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में अपनी सम्पत्ति होने के कारण एक से अधिक मत दे सकता है। उदाहरण के लिये, एक स्नातक उस क्षेत्र से तो वोट देता ही है जिसमे वह रहता है साथ ही वह स्नातक होने क कारण अपने विश्वविद्यालय के क्षेत्र से भी वोट दे सकता है। एक व्यक्ति जिसका निवास स्थान एक क्षेत्र में है और दुकान दूसरे क्षेत्र में वह दोनो निर्वाचन क्षेत्रो से वोट दे सकता है। बहुल मताधिकार किसी समय ब्रिटेन, भारत और जर्मनी मे प्रचलित था, लेकिन अब इसकी प्रथा समाप्त हो गयी है।

'गुरुतापूर्ण मतदान' (Weightage voting) भी 'बहुल मतदान' का एक रूप है। अन्तर सिर्फ इतना है कि जहाँ बहुल मतदान में क्षेत्रीय योग्यता को महत्त्व मिलता है वहाँ गुरुतापूर्ण मतदान प्रणाली के अन्तगत शिक्षा, सम्पत्ति व आयु की अधिक योग्यता वाले व्यक्ति कम योग्यता वाले व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक मत देने क अधिकारी होते हैं। यह प्रणाली सर हेनरी मेन के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप है कि "मतों को गिनने की अपेक्षा तौलना चाहिये।" राजनीति शास्त्र के एक अधिस्नातक के वोट का जूता गाँठने वाले अशिक्षित नागरिक के वोट से अधिक महत्त्व होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनकी राय को सावजनिक अधिकारियो के

चुनाव मे अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह प्रणाली सबसे पहले १८९३ में बेल्जियम मे लागू की गयी थी। वहाँ २५ वर्ष से अधिक आयु के साधारण नागरिक को एक वोट, ३५ से अधिक आयु वाले व्यक्ति को जो पाँच फ्रैंक कर देता हो तथा दो हजार फ्रैंक से अधिक भूमि का स्वामी हो दो वोट, तथा माध्यमिक व अन्य उच्च शिक्षा प्राप्त २५ वर्ष से अधिक और सार्वजनिक पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति को तीन वोट देने का अधिकार था।

जान स्टुअर्ट मिल ने इस प्रणाली का समर्थन इस आधार पर किया था कि "इससे कम शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के बहुसंख्यक होने से मतदान के परिणाम मे जो बुराइयाँ हो सकती हैं उनका निराकरण हो जाता है।" लेकिन इसे जनतान्त्रिक और अन्यायपूर्ण मानकर १९३१ के संविधान द्वारा बेल्जियम मे इस प्रणाली का अन्त कर दिया गया। आलोचकों की राय है कि इस प्रणाली से एक वर्गीय सरकार की स्थापना होती है। सम्पत्ति भाग्य से मिलती है, अत सम्पत्ति को राजनीतिक आधार बनाना अनुचित है। एस्मीन के विचार से इस प्रणाली मे विरोधाभास है क्योंकि "यदि इस प्रणाली का लक्ष्य वयस्क मताधिकार की बुराइयों को दूर करना है तो फिर क्या यह युक्तिसगत न होगा कि सब प्रकार की जनता को मताधिकार दिया ही न जाय?"

चुनाव क्षेत्र
(Electoral Constituency)

चुनाव के लिये मतदाताओं को छोटी-छोटी इकाइयो में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक इकाई 'चुनाव क्षेत्र' या निर्वाचन क्षेत्र' कहलाती है। देश को निर्वाचन क्षेत्रों में बाँटने की दो रीतियाँ हैं—(१) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र, और (२) बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र।

एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र व्यवस्था (जिसे एकल निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली भी कहते हैं) के अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य को उतने ही चुनाव क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है जितने प्रतिनिधि चुने जाने होते हैं। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि ही चुना जाता है, चाहे उम्मीदवार कितने ही क्यो न हो। भारत, इंग्लैण्ड, अमरीका में एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र ही हैं।

बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र या "बहुल निर्वाचन क्षेत्र" के अन्तर्गत चुनाव क्षेत्र (Constituencies) कम बनते हैं। इसमे प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

प्रतिनिधित्व
(Representation)

प्रतिनिधित्व का अर्थ है जनता की इच्छा को व्यक्त करना। "एक प्रतिनिधि", एस्मीन के शब्दो मे "वह व्यक्ति होता है जो अपनी वैधानिक सीमाओं में रहते हुए जनता के हित मे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने हेतु निर्वाचित किया जाता है। उसे अपने

उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि उसके कार्य कुछ बन्धनो से बँध जाते हैं तो वह अपने उद्देश्य की भली प्रकार से पूर्ति नहीं कर पायेगा।"

निर्देशित प्रतिनिधित्व और स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व (Instructed Representation and Free Representation)

प्रतिनिधित्व के विषय मे दो प्रकार के विचार प्रचलित हैं। एक, निर्देशित प्रतिनिधित्व *जिसे टेलीफोन द्वारा प्रतिनिधित्व (Telephonic Theory of Representation)'* भी कहा जाता है, प्रतिनिधियो को निर्वाचको की इच्छाओं की ध्वनि बताता है। इसके अनुसार प्रतिनिधियो को निर्वाचको के निर्देशन पर ही कार्य करना चाहिये। उन्हे निर्वाचको की इच्छाओ और विचारो का ज्यो का त्यो प्रतिनिधित्व करना चाहिये। रूसो के शब्दो मे 'प्रतिनिधि निर्वाचको का अभिवक्ता मात्र है। अगर वह अपने उत्तरदायित्व को ठीक से नहीं निभाता तो निर्वाचको को अधिकार है कि वे उसे वापस बुला लें।" दूसरे शब्दो मे *प्रतिनिधि एक नौकर है जिसे सदा अपने स्वामी (निर्वाचको)* के आदेश के अनुसार कार्य करना चाहिये।

दूसरा सिद्धान्त स्वतन्त्र सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रतिनिधि निर्वाचको से कोई आज्ञा-पत्र लेकर नही आता, इसलिए वह उनका सेवक नही है। उसका निर्वाचन उसकी क्षमता, योग्यता, साधन और बुद्धि के बल पर होता है, अत उसे अपनी इच्छानुसार *कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। दूसरे शब्दो मे, प्रतिनिधि निर्देशो तथा* वापस बुलाये जाने की सीमा से बँधा हुआ नही है। आधुनिक जनतान्त्रिक देशो मे यही विचार अधिक प्रचलित है।

प्रतिनिधित्व की पद्धतियाँ (Methods of Representation)

आधुनिक युग मे प्रतिनिधित्व की दो पद्धतियाँ अधिक प्रचलित हैं क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व (Territorial Representation) तथा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)।

क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व—इस पद्धति के अन्तर्गत विधानपालिका मे प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य से समस्त देश को कई निर्वाचन क्षेत्रो मे बाँट दिया जाता है और प्रत्येक क्षेत्र के निवासी अपने अपने क्षेत्र से प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं। क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का आधार यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में रहने वाले निवासियो के हितो मे स्थूल रूप से समानता होती है, अत क्षेत्रीय आधार पर होने वाले निर्वाचन से सभी क्षेत्रो की जनता के हितो की रक्षा हो सकेगी। आधुनिक युग में लगभग सभी देशों में प्रतिनिधित्व का आधार क्षेत्रीय या प्रादेशिक ही है।

इस पद्धति की तीन आलोचनायें हैं

प्रथम, *यह जरूरी नही कि एक क्षेत्र मे रहने वाले मतदाताओ के हितो में* एकरूपता हो। लोगो की राजनीतिक आवश्यकताओ और हितो मे पर्याप्त अन्तर होता

है, अत एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का ठीक से प्रतिनिधित्व नही कर सकता।

दूसरे, क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व द्वारा समाज के केवल बहुसख्यक वग को ही प्रतिनिधित्व मिल पाता है अल्पसख्यक वग को नही।

तीसरे, क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की अपेक्षा दलो या व्यवसाय के आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान करना अधिक व्यावहारिक है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—व्यावसायिक या वत्तिमूलक प्रणाली का आधार व्यवसाय या पेशा होता है, न कि क्षेत्र। इस प्रणाली के समथकों की राय है कि क्षेत्रीय आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था गलत है, इससे क्षेत्र के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व नही हो पाता। कुछ सामान्य बातो जसे शिक्षा, सफाई या बिजली आदि, मे सभी व्यक्तियो के हित समान हो सकते ह लेकिन अधिक महत्त्वपूण बातो म उनके हितो म समानता नही हो सकती। अत विभिन्न व्यवसायो मे लगे व्यक्तियो के हितो के सरक्षण के लिय व्यवसाय के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी चाहिये। उदाहरण के लिये, श्रमिको का प्रतिनिधित्व श्रमिक करे, शिक्षको का शिक्षक, डाक्टरो का डाक्टर, इजीनियरो का इजीनियर इत्यादि। क्योकि एक श्रमिक श्रमिको की कठिनाइयाँ या शिक्षक शिक्षको की कठिनाइया और आवश्यकताएँ भलीभाति समझ सकता है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की धारणा का फ्रास की राज्य क्रान्ति के समय मिराबो (Mirabaeu) ने प्रतिपादन किया था। उसके शब्दो मे "विधानमण्डल को समाज के विभिन्न हितो का एक लघु दपण होना चाहिये।" आधुनिक युग मे ड्यिवी (Duguit), कोल और ग्राहम वालास ने इसका जोरदार समथन किया है।[5] ग्राहम वालास चाहता है कि ससद् का निम्न सदन क्षेत्रीय आधार पर गठित किया जाये और उच्च सदन व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जमनी के सविधान म व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी थी। भारत और ब्रिटेन मे भी इस आधार पर कुछ परामशदात्री समितियो की स्थापना की गयी है। लेकिन पोलण्ड, चेकोस्लोवाकिया, सोवियत सघ आदि साम्यवादी देशो मे यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय हुई है।

आलोचना— प्रो लास्की लिखते हैं कि "व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त में इतने गम्भीर दोष हैं कि यह किसी भी प्रकार क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व से श्रेष्ठ नहीं है।"

(१) गलत सद्धान्तिक आधार— यह मान लेना गलत है कि किसी व्यक्ति का पूर्ण व्यक्तित्व उसके व्यवसाय मे समाहित होता है। व्यवसाय उसकी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति का एक अग होता है, व्यक्तित्व का बहुमुखी रूप नहीं। अत व्यवसाय के आधार पर नागरिको के आर्थिक पक्ष का प्रतिनिधित्व हो सकता है उनके

5 कोल लिखता है कि पूणत शुद्ध और जनतात्रिक प्रतिनिधित्व केवल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही होता है। सवसत्तापूर्ण राज्य जनतात्रिक समाज में नितांत अनुपयुक्त होता है, अत उसका अत कर दिया जाना चाहिये (Guild Socialism Restated p 32)। उद्योग सम्पत्ति, वाणिज्य निर्माणकारी पेशे तथा यहाँ तक कि विज्ञान और धर्म—राष्ट्रीय जीवन की समस्त महान् शक्तियो को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिये (ड्यिवी)।

नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पक्ष का नही। एस्मीन इसे एक 'भ्रान्तिपूर्ण और गलत सिद्धान्त बताता है जिससे सघर्ष, सदेह तथा अराजकता तक फल जायेगी।"

(२) सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध—सम्प्रभुता के सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यह है कि प्रभुता जनता मे समिष्ट रूप मे निहित होती है न कि व्यवसाय के आधार पर बनाये गये विभिन्न वर्गों मे, अत यह प्रणाली लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

(३) सकुचित दृष्टिकोण—विधानपालिका के सदस्य उदार, विशाल हृदय और स्वस्थ मस्तिष्क वाले होने चाहिएँ लेकिन व्यावसायिक हितो का प्रतिनिधित्व करने वाले निश्चित रूप से अपने हितो की रक्षा के लिये स्वार्थी और सकुचित दृष्टिकोण अपनायेंगे जो श्रेष्ठ विधायन मे बाधक सिद्ध होगा। लास्की लिखता है कि यह प्रणाली "वग हितो तथा निहित स्वार्थों को प्रोत्साहित करके शत्रुता और वमनस्य उत्पन्न करती है।"

(४) राष्ट्रीय एकता के लिये घातक—इस प्रणाली के अन्तगत प्रतिनिधि राष्ट्रीय हितो की तुलना मे अपने व्यावसायिक हितो को अधिक महत्त्व देंगे, ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीय एकता के छिन्न भिन्न होने की सम्भावनाएँ बढ जायेंगी।

(५) अस्थायी सरकार—इस व्यवस्था के अन्तगत विधानपालिकाएँ छोटे छोटे समुदायो मे विभक्त हो जायेंगी। गुटबन्दी को प्रोत्साहन मिलेगा। दलीय सगठन की भाँति विधायको को एकता के सूत्र मे पिरोने वाली कोई कडी नही होगी। फलस्वरूप सरकारें अनिश्चित और अस्थायी होगी।

(६) आर्थिक हितों को अत्यधिक महत्त्व— व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली आर्थिक हितो को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देती है। आन्तरिक शान्ति, सीमा सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य यातायात आदि अनेक विषय ऐसे हैं जिन्हे आर्थिक हितो की तुलना में विशेष महत्त्व की आवश्यकता है। अत प्रतिनिधित्व का आधार नागरिक होना चाहिये, न कि व्यावसायिक। मेरियट लिखता है कि "नागरिक का महत्त्व डाक्टर, वकील, दूकानदार या लुहार से कही अधिक है।"

(७) अव्यावहारिक—इस प्रणाली को व्यवहार मे लागू करना बहुत मुश्किल है। प्रथम यह कि राज्य कि विशाल जनसख्या को किस आधार पर वर्गीकृत किया जाय। अनेक व्यक्ति एक साथ कई व्यवसाय करते हैं। शिक्षक अध्यापन कार्य करता है, वह विद्यार्थी भी होता है तथा अधिकतर लेखक शिक्षक ही होते हैं। बेरोजगार और अवकाश प्राप्त व्यक्तियो को किस श्रेणी मे रखा जायेगा। दूसरे, विभिन्न व्यवसायों के प्रतिनिधित्व का आधार सख्या हो अथवा उन व्यवसायो का महत्त्व। तीसरे, यह निश्चय करना मुश्किल है कि किन किन व्यवसाय के हितों को प्रतिनिधित्व दिया जाये, क्योकि व्यवसायों की सख्या अनगिनत हो सकती है।

सक्षेप में, यह एक क्लिष्ट और विवादग्रस्त प्रणाली है जिसे एक आदर्श प्रणाली नहीं कहा जा सकता।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या
(The Problem of Minority Representation)

जनतान्त्रिक सिद्धान्तो का यह तकाजा है कि विधानपालिका में जनता के सभी वर्गों व विचारधाराओ को उचित प्रतिनिधित्व मिले। साधारण मतदान व्यवस्था मे, चाहे उसका आधार क्षेत्रीय हो या अन्य कोई, सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाला व्यक्ति चुन लिया जाता है। इससे सच्चे जनतन्त्र की स्थापना नही होती, क्योकि इससे समाज के सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व नही मिल पाता। मान लीजिये, एक देश मे ४० प्रतिशत हिन्दू, ३० प्रतिशत बौद्ध २० प्रतिशत ईसाई ६ प्रतिशत मुसलमान और ४ प्रतिशत यहूदी हैं। वहाँ की ससद मे १०० स्थान हैं जिनके लिये निर्वाचन क्षेत्रीय आधार पर होता है। अत साधारण मतदान व्यवस्था के अन्तगत यह सम्भव है कि उन क्षेत्रो में जहाँ अल्पसख्यक मुसलमान या यहूदियो का बाहुल्य है एकाध सीट उन्हे मिल जाये, लेकिन यदि २० प्रतिशत ईसाई देश मे बिखरे पडे हैं तो यह भी सम्भव है कि उन्हे एक भी सीट न मिले। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस अनुपात मे अल्पसख्यक बौद्ध, ईसाई, मुसलमान या यहूदी हैं उस अनुपात म उन्हे साधारण मतदान व्यवस्था के अन्तगत सीटें मिलने की कोई गारण्टी नही है, क्योकि यदि चार उम्मीदवार एक क्षेत्र से चुनाव मे हैं और एक ३० वोट पाता है, दूसरा २६ वोट, तीसरा २४ वोट तथा चौथा २० वोट, तो चुना ३० वोट वाला जायेगा जबकि वास्तविकता यह है कि १०० मे से केवल तीस लोग उसके पक्ष में हैं और ७० उसके पक्ष मे नही हैं। नव जागृत देशो में अल्पसख्यको को उचित प्रतिनिधित्व न मिलने से दगे फसाद हो जाते हैं, क्योकि अल्पसख्यक सदैव यही अनुभव करते रहते हैं कि बहुसख्यक उनका शोषण कर रहे हैं। भारत मे विभाजन से पूव मुसलमानों का यही दृष्टिकोण था, परिणामस्वरूप देश को बाँटना पडा। इसलिये अल्पसख्यको का उनकी सख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व देना नितान्त आवश्यक है। मिल का मत है कि "अल्पसख्यक दल को न्यायोचित और समान प्रतिनिधित्व से वचित रखना, सभी न्यायसगत शासन प्रणालियों तथा समस्त लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है।' इसी के आधार पर राज्य द्वारा बनाये गये कानून सम्पूर्ण जनता की भावना के अधिक अनुकूल होगे और वह उनका ठीक प्रकार से पालन भी करेगी। अल्पसख्यको को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने की व्यवस्था से जनतन्त्र के सिद्धान्त को कोई आघात नही पहुँचता क्योकि व्यवहार में तो बहुसख्यक वग ही सत्ता मे आयेगा। अल्पसख्यको के लिये इससे केवल उनके सुने जाने और विवेकपूण माँगों की पूर्ति की व्यवस्था हो सकेगी जो उनके लिये परमावश्यक है।

अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की कई प्रणालियाँ सुझायी गयी हैं जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं

द्वितीय मतपत्र प्रणाली
(Second Ballot System)

इस प्रणाली के अन्तर्गत एक क्षेत्र से चुनाव में यदि तीन या अधिक उम्मीदवार हैं और उनमें से किसी को पूर्ण बहुमत (उदाहरणार्थ, १०० में ५१) प्राप्त नहीं होता तो अधिक मत प्राप्त करने वाले प्रथम दो उम्मीदवारों के बीच दुबारा चुनाव करा करके विजय का निर्णय किया जाता है। मान लीजिये 'क' को ५०० मत, 'ख' को ६०० मत और 'ग' को ४०० मत मिले हैं। स्पष्ट बहुमत १५०० में ७५१ होता है जो किसी को नहीं मिला। ऐसी अवस्था में 'क' और 'ख' के मध्य उस क्षेत्र में पुनः मतदान कराकर निर्णय किया जायेगा। जो पुनः निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करेगा वही विजयी घोषित होगा। फ्रांस के राष्ट्रपति के चुनाव में इस प्रणाली को लागू किया गया है।

फाइनर ने इस प्रणाली के दो गुण बताये हैं, प्रथम, इसमें जनता को यह अवसर मिल जाता है कि वह अपने मत के विषय में पुनर्विचार कर सके। दूसरे, इसके अन्तर्गत जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं वे नैतिक रूप से प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उन्हें पूरी जनता का समर्थन प्राप्त होता है। लेकिन इस प्रणाली का दोष यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों को उनकी संख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व मिलने की कोई गारण्टी नहीं है।

वैकल्पिक मत-प्रणाली
(Alternative Vote System)

यह प्रणाली भी एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में लागू होती है और विजयी घोषित होने के लिए पूर्ण बहुमत आवश्यक होता है। मतदाता केवल एक मत ही देता है लेकिन अपनी पसन्द के उम्मीदवार के लिए वह उसके नाम के आगे चुनाव चिन्ह लगाने की अपेक्षा १ या 'प्रथम' लिख देता है। इसके बाद वह दूसरे उम्मीदवारों के नाम के आगे अपनी रुचि के क्रम में २,३ और ४ भी लिख सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि किसी उम्मीदवार को पहली पसन्द के उतने मत न मिलें जितने बहुमत के लिए जरूरी हैं तो सबसे कम मत पाने वाले उम्मीदवार के दूसरी पसन्द के मत विभिन्न उम्मीदवारों में बाँट दिये जाते हैं। दूसरी और तीसरी पसन्द का यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि किसी उम्मीदवार को कुल संख्या का बहुमत नहीं मिल जाता।

इस प्रणाली के गुण और दोष वही हैं जो 'द्वितीय मतपत्र प्रणाली' के हैं। एक अतिरिक्त लाभ यह अवश्य है कि इस व्यवस्था में दूसरी बार मतदान की आवश्यकता नहीं पड़ती।

पृथक् निर्वाचन प्रणाली
(Separate Electoral System)

इस प्रणाली में धर्म, जाति या सम्प्रदाय के आधार पर पृथक्-पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाकर अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व दिलाने की व्यवस्था की जाती है। भारत

मे अंग्रेजो ने इस प्रणाली को लागू करके १९०९ म मुसलमानो के लिए 'मुस्लिम निर्वाचन सत्र', १९१९ मे सिखो के लिए 'सिख निर्वाचन क्षेत्र', और १९३५ मे हरिजन. के लिए 'हरिजन निर्वाचन क्षेत्र' की व्यवस्था की थी। उनकी जनसख्या के अनुपात से सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र बना दिये गये थे। मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से मुसलमान, सिख निर्वाचन क्षेत्र से सिख और हरिजन क्षेत्र से हरिजन ही चुनाव लड सकता था।

सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र बनाने से अल्पसख्यको को उनकी सख्या के अनुपात से सीटें मिलनी तो स्वाभाविक थी, लेकिन सब-साधारण क्षेत्र से भी उनकी जाति या सम्प्रदाय के लोगो के चुनाव लडने के कारण विधानसभाओ मे सदैव अल्पसख्यको की सख्या उनके अनुपात से अधिक हो जाती थी। दूसरे, इससे समाज मे कटुता और साम्प्रदायिक वैमनस्य इतना फला कि पहले तो बोर्डों और सरकारी नौकरियो म समान प्रतिनिधित्व की माँग होने लगी और बाद मे 'मुस्लिम लीग' ने पृथक राष्ट्र के निर्माण और भारत के विभाजन का दावा प्रस्तुत कर दिया। भारत के वतमान सविधान के अन्तगत 'पृथक् निर्वाचन प्रणाली' के स्थान पर 'सयुक्त मतदाता गण्डल' (Joint Electorate) की पद्धति अपनायी गयी है जिससे पिछडी हुई जातियो और व.र्ग के लिए सीटें सुरक्षित रखने की व्यवस्था है।

जापानी प्रणाली
(Japanese System)

जापान ने 'एक व्यक्ति एक वोट प्रणाली' के अन्तगत अल्पसख्यका को प्रतिनिधित्व देने की एक नयी पद्धति का आविष्कार किया था। इसे 'एक वोट प्रणाली (Single Vote System)' भी कहा जाता है, जो शाब्दिक रूप से भ्रामक है। जापानी प्रणाली के अनुसार प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से प्रतिनिधि तो कई चुने जाने होते हैं, लेकिन मतदाता उनमे से किसी एक को ही अपना मत (सिर्फ एक मत) दे सकता है।

इस पद्धति से अल्पसख्यका को प्रतिनिधित्व तो अवश्य प्राप्त हो जाता है, क्योंकि अल्पसख्यक अपना एक उम्मीदवार खडा करके सारे मत उसे दे देते हैं, लेकिन इस बात की कोई गारण्टी नही होती कि अल्पसख्यको को उनकी जनसख्या के अनुपात से सीटें मिल सकेंगी।

सीमित मत प्रणाली
(Limited Vote System)

सीमित मत प्रणाली भी जापानी योजना की तरह बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पर लागू होती है। इस प्रणाली के अनुसार एक निर्वाचन क्षेत्र म जितने प्रतिनिधि चुने जाने होते हैं मतदाता को उनकी सख्या से १ या २ वोट कम देने का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से ६ प्रतिनिधि चुने जाने हैं तो मतदाता ४ या ५ मत दे सकता है। लेकिन इस व्यवस्था मे नोट करने योग्य बात यह है कि मतदाता एक उम्मीदवार को केवल एक वोट ही दे सकता है, एक से अधिक नहीं।

इस प्रणाली के अ तगत अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व अवश्य मिल जाता है, लेकिन यह पुन आवश्यक नही कि वह प्रतिनिधित्व उनकी जनसख्या के अनुपात मे हो। सामा यत बडे अल्पमत वग को इस योजना के अ तगत ठीक ठीक प्रतिनिधित्व मिल जाता है, लेकिन बहुत सूक्ष्म या मामूली अल्पसख्यक वग को इसमे प्रतिनिधित्व मिलने की सम्भावना नहीं रहती है। इसमे अल्पसख्यको के अनेक मत बेकार जाते हैं क्योकि कई बार उनके उम्मीदवार को आवश्यकता से कही अधिक मत प्राप्त हो जाते हैं।

एकत्रित मतदान प्रणाली (Cumulative Vote System)

यह प्रणाली भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रो पर लागू होती है। इसके अनुसार एक निर्वाचन क्षेत्र से जितने उम्मीदवार चुने जाने होते हैं, मतदाता को उतने ही वोट देने का अधिकार होता है। इस प्रणाली के अन्तगत मतदाता को यह छूट होती है कि वह चाहे तो अपने सारे वोट एक ही उम्मीदवार को दे दे या चाहे तो उन्हें विभिन्न उम्मीदवारो मे अपनी पस द के अनुसार बाँट दे। इस योजना मे अल्पसख्यक वग का सदस्य अपने सारे मत अपने वग के उम्मीदवार को देकर उसे जिताने मे सफल हो जाता है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसके अ तगत छोटे-से-छोटे अल्पसख्यक वग को भी प्रतिनिधित्व का अवसर मिल जाता है, लेकिन इसमें भी अल्पसख्यकों को उनकी सख्या के अनुपात मे सीटें मिलने की कोई गारण्टी नही है। काम स इसके दोषो के सम्ब ध मे लिखता है, 'इसके अन्तगत मतों के व्यर्थ जाने की बड़ी सम्भावना होती है, क्योंकि निश्चय ही एक लोकप्रिय व्यक्ति के लिए काफी मतदाता अपने मतों को एकत्रित करेंगे और ऐसी दशा मे उसे आवश्यकता से अधिक मत मिलेंगे जो कि व्यर्थ जायेंगे। यह भी भय है कि एक निर्वाचन क्षेत्र से जहाँ ५ प्रतिनिधि चुने जाने हैं तीन अल्पसख्यक चुने जायें और दो बहुसख्यक। ऐसी स्थितियों तथा मतों को व्यर्थ जाने से रोकने के लिए मतदाताओ पर दलों का अनुशासन और अधिक बढ़ जायेगा जिससे दल-बन्दी की बुराइयों को प्रोत्साहन मिलेगा और सम्पूण निर्वाचन प्रक्रिया पर उनका पूर्ण नियत्रण हो जायेगा।"

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)

उपर्युक्त प्रणालियो में से कोई भी अल्पसख्यकों को उनकी सख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का आश्वासन नहीं देती। इस दोष को दूर करने के लिए १८५१ मे टॉमस हेयर (Thomas Hare) ने एक नयी योजना प्रस्तुत की जो 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' के नाम से विख्यात है। इस प्रणाली के दो रूप मिलते हैं—(१) सूची प्रणाली (List system) तथा (२) एकल सक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System)।

सूची प्रणाली

सूची प्रणाली भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पर लागू होती है। कभी कभी तो पूरे देश को ही एक निर्वाचन क्षेत्र मान लिया जाता है। इसमे राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों की सूची उस क्रम मे प्रकाशित करत हैं जिसके अनुसार वे चुने जाते हैं, अथवा निश्चित मतदाताओं की सख्या मिलकर उम्मीदवारों को निर्वाचन के लिए मनोनीत कर सकती है। इस प्रणाली म मतदाता अपना वोट दल की पूरी सूची को देता है, उम्मीदवारों को नहीं। मत डालने म उस अपनी पस द १, २, ३ के क्रम म लिखनी पड़ती है। मतदाता किसी भी स्थान पर जाकर मतदान कर सकता है। मतदान के पश्चात् सभी मतपत्रों को एक 'केन्द्रीय कार्यालय' में भेज दिया जाता है जहाँ उनकी गणना होती है। गणना के दौरान समस्त वध मतों की संख्या में उस सख्या का भाग दे दिया जाता है जितने प्रतिनिधि चुने जान हैं तथा जो भागफल आता है वह 'कोटा' (Quota) कहलाता है। 'कोटा' के आधार पर प्रत्येक दल से लिए जाने वाले प्रतिनिधियों की सख्या निश्चित हो जाती है। उदाहरण क लिए, एक देश की ससद् के लिए १९० प्रतिनिधि चुन जाने हैं। कुल वध मत १९०० पड़े। पाँच दल क, ख, ग, घ और 'ङ' मदान मे हैं। १९०० म १९० का भाग देने पर 'कोटा' (१०) आया। मान लीजिये 'क' पार्टी को २००, 'ख' को ४००, 'ग' का ३००, 'घ' को १५० और 'ङ' को ५० मत मिले। उनकी मतों की सख्या में १० (कोटा) का भाग देने पर प्रतिनिधियों की संख्या निकल आयी—अर्थात् 'क' के २० प्रतिनिधि, 'ख' के ४० प्रतिनिधि, 'ग' के ३०, 'घ' के १५ और 'ङ' के ५ प्रतिनिधि ससद् में बटेंगे। कभी-कभी 'कोटा' से पार्टी को मिले मतों की सख्या मे भाग देने क उपरान्त कुछ सख्या बच रहती है—जैसे १० कोटा है और किसी दल को ६६ मत मिले। ऐसी अवस्था में ६ सीटों क उपरान्त ६ मत बच रहे तो उसके लिए पहले स कुछ निश्चित व्यवस्था कर ली जाती है। एक व्यवस्था यह हो सकती है कि जिस दल के मत 'कोटा के आधे स अधिक' मत गणना में शेष रह गये हों (जैसे १० म ६) तो उस एक सीट और द दी जाय। दूसरी व्यवस्था यह है कि बहुसख्यक दल को एक अतिरिक्त सीट दे दी जाय। इसस प्रत्येक अल्पसख्यक दल या वर्ग को सख्या क अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

एकल सक्रमणीय मत प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व को इस प्रणाली को आद्रे प्रणाली, वरीय-प्रणाली (Preferential System), हेयर प्रणाली (Hare System) आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, तथापि इसका सर्वाधिक लोकप्रिय नाम एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable Vote System) ही है। जैसा पहले लिखा जा चुका है इस प्रणाली टॉमस हेयर ने १८५१ में प्रस्तुत की थी। [illegible] (Droop) ने इसे [illegible] करने में काम दिया। 'कोटा' निकालने की विधि [illegible] की ही देन है। मत्ता काल आद्रे ने सवप्रथम १८५५ में इस [illegible] को [illegible] में

इस योजना के अन्तर्गत देश को बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से, टॉमस हेयर के अनुसार, कम-से-कम तीन और अधिक से अधिक १५ सदस्य चुने जाने चाहियें। प्रत्येक मतदाता को एक मतपत्र मिलेगा जिस पर उसे उतने सदस्यों के आगे १, २, ३, ४ के क्रम में अपनी पसन्द अंकित करनी होगी जितने प्रतिनिधि उसके क्षेत्र से चुने जाने हैं। जैसे आठ उम्मीदवार हैं और चार चुने जाने हैं तो वह चार व्यक्तियों के आगे १, २, ३, ४ के क्रम में अपनी पसन्द अंकित करेगा। वह चाहे तो सिर्फ एक को ही 'प्रथम वरीयता' का मत दे दे और शेष छोड़ दे, लेकिन ऐसी अवस्था में उसका मतपत्र द्वितीय या तृतीय गणना के योग्य नहीं रहता। निर्वाचित होने के लिए मतों की एक निश्चित संख्या (Quota) प्राप्त करनी होती है जिसके निर्धारण का नियम निम्नांकित है

$$\text{'कोटा' (Quota)} = \frac{\text{कुल डाले गये वैध मत}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

मतदान के पश्चात् मतपत्रों को सबसे पहले प्रथम वरीयता (First Preference) के अनुसार छाँटा और गिना जाता है। जो उम्मीदवार निर्धारित संख्या में मतों (कोटा) को प्राप्त कर लेता है या उससे अधिक संख्या में प्रथम वरीयता के मत प्राप्त कर लेता है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। जो निर्धारित संख्या से अधिक वोट प्राप्त करता है उसके अतिरिक्त वोट दूसरी पसन्द के उम्मीदवारों में बाँट दिये जाते हैं। यदि इस प्रकार सारी सीटें भर जाती हैं तो आगे गणना नहीं करनी पड़ती अन्यथा सबसे कम मत पाने वाले का नाम हटाकर उसके मत दूसरी पसन्द के उम्मीदवार में बाँट दिये जाते हैं। यह सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक कि रिक्त स्थानों की पूर्ति नहीं हो जाती। आगामी पृष्ठ पर सारी कारवाई का एक उदाहरण प्रस्तुत है

कुल मत = २५२४ कुल वैध मत = २५०० निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधि = ४

$$\text{कोटा} = \frac{२५००}{४+१} + १ = ५०१$$ (जो मत निर्वाचित घोषित होने के लिए उम्मीदवार को प्राप्त करने आवश्यक हैं)

उम्मीदवारों के नाम	प्रथम गणना	द्वितीय गणना		तृतीय गणना		चौथी गणना		पाँचवीं गणना		छठी गणना		अंतिम परिणाम
		अतिरिक्त मत	परिणाम	अतिरिक्त मत	परिणाम	अतिरिक्त मत	परिणाम	अतिरिक्त मत	परिणाम	अतिरिक्त मत	परिणाम	
रामनाथ	६००	−९९	५०१		५०१		५०१		५०१		५०१	निर्वाचित
श्यामनाथ	२५०	+ ६	२५६		२५६		२५६		२५६	−२५६	×	×
घनश्याम	३००	+५०	३५०	+५	३५५	+ ८०	४३५	+५०	४८५	+ ९०	५७५	निर्वाचित
अमीनुद्दीन	३५०	+१०	३६०		३६०	+ २०	३८०	+९०	४७०	+ ८०	५५०	निर्वाचित
असव त सिंह	१००		१००		१००	−१००	×		×		×	×
कन्हैया लाल	१५०		१५०		१५०		१५०	−१५०	×		×	×
मन्न लाल	२५०	+२०	२७०		२७०		२७०	+ ५	२७५	+ ७०	३४५	×
पीटर	५००	+१०	५१०	−९	५०१		५०१		५०१		५०१	निर्वाचित
बेकार वोट				+४	४		४	+ ५	९	+ १९	२८	
कुल योग	२५००	—	२५००	—	२५००	—	२५००	—	२५००			

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि द्वितीय, तृतीय गणना में कौन से अतिरिक्त वोट लिए जाएँगे ? उदाहरण के लिए, रामनाथ के कौन से ६६ वोट दूसरी पसन्द के बाँटे जायेंगे। इसका निर्णय रामनाथ के कुल ६०० वोटों की दूसरी पसन्द का औसत (Average) निकाल कर किया जायेगा।

इससे प्रत्येक वर्ग को अपनी संख्यानुसार प्रतिनिधित्व मिल जाता है, इसीलिए इसे 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली" कहते हैं। मतों को हस्तान्तरित करने की व्यवस्था होने के कारण यह "संक्रमणीय प्रणाली" कहलाती है और चूंकि प्रत्येक मतदाता को केवल एक मत पत्र मिलता है इसलिए यह "एकल संक्रमणीय मत पद्धति" (Single Transferable Vote System) कहलाती है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण व दोष

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है, कोई मत व्यर्थ नहीं जाता तथा बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं रहता। मिल, रेम्जे म्योर तथा कीथ इसके प्रबल समर्थक हैं। कीथ ने इस प्रणाली के निम्नांकित चार गुण बताये हैं

(१) इससे लोक सभा में विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों की संख्या उनकी स्थिति के अनुसार होगी।

(२) इसमें मतदाताओं को अधिक स्वतन्त्रता अनुभव होती है क्योंकि एक सदस्यीय निर्वाचन प्रणाली में कई बार ऐसा होता है कि जो उम्मीदवार खड़े होते हैं उनमें से किसी को मतदाता चुनना नहीं चाहता परन्तु उसके पास उन्हें चुनने के सिवाय कोई चारा नहीं होता।

(३) इससे निष्पक्ष और चरित्रवान व्यक्तियों को चुनना अधिक सरल होता है।

(४) इसके अपनाने से गैर-दलीय मतदाताओं का महत्त्व कम हो जाता है, जो चुनाव के परिणामों को अन्यथा बहुत प्रभावित करते हैं।[6]

हैलेट के अनुसार इस प्रणाली से दलीय एकाधिकार (Party monopoly) समाप्त हो जाता है, नेतृत्व के विकास में सहायता मिलती है, शासन में स्थायित्व आता है और चुनाव में घोखाधड़ी नहीं चल पाती।[7]

मिल का मत है कि इससे विधान सभाओं का बौद्धिक व नैतिक स्तर ऊंचा होगा क्योंकि बुद्धिजीवी बिना राजनीतिक दलों के समर्थन के चुनाव में खड़े हो सकेंगे और दल भी सोचसमझकर बुद्धिमान, प्रतिभावान और चरित्रवान नागरिक खड़े करेंगे।

कामन्स ने इसका यह बहुत बड़ा गुण बताया है कि इसमें गैरीमण्डरिंग' करना अर्थात ऐसे चुनाव क्षेत्र बनाना जिससे अपने दल को लाभ और दूसरे को हानि हो,

6 A B Keith *The British Cabinet System* p 335-336

7 Hallet *Proportional Representation—The Key to Democracy*

सम्भव नहीं है।

अन्त म, एक्टन के शब्दो मे 'यह प्रणाली पूर्णत जनतान्त्रिक है, क्योंकि इसमे मतपत्र व्यर्थ नहीं जाते और अधिकतर मतदाताओ को प्रतिनिधित्व मिल जाता है।"

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आलोचको म डायसी, लास्की, फाइनर आदि मुख्य हैं। इस प्रणाली क विरुद्ध सबसे बडा आरोप यह है कि यह एक क्लिष्ट और कठिन प्रक्रिया है। डायसी लिखता है कि "जितनी अधिक जटिल निर्वाचन पद्धति होगी उतना ही अधिक मतदाता राजनीतिक दलो के चगुल मे फँसेगा।"

दूसरे, इससे देश म अनेक छोटे छोटे दल बन जायेगे जो परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे जिससे राष्ट्रीय हितो को हानि पहुँचेगी तथा दलगत समहो को पथक होकर सगठन बनाने की प्रेरणा मिलेगी (डायसी)।

तीसरे, एक अच्छी शासन व्यवस्था के लिय यह जरूरी नहीं होता कि उसमे देश म प्रचलित सभी विचारो को प्रतिनिधित्व मिले। एसा करने से शासन की नीति को निर्धारित करना कठिन होगा, अत शासन मे केवल प्रमुख विचारो का प्रतिनिधित्व होना चाहिय। "आनुपातिक प्रतिनिधित्व", लास्की के विचार से "जनमत को खण्डित करके उसका नाश कर देता है, जो कि सभात्मक सरकार के लिए घातक है।"[8] इसम सरकारी नीति निर्माण मे सौदेबाजी होगी और शासन सचालन निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार नही होगा।

चौथे, इस प्रणाली को अपनाने से उपनिर्वाचन नही हो सकते, क्योंकि उप-निर्वाचन (Bye election) म साधारणत एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र निर्मित करना पडेगा तथा यह निश्चित करना कठिन होगा कि उपचुनाव मे पुराने निर्वाचन क्षेत्र के किस भाग के मतदाता वोट दें।

पाँचवें, निर्वाचन क्षेत्रो के विशाल होने के कारण, फाइनर के अनुसार, मतदाताओ तथा प्रतिनिधियो म निकट सम्पर्क नही रहेगा।

छठे, सिजविक के कथनानुसार, इससे ससद के सदस्यो म भ्रष्टाचार बढ़ेगा। कानून का निर्माण राष्ट्रीय हित की अपेक्षा वर्गीय हितो को ध्यान म रखकर होगा और विधान निर्माण मे वह बुराई आ जायगी जिसे अमरीका मे "लाग रॉलिंग' या 'पोर्क बरल व्यवस्थापन' कहते हैं।

सातवें चुनाव की प्रणाली साधारण मतदाताओ की समझ म ठीक स नही आयगी, इसस परिणामो मे गडबडी होगी।

निष्कर्ष

आनुपातिक प्रतिनिधित्व पर लगाये गये इन आरोपों का रेम्बे म्योर, हम्फ्रेज, कोष आदि विद्वानो ने उत्तर देने का प्रयत्न किया है, परन्तु वे अधिक सफल नही हुए हैं। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् फ्रास, इटली, आस्ट्रेलिया आदि देशो में इस प्रणाली का

8 Laski *Parliamentary Government in England* p. 58

लागू किया गया तथा स्विटजरलैण्ड में तो अभी तक इसी के अनुसार चुनाव होते हैं, परन्तु अपने गुणों के बावजूद इसके परिणाम आशाजनक नहीं रहे। लास्की की यह आलोचना खरी उतरी कि इस प्रणाली से छोटे छोटे दलों का जन्म होता है, संसद व देश में विकेन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियाँ पनपती हैं, कार्यपालिका की शक्ति क्षीण होती है तथा सरकार सिद्धान्तहीन नीति पर चलने के लिए विवश होती है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थक वे ही हो सकते हैं जो राज्य को उन्नीसवीं शताब्दी के दृष्टिकोण से देखते हैं। आधुनिक युग में इस पद्धति से निर्वाचित संसद् शक्तिहीन और मात्र वाद विवाद वाली संस्था होगी। अतः इस प्रणाली के समर्थन या विरोध के पीछे एक सम्पूर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण छिपा हुआ दिखायी देता है।

प्रत्यक्ष विधायन
(Direct Legislation)

अभी हमने देखा कि प्रतिनिधित्व की बहुत सी प्रणालियाँ हैं। चूँकि आधुनिक जनतन्त्र 'प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र' (Representative Democracy) है, इसलिये प्रतिनिधित्व की किसी-न-किसी प्रणाली को प्रत्येक जनतान्त्रिक देश में अपनाया जाता है। लेकिन 'प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र' ही सच्चा जनतन्त्र है, इसे बहुत से लोग नहीं मानते। जैसा पहले लिखा जा चुका है, एक वर्ग का विचार है कि 'प्रतिनिधित्व एक आदेश है' अतः प्रतिनिधियों को मतदाताओं की इच्छाएँ पूरी करनी चाहियें। दूसरे वर्ग का मत है कि मतदाता प्रतिनिधि को इसलिये चुनता है कि वह उसे शासन कार्यों के लिये योग्य समझता है। उसे (मतदाता को) शासकीय नीतियों के विषय में मत व्यक्त करने का अधिकार है, उनके छिद्रान्वेषण का नहीं। उसे यह आग्रह नहीं करना चाहिये कि प्रतिनिधि उसकी प्रत्येक बात माने। लेकिन जनतन्त्र की मूल भावना है कि 'सभी व्यक्ति समान हैं' और सभी 'शासन के योग्य' हैं। सम्पूर्ण शक्ति का मुख्य स्रोत जनता है, वह जिस भाँति चाहे अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकती है। इन विचारों को मानने वाले प्रत्यक्ष विधायन या विधि निर्माण के समर्थक हैं।

प्रत्यक्ष विधि-निर्माण की माँग का एक अन्य कारण यह भी है कि अनेक बार लोग विधानपालिका द्वारा पारित कानूनों से सन्तुष्ट नहीं होते। वे स्वयं शासन सम्बन्धी मामलों की छानबीन तथा अपनी इच्छा से बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के कानून बनाना चाहते हैं। बाहरी हस्तक्षेप का अर्थ है, जाँच आयोग, आर्थिक परिषद, परामर्श समितियों आदि का प्रभाव जिनसे विधानपालिकाएँ दबी रहती हैं। प्रत्यक्ष विधायन के समर्थकों के अनुसार आज की विधानपालिकाएँ उन्नीसवीं सदी की विधानपालिकाओं से बिल्कुल भिन्न हैं। वे दलगत राजनीति में इतनी फंसी हुई हैं कि जनतन्त्र 'दलतन्त्र' बन गया है और व्यक्ति के प्रतिनिधित्व की बात लगभग नष्ट हो चुकी है।

प्रत्यक्ष विधायन के उपकरण
(Methods of Direct Legislation)

स्विट्जरलैण्ड के छ राज्यो (कैण्टनो) मे प्रत्यक्ष विधायन की व्यवस्था है। वहाँ प्रतिवष समस्त वयस्क नागरिक कम-से-कम एक बार (अप्रैल के अन्तिम रविवार को) निश्चित स्थान पर इकट्ठे होकर वष भर के लिये स्वय कानून बनाते हैं और शासनाधिकारियो की नियुक्ति करते हैं । इन सभाओ को लैण्ड्सीजिमैण्डे (Landsgemeinde) कहा जाता है । लेकिन जनसख्या के आधिक्य के कारण अ य देशो मे ऐसी सभा को बुलाना मुश्किल ही नही, असभव है । स्वय स्विट्जरलण्ड के अ य राज्यो मे जहाँ जनसख्या अधिक है, ऐसी जनसभायें सगठित नहीं होती । उन राज्यो में कुछ अ य महत्त्वपूण साधनो को अपनाकर जनता का विधि-निर्माण पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित किया गया है । इ हें ही हम प्रत्यक्ष विधि-निर्माण या प्रत्यक्ष जनतन्त्र के साधन, उपकरण या पद्धतियाँ कहते हैं

(१) लोक निणय या जनमत सग्रह (Referendum)—प्रा मुनरो के अनुसार लोक-निणय या लोकसम्मति "वह पद्धति है जिसके अन्तगत विधानपालिका द्वारा पास किया हुआ कोई विधेयक उस समय तक रोका जाता है, जब तक कि उस पर जनता की राय न "ान ली जाय अथवा जनता उसका अनुमोदन न कर दे ।" इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी कानून उस समय तक लागू नही हो सकता जब तक कि जनता का बहुमत उसका समथन न करे । जनता की स्वीकृति प्राप्त न होने पर कानून को रद्द समझा जाता है ।

लोक निणय दो प्रकार का होता है—अनिवाय और वैकल्पिक । अनिवार्य लोक निणय के अनुसार कोई भी प्रस्तावित विधेयक उस समय तक कानून का रूप ग्रहण नही कर सकता जब तक कि जनता का बहुमत उसका अनुमोदन न कर दे। वकल्पिक (जिसे ऐच्छिक लोक निणय भी कहते हैं) से अभिप्राय यह है कि सभी कानून जनता की स्वीकृति के लिये नहीं भेजे जाते। केवल उन्ही कानूनो को जनमत सग्रह के लिये भेजा जाता है, जि हे मतदाताओं की एक निश्चित सख्या चाहती है। उदाहरण के लिये, स्विट्जरलैण्ड में सघ द्वारा बनाये गये साधारण कानूनो के लिये वैकल्पिक या ऐच्छिक लोक-निणय का प्रयोग होता है । वहाँ पर जनमत सग्रह तभी कराया जाता है जब कि कम-से-कम तीस हजार मतदाता या आठ कैण्टन उसके लिये प्रायना करें। लेकिन सविधान में सशोधन के लिये वहाँ अनिवार्य लोक निर्णय का प्रयोग होता है । सयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यो में भी लोक-निणय की प्रथा है, परन्तु सघीय विधान में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है।

(२) उपक्रम (Initiative)—मुनरो के अनुसार उपक्रम (इसे आरम्भक या प्रस्तावन भी कहते हैं) वह व्यवस्था है जिसके अन्तगत मतदाताओं को एक निश्चित सख्या किसी भी कानून को रूपरेखा तयार करके यह माँग कर सकती है कि वह कानून या तो विधानपालिका द्वारा पारित कर दिया जाये अथवा एक सामान्य या

लागू किया गया तथा स्विट्जरलैण्ड मे तो अभी तक इसी के अनुसार चुनाव होते हैं, परन्तु अपने गुणो के बावजूद इसके परिणाम आशाजनक नही रहे। लास्की की यह आलोचना खरी उतरी कि इस प्रणाली से छोटे छोटे दलों का जन्म होता है, ससद व देश मे विकेन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियाँ पनपती हैं, कार्यपालिका की शक्ति क्षीण होती है तथा सरकार सिद्धान्तहीन नीति पर चलने के लिए विवश होती है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के समर्थक वे ही हो सकते हैं जो राज्य को उन्नीसवी शताब्दी के दृष्टिकोण से देखते हैं। आधुनिक युग मे इस पद्धति से निर्वाचित ससद् शक्तिहीन और मात्र वाद-विवाद वाली सस्था होगी। अत इस प्रणाली के समर्थन या विरोध के पीछे एक सम्पूर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण छिपा हुआ दिखायी देता है।

प्रत्यक्ष विधायन
(Direct Legislation)

अभी हमने देखा कि प्रतिनिधित्व की बहुत सी प्रणालियाँ हैं। चूँकि आधुनिक जनतन्त्र 'प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र' (Representative Democracy) है, इसलिये प्रतिनिधित्व की किसी-न-किसी प्रणाली को प्रत्येक जनतान्त्रिक देश में अपनाया जाता है। लेकिन 'प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र' ही सच्चा जनतन्त्र है, इसे बहुत से लोग नहीं मानते। जैसा पहले लिखा जा चुका है, एक वर्ग का विचार है कि 'प्रतिनिधित्व एक आदेश है' अत प्रतिनिधियों को मतदाताओ की इच्छाएं पूरी करनी चाहियें। दूसरे वर्ग का मत है कि मतदाता प्रतिनिधि को इसलिये चुनता है कि वह उसे शासन कार्यों के लिये योग्य समझता है। उसे (मतदाता को) शासकीय नीतियो के विषय मे मत व्यक्त करने का अधिकार है, उनके छिद्रान्वेषण का नही। उसे यह आग्रह नही करना चाहिये कि प्रतिनिधि उसकी प्रत्येक बात माने। लेकिन जनतन्त्र की मूल भावना है कि 'सभी व्यक्ति समान हैं' और सभी 'शासन के योग्य' हैं। सम्पूर्ण शक्ति का मुख्य स्रोत जनता है, वह जिस भाँति चाहे अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकती है। इन विचारों को मानने वाले प्रत्यक्ष विधायन या विधि निर्माण के समर्थक हैं।

प्रत्यक्ष विधि निर्माण की माँग का एक अन्य कारण यह भी है कि अनेक बार लोग विधानपालिका द्वारा पारित कानूनों से सन्तुष्ट नहीं होते। वे स्वय शासन-सम्बन्धी मामलो की छानबीन तथा अपनी इच्छा से बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के कानून बनाना चाहते हैं। बाहरी हस्तक्षेप का अर्थ है, जाँच आयोग, आर्थिक परिषद, परामर्श समितियाँ आदि का प्रभाव जिनसे विधानपालिकाएँ दबी रहती हैं। प्रत्यक्ष विधायन के समर्थको के अनुसार आज की विधानपालिकाएँ उन्नीसवीं सदी की विधानपालिकाओं से बिल्कुल भिन्न हैं। वे दलगत राजनीति में इतनी फँसी हुई हैं कि जनतन्त्र 'दलतन्त्र' बन गया है और व्यक्ति के प्रतिनिधित्व की बात लगभग नष्ट हो चुकी है।

प्रत्यक्ष विधायन के उपकरण
(Methods of Direct Legislation)

स्विट्जरलैण्ड के छ राज्यो (कैण्टनो) मे प्रत्यक्ष विधायन की व्यवस्था है। वहाँ प्रतिवर्ष समस्त वयस्क नागरिक कम-से-कम एक बार (अप्रैल के अन्तिम रविवार को) निश्चित स्थान पर इकट्ठे होकर वर्ष भर के लिये स्वय कानून बनाते हैं और शासनाधिकारियो की नियुक्ति करते हैं। इन सभाओ को लैण्ड्सगेमिण्डे (Landsgemeinde) कहा जाता है। लेकिन जनसख्या के आधिक्य के कारण अन्य देशो में ऐसी सभा को बुलाना मुश्किल ही नहीं, असभव है। स्वय स्विट्जरलण्ड के अन्य राज्यो मे जहाँ जनसख्या अधिक है, ऐसी जनसभायें सगठित नहीं होतीं। उन राज्यों मे कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण साधनो को अपनाकर जनता का विधि निर्माण पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित किया गया है। इन्हें ही हम प्रत्यक्ष विधि-निर्माण या प्रत्यक्ष जनतन्त्र के साधन, उपकरण या पद्धतियाँ कहते हैं

(१) **लोक निर्णय या जनमत सग्रह** (Referendum)—प्रो मुनरो के अनुसार लोक-निर्णय या लोकसम्मति "वह पद्धति है जिसके अन्तर्गत विधानपालिका द्वारा पास किया हुआ कोई विधेयक उस समय तक रोका जाता है, जब तक कि उस पर जनता को राय न ले ली जाय अथवा जनता उसका अनुमोदन न कर दे।" इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी कानून उस समय तक लागू नहीं हो सकता जब तक कि जनता का बहुमत उसका समर्थन न करे। जनता की स्वीकृति प्राप्त न होने पर कानून को रद्द समझा जाता है।

लोक निर्णय दो प्रकार का होता है—अनिवार्य और वैकल्पिक। अनिवार्य लोक निर्णय के अनुसार कोई भी प्रस्तावित विधेयक उस समय तक कानून का रूप ग्रहण नही कर सकता जब तक कि जनता का बहुमत उसका अनुमोदन न कर दे। वैकल्पिक (जिसे ऐच्छिक लोक-निर्णय भी कहते हैं) से अभिप्राय यह है कि सभी कानून जनता की स्वीकृति के लिये नहीं भेजे जाते। केवल उन्ही कानूनो को जनमत-सग्रह के लिये भेजा जाता है, जिन्हें मतदाताओ की एक निश्चित सख्या चाहती है। उदाहरण के लिये, स्विट्जरलैण्ड मे सघ द्वारा बनाये गये साधारण कानूनो के लिये वैकल्पिक या ऐच्छिक लोक-निर्णय का प्रयोग होता है। वहाँ पर जनमत सग्रह तभी कराया जाता है जब कि कम-से-कम तीस हजार मतदाता या आठ कैण्टन उसके लिये प्रार्थना करें। लेकिन सविधान में सशोधन के लिये वहाँ अनिवार्य लोक निर्णय का प्रयोग होता है। सयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यो में भी लोक निर्णय की प्रथा है, परन्तु सघीय विधान में इसकी कोई व्यवस्था नही है।

(२) उपक्रम (Initiative)—मुनरो के अनुसार उपक्रम (इसे आरम्भक या प्रस्तावन भी कहते हैं) वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत मतदाताओं की एक निश्चित सख्या किसी भी कानून की रूपरेखा तयार करके यह माँग कर सकती है कि वह कानून या तो विधानपालिका द्वारा पारित कर दिया जाये अथवा एक सामान्य या

या विशेष निर्वाचन के समय उस पर जनता का मत लिया जाय। यदि जनता का बहुमत उसे स्वीकार कर लेता है तो वह कानून बन जाता है चाहे विधानपालिका उसके विरुद्ध ही क्यो न हो। सक्षेप म, उपक्रम द्वारा जनता अपनी इच्छानुसार सविधान में सशोधन या साधारण कानून बनाने मे पहल करती है और विधानमण्डल को उस पर आवश्यक कारवाई करनी पडती है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि जो कानून विधानपालिका द्वारा रद्द कर दिये जाते हैं, उन्हे उपक्रम द्वारा लागू किया जा सकता है।

उपक्रम दो प्रकार का होता है—निश्चित (Formulated) और अनिश्चित। जब जनता स्वय विधेयक का पूर्ण प्रारूप बनाकर विधानमण्डल मे प्रस्तुत करती है तो वह निश्चित आरम्भक या उपक्रम कहलाता है। अनिश्चित उपक्रम के अन्तर्गत जनता केवल विधेयक सम्बन्धी सुझाव रखती है। निश्चित उपक्रम के अन्तगत विधेयक उसी रूप म जनता का मत जानने के लिये पेश किया जाता है, लेकिन अनिश्चित उपक्रम के अधीन विधानपालिका जनता के सुझावो के अनुसार एक विधेयक बनाकर उसे मतदान के लिये प्रस्तुत करती है।

स्विट्जरलण्ड मे दोनो प्रकार के प्रस्तावन की व्यवस्था है। केवल एक कण्टन, जिनेवा, को छोडकर जहाँ सिर्फ सावैधानिक सशोधन के लिये ही उपक्रम का प्रयोग होता है, अन्य सभी कैण्टनो मे सावैधानिक और साधारण दोनो प्रकार के कानूनो के लिये उपक्रम की व्यवस्था है। उपक्रम के लिये कम से कम पचास हजार मतदाताओं के हस्ताक्षर से युक्त प्रार्थना-पत्र की आवश्यकता होती है। सघीय शासन मे साधारण *कानूनो के लिये इसकी व्यवस्था नही है। लोक निर्णय और उपक्रम एक दूसरे के पूरक* हैं। पहला नकारात्मक (Negative) है तो दूसरा सकारात्मक (Positive)। "लोक निर्णय निर्मित विधि के दोषो को दूर करता है, तो उपक्रम विधि न बनाने के दोषो को।"[9]

(३) प्रत्यावर्त्तन (Recall)—प्रत्यावर्त्तन और मतगणना (Plebiscite) के द्वारा कोई विधि नहीं बनायी जाती, लेकिन फिर भी इन साधनो से जनता विधि निर्माण पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव रखती है, इसलिये इनका उल्लेख करना भी आवश्यक है। ये दोनो वस्तुत प्रत्यक्ष जनतन्त्र के साधन हैं। जब मतदाता अपने प्रतिनिधियो के आचरण से सन्तुष्ट नही होते तो वे उन्हे वापस बुलाकर उनके स्थान पर दूसरे प्रतिनिधि भेज देते हैं। इस पद्धति को प्रत्यावर्त्तन कहते हैं। प्रत्यावर्त्तन के प्रस्ताव पर जनता की राय ली जाती है और यदि जनता उसे बहुमत से स्वीकार कर ले तो सम्बन्धित प्रतिनिधि या अधिकारी को पदच्युत कर दिया जाता है। सोवियत सघ तथा अमरीका के ओरेगन आदि कुछ राज्यो मे प्रत्यावर्त्तन की व्यवस्था है। स्विट्जरलण्ड म इसे नही अपनाया गया है।

(४) मत-गणना (Plebiscito)—मतगणना का अर्थ है किसी महत्त्वपूर्ण

9 "*Referendum corrects the errors of commission initiative those of omission.* —Bryce.

सार्वजनिक प्रश्न को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करके उस पर जनता की राय लेना। जनता प्रत्यक्ष रूप से मत देकर अपनी राय प्रगट करती है। मतगणना केवल राजनीतिक महत्त्व के प्रश्नो पर ली जाती है, साधारण कानूनो पर नही। भारत के विभाजन के बाद जूनागढ रियासत मे मतगणना कराकर यह जानने की कोशिश की गयी थी कि उसे भारत मे मिलाया जाय या पाकिस्तान मे।

उपर्युक्त साधनो से विधायन पर जनता का प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित हो जाता है जिससे सच्चे जनतन्त्र की स्थापना होती है, अत इन्हे प्रत्यक्ष जनतन्त्र के उपकरण भी कहा जाता है।

प्रत्यक्ष विधायन के गुण

(१) प्रतिनिधियों और मतदाताओं मे निकटतम सम्पर्क—प्रत्यक्ष विधि निर्माण का सबसे बडा लाभ यह है कि इसमे निर्वाचको और निर्वाचितो के मध्य दूरी नही होती। भारत मे तो जनप्रतिनिधि पाँच वर्ष मे केवल एक बार वोट मागने के समय ही अपने मतदाताओ से मिलते हैं।

(२) विधानपालिका की स्वेच्छाचारिता पर रोक—उपर्युक्त साधनो से विधायिका की स्वेच्छाचारिता पर अकुश लगता है और कानून जन भावनाओ के अनुकूल बनते हैं शासको की हठ के अनुकूल नही।

(३) जनता वास्तविक सम्प्रभु—प्रत्यक्ष विधायन की व्यवस्था मे सम्प्रभुता वास्तविक रूप से जनता के हाथ में रहती है और वही स्वय इसका प्रयोग भी करती है। ब्राइस के अनुसार "यह व्यवहार मे प्रयुक्त सार्वजनिक प्रभुता का सबसे अधिक स्वाभाविक, महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रत्यक्ष स्वरूप है।"

(४) राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से उत्तम—इस पद्धति मे जनता को राजनीतिक शिक्षण प्राप्त होता है, जो उसे अधिकारो की प्राप्ति मे सहायता देता है। बोन्जोर (Bonjour) लिखता है कि "यह निश्चय ही व्यक्तिगत निर्वाचकों की राजनीतिक शिक्षा मे वृद्धि करती है और उपक्रम से सलग्न होने के कारण क्रान्ति के विरुद्ध वास्तविक सुरक्षा प्रदान करती है।"

(५) उत्तरदायित्व का विकास—इससे नागरिको मे उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। लोग विफलताओ के लिए सरकार को ही सारा दोष नहीं देते। कानूनों को नैतिक शक्ति प्राप्त होती है और कानूनों का पालन करना जनता अपना परम कर्तव्य समझती है जिसके फलस्वरूप देश में असन्तोष व्याप्त होने का अवसर नहीं आता और क्रान्ति की आशका से छुट्टी मिल जाती है।

(६) दलबन्दी के दोषों से मुक्त—जब किसी विधेयक को जनता स्वयं ही रख सकती है अथवा उसे लागू किया जाय या नही किया जाय इस पर निर्णय दे सकती है तो दलबन्दी की राजनीति का महत्त्व कम हो जाता है। राजनीतिक दल अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढग से आचरण करने लगते हैं क्योंकि उन्हें अपने वायदे पूरे करने का अथवा जनता के विरोध का भय बना रहता है। ब्राइस लिखता है कि यह व्यवस्था

सार्वजनिक प्रश्न को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करके उस पर जनता की राय लेना। जनता प्रत्यक्ष रूप से मत देकर अपनी राय प्रगट करती है । मतगणना केवल राजनीतिक महत्त्व के प्रश्नो पर ली जाती है, साधारण कानूनो पर नही। भारत के विभाजन के बाद जूनागढ रियासत मे मतगणना कराकर यह जानने की कोशिश की गयी थी कि उसे भारत मे मिलाया जाय या पाकिस्तान मे।

उपर्युक्त साधनो से विधायन पर जनता का प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित हो जाता है जिससे सच्चे जनतन्त्र की स्थापना होती है, अत इन्हें प्रत्यक्ष जनतन्त्र के उपकरण भी कहा जाता है।

प्रत्यक्ष विधायन के गुण

(१) प्रतिनिधियों और मतदाताओं मे निकटतम सम्पर्क—प्रत्यक्ष विधि निर्माण का सबसे बडा लाभ यह है कि इसम निर्वाचको और निर्वाचितो के मध्य दूरी नही होती। भारत मे तो जनप्रतिनिधि पाँच वर्ष मे केवल एक बार वोट मागने के समय ही अपने मतदाताओ से मिलते हैं।

(२) विधानपालिका की स्वेच्छाचारिता पर रोक—उपर्युक्त साधनो से विधायिका की स्वेच्छाचारिता पर अकुश लगता है और कानून जन भावनाओ के अनुकूल बनते हैं शासको की हठ के अनुकूल नही।

(३) जनता वास्तविक सम्प्रभु—प्रत्यक्ष विधायन की व्यवस्था मे सम्प्रभुता वास्तविक रूप से जनता के हाथ मे रहती है और वही स्वय इसका प्रयोग भी करती है। ब्राइस के अनुसार "यह व्यवहार मे प्रयुक्त सार्वजनिक प्रभुता का सबसे अधिक स्वाभाविक, महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रत्यक्ष स्वरूप है।"

(४) राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से उत्तम—इस पद्धति मे जनता को राजनीतिक शिक्षण प्राप्त होता है, जो उसे अधिकारो की प्राप्ति म सहायता देता है। बोंजोर (Bonjour) लिखता है कि "यह निश्चय ही व्यक्तिगत निर्वाचकों की राजनीतिक शिक्षा मे वृद्धि करती है और उपक्रम से सलग्न होने के कारण क्रान्ति के विरुद्ध वास्तविक सुरक्षा प्रदान करती है।"

(५) उत्तरदायित्व का विकास—इससे नागरिकों मे उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। लोग विफलताओ के लिये सरकार को ही सारा दोष नही देते। कानूनों को नैतिक शक्ति प्राप्त होती है और कानूनो का पालन करना जनता अपना परम कर्त्तव्य समझती है जिसके फलस्वरूप देश मे असन्तोष व्याप्त होने का अवसर नही आता और क्रान्ति की आशका से छुटटी मिल जाती है।

(६) दलबन्दी के दोषों से मुक्त—जब किसी विधेयक को जनता स्वयं ही रद्द कर सकती है अथवा उसे लागू किया जाय या नहीं किया जाय इस पर निर्णय दे सकती है तो दलबन्दी की राजनीति का महत्व कम हो जाता है। राजनीतिक दल अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढग से आचरण करने लगते हैं क्योंकि उन्हें अपने वायदे पूरे करने का अथवा जनता के विरोध का भय बना रहता है। ब्राइस लिखता है कि यह व्यवस्था

या विशेष निर्वाचन के समय उस पर जनता का मत लिया जाय। यदि जनता का बहुमत उसे स्वीकार कर लेता है तो वह कानून बन जाता है चाहे विधानपालिका उसके विरुद्ध ही क्यों न हो। संक्षेप में, उपक्रम द्वारा जनता अपनी इच्छानुसार संविधान में संशोधन या साधारण कानून बनाने में पहल करती है और विधानमण्डल को उस पर आवश्यक कारवाई करना पड़ती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो कानून विधानपालिका द्वारा रद्द कर दिये जाते है, उन्हें उपक्रम द्वारा लागू किया जा सकता है।

उपक्रम दो प्रकार का होता है—निश्चित (Formulated) और अनिश्चित। जब जनता स्वयं विधेयक का पूर्ण प्रारूप बनाकर विधानमण्डल में प्रस्तुत करती है तो वह निश्चित आरम्भक या उपक्रम कहलाता है। अनिश्चित उपक्रम के अन्तर्गत जनता केवल विधेयक सम्बन्धी सुझाव रखती है। निश्चित उपक्रम के अन्तर्गत विधेयक उसी रूप में जनता का मत जानने के लिये पेश किया जाता है, लेकिन अनिश्चित उपक्रम के अधीन विधानपालिका जनता के सुझावों के अनुसार एक विधेयक बनाकर उसे मतदान के लिये प्रस्तुत करती है।

स्विटजरलैण्ड में दोनों प्रकार के प्रस्तावन की व्यवस्था है। केवल एक कण्टन, जिनेवा, को छोड़कर जहाँ सिर्फ सांविधानिक संशोधन के लिये ही उपक्रम का प्रयोग होता है, अन्य सभी कण्टनों में सांविधानिक और साधारण दोनों प्रकार के कानूनों के लिये उपक्रम की व्यवस्था है। उपक्रम के लिये कम से कम पचास हजार मतदाताओं के हस्ताक्षर से युक्त प्रार्थना पत्र की आवश्यकता होती है। संघीय शासन में साधारण कानूनों के लिये इसकी व्यवस्था नहीं है। लोक निर्णय और उपक्रम एक दूसरे के पूरक हैं। पहला नकारात्मक (Negative) है तो दूसरा सकारात्मक (Positive)। "लोक निर्णय निर्मित विधि के दोषों को दूर करता है, तो उपक्रम विधि न बनाने के दोषों को।"[9]

(३) प्रत्यावर्तन (Recall)—प्रत्यावर्तन और मतगणना (Plebiscite) के द्वारा कोई विधि नहीं बनायी जाती, लेकिन फिर भी इन साधनों से जनता विधि निर्माण पर अपना प्रत्यक्ष प्रभाव रखती है, इसलिये इनका उल्लेख करना भी आवश्यक है। ये दोनों वस्तुतः प्रत्यक्ष जनतन्त्र के साधन हैं। जब मतदाता अपने प्रतिनिधियों के आचरण से सन्तुष्ट नहीं होते तो वे उन्हें वापस बुलाकर उनके स्थान पर दूसरे प्रतिनिधि भेज देते हैं। इस पद्धति को प्रत्यावर्तन कहते हैं। प्रत्यावर्तन के प्रस्ताव पर जनता की राय ली जाती है और यदि जनता उसे बहुमत से स्वीकार कर ले तो सम्बन्धित प्रतिनिधि या अधिकारी को पदच्युत कर दिया जाता है। सोवियत संघ तथा अमरीका के ओरेगन आदि कुछ राज्यों में प्रत्यावर्तन की व्यवस्था है। स्विट्जरलैण्ड में इसे नहीं अपनाया गया है।

(४) मत-गणना (Plebiscite)—मतगणना का अर्थ है किसी महत्त्वपूर्ण

9 Referendum corrects the errors of commission, initiative those of omission. —Bryce.

सार्वजनिक प्रश्न को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करके उस पर जनता की राय लेना। जनता प्रत्यक्ष रूप से मत देकर अपनी राय प्रगट करती है। मतगणना केवल राजनीतिक महत्त्व के प्रश्नों पर ली जाती है, साधारण कानूनों पर नहीं। भारत के विभाजन के बाद जूनागढ़ रियासत में मतगणना कराकर यह जानने की कोशिश की गयी थी कि उसे भारत में मिलाया जाय या पाकिस्तान में।

उपर्युक्त साधनों से विधायन पर जनता का प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्थापित हो जाता है जिससे सच्चे जनतन्त्र की स्थापना होती है, अतः इन्हें प्रत्यक्ष जनतन्त्र के उपकरण भी कहा जाता है।

प्रत्यक्ष विधायन के गुण

(१) प्रतिनिधियों और मतदाताओं में निकटतम सम्पर्क—प्रत्यक्ष विधि निर्माण का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें निर्वाचकों और निर्वाचितों के मध्य दूरी नहीं होती। भारत में तो जनप्रतिनिधि पाँच वर्ष में केवल एक बार वोट मांगने के समय ही अपने मतदाताओं से मिलते हैं।

(२) विधायिका की स्वेच्छाचारिता पर रोक—उपर्युक्त साधनों से विधायिका की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगता है और कानून जन भावनाओं के अनुकूल बनते हैं शासकों की हठ के अनुकूल नहीं।

(३) जनता वास्तविक सम्प्रभु—प्रत्यक्ष विधायन की व्यवस्था में सम्प्रभुता वास्तविक रूप से जनता के हाथ में रहती है और वही स्वयं इसका प्रयोग भी करती है। ब्राइस के अनुसार "यह व्यवहार में प्रयुक्त सार्वजनिक प्रभुता का सबसे अधिक स्वाभाविक, महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रत्यक्ष स्वरूप है।"

(४) राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से उत्तम—इस पद्धति में जनता को राजनीतिक शिक्षण प्राप्त होता है, जो उसे अधिकारों की प्राप्ति में सहायता देता है। बान्जोर (Bonjour) लिखता है कि "यह निश्चय ही व्यक्तिगत निर्वाचकों की राजनीतिक शिक्षा में वृद्धि करती है और उपक्रम से सलग्न होने के कारण क्रान्ति के विरुद्ध वास्तविक सुरक्षा प्रदान करती है।"

(५) उत्तरदायित्व का विकास—इससे नागरिकों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। लोग विफलताओं के लिए सरकार को ही सारा दोष नहीं देते। कानूनों को नैतिक शक्ति प्राप्त होती है और कानूनों का पालन करना जनता अपना परम कर्त्तव्य समझती है जिसके फलस्वरूप देश में असन्तोष व्याप्त होने का अवसर नहीं आता और क्रान्ति की आशंका से छुट्टी मिल जाती है।

(६) दलबन्दी के दोषों से मुक्त—जब किसी विधेयक को जनता स्वयं ही रख सकती है अथवा उसे लागू किया जाय या नहीं किया जाय इस पर निर्णय दे सकती है तो दलबन्दी की राजनीति का महत्त्व कम हो जाता है। राजनीतिक दल अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण रूप से आचरण करने लगते हैं क्योंकि उन्हें अपने वायदे पूरे करने का अथवा जनता के विरोध का भय बना रहता है। ब्राइस लिखता है कि यह व्यवस्था

"दलीय प्रभाव की विध्वंसात्मक और कलुषित प्रवृत्ति को नष्ट करती है तथा मतदाताओं को गम्भीर समस्याओं पर अपने विचारों की घोषणा करने का अवसर प्रदान करती है।"

(७) विधायिका के दो सदनों में गतिरोध की समाप्ति—जब कानून की अच्छाई और बुराई के निर्णय करने का अधिकार प्रत्यक्ष रूप से जनता को मिल जाता है तो किसी विधेयक के सम्बन्ध में विधानपालिका के दो सदनों के मध्य पारस्परिक मतभेद की सम्भावनायें समाप्त हो जाती हैं।

बॉन्जोर ने प्रत्यक्ष विधायन की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "यह जनता की इच्छाओं को जानने का सबसे पक्का साधन है। यह राजनीतिक वातावरण का सर्वश्रेष्ठ बैरोमीटर है।"

प्रत्यक्ष विधायन के दोष

(१) विधायिका के सम्मान में कमी—प्रत्यक्ष विधायन का प्रथम दोष यह है कि इससे विधानपालिका की प्रतिष्ठा कम हो जाती है, क्योंकि विधि-निर्माण में उसका प्रभाव कम हो जाता है और कभी कभी उसकी इच्छा के विरुद्ध कानून बन जाते हैं। ब्राइस के विचार से "यदि आप जनमत संग्रह शुरू कर दें तो संसद् केवल परामर्शदात्री संस्था बन कर रह जाती है।"

(२) समय और धन की बरबादी—इसमें समय और धन दोनों का अपव्यय होता है। बार-बार मतसंग्रह होता है इसलिये बार-बार लोक निर्णय के अन्तर्गत विधेयक की लाखों प्रतियाँ और प्रचार सामग्री जनता में वितरित करनी पड़ती है। फिर मतदान स्वयं ही एक बहुत खर्चीली और समय लेने वाली व्यवस्था है।

(३) जनता की उदासीनता—यह सदैव सही नहीं है कि प्रत्यक्ष विधायन उत्तरदायित्व की भावना का विकास करता है। वस्तुतः बार-बार चुनाव होने से लोगों की रुचि उनमें कम हो जाती है। जब बार बार कानून लोक निर्णय के लिये सामने आते हैं तो वे एक प्रकार की परेशानी अनुभव करने लगते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि मतदान में बहुत कम व्यक्ति भाग लेते हैं तथा जनमत वास्तव में बहुमत की नहीं, वरन् अल्पमत की अभिव्यक्ति करता है।

(४) जनता योग्य कानूनों के निर्माण में असमर्थ—किसी भी देश की जनता का अधिकांश घटिया बौद्धिक स्तर का होता है अतः प्रत्येक व्यक्ति कानूनों की बारीकियों और उनके दूरगामी परिणामों को समझने के योग्य नहीं होता। ब्राइस लिखता है कि 'जनता मुहावरों और नारों के प्रति आकर्षित हो जाती है, अप्रासंगिक विषयों के वाद विवाद में पड़ जाती है, विधेयक में होने वाले विभिन्न विचारों की संख्या के चक्कर में पड़ जाती है और इस प्रकार यह किसी एक विचार से असहमत होने पर सम्पूर्ण प्रस्ताव को अस्वीकार करने के स्थान पर उसका समर्थन कर देती है।' फ़ाइनर बताता है कि 'बुद्धिहीन व अशिक्षित लोगों ने प्रगतिशील कानूनों को प्रायः

नष्ट किया है।"

(५) व्यवस्थापिका अनुत्तरदायी बन जाती है—प्रत्यक्ष विधायन विधान पालिका को लापरवाह और अनुत्तरदायी बना देता है। "इससे", ब्राइस के शब्दो मे, "विधानमण्डल की जिम्मेदारी घट जाती है और वह कई वार ऐसे कानून पारित कर देता है जिनको वह स्वय भी पसन्द नही करता, लेकिन समझता है कि जनता उन्हे अस्वीकार कर ही देगी। अनेक बार जनमत के भय से ऐसे कानून पारित कर देता है जिनका वह बहुत कम आवश्यकता अनुभव करता है।

(६) अवांछित तत्त्वो मे वृद्धि—प्रत्यक्ष विधायन से अवाछित तत्त्वो मे वृद्धि स्वाभाविक है। चुनाव मे हारने वाला हमेशा इस षड्यन्त्र मे लगा रहेगा कि किस प्रकार जीते हुए उम्मीदवार का प्रत्यावर्त्तन हो। स्ट्राग लिखता है कि प्रत्यावर्त्तन को "यदि विधायको पर लागू किया जाय तो प्रतिनिधि केवल 'डेलीगेट' बनकर रह जायेंगे, वे षडयन्त्रकारियों के समूह के भ्रष्ट आक्रमणो का शिकार बन जायेंगे तथा ऐसी स्थिति मे सावजनिक भावना वाले लोग राजनीति छोड देंगे।"

(७) बड़े देशो के लिए अनुपयुक्त—प्रत्यक्ष विधायन स्विटजरलण्ड जसे कम जनसख्या वाले देशो मे ही सम्भव है। बडे आकार वाले देशो मे जहाँ अनेक जाति, भाषा, धम, सम्प्रदाय और दृष्टिकोण वाले लोग रहते हैं इसे सफलतापूवक लागू नही किया जा सकता क्योकि विभिन्न क्षेत्रो के लिए विभिन्न प्रकार के कानूनो की आवश्यकता पड सकती है।

निष्कर्ष

प्रत्यक्ष विधि निर्माण की विशेषताओ, उसके गुण व दोषो आदि के अध्ययन के उपरान्त कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष विधि निर्माण नि सदेह एक आकषक व्यवस्था है, लेकिन उसकी सफलता के लिए कुछ बातें नितान्त आवश्यक हैं। प्रथम, इसे वही लागू किया जाय जहाँ लोग शिक्षित, चरित्रवान और उच्च कोटि की नागरिक-भावना वाले हो। दूसरे, क्षेत्रफल और जनसख्या की दृष्टि से राज्य छोटा हो और उसमे अनेकताओ की भरमार न हो। तीसरे, राज्य की राजनीतिक समस्यायें कम से कम हो, उसका सगठन सरल और उसके नागरिको का रहन सहन सीधा-सादा हो। भारत जसे देश म प्रत्यक्ष विधायन की व्यवस्था को लागू करना न तो व्यावहारिक है और न वाछनीय।

जनमत
(Public Opinion)

'जनमत' का शाब्दिक अथ है—जनता का मत। लेकिन राजनीति शास्त्र में व्याख्या की दृष्टि से इसका अथ इतना सरल नहीं है। "जनमत के भिन्न तथा कभी-कभी बड़े अस्पष्ट अथ लगाये गये हैं।"[10] कुछ लोग समाज के बहुसख्यक लोगो के मत

10. Ashirvatham, *Political Theory*, p. 509

को जनमत समझते है, लेकिन उसे 'बहुमत' कहना अधिक उपयुक्त होगा, दूसरे कुछ 'जनमत' को रूसो की 'सामान्य इच्छा' का पर्यायवाची समझते हैं, लेकिन 'सामान्य इच्छा' सामान्य इच्छा' है, जनमत नही। अत 'जनमत' का सही अर्थ जानना बहुत जरूरी है।

परिभाषा व अर्थ

रौसेक के विचार से "जनमत एक प्रकार की सर्वसम्मति होती है जिसका निर्माण किसी स्थान या युग मे प्रचलित पक्ष व विपक्ष की विचारधाराओ के प्रभाव के आधार पर होता है।"[11]

ब्राइस के शब्दो मे 'समस्त समाज पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों के विषय मे जनता के विचारो का योग ही जनमत है।"

डूब के अनुसार 'एक सामाजिक समूह के रूप मे जनता का किसी समस्या के प्रति रुख या दृष्टिकोण जनमत कहलाता है।"

सोल्टाऊ के विचार से "इस शब्द का प्रयोग साधारणतया उन विचारो और इच्छाओं के सम्बन्ध मे किया जाता है, जो जनता अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध मे रखती है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ मे रौसेक की परिभाषा पर्याप्त स्पष्ट है, लेकिन उसमे एक बात ध्यान देने योग्य है कि 'जनमत' का अर्थ समाज' के 'समस्त लोगो का मत' नही होता। सबका मत 'सर्वसम्मति कहलायेगा। 'जनमत' सर्वसम्मति' हो यह जरूरी नही वह सिर्फ एक प्रकार की सर्वसम्मति होता है अर्थात् न्यूनाधिक रूप से समाज के सभी लोग किसी विषय पर एक प्रकार के विचार रखते हैं लेकिन उनके ऐसे विचार किसी गणना या मतसग्रह द्वारा इकट्ठे नही किये जाते। जनमत का सही अर्थ लावेल द्वारा व्यक्त की गयी जनमत की विशेषताओ के अध्ययन के पश्चात आसानी से समझा जा सकता है। लावेल के विचार से किसी मत के जनमत कहलाने के लिये उसमे तीन बातें होनी आवश्यक हैं —

(१) अपने शब्द की वास्तविकता प्रगट करने के लिये उसे सही अर्थों मे जनता का मत होना चाहिये,

(२) उसे दिल की एक अस्थायी भावना, मौज या तरग नही होना चाहिये, वरन् उसे जनता का एक स्थायी विचार या दृष्टिकोण (मत) होना चाहिये, तथा

(३) जनमत का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण होना चाहिये, किसी वर्ग विशेष का हित या कल्याण नही। बेणीप्रसाद के अनुसार 'कोई मत जनमत तभी कहला सकता है जबकि उसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना हो।"

सक्षेप मे, जनमत हम जनता के उस मत को कह सकते हैं जो सार्वजनिक हित को ध्यान मे रखकर निःस्वार्थ भाव से निर्भयतापूर्वक किसी कानून, सिद्धान्त, घटना अथवा राजकीय कार्यों या नीतियो के विषय मे प्रगट किया जाता है।

11 Rouchek *Twentieth Century Political Thought* p 358

महत्त्व

ह्यूम लिखता है कि "सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हो अपनी शक्ति के लिये जनमत पर निभर करती हैं।" राजतन्त्र हो या कुलीनतन्त्र, अधिनायकतन्त्र हो या जनतन्त्र, कोई भी सरकार जनमत की अवहेलना करने का साहस नही कर सकती क्योकि जनमत के विरुद्ध हो जाने पर उसका अस्तित्व ही सकट मे पड जायेगा। "सुसचालित जनमत शासन प्रबन्ध का सजग पहरेदार है।" कौटिल्य ने अपने 'अथशास्त्र' मे शासको को गुप्तचर आदि की व्यवस्था करके जनमत जानने और उसके अनुकूल काय करने का सुझाव दिया था। अधिनायकतन्त्र जनमत के प्रति जागरूक रहकर ही विद्रोह की सभावना का दमन करता है।

जनतन्त्र की तो जनमत आत्मा है, क्योकि जनतन्त्र 'जनता का जनता के लिय' शासन होता है। अत यह अनिवाय है कि सरकार सदव जनता के हितो और भावनाओ को ध्यान मे रखकर काय करे। यदि सरकार जनमत की अवहेलना करना शुरू कर देगी तो जनतन्त्र की भावना ही नष्ट हो जायगी। जनतन्त्र म जनमत जनता व सरकार के मध्य विचारो म सामजस्य स्थापित करने की एक कडी है। जनतन्त्र जनमत की नीव पर ही टिका होता है। यदि निर्वाचित प्रतिनिधियो के विपक्ष में कभी जनमत हो जाये तो अगले आम चुनाव मे वह शासन का रूप ही बदल देगा। इसलिय जनतान्त्रिक सरकारें जनमत का विशप ख्याल रखती हैं और जनमत को सदव अपने पक्ष मे बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील रहती हैं। जनमत के महत्त्व को दर्शाते हुये पुणताम्बेकर लिखते हैं कि 'जनमत वह शक्ति है जो राज्य के सगठन मे पथ प्रदर्शक निदेशक का काय करती है। सरकार जनमत के प्रति ही उत्तरदायी होती है। जनमत ही वह कसौटी है जिसके आधार पर हमारे विचारो व आदर्शों का परीक्षण किया जाना चाहिये और उसी के आधार पर उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिये।"

जनमत का निर्माण तथा उसके साधन

जनमत अपने आप नहीं बनता, बनाया जाता है। यह पहले किसी एक अथवा थोडे से व्यक्तियो का मत होता है बाद मे बढते बढते यह सवसाधारण का मत बन जाता है। जनमत के निर्माण म अनेक शक्तियो का हाथ होता है उन्ह ही हम जनमत निर्माण के साधन के नाम से जानते हैं। जनमत निर्माण के मुख्य साधन निम्नाकित हैं

(1) मानव तत्त्व—लार्ड ब्राइस का मत है कि समाज म तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं जिनमे से प्रथम दो प्रकार के व्यक्ति जनमत का निमाण करते हैं। प्रथम वग में उसके विचार से विधायक, पत्रकार आदि आते हैं जो सावजनिक कार्यों या राजनीति मे सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। ऐसे व्यक्तियो की सख्या कम होती है, फिर भी ये लोग अपने भाषणो और लेखो द्वारा जनता को राजनीतिक प्रश्न समझाते हैं तथा इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से जनमत का निमाण करते हैं। दूसरे वग में लेखक, वकील कवि शिक्षक आदि बुद्धिजीवी आते हैं जो प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप से राजनीति मे

भाग नहीं लेते लेकिन जो सार्वजनिक मामलों को भलीभांति समझने और समझाने की योग्यता रखते हैं। ऐसे व्यक्ति न केवल प्रत्यक्ष रूप से जनमत का निर्माण करते हैं, अपितु प्रथम वर्ग के लोगों द्वारा व्यक्त किये गये मतों में संशोधन भी करते हैं। तीसरे वर्ग में वे लोग आते हैं जिनकी न तो कोई स्वतन्त्र राय होती है और न ही उनमें जटिल सार्वजनिक समस्याओं को समझने की शक्ति और सामर्थ्य होती है। ये लोग सार्वजनिक मामलों के प्रति उदासीन होते हैं। पहले और दूसरे वर्ग के लोग इनके विचारों को जिधर चाहे मोड़ लेते हैं।

(२) अफवाहें और गप्प (Heresay)—भारत जैसे गरीब, अशिक्षित, प्रेस, संचार आदि की गांवों में पूरी सुविधा न होने वाले, देश में जनमत के निर्माण में गप्पों और अफवाहों का सबसे बड़ा स्थान होता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में एक अशिक्षित गाँव में, लेखक को, बड़ा जबरदस्त जनमत मिला। यह पूछने पर कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में आपने किस दृष्टिकोण से निर्णय किया, सभी ग्रामवासियों ने कहा कि वित्तमन्त्री मोरारजी देसाई ने बैंकों में जमा जनता की पूंजी को अपने धन्धे में मामूली ब्याज पर लगा रखा है जिससे गरीब जनता को कुछ नहीं मिलता, इसलिये मोरारजी को हटाना और बैंकों का राष्ट्रीयकरण समाज के हित में है।

(३) प्रेस—साहित्य, समाचारपत्र प्रकाशित प्रचार-सामग्री आदि सब प्रेस के अन्तर्गत आते हैं। 'प्रेस' या, दूसरे शब्दों में समस्त प्रकाशित साहित्य जनमत निर्माण का आधुनिक युग में सम्भवतः सबसे प्रभावशाली साधन है। समाचारपत्र विविध घटनाओं के विषय में जानकारी देते हैं और 'सम्पादकीय' तथा सम्पादक के नाम भेजे गये पत्रों को प्रकाशित करके जनता की भावनाओं को एक ओर सरकार तक पहुँचाते हैं तो दूसरी ओर सर्वसाधारण को उन घटनाओं अथवा शासकीय नीतियों के विषय में अपना मत बनाने का अवसर देते हैं। सार्वजनिक समस्याओं से सम्बन्धित विविध पक्ष स्वयं भी प्रेस की सुविधाओं को उठाकर जनता को अपनी राय निर्धारित करने का अवसर देते हैं।

(४) रेडियो टेलीविजन और सिनेमा—रेडियो द्वारा समाचार विभिन्न सार्वजनिक समस्याओं पर टीका टिप्पणियाँ व वार्ताएँ नियमित रूप से प्रसारित होती हैं जिनसे सर्वसाधारण को महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है और उन समस्याओं के सम्बन्ध में आम जनता की एक निश्चित राय कायम होती है। अधिक विकसित देशों में यह कार्य टेलीविजन करता है जिसमें वार्ता या समाचार सुनने के साथ साथ उसके प्रसारित करने वाले अथवा घटनाओं से सम्बन्धित स्थल को आँख से भी देखा जा सकता है। इसी प्रकार सिनेमा भी जनमत का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। मनोरंजन प्रदान करने के साथ साथ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित चित्र बनाकर इस साधन से जनता के मत पर परोक्ष प्रभाव डाला जाता है।

(५) शिक्षण संस्थायें—स्कूल कालेज, विश्वविद्यालय आदि भी जनमत के

निर्माण मे योग देते हैं। शिक्षण सस्थायें विद्यार्थियो क। चि.जन व मनन करने की शक्ति का विकास करती हैं। वहाँ का खुला वातावरण दलगत पूर्वाग्रहो से मुक्त रहता है। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयो पर वहाँ वाद-विवाद, विचार विमर्श आदि होता है जिससे विद्यार्थियो की उन विषयो के सम्बन्ध मे अपनी राय बनने लगती है। जनमत के विकास म शिक्षण सस्थायें भी इस प्रकार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

(६) धार्मिक व सांस्कृतिक समुदाय—जनमत के निर्माण मे धार्मिक और सास्कृतिक समदायो व सगठनो का भी काफी हाथ रहता है। इन सगठनो के कायक्रम जनता को अपना दृष्टिकोण देकर जनमत बनाने मे योग देते हैं। रोमन कैथोलिक देशो में चच और मुस्लि. देशो मे मस्जिदें जनमत के निर्माण मे महत्त्वपूण भूमिका निभात देखी जा सकती हैं।

(७) मच (Platform)—मच या सावजनिक सभायें भी जनमत के निर्माण मे योग देती हैं। मच के माध्यम से जनता के समक्ष विभिन्न व्यक्तियो द्वारा अपने विचार रखे जाते हैं। विभिन्न समस्याओ की सावजनिक सभाओ म आलोचना-प्रत्यालोचना होने से जनता की उनके प्रति ज्ञान और रुचि मे वृद्धि होती है। वक्ता और श्रोता के मध्य सीधा सम्पर्क होने से जनमत निर्माण का यह साधन बहुत महत्त्वपूण है। मच का प्रयोग और प्रभाव सावजनिक चुनाव के दिनो मे देखने को खूब मिलता है। नाटक आदि भी मच क अन्तगत आ जाते हैं। साम्यवादी देश समय समय पर जनमत बनाने के लिये इनका खूब उपयोग करते हैं।

(८) विधानमण्डल—कुछ लोगो की राय है कि विधानमण्डल मे जनमत का निर्माण नही होता, उसकी अभिव्यक्ति होती है। वस्तुत अभिव्यक्ति भी जनमत हो बनाती है। विधानमण्डलो मे जनता के चुने हुय प्रतिनिधि होते हैं जो अपने दल, वग या क्षेत्र के हितो की रक्षा के लिये वाद विवाद मे भाग लेते हैं। विधानमण्डला मे होने वाले इस वाद विवाद की सम्पूण कारवाई प्रकाशित की जाती है जिसे जनता बडी रुचि से पढती है और इसके द्वारा उसे शासन का सफलताओ व असफलताओ का आकलन करने मे बडी सुविधा होती है। विधानमण्डल मे होने वाली कारवाई भी इस प्रकार जनमत का निर्माण करती है।

(९) राजनीतिक दल—आधुनिक युग मे जनमत का निर्माण करने मे सबसे अधिक योगदान राजनीतिक दलो का होता है। ऊपर जितने साधनो का उल्लेख किया गया है, राजनीतिक दल जनमत को अपने पक्ष मे बनाने के उद्देश्य स उन सभी का न्यूनाधिक रूप से उपयोग करते हैं। स्वय राजनीतिक दल तीन प्रकार से जनमत क निर्माण मे अपना योग देते हैं। प्रथम, आम चुनाव के दिना मे वे अपने कायकर्त्ताओ के माध्यम से जनता से सीधा सम्पक स्थापित करके उन्हे विभिन्न राजनीतिक समस्याओ के विषय मे अपने दृष्टिकोण से अवगत कराते हैं। दूसरे, जनसभायें करके, कायक्रम प्रकाशित करके, रेडियो, टलीविजन आदि मे समय खरीदकर, पत्र पत्रिकाओ में विज्ञापन देकर तथा सिनेमाघरा म स्लाइडस या फिल्मे चलाकर वह जनता को

विभिन्न समस्याओं के विषय मे मत स्थिर करने का अवसर देते हैं। तीसरे, जनमत को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिये वे जुलूस, आन्दोलन, घेराव, हड़ताल, बन्द आदि का आयोजन करते है। राजनीतिक दल* का अपना संगठन होता है इसलिये उनके इस प्रकार के कार्यक्रमों का जनजीवन पर सीधा प्रभाव पड़ता है तथा उनकी विफलता या सफलता जनमत के निर्माण मे निर्णायक प्रभाव डालती है। लास्की जनमत के निर्माण मे राजनीतिक दलो की भूमिका का उल्लेख करते हुये लिखता है कि वह (राजनीतिक दल) जल्से और अधिवेशन आयोजित करता है तथा एजेण्ट, वक्ताओं और प्रचारकों के माध्यम से जनता को शिक्षित करने का प्रयास करता है। राजनीतिक दल स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार पत्रो एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखता है।'

चुनाव के दिनों में राजनीतिक दल जनमत निर्माण के लिये अत्यधिक सक्रिय हो उठते हैं, क्योंकि वह उनके जीवन मरण का काल होता है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण मे बाधायें

(१) निधनता—स्वस्थ जनमत के विकास मे कुछ तत्व बाधक होते हैं, जिनमे सबसे प्रमुख निधनता है। यदि किसी समाज में लोगों का अधिकांश समय अपने जीवन यापन के साधन जुटाने मे ही व्यतीत हो तो न वे सार्वजनिक जीवन के कार्यों के लिये समय निकाल सकेंगे और न ही उनकी उनमे रुचि बनी रहेगी। निधनता आर्थिक शोषण के कारण होती है, अतः निधन समाज में वर्ग-संघर्ष अनिवार्यतः पाया जायगा और जनता का दृष्टिकोण या मत भी स्वस्थ न होकर एकपक्षीय या वर्गभेद की भावना से युक्त होगा।

(२) अज्ञान—अज्ञान अशिक्षा या अपर्याप्त शिक्षा भी स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधक होती है। अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्ति सार्वजनिक समस्याओं के विषय मे कभी भी सही निर्णय नहीं कर सकते। धूर्त और पाखण्डी नेताओं द्वारा उन्हें आसानी से गुमराह किया जा सकता है। अज्ञान और अशिक्षा स्वस्थ जनमत के सबसे बड़े शत्रु है।

(३) संकीर्ण भावनायें—जातिवाद, सम्प्रदायवाद क्षेत्रवाद आदि की संकीर्ण भावनायें भी स्वस्थ जनमत के विकास मे बाधक होती हैं। जिन देशों की जनता इन संकीर्ण भावनाओं की दलदल में फँसी होती है वहाँ चाहे व्यवहार में जनतन्त्र हो यथार्थ में गुटबन्दी का शासन होता है। जनता संकीर्ण भावनाओं के आधार पर बनाये गये गुटों में बँटी रहती है और स्वस्थ जनमत का विकास नहीं हो पाता।

(४) राजनीतिक चेतना का अभाव—जनता का 'कोउ नृप होउ हमहि का हानी' वाला दृष्टिकोण कभी भी स्वस्थ जनमत नहीं बना सकता। अच्छे जनमत के लिए जनता की सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी अनिवार्य है। समाज का राजनीतिक

। १९ । सजग जनमत के मार्ग में बहुत बड़ा बाधा है।

(५) पक्षपातपूर्ण समाचारपत्र—जनमत निर्माण मे समाचारपत्रो की भूमिका को देखते हुए यह आवश्यक है कि समाचारपत्र पूर्णत निष्पक्ष हो। परन्तु देखने मे आता है कि समाचारपत्रो पर किसी-न किसी व्यक्ति या सस्था का अधिकार होता है। अत समाचारपत्र सूचनायें प्रकाशित करते समय अपने स्वामी के हितो का विशेष ध्यान रखते हैं। चूकि जानकारी के लिये राष्ट्र का अधिकाश समाचारपत्रो पर ही निर्भर करता है, इसलिये जनता इन पक्षपातपूर्ण समाचारपत्रो के चक्कर मे किसी भी समस्या पर पूर्णत निष्पक्ष और दोषरहित मत निश्चित नही कर पाती।

(६) आधारभूत एकता का अभाव—अन्त मे, कुछ बुनियादी प्रश्नो पर जनता का एकमत न होना भी स्वस्थ जनमत के विकास मे बाधक है। यदि राज्य, जीवन के रहन सहन, आचरण के नियमो आदि के प्रश्नो पर किसी देश की जनता के विचारो मे आधारभूत मतभेद हो तो वहाँ स्वस्थ जनमत के विकास की आशा करना व्यर्थ होगा।

स्वस्थ जनमत-निर्माण के लिये आवश्यक शर्तें

स्वस्थ जनमत निर्माण के मार्ग म जिन बाधाओ का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके निराकरण के उपाय ही स्वस्थ जनमत निर्माण की आवश्यक शर्तें हैं। उन्हे हम ऊपर के क्रम म ही पुन रख सकते हैं—

(१) निर्धनता या आर्थिक विषमता की समाप्ति—अच्छे जनमत के निर्माण के लिये निर्धनता या आर्थिक विषमताओ की समाप्ति बहुत आवश्यक है। इसके लिये जरूरी है कि राज्य सभी नागरिको के लिये कम-से कम उचित आर्थिक न्यूनतम की व्यवस्था करे। उचित आर्थिक न्यूनतम से अभिप्राय है कि भोजन, वस्त्र, मकान की इतनी सुविधा सबको हो कि कम से कम उनका काम चल सके। जब अत्यधिक निर्धनता व्याप्त होती है तो रोटी भगवान बन जाती है और धर्म, ईमान, नैतिकता सब नीलाम हो जाती है। अत स्वस्थ लोकमत के लिये निर्धनता और सम्पत्ति की विषमता का मिटाना जरूरी है।

(२) सुशिक्षा—सोल्टाऊ लिखता है कि "जनमत की प्रबुद्धता की मात्रा जनता की शिक्षा एवम सामान्य बुद्धि के स्तर पर निर्भर करती है।" स्वस्थ जनमत के निर्माण के लिये जरूरी है कि जनता कम से कम इतनी शिक्षित अवश्य हो कि समाचारपत्र पढ सके, उनके दृष्टिकोण के पक्ष विपक्ष को समझ सके, रेडियो की वार्ताओं और समाचारो तथा नेताओ के भाषणो को समझ सके। इससे उनमे स्वतन्त्र रूप से विचार करने की योग्यता का विकास होगा जो स्वस्थ जनमत के विकास के लिये अनिवार्य है।

(३) उच्च नैतिक स्तर—स्वस्थ जनमत के विकास के लिये जनता और राजनीतिज्ञो का चरित्र उच्चकोटि का होना बहुत जरूरी है अन्यथा छोटे छोटे व्यक्तिगत स्वार्थो के कारण देश का वातावरण दूषित हो जायगा। भारत जैसे देश मे यह बहुत जरूरी है। यहाँ की जनता और विशेष रूप से राजनीतिज्ञो के चरित्र मे जब तक

सुधार नही होगा सावजनिक समस्याओ के प्रति कभी भी स्वस्थ दृष्टिकोण देखने को नही मिलेगा।

(४) नागरिक चेतना का विकास—नागरिको के लिये आवश्यक है कि वे स्वय को सम्पूण समाज का एक महत्त्वपूण अग समझकर समाज के कल्याण और उसकी समद्धि के विषय मे सोचें। जब तक देश म एसे व्यक्ति नही होगे स्वस्थ या प्रबुद्ध जनमत का विकास नही हो सकेगा। लेकिन इस चेतना का विकास स्वय बहुत धीरे धीरे ही सकता है। अत आवश्यक है कि प्रारम्भ मे शासकीय स्तर पर ऐसे काय क्रम बनाये जायें जिनमे जनता अनिवायत शामिल हो तभी कालान्तर मे स्वाभाविक नागरिक चेतना के विकास की आशा की जा सकती है।

(५) जनमत निर्माण के साधनों का उचित प्रयोग—स्वस्थ जनमत के लिये जनमत निर्माण के सभी साधनो का उचित और ईमानदारी से प्रयोग किया जाना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि प्रेस स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। वह किसी व्यक्ति, सस्था, सरकार या राजनीतिक दल के अनुचित दबाव मे न हो। वण्डेल विल्की (Wendell Wilkie) लिखता है कि "प्रस की स्वतन्त्रता महत्त्वपूण जनमत के जीवन का भोजन है।" रेडियो, टेलीविजन, चलचित्र आदि सावजनिक समस्याओ के विविध पक्षो को सही रूप मे जनता के समक्ष रखें। गलत तथ्य या आँकडे देकर जनता को गुमराह करने का प्रयास न करें।

(६) विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास और सगठन की स्वतन्त्रता—स्त्र मे, समाज मे नागरिको को विचार, अभिव्यक्ति (Expression), विश्वास (faith), सगठन आदि की स्वतन्त्रता भी प्रबुद्ध जनमत के विकास के लिय अनिवाय है। स्वतन्त्र चिंतन, विचार विमश, आलोचना प्रत्यालोचना की आजादी जनतन्त्र की दढता की प्रतीक होती है। इस सम्बन्ध मे वाल्टेयर की वह युक्ति हमारी मागदशक बन सकती है कि "म चाहे आपके विचारो से सहमत न होऊँ, लेकिन आपके विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये प्राण दे दूगा।" स्वतन्त्रता के साथ यह भी जरूरी है कि समाज म सहिष्णुता और सहयोग की भावना हो। यदि लाग अपने दृष्टिकोण को सही और दूसरे के दृष्टिकोण को गलत मानकर उसके विरोधी बन बठेंगे तो स्वस्थ जनमत का विकास नहीं हो सकेगा। विभिन्न विचारो को देख, सुन और समझकर अपना मत बनाना ही अच्छा होता है—यह स्वस्थ जनमत निर्माण के लिय नितान्त जरूरी है।

राजनीतिक दल
(Political Parties)

महत्त्व

राजनीतिक दल जनतन्त्र का जीवन और उसकी आत्मा है। दलों की प्रकृति और उनका संगठन जनतन्त्र की सफलता व विफलता का निधारण करता है। दलो के अभाव मे राजनीतिक प्रकिया शून्य बन कर रह जायगी, या तो सरकार का अन्त हो

जायगा अथवा उस पर किसी तानाशाह का नियन्त्रण हो जायेगा। जनतन्त्र को साकार बनाने के लिये राजनीतिक दलों का अस्तित्व अपरिहार्य है। जहाँ राजनीतिक दलों के निर्माण व सगठन की स्वतन्त्रता न हो वहाँ जनतन्त्र का होना असम्भव है। राजनीतिक दलों के बिना 'सिद्धान्त का एक सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास, ससदीय चुनावों की वैधानिक विधि का नियमन नहीं हो सकता और न ही किसी प्रकार की स्वीकृत सस्थायें हो सकती हैं जिनके द्वारा कोई दल शक्ति प्राप्त करना चाहता है या उसे स्थिर रखना चाहता है।" केवल जनतन्त्र ही जनता को शासन की नीतियों की आलोचना करने का अधिकार प्रदान करता है। प्रभावशाली व हितकर होने के लिये यह आवश्यक है कि आलोचना सगठित हो। अत शासन सत्ता हस्तगत करने, उसे स्थिर रखने सरकार के दोष बताने और शासन मे आवश्यक सुधारों के लिये राजनीतिक दलों का होना आवश्यक ही नही अनिवार्य है।

कोल का मत है कि 'जनतन्त्र केवल प्रतिनिधियों द्वारा ही कार्य कर सकता है और यह प्रतिनिधि केवल ससदीय व्यवस्था द्वारा स्थापित दशाओं में दलों के माध्यम से ही कार्य कर सकते है।"

ससदीय जनतन्त्र का सचालन और उसकी सफलता इस प्रकार राजनीतिक दलों के अस्तित्व पर आश्रित है। इतना ही नही, जनतन्त्र मे कुछ मूल्य, उद्देश्य और सिद्धान्त सभी राजनीतिक दलों के होते है। सभी राजनीतिक दलों के लिये यह आवश्यक होता है कि जनतन्त्र मे उनकी आस्था हो, हिंसा और शक्ति के प्रयोग के विपरीत व सांविधानिक तरीकों मे विश्वास रखते हो, अवसर मिलने पर सरकार बनाने की उनमे क्षमता हो अथवा या तो जनतन्त्र का स्थान एकतन्त्र ले लेगा या राज्य दुर्गति और अराजकता का शिकार हो जायेगा। कोई भी बड़ा स्वतन्त्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। किसी भी व्यक्ति ने यह नही बताया कि जनतन्त्र उनके बगैर कैसे चल सकता है।" लावेल उनके महत्व की चर्चा करते हुये लिखता है कि 'किसी महान राष्ट्र मे सम्पूर्ण जनता द्वारा सरकार की धारणा, निःसदेह एक मनगढ़न्त कल्पना है क्योंकि जहाँ कहीं मताधिकार विस्तृत है वहाँ दलों का अस्तित्व निश्चित है।"

अर्थ और प्रकृति

राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुये गटिल लिखता है कि यह 'पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से सगठित उन नागरिकों का एक समूह होता है जो एक राजनीतिक सस्था की भांति कार्य करते हैं और जिनके ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है।"[1]

इसी भाव का व्यक्त करते हुए मकाइवर लिखता है कि राजनीतिक दल वह "सस्था है जिसका सगठन किसी एक नीति अथवा सिद्धान्त की पुष्टि के लिये हुआ हो जिसे वह वैधानिक साधनों से सरकार का आधार बनाने की चेष्टा करता हो।"[2]

1. Gettell *Political Science* p. 289
2. MacIver *The Modern State* p 396

एडमण्ड बर्क के शब्दों में राजनीतिक दल "मनुष्यों का एक संगठित समूह है जिसका निर्माण किसी विशेष सिद्धान्त द्वारा जिसके विषय में वे सब सहमत होते हैं, तथा सबके सहयोग द्वारा राष्ट्र के हित की वृद्धि के लिये होता है।'[14]

गिलक्राइस्ट इसे 'एक से राजनीतिक विचार रखने वाले नागरिकों का संगठित समूह बताता है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुये सरकार पर नियन्त्रण रखता है।"[15]

इसी शैली में ऑग कहता है कि "राजनीतिक दल कुछ व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है—जिसमें सामान्यतः एक ही विचारों के सदस्य रहते हैं और जो यदि सभी सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में नहीं तो कम से कम कुछेक के सम्बन्ध में मतैक्य अवश्य रखते हैं। वे निरन्तर अपने क्रियाकलापों से शासनतन्त्र का नियन्त्रण अपने हाथ में लेने की चेष्टा करते हैं जिससे कि वे जिन सिद्धान्तों या नीतियों में रुचि रखते हैं उनकी शासन तन्त्र के साधन द्वारा सिद्धि करा सकें।'[16]

अन्त में लीकॉक के शब्दों में, "राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य ऐसे नागरिकों के समुदाय से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं।" सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन शक्ति हथियाना चाहते हैं।"[17]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक दल के चार प्रमुख तत्त्व होते हैं। प्रथम, यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से विचार रखते हैं। उन प्रश्नों की बारीकियों पर उनमें मतभेद हो सकता है, लेकिन वे सब मौलिक सिद्धान्तों पर एकमत होते हैं। दूसरे, उसका संगठित होना जरूरी है अन्यथा वह अपना कार्य प्रभावपूर्ण एवं सुचारु रूप से नहीं कर सकेगा। जब तक एक से राजनीतिक विचार रखने वाले लोग उचित रूप से संगठित न हों उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। सिजविक के अनुसार "उन्हें क्षणिक अवसरों के लिये नहीं अपितु लम्बी अवधि के लिये संगठित किया जाना चाहिये।" तीसरे, उन्हें अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये वैधानिक साधनों को अपनाना चाहिए, अर्थात् मतदान द्वारा अपने उद्देश्य शासन पर नियन्त्रण, प्राप्त करना चाहिए, हिंसा द्वारा नहीं। अवैधानिक विधियों द्वारा नियोजित संगठन वास्तव में राजनीतिक दल नहीं कहे जा सकते। चौथे, उसे किसी विशेष जाति धर्म सम्प्रदाय या वर्ग के हित की अपेक्षा राष्ट्रीय हित की उन्नति की चेष्टा करनी चाहिए। जब कोई दल किसी वर्ग, सम्प्रदाय के हित के लिए कार्य करता है तो वह एक 'गुट' का रूप धारण कर लेता है उसे राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

---

14 Burke *Thoughts on the Causes of Present Discontents* p 16
15 Gilchrist *Principles of Political Science* pp 327 28
16 Ogg. *Government and Politics* p 473
17 Leacock *Elements of Politics* p 311

कार्य

मेरियम ने राजनीतिक दल क पाच प्रमुख काय बताये हैं—(१) पदाधिकारियों का चुनाव करना, (२) लोकनीति का निर्धारण करना, (३) सरकार का चलाना तथा उसकी रचनात्मक आलोचना करना, (४) राजनीतिक प्रचार और शिक्षण, तथा (५) व्यक्ति और सरकार के मध्य अच्छे सम्ब धा का विकास करना। मुनरो ने इस सूची में एक अ य काय, सामूहिक और व्यक्तिगत राजनीतिक उत्तरदायित्व की स्थापना, जोडा है। नीचे हम इ ही पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

पदाधिकारियों का चुनाव—जनतन्त्र मे राजनीतिक दलो का मुख्य काय पदाधिकारियो का निर्वाचन है। इसके लिए राजनीतिक दल चुनाव से बहुत पूव निर्वाचकों के समक्ष अपना कायक्रम रखते हैं। वे समाचारपत्रो, विज्ञापनो, सावजनिक सभाओ, इश्तहारो, परचो और लघु पुस्तिकाओ (Pamphlets) आदि के माध्यम से अपने सिद्धान्तो का प्रचार और विरोधी दलो के सिद्धा तो की आलोचना करते हैं। वे विभि न चुनावो मे अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और जनता से उनका परिचय कराते हैं। इनके बिना मतदाता अपने मताधिकार का उचित प्रयोग नही कर सकते। फाइनर की राय है कि "राजनीतिक दलो के बिना निर्वाचक या तो पगु और नपुसक हो जायँगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियो को अपनाकर राजनीतिक मशीन को ही छिन्न भिन्न कर दिया जायेगा। ये समस्त राष्ट्र को ब धुत्व के रूप मे सगठित करते हैं।"[18]

लोकनीति का निर्धारण—सावजनिक नीतियो का निर्माण राजनीतिक दलो का दूसरा प्रमुख काय है। वे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओ के विभिन्न पहलुओ से जनता का परिचय कराते हैं। उनके प्रति क्या नीति हो इसके निर्धारण मे भूमिका निभाते हैं। सावजनिक नीतियो क निर्धारण की सफलता और विफलता पर ही उनका भविष्य, सरकार का भविष्य और देश का भविष्य निभर करता है।

सरकार को चलाना और उसकी रचनात्मक आलोचना—निर्वाचन के बाद राजनीतिक दलो का सबसे महत्वपूण काय शासन का सचालन करना है। मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था मे बहुसख्यक दल के ता को प्रधानम त्री का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ता है तथा मन्त्रिपरिष के अ य सदस्यो का चुनाव करना पडता है। मन्त्रिमण्डल ससद् के समथन से काम करता है। प्रत्यक विधि के निर्माण के लिये ससद् के बहुमत की आवश्यकता होती है जिसकी व्यवस्था केवल दल प्रणाली से ही सम्भव है। अध्यक्षात्मक शासन मे भी राष्ट्रपति अपने विचारो से सहमत लोगो स मन्त्रिपरिषद् का निमाण करके शासन चलाता है। इतना ही नही, शासन के सचालन के साथ-साथ शासन की आलोचना का काम भी राजनीतिक दल करत हैं। यह काय निन्दा की दृष्टि से नहा, बल्कि शासन मे उत्तरदायित्व की भावना बनाये रखने तथा उसे भावी भूलो से बचाने के लिये किया जाता है। यही कारण है कि इगलण्ड मे विरोधी दल के नेता को नियमित रूप स वतन देने की व्यवस्था है। उसकी सेवाओ का शासन म उतना ही महत्व है

18 Finer *The Theory and Practice of Government* pp 275-76.

जित ।। अ य मन्त्रियो की सेवा का । उसकी आलोचना स सरकार सदा सतक रहती है। इस से एक ओर तो शासन व्यवस्था उत्साह और कुशलता से चलायी जाती है, दूसरी ओर सरकार जनता क अधिकारो के प्रति यथाशक्ति सचेत रहती है क्योकि उनकी निचित मात्र उपक्षा सरकार पर सकट ला सकती है। ब्राइस ठीक लिखता है कि "अनियन्त्रित प्रतिनिधियो द्वारा शासन सचालन का प्रयास वैसा ही होगा जैसा कि कम्पनी के अविज्ञ साझेदारो द्वारा रेलमार्ग का प्रबन्ध किया जाय अथवा किसी जहाज के यात्रियो के मतो द्वारा जहाज का मार्ग निश्चित किया जाय।"

राजनीतिक प्रचार और शिक्षण—ब्राइस लिखते है कि जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण देन तथा जनमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति करने का महत्त्वपूर्ण कार्य राजनीतिक दलो द्वारा किया जाता है। "जिस प्रकार ज्वारभाटा महासागर के जल को ताजा और तरगित रखता है उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्र के दिमाग को ताजा और तरगित रखते हैं।" वे अपने प्रचार द्वारा जनता का ध्यान महत्त्वपूर्ण सावजनिक समस्याओ के प्रति आकृष्ट करते हैं तथा उनमे राजनीतिक चेतना जाग्रत करत हैं। शुल्ज लिखता है कि उनके "शैक्षणिक काय मच से भाषण, रेडियो, साहित्य के प्रकाशन एव उसके वितरण तथा मतदाताओ के घर घर जाकर प्रचार द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।"[19] दलो के कार्यों मे शासन सचालन के बाद सवाधिक महत्त्वपूर्ण काय जनमत का निर्माण होता है जिसकी विस्तृत व्याख्या 'जनमत निर्माण के साधनो' के अन्तगत पहले की जा चुकी है।

व्यक्ति और सरकार के मध्य अच्छे सम्बन्धो का विकास—सघात्मक शासन-व्यवस्था मे जहाँ अधिकार विभाजन के फलस्वरूप कायपालिका और विधानपालिका के क्षेत्र निश्चित कर दिये जात हैं तथा केन्द्र और राज्य के मध्य शक्तियो का विभाजन कर दिया जाता है, राजनीतिक दल ही पारस्परिक सम्बन्ध बनाने का काय करत हैं। एक राजनीतिक दल के कारण ही जो विधानपालिका और कायपालिका दोनो पर प्रभाव रखता है दोनो मे द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न नहीं होने देता। साथ ही वह जनता और सरकार का निकट सम्पर्क बनाये रखता है। सत्ताधारी दल जनता म सरकारी नीति का प्रचार करता है और विरोधी दल उसके दोषो का, लेकिन दोनो ही जनता की शिकायतो को सरकार तक पहुँचाते हैं और उन्हे दूर कराने का प्रयास करत हैं। उत्तरदायी शासन म यह काय अन्य व्यवस्थाओ की तुलना म अधिक सरल होता है।

राजनीतिक उत्तरदायित्व की स्थापना—राजनीतिक दल परिवर्तनशील समुदाय म व्यक्तिगत और सामूहिक उत्तरदायित्व की स्थापना करते हैं, जो अन्यथा मुश्किल है। वे, लावेल के शब्दों म "विचारों के दलाल (Broker of ideas) के रूप म काय करते हैं।" यह कथन सत्य है, क्योकि राजनीतिक दलों के कारण ही जनतन्त्र शासन के व्यापक क्षेत्रो म चल पाया है।

अन्त में हम हूवर के शब्दो म कह सकते हैं कि "राजनीतिक दल जनतान्त्रिक

19 E. B. Schulze *Essentials of Government*, p. 308

शासन रूपी मशीन के संचालन में चिकनाई (तेल) के समान है", जिनके अभाव जनता द्वारा शासन ठप्प हो जायेगा।

गुण और दोष

दल व्यवस्था प्रशंसा और आलोचना दोनों का विषय रही है। एक ओर इसकी उपयोगिता बताने वालों की कमी नहीं है तो दूसरी ओर इसकी बुराइयाँ गिनाने वालों की। कुछ इसे 'जनतन्त्र की रीढ़' (Backbone of Democracy) मानते हैं तो कुछ इसे 'कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिये अनेक का पागलपन' (Madness of the many for the gain of the few) बताते हैं। इन आलोचनाओं प्रत्यालोचनाओं के बीच दल-व्यवस्था का सही मूल्यांकन उसके गुणों और दोषों का आकलन करके ही किया जा सकता है। इसके मुख्य गुण निम्नांकित बताये जाते हैं

(१) जनतन्त्र के लिये अनिवार्य—राजनीतिक दल प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र को सम्भव बनाते हैं। कोई बड़ा देश कभी राजनीतिक दलों से विहीन नहीं रहा। कोई अभी तक यह सिद्ध नहीं कर सका कि दलों के अभाव में किस प्रकार प्रतिनिधि शासन चलाया जा सकता है। वे निर्वाचकों के अशांत और अव्यवस्थित समूहों में से शांति और व्यवस्था का मथन कर लेते हैं। ब्राइस लिखता है कि वे "जनता को संगठित रखते हैं तथा वाद विवाद के संघर्षों से जनता का समय नष्ट होने से बचाते हैं और वे मतदाताओं को उन राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान कराते हैं जिनके विषय में उन्हें निर्णय करने पड़ते हैं।"

(२) शासन संचालन—डा मदनगोपाल गुप्ता लिखते हैं कि "राजनीतिक दल ऐसे सामाजिक और राजनीतिक गारे का कार्य करते हैं जो शासनतन्त्र के ...स्वतन्त्र अंगों को जोड़ कर एक व्यवस्थित और प्रभावशाली यन्त्र में बदल देता है। राजनीतिक दलों के अभाव में सरकारों की स्थिरता नष्ट हो जायगी। रोज नये गुट बनें बिगड़ेंगे। सरकारें अस्थायी और अशक्त होंगी। सर्वत्र अव्यवस्था फैल जायेगी। इतना ही नहीं, शासन को स्थिर और सम्भव बनाने के साथ साथ वे सरकार के अनुचित कार्यों की कठोर आलोचना का अवसर भी प्रदान करते हैं।

(३) राजनीतिक चेतना का विकास—राजनीतिक दल सार्वजनिक शिक्षा के सर्वोत्तम साधन हैं। डा फाइनर के शब्दों में वे "इस प्रकार कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सम्पूर्ण राष्ट्र के विषय में जानकारी मिल जाय जो समय और प्रादेशिक दूरी के कारण अन्यथा असम्भव है।" वे जनता को ऐसा मंच प्रदान करते हैं जिस पर बैठ कर सार्वजनिक समस्याओं की उलझनों को विचार विमर्श द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि ये मंच न रहें तो देश को रक्तरंजित क्रान्तियों से बचाना मुश्किल होगा और न दी शिविरों की दशा भर में बाढ़ आ जायगी। जिस समाज में बात करने के पर्याप्त अवसर होते हैं उसमें क्रान्ति का अवसर कम आता है।

(४) अनुशासन की स्थापना—राजनीतिक दल अनुशासन ...
हैं। स्वार्थी व्यक्तियों को उस अनुशासन द्वारा संयम की शिक्षा दी जा

समस्याओं का अतिरंजन करते हैं। वे ऐसे निर्वाचक समूह बना डालते हैं जो बनावटी होते हैं और उनमें भावनात्मक विरोध व शत्रुता पनपती रहती है। वे विधानमण्डलों में ही दो गुट नहीं बनाते, वरन सारे राष्ट्र को दो शत्रु खेमों में बाँट देते हैं।

(३) नैतिक पतन—दल पद्धति छिछलपन, बेईमानी, घूसखोरी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। यह व्यक्तियों को स्वार्थ प्रधान बनाकर उन्हें नैतिक पतन की ओर ले जाती है। लास्की के शब्दों में "ये (राजनीतिक दल) उत्तरदायित्वों की मक्कारी का रूप बनाते हैं।"[21] अपने हित साधन के लिये गन्दे और झूठ प्रचार का सहारा लेते हैं, सनसनीखेज समाचार छापते हैं तथा अवसर पड़ने पर गैर संविधानिक हथकण्डों का अपनाने से भी नहीं हिचकते। डा. मदनगोपाल गुप्ता लिखते हैं कि "पक्षपात और अपात्र संरक्षण का सबसे भद्दा और भोंडा स्वरूप हमें दलों के कारण ही देखने को मिलता है। वे षडयन्त्रों और दुरभिसन्धियों की दिशा में ले जाते हैं। वे कथित 'कठपुतले नचाने वाली अदृश्य सरकार' को विकसित करते हैं और उसको जीवन प्रदान करते हैं।"[22]

(४) व्यक्तिक स्वतन्त्रता का दमन—दल व्यवस्था नागरिकों की स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व को कुचल देती है। यह जनतन्त्र के आदर्शों के विपरीत है। दल के सदस्यों को दलीय दासता में जकड़ दिया जाता है। दल के अनुशासन के नाम पर सदस्यों को स्वतन्त्र रूप से विचार और कार्य करने की छूट नहीं होती, क्योंकि इससे दल की नियमितता और दृढ़ता में बाधा पड़ती है। फिर उनका संगठन भी इतना जटिल होता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कोई गुंजाइश नहीं रह पाती। ब्राइस ने इसीलिये दल व्यवस्था को 'संगठित पाखण्ड' कहा है।

(५) विरोध के लिये विरोध—राजनीतिक दल, गिलक्राइस्ट के शब्दों में, देश के जीवन को यन्त्रवत जड़ बना देते हैं।[23] वे केवल विरोध के लिये विरोध करते हैं। विरोधी दल कितनी भी अच्छी बात कह रहा हो सत्ताधारी दल उसका विरोध करेगा ही, इसी प्रकार, सत्ताधारी दल द्वारा प्रस्तावित नीति चाहे कितनी ही लाभप्रद या आवश्यक क्यों न हो विरोधी दल को उसकी निन्दा करनी ही होगी। ब्राइस इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'विधानमण्डल एक अखाड़ा बन जाता है जिसमें देश के हित भुला दिये जाते हैं।" दलों की यह संकीर्णता उनके सदस्यों के दृष्टिकोणों को भी संकीर्ण बना देती है। तर्क और विवेक का गला घोंट दिया जाता है। "इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रगट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[24]

(६) अयोग्यता को प्रोत्साहन—दल प्रणाली में अयोग्यता को प्रोत्साहन मिलता है। यह अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक सेवा के कार्यों से विमुख कर देती है। इस तरह राष्ट्र उन ख्यातिप्राप्त बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्तियों के ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है जो या तो चुनाव के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते या दलीय

21 Laski *op cit* p 313
22 पूर्वोक्त पुस्तक पृ ६८।
23 Gilchrist, *op cit* p 337
24 *Ibid* p 338

भाँति भ्रष्टाचार के प्रसार का मार्ग अवरुद्ध किया जाता है। प्रभावशाली विरोधी दलों की स्थापना द्वारा वे शासकों की निरंकुशता पर नियन्त्रण रखते हैं। लास्की ने ठीक लिखा है कि "राजनीतिक दल देश मे अत्याचारशाही के विकास के विरुद्ध हमारी सबसे बड़ी सुरक्षा है।"

(५) उदार और व्यापक मनोवृत्ति का विकास—पटरसन का मत है कि "राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता और विकास और उसे बनाये रखने मे सहायक होते हैं।" ये नागरिकों को साम्प्रदायिक, जातीय और धार्मिक भेदभावों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समस्याओं को देखने-समझने मे सहायता देते हैं जिससे नागरिकों की मनोवृत्ति संकुचित न रहकर व्यापक और उदार बन जाती है।

(६) रचनात्मक कार्य—राजनीतिक दल अनेक परोपकारी और रचनात्मक कार्य भी करते हैं जिनका राजनीति से विशेष सम्बन्ध नही होता। यह कार्य बहुधा समाज सेवा करना तथा पिछड़े लोगों को शोषण से बचाना होता है। खादी ग्रामोद्योग का उदाहरण हमारे देश मे है जिसमे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का बड़ा योगदान है। राजनीतिक दलों के अभाव मे ऐसे कार्य अधूरे रह जायेंगे।

(७) शासन के विभिन्न अंगों मे सहयोग—विभिन्न सरकारी अंगों का सहयोग और सामंजस्य के साथ काम करते रहना राजनीतिक दलों के कारण ही सम्भव हो सका है। विशेषत संसदीय प्रणाली मे तो राजनीतिक दल व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को जोड़ने वाली कड़ी के रूप मे कार्य करते है। इनके अभाव मे संसदीय शासन दो दिन भी नही चल सकता।

(८) श्रेष्ठ व्यवस्थापन—दल प्रणाली व्यवस्थापन को श्रेष्ठ बनाती है और देश को उन्नति की ओर ले जाती है। राजनीतिक दलों के अपने शोध विभाग होते हैं जिनमे राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने और उसे बुराइयों से बचाने के उद्देश्य से सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण अनुसंधान होते रहते हैं। कानून बनने से पहले प्रत्येक राजनीतिक दल उसके विभिन्न पहलुओं पर अच्छी तरह सोच-विचार कर लेता है। इससे विधानपालिका मे व्यर्थ का वाद विवाद बचता है, समय की बरबादी नही होती है और प्रत्येक पक्ष उसके अच्छे और बुरे मुद्दों के विषय मे जानकारी प्राप्त कर लेता है।

दलीय व्यवस्था के दोषों को निम्नांकित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है

(१) मानव स्वभाव के विपरीत—दल विभाजन मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। दल उस जनता मे एक विलक्षण बनावटी समझौता स्थापित करते हैं जो एक हो जैसे राजनीतिक विचारों की कल्पना करती है। गिलक्राइस्ट लिखता है कि 'प्रत्येक पक्ष स्वेच्छापूर्वक असहमति और विरोध की दशा मे रहता है और साथ ही व्यक्तिगत निर्णय दल साँचे, के संकीर्ण रूप मे ढला होता है।'[20] यह कृत्रिमता जनता को विभिन्न परस्पर विरोधी गुटों मे बाँट देती है जो राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है।

(२) सार्वजनिक जीवन पर दूषित प्रभाव—राजनीतिक दलों से समाज मे गुटबन्दी बढ़ती है और देश का वातावरण कटु व विषाक्त हो जाता है। व देश का

20 Op cit p 337

समस्याओं का अतिरंजन करते हैं। वे ऐसे निर्वाचक समूह बना डालते हैं जो बनावटी होते हैं और उनमें भावनात्मक विरोध व शत्रुता पनपती रहती है। वे विधानमण्डलों में ही दो गुट नहीं बनाते, वरन् सारे राष्ट्र को दो शत्रु खेमों में बाँट देते हैं।

(३) नैतिक पतन—दल पद्धति छिछलापन, बेईमानी, घूसखोरी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। यह व्यक्तियों को स्वार्थ प्रधान बनाकर उन्हें नैतिक पतन की ओर ले जाती है। लास्की के शब्दों में "ये (राजनीतिक दल) उत्तरदायित्वों की मक्कारी का रूप बनाते हैं।"[1] अपने हित-साधन के लिये गन्दे और झूठे प्रचार का सहारा लेते हैं, सनसनीखेज समाचार छोड़ते हैं तथा अवसर पड़ने पर गैर-सांविधानिक हथकण्डों को अपनाने से भी नहीं हिचकते। डा मदनगोपाल गुप्ता लिखते हैं कि 'पक्षपात और अपात्र संरक्षण का सबसे भद्दा और भोंडा स्वरूप हमें दलों के कारण ही देखने को मिलता है। वे षड्यन्त्रों और दूरभिसंधियों की दिशा में ले जाते हैं। वे कथित 'कठपुतले नचाने वाली अदृश्य सरकार' को विकसित करते हैं और उसको जीवन प्रदान करते हैं।"[22]

(४) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का दमन—दल व्यवस्था नागरिकों की स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व को कुचल देती है। यह जनतन्त्र के आदर्शों के विपरीत है। दल के सदस्यों को दलीय दासता में जकड़ दिया जाता है। दल के अनुशासन के नाम पर सदस्यों को स्वतन्त्र रूप से विचार और कार्य करने की छूट नहीं होती, क्योंकि इससे दल की नियमितता और दृढ़ता में बाधा पड़ती है। फिर उनका संगठन भी इतना जटिल होता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कोई गुंजाइश नहीं रह पाती। ब्राइस ने इसीलिये दल व्यवस्था को 'संगठित पाखण्ड' कहा है।

(५) विरोध के लिये विरोध—राजनीतिक दल, गिलक्राइस्ट के शब्दों में, देश के जीवन को यन्त्रवत जड़ बना देते हैं।[23] वे केवल विरोध के लिये विरोध करते हैं। विरोधी दल कितनी भी अच्छी बात कह रहा हो सत्ताधारी दल उसका विरोध करेगा ही, इसी प्रकार, सत्ताधारी दल द्वारा प्रस्तावित नीति चाहे कितनी ही लाभप्रद या आवश्यक क्यों न हो विरोधी दल को उसकी निन्दा करनी ही होगी। ब्राइस इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'विधानमण्डल एक अखाड़ा बन जाता है जिसमें देश के हित भुला दिये जाते हैं।" दलों की यह संकीर्णता उनके सदस्यों के दृष्टिकोणों को भी संकीर्ण बना देती है। तर्क और विवेक का गला घोंट दिया जाता है। "इस ढंग से दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रगट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"[24]

(६) अयोग्यता को प्रोत्साहन—दल प्रणाली में अयोग्यता को प्रोत्साहन मिलता है। यह अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक सेवा के कार्यों से विमुख कर देती है। इस तरह राष्ट्र उन ख्यातिप्राप्त बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्तियों के ज्ञान और अनुभव से वंचित हो जाता है जो या तो चुनाव के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते या दलीय

21 Laski *op cit* p 313
22. पूर्वोक्त पुस्तक पृ ६८।
23 Gilchrist *op cit* p 337
24 *Ibid* p 338

सचेतक (Party Whip) के अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करते।

(७) देशभक्ति के विरुद्ध—मेरियट लिखता है कि "दल भक्ति को यदि अत्यधिक आगे ले जाया जाय तो वह देशभक्ति पर परदा डाल देती है।"[25] राष्ट्रीय संकट के समय दलीय सरकार निर्बल और अस्थिर मत होती है, क्योंकि राष्ट्र भक्ति के मूल्य पर वह दल भक्ति को प्रोत्साहन देती है।

(८) धनिकों से गुप्त समझौता—राजनीतिक दल जिन लोगों से आर्थिक सहायता लेते हैं उनसे प्राय वे गुप्त समझौते कर लेते हैं। इससे धनवानों का लाभ होता है और सर्वसाधारण जनता अँधेरे में रहती है। डा फाइनर ने राजनीतिक दलों पर धन के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करते हुए लिखा है कि इस समस्या का निदान ढूंढे बगैर किसी देश में जनतन्त्र को सफल नहीं बनाया जा सकता।

सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें
(Conditions for Successful Party System)

दल प्रणाली के उपर्युक्त दोषों को देखते हुए अनेक विद्वान इस विचार के समर्थक हैं कि राजनीतिक दलों का आमूलचूल रूप से समाप्त कर देना चाहिये। लेकिन यह विचार न तो व्यावहारिक है और न वांछनीय। दलों के अभाव में किस प्रकार बड़े देशों में प्रतिनिधि शासन स्थापित होगा यह कोई नहीं बताता फिर दलीय व्यवस्था को हटा देने से हम एक बुरी चीज के साथ अनेक अच्छी चीजें भी फेंक देंगे अर्थात राजनीतिक दलों से प्राप्त होने वाले लाभों से वंचित रह जायेंगे। अतः दूषित होते हुए भी राजनीतिक दल आवश्यक जान पड़ते हैं। इन्हें युग और देश के अनुसार अधिक हितकर और प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। सिजविक ने दल व्यवस्था के दोषों को दूर या कम करने के लिए निम्नांकित क्रियात्मक उपचार सुझाये हैं

प्रथम, अध्यक्षात्मक देशों में यदि राष्ट्रपति का चुनाव विधानपालिका के सदस्यों द्वारा किया जाय तथा सहायक प्रबन्ध अधिकारी दल बन्धनों से स्वतन्त्र होकर कार्य करें तो सरकार पर राजनीतिक दलों का प्रभाव व नियन्त्रण कम हो जायेगा।

दूसरे, संसदीय शासन में विधि निर्माण और प्रशासन के कुछ मामलों को दलीय व्यवस्था के नियन्त्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कानून बनाने की प्रारम्भिक कार्यवाही (तैयारी) को मन्त्रिपरिषद के स्थान पर संसदीय समितियों को सौंपा जा सकता है। विभिन्न शासकीय विभागों के अध्यक्ष, विशेष रूप से उन विभागों के जिनमें विशिष्ट तकनीकी ज्ञान और प्रशासकीय कुशलता की आवश्यकता होती है, मन्त्रिपरिषद की समाप्ति के साथ ही रिटायर नहीं हो जाने चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिये।

तीसरे, स्विटजरलैण्ड की तरह यह परम्परा स्थापित की जा सकती है कि कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित विधेयक या नीति के संसद् द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाने पर कार्यकारी परिषद् को पद त्याग की आवश्यकता न हो। उन्हें केवल उसी

25 Marriot The Mechanism of Modern State Vol II p 431

समय पद त्यागना पड़े जब कि संसद् की लोकसभा में उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाय। इससे न तो कार्यपालिका दल की गुलाम रहेगी और न निरंकुश ही हो सकेगी।

चौथे, जनमत संग्रह (Referendum) की व्यवस्था को लागू करके भी काफी सीमा तक दल की बुराइयों से बचा जा सकता है।

ये सारे उपचार राजनीतिक हैं जो देश और शासन प्रणाली के अनुसार बदल सकते हैं। सभी देशों के लिए राजनीतिक दलों की बुराइयों को दूर करने की कोई एक रामबाण औषधि' नहीं सुझायी जा सकती। लेकिन कुछ उपचार नैतिक भी हैं, जो सभी देशों पर समान रूप से लागू होते हैं। समुचित दल व्यवस्था के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि नागरिकों में सहिष्णुता की भावना हो, यह तभी सम्भव है जबकि वे प्रबुद्ध और अवसरवादी न हों। इसके अतिरिक्त देश में यथासम्भव आर्थिक समानता होनी चाहिये और राजनीतिक दलों को किन्हीं ठोस आदर्शवादी सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये। उन्हें देश के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वरूप के विषय में आधारभूत रूप से एकमत होना चाहिये। उनकी संख्या कम से कम होनी चाहिये। राजनीतिक दल वोटों को ही नहीं, दिलों को भी बाँटते हैं। हमें उनके इस चरित्र को ध्यान में रखते हुए कोई कदम उठाना चाहिये।

दल-प्रणाली के रूप
(Party Systems)

प्रतिनिधि शासन की स्थापना के विषय में दल प्रणालियों के तीन रूप प्रचलित हैं, यहाँ हम संक्षेप में उनका विवेचन करेंगे।

एकदलीय पद्धति
(One Party System)

जिस देश में कोई विरोधी दल नहीं होता, केवल एक राजनीतिक दल ही होता है और सरकार के सभी सदस्य उस दल के चुने हुए प्रतिनिधि ही होते हैं वहाँ की दल-पद्धति को एकदलीय कहा जाता है। बहुत से लोगों का मत है कि एकदलीय व्यवस्था सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) होती है। वहाँ दल के सदस्य अपनी तानाशाही देश पर लाद देते हैं। यह दृष्टिकोण अतिरंजित है। अनेक दलों के होते हुए भी बहुमत प्राप्त दल अपनी तानाशाही थोप सकता है विभिन्न राजनीतिक दलों को कार्य करने की छूट देकर वह बेईमानी से हमेशा चुनाव जीत सकता है और दुनियाँ की आँखों में धूल झोंक सकता है। अत एकदलीय पद्धति की यह आलोचना सही नहीं, वरन एकदलीय व्यवस्था गलत अध्ययन पर आधारित है। हिटलर के जर्मनी और मुसोलिनी के इटली में एक-के दलीय व्यवस्था थी और उनका उद्देश्य केवल सत्ता को हस्तगत करना या उस पर अपना अधिकार बनाए रखना ही नहीं था अपितु राज्य का पुनर्गठन इस प्रकार करना था कि दुनिया में जर्मनी या इटली का आधिपत्य स्थापित हो जाय और दल के

समय पद त्यागना पड़े जब कि संसद की लोकसभा मे उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाय। इससे न तो कार्यपालिका दल की गुलाम रहेगी और न निरंकुश ही हो सकेगी।

चौथे, जनमत संग्रह (Referendum) की व्यवस्था को लागू करके भी काफी सीमा तक दल की बुराइयो से बचा जा सकता है।

ये सारे उपचार राजनीतिक हैं जो देश और शासन प्रणाली के अनुसार बदल सकते हैं। सभी देशो के लिए राजनीतिक दलो की बुराइयो को दूर करने की कोई एक 'रामबाण औषधि' नही सुझायी जा सकती। लेकिन कुछ उपचार नैतिक भी हैं, जो सभी देशो पर *समान रूप से लागू होते है। समुचित दल व्यवस्था के लिये अत्यन्त* आवश्यक है कि नागरिको मे सहिष्णुता की भावना हो, यह तभी सम्भव है जबकि व प्रबुद्ध और अवसरवादी न हो। इसके अतिरिक्त देश मे यथासम्भव आर्थिक समानता होनी चाहिये और राजनीतिक दलो को किन्ही ठोस आदर्शवादी सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिये। उन्हे देश के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वरूप के विषय म आधारभूत रूप से एकमत होना चाहिय। उनकी सख्या कम स कम होनी चाहिय। राजनीतिक दल वोटो को ही नही, दिलो को भी बाँटते है। हमे उनके इस चरित्र को ध्यान म रखते हुए कोई कदम उठाना चाहिये।

दल-प्रणाली के रूप
(Party Systems)

प्रतिनिधि शासन की स्थापना के विषय मे दल प्रणालियो के तीन रूप प्रचलित हैं, यहाँ हम सक्षेप मे उनका विवेचन करेंगे।

एकदलीय पद्धति
(One Party System)

जिस देश म कोई विरोधी दल नही होता, केवल एक राजनीतिक दल ही होता है और सरकार के सभी सदस्य उस दल के चुने हुए प्रतिनिधि ही होते हैं वहाँ की दल-पद्धति को एकदलीय कहा जाता है। बहुत से लोगो का मत है कि एकदलीय व्यवस्था सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) होती है। वहाँ दल के सदस्य अपनी तानाशाही देश पर लाद देते हैं। यह दृष्टिकोण अतिरंजित है। अनेक दलो के होते हुए भी बहुमत प्राप्त दल अपनी तानाशाही थोप सकता है, विभिन्न राजनीतिक दलो को कार्य करने की छूट देकर वह बेइमानी से हमेशा चुनाव जीत सकता है और दुनियाँ की आँखो म धूल झोंक सकता है। अत एकदलीय पद्धति की यह आलोचना सही नही, वरन एकदलीय व्यवस्था गलत अध्ययन पर आधारित है। हिटलर के जर्मनी और मुसोलिनी के इटली म एकदलीय व्यवस्था थी और उसका उद्देश्य केवल सत्ता को हस्तगत करना या उस पर अपना अधिकार बनाये रखना ही नहीं था अपितु राज्य का पुनर्गठन इस प्रकार करना था कि दुनिया म जर्मनी या इटली का आधिपत्य स्थापित हो जाय और दल के

मार्गदर्शक (Party Whip) के अनुशासन मे रहना पसन्द नही करते।

(७) देशभक्ति के विरुद्ध—मेरियट लिखता है कि "दल भक्ति को यदि अत्यधिक आगे ले जाया जाय तो वह देशभक्ति पर परदा डाल देती है।"[25] राष्ट्रीय सकट के समय दलीय सरकार निर्बल और अस्थिर मत होती है, क्योकि राष्ट्र भक्ति के मूल्य पर वह दल भक्ति का प्रोत्साहन देती है।

(८) धनिकों से गुप्त समझौता—राजनीतिक दल जिन लोगो से आर्थिक सहायता लेते हैं उनमे प्राय वे गुप्त समझौते कर लेते हैं। इससे धनवानो का लाभ होता है और सर्वसाधारण जनता अँधेरे मे रहती है। डा फाइनर ने राजनीतिक दलो पर धन के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करते हुए लिखा है कि इस समस्या का निदान ढूढे बगैर किसी देश मे जनतन्त्र को सफल नही बनाया जा सकता।

सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें
(Conditions for Successful Party System)

दल प्रणाली के उपयुक्त दोषो को देखते हुए अनेक विद्वान इस विचार के समर्थक हैं कि राजनीतिक दलो को आमूलचूल रूप से समाप्त कर देना चाहिये। लेकिन यह विचार न तो व्यावहारिक है और न वाछनीय। दलो के अभाव मे किस प्रकार बड़े देशों मे प्रतिनिधि शासन स्थापित होगा यह कोई नहीं बताता फिर दलीय व्यवस्था को हटा देने से हम एक बुरी चीज के साथ अनेक अच्छी चीजे भी फेंक देगे अर्थात राजनीतिक दलो से प्राप्त होने वाले लाभो से वचित रह जायेंगे। अत दूषित होते हुए भी राजनीतिक दल आवश्यक जान पडते है। इन्हे युग और देश के अनुसार अधिक हितकर और प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। सिजविक ने दल व्यवस्था के दोषो को दूर या कम करने के लिय निम्नाकित क्रियात्मक उपचार सुझाये हैं

प्रथम, अध्यक्षात्मक देशो मे यदि राष्ट्रपति का चुनाव विधानपालिका के सदस्यो द्वारा किया जाय तथा सहायक प्रबन्ध अधिकारी दल बन्धनो से स्वतन्त्र होकर कार्य करें तो सरकार पर राजनीतिक दलो का प्रभाव व नियन्त्रण कम हो जायेगा।

दूसरे, ससदीय शासन मे विधि निर्माण और प्रशासन के कुछ मामलो को दलीय व्यवस्था के नियन्त्रण से हटाया जा सकता है। उदाहरण के लिये कानून बनाने की प्रारम्भिक कार्यवाही (तैयारी) को मन्त्रिपरिषद के स्थान पर ससदीय समितियों को सौंपा जा सकता है। विभिन्न शासकीय विभागो के अध्यक्ष, विशेष रूप से उन विभागो के जिनमे विशिष्ट तकनीकी ज्ञान और प्रशासकीय कुशलता की आवश्यकता होती है, मन्त्रिपरिषद की समाप्ति के साथ ही रिटायर नही हो जाने चाहिये। आवश्यकता पडने पर दल के बाहर से भी उनकी नियुक्ति की जानी चाहिये।

तीसरे स्विटजरलैण्ड की तरह यह परम्परा स्थापित की जा सकती है कि कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित विधेयक या नीति के ससद द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाने पर कार्यकारी परिषद् को पद त्यागने की आवश्यकता न हो। इन्हे केवल उसी

25 Marriot *The Mechanism of Modern State* Vol II p 431

समय पद त्यागना पडे जब कि ससद की लोकसभा मे उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाय। इससे न तो कायपालिका दल की गुलाम रहेगी और न निरकुश ही हो सकेगी।

चौथे, जनमत सग्रह (Referendum) की व्यवस्था को लागू करके भी काफी सीमा तक दल की बुराइयो से बचा जा सकता है।

ये सारे उपचार राजनीतिक हैं जो देश और शासन प्रणाली के अनुसार बदल सकते है। सभी देशो के लिए राजनीतिक दलो की बुराइया को दूर करने की कोइ एक रामबाण औषधि' नही सुझायी जा सकती। लेकिन कुछ उपचार नतिक भी हैं, जो सभी देशो पर समान रूप से लागू होते हैं। समुचित दल व्यवस्था के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि नागरिको मे सहिष्णुता की भावना हो, यह तभी सम्भव है जबकि व प्रबुद्ध और अवसरवादी न हो। इसके अतिरिक्त देश म यथासम्भव आर्थिक समानता होनी चाहिये और राजनीतिक दलो को किन्ही ठोस आदशवादी सिद्धान्ता पर आधारित होना चाहिये। उन्ह देश के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वरूप के विषय मे आधारभूत रूप से एकमत होना चाहिये। उनकी सख्या कम स कम होनी चाहिय। राजनीतिक दल वोटो को ही नही, दिलो को भी बाँटत है। हमे उनके इस चरित्र को ध्यान म रखत हुए कोइ कदम उठाना चाहिये।

दल-प्रणाली के रूप
(Party Systems)

प्रतिनिधि शासन की स्थापना के विषय मे दल प्रणालियो के तीन रूप प्रचलित हैं, यहाँ हम सक्षेप मे उनका विवेचन करेंगे।

एकदलीय पद्धति
(One Party System)

जिस देश म कोई विरोधी दल नही होता, केवल एक राजनीतिक दल ही होता है और सरकार के सभी सदस्य उस दल के चुने हुए प्रतिनिधि ही होते हैं वहाँ की दल-पद्धति को एकदलीय कहा जाता है। बहुत से लोगो का मत है कि एकदलीय व्यवस्था सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) होती है। वहाँ दल के सदस्य अपनी तानाशाही देश पर लाद देते हैं। यह दृष्टिकोण अतिरजित है। अनेक दलो के होते हुए भी बहुमत प्राप्त दल अपनी तानाशाही थोप सकता है विभिन्न राजनीतिक दलो को काय करने की छूट देकर वह बेइमानी से हमेशा चुनाव जीत सकता है और दुनियाँ की आँखो म धूल झोक सकता है। अत एकदलीय पद्धति की यह आलोचना सही नही वरन एकदलीय व्यवस्था गलत अध्ययन पर आधारित है। हिटलर के जमनी और मुसोलिनी के इटली म एकदलीय व्यवस्था थी और वहाँ दल का उद्देश्य केवल सत्ता को हस्तगत करना या उस पर अपना अधिकार बनाए रखना ही नही था अपितु राज्य का पुनगठन इस प्रकार करना था कि दुनिया म जमनी या इटली का आधिपत्य स्थापित हो जाय और दल के

नेता व कुछ सीमा तक सदस्यो को मनमानी करने की छूट हो। ऐसी एकदलीय पद्धति निश्चय ही दोषपूर्ण है, क्योकि जनतन्त्र मे किसी एक की कीमत पर दूसरे को मनमानी करने का छूट नही दी जा सकती।

इसके विपरीत, तुर्की मे मुस्तफा कमालपाशा की एकदलीय पद्धति निश्चय ही जनहितैषी थी। उसने जनतान्त्रिक ढग से काय किया और तुर्की को आधुनिक बनाने मे महत्त्वपूण योग दिया। सोवियत सघ मे भी एकदलीय प्रणाली है, लेकिन वहाँ की सरकार को अधिनायकवादी कहना द्वेष के अतिरिक्त कुछ नही है। 'जनतान्त्रिक केन्द्रवाद' (Democratic Centralism) मे सबसे पहला जनतान्त्रिक तत्त्व तो यह है कि सारी इकाइयाँ निर्वाचित होती हैं, दूसरे वहाँ आत्मालोचन (Self Criticism) की परम्परा पहले से स्थापित है, और तीसरे, दलीय राजनीति व शासनतन्त्र की सम्पूण नीतियों पर पूरा दल विचार करता है। जो लोग सोवियत सघ, फासीवादी इटली, जमनी, स्पेन आदि सभी एकदलीय सरकारो को एक ही नमूने (Model) की मानते हैं वे न्याय नहीं करते। यह सत्य है कि एकदलीय पद्धति के अन्तगत वाणी स्वतन्त्रता और विरोध की स्वतन्त्रता कम होती है, लेकिन सिफ मनमाने बोलने और विरोध करने को स्वशासन या जनतन्त्र का पर्याय मानना गलत है। एकदलीय सरकार सुसगठित, सुदृढ, शीघ्र निणय लेने मे सक्षम, राष्ट्रीय सकट का सामना करने मे कुशल होती है तथा यदि वह अपने सारे काय सवसाधारण के हितो को ध्यान मे रखकर बिना किसी द्वेष और भेदभाव के करे तो वह सर्वोत्तम होगी और सर्वाधिक जनतान्त्रिक भी। सोवियत सघ मे जो दल की तानाशाही है वह जनतान्त्रिक है, क्योकि उसका उद्देश्य पूजीपतियो को पनपने नही देना है जिनसे गुप्त समझौते करके तथा धन लेकर दलो के ऐसे समूह खडे हो जाते हैं जो सवसाधारण के हितो के विपरीत और सेठो के हितो के अनुरूप आचरण करते हैं। जब सोवियत सघ मे पूँजीपति-वग का कोई अवशेष नही रहेगा वहाँ विरोधी दल को मान्यता और उसे काय करने की छूट दी जा सकेगी, तब तक के लिए साम्यवादी दल ने आत्मालोचन का सिद्धान्त चलाया है।

बहुदलीय पद्धति
(Multi-party System)

बहुदलीय प्रणाली एकदलीय पद्धति का विलोम है। जहाँ तीन या उससे अधिक राजनीतिक मान्यता प्राप्त दल होते हैं वहाँ बहुदलीय प्रणाली लागू कही जाती है। भारत, फ्रास, आदि देशो मे बहुदलीय प्रणाली लागू है। इसका सबसे बडा गुण यह है कि इस व्यवस्था म शासन कभी निरकुश नही बन सकता। वह हमेशा आदान प्रदान और समझौते के आधार पर चलना है। लाग दलो की सदस्यता आसानी से पा सकते हैं (रूस म दल के सदस्यो की सख्या ५० लाख स अधिक नही है) और राजनीतिक क्षेत्र मे अधिक सक्रिय हो सकत ह। सम विभिन्न विचारधारा वाले लागो को प्रतिनिधित्व मिलने की छूट रहती है। लेकिन गुण की तुलना मे बहुदलीय व्यवस्था म अधिक हैं। बहुदलीय प्रणाली के अन्तगत बनी सरकार स्थायी नहीं होती। 'आया

राम', 'गया राम' की प्रक्रिया चलती रहती है और मंत्रिमण्डल अधिक दिनो तक नही टिकता। एक सरकार द्वारा लागू की गयी योजनाएँ दूसरी सरकार द्वारा रद्द कर दी जाती हैं या अधूरी पडी रहती हैं। इनके अतिरिक्त एकदलीय व द्विदलीय पद्धति के जितने गुण हैं वे बहुदलीय व्यवस्था मे नही पाये जाते।

द्विदलीय पद्धति
(Two party System)

जिस देश मे केवल दो राजनीतिक दल— सत्ताधारी दल और विरोधी दल— होते हैं, वहाँ द्विदलीय प्रणाली लागू कही जाती है। लेकिन सेट (Sait) का मत है कि द्विदलीय व्यवस्था का अर्थ यह नही होता कि केवल दो राजनीतिक दल ही हों, प्रत्युत यह होता है कि यदि कुछ अन्य दल भी हो तो वे इतने छोटे हो कि राजनीति पर उनका विशेष प्रभाव न हो और विधानमण्डल मे बहुमत प्राप्त करने के लिये उनके साथ मिलकर सरकार बनाने की आवश्यकता न पडे। इगलण्ड मे अनुदार और श्रमिक दो दल हैं कुछ लोग उदार (Liberal) दल के भी सदस्य है लेकिन उसका राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नही है इसलिये वहाँ की दलीय व्यवस्था को द्विदलीय कहा जाता है। अमरीका मे भी द्विदलीय प्रणाली है।

द्विदलीय व्यवस्था का सबसे बडा लाभ यह है कि इसके अन्दर स्थायी और सुदृढ सरकार बनती है। एक दल दृढता से शासन करता है, दूसरा दृढता से विरोध। दूसरे, इसमे अनुत्तरदायी आलोचना की सम्भावना कम होती है, क्योंकि आलोचना करने वाला दल यह जानता है कि सरकार के त्यागपत्र देने पर उसे सरकार बनानी होगी और अपनी आलोचना को सही सिद्ध करना होगा। तीसरे, दृढ और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन होने से शासन प्रणाली मे कार्यकुशलता आती है। चौथे, इस व्यवस्था मे, लास्की के अनुसार, जनता सरकार का प्रत्यक्ष निर्वाचन करती है। इसमे अपनी नीतियो को साकार रूप देने के लिये सरकार को प्रचार करना पडता है। जिन कार्यों को सरकार करना चाहती है उन्हे करने मे यदि वह असमर्थ होती है तो उसे जनता के समक्ष कारणो का उल्लेख करना पड़ता है। अन्त मे, ससदीय सरकार की सफलता के लिये प्रो बार्कर ने द्विदलीय प्रणाली को अनिवार्य बताया है।

इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। रम्से म्योर के विचार से ब्रिटिश शासन मे पाये जाने वाले भयकर दोषो के लिये द्विदलीय पद्धति ही उत्तरदायी है। उसके शब्दों में "द्विदलीय प्रणाली ने ससद् के सम्मान को नष्ट कर दिया है तथा मन्त्रिमण्डल की तानाशाही को उन्नत कर दिया है। यह बहुमत को स्वेच्छाचारिता है जो अल्पसख्यको के हितो को उस समय तक कुचले रहती है जब तक कि उसे बहुमत प्राप्त रहता है।" दूसरे, इस व्यवस्था के अन्तर्गत मतदाता को सामान्यत दो ही उम्मीदवारो मे से किसी को चुनना होता है। यह भी सम्भव है कि मतदाता दोनो मे किसी को पसन्द न करे तब उसके लिये कौन-सा विकल्प होगा? तीसरे, द्विदलीय व्यवस्था मे अनेक वर्ग और हित प्रतिनिधित्व पाने से वचित रह जाते हैं। चौथे, यह प्रणाली "अनुयायियो और नेताओ

दलों में विवेकपूर्ण प्रशंसा और चयन के स्थान पर अंध भक्ति की प्रतिष्ठा करती है।" अन्त में, यह व्यवस्था प्रबल स्वार्थी हितों और दलीय पक्षपात की रचना करती है। अत्यधिक कठोरता और अनुशासन विचार स्वातन्त्र्य की उपेक्षा करती है तथा 'लूट प्रणाली' (Spoil System) को प्रोत्साहित करती है।

दबाव गुट
(Pressure Groups)

राजनीतिक दलों के अतिरिक्त समाज में अनेक संगठित समूह भी होते हैं, जिनका निर्माण कुछ विशेष हितों की रक्षा के लिये किया जाता है। ये राजनीतिक दलों की तरह चुनाव नहीं लड़ते। इनका कार्य क्षेत्र विधानमण्डल के बाहर होता है। राजनीतिक दलों की भाँति सत्ता प्राप्त करने में इनकी कोई रुचि नहीं होती, ये सिर्फ विधानमण्डल के सदस्यों को प्रभावित करके ऐसे कानून पास कराना चाहते हैं जो उनके हित में हों। हितों के विरुद्ध बने कानूनों में वे संशोधन कराने या उन्हें वापस लिये जाने पर जोर देते हैं। अमरीका में शक्ति विभाजन के अन्तर्गत अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण इनका बहुत जोर है। अपने देश में ये उतने प्रभावशाली नहीं हैं। भारत में 'इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स', 'अखिल भारतीय उत्पादक संघ", 'युवा कांग्रेस', 'विद्यार्थी परिषद', 'अखिल भारतीय हिन्दू परिषद", आदि इसके उदाहरण हैं।

फाइनर ने लिखा है कि 'जहाँ सिद्धान्त और संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होंगे वहाँ दबाव समूह पनपेंगे, जहाँ दबाव समूह शक्तिशाली होंगे वहाँ राजनीतिक दल कमजोर होंगे और जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे वहाँ दबाव समूह दबा दिये जायेंगे।'

दबाव समूहों के पक्ष में यह कहा जाता है कि वे जनतान्त्रिक प्रणाली के अनुरूप होते हैं। उनके द्वारा समाज और राज्य में सन्तुलन बना रहता है। वे जनता के हितों को ठीक प्रकार सरकार के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आलोचकों की राय में वे भ्रष्टाचार फैलाते हैं। वे अनुचित साधनों का प्रयोग करके विधायकों को प्रभावित करते हैं तथा वे अपने स्वार्थ के लिये सामान्य हित विरोधी कार्य करते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ राजनीति शास्त्र में वयस्क मताधिकार के पक्ष में हुए आन्दोलन का वर्णन कीजिये। इसके मार्ग में क्या बाधायें थीं और उन्हें कैसे दूर किया गया? (आगरा १९६६)

२ प्रतिनिधित्व का क्या अर्थ है? आधुनिक विधानमण्डल के संगठन के लिये प्रादेशिक और व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की सापेक्ष उपयोगिता पर प्रकाश डालिये। (विक्रम १९६५ ६७ आगरा १९६४ ६७ कानपुर १९६६)

३ अल्पमतों को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिये क्या पद्धतियाँ प्रयोग की जाती हैं? आनुपातिक के विरुद्ध क्या तर्क दिये गए हैं? (आगरा १९७०)

४ आनुपातिक प्रतिनिधित्व का क्या अर्थ है? इसके गुण और दोषों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये। (कानपुर १९७०)

५ प्रत्यक्ष विधि निर्माण का क्या अर्थ है ? इसके गुण और दोष स्पष्ट कीजिए।
(आगरा १९६२, ७१ विक्रम १९७१)

६ जनमत क्या है ? आधुनिक युग में जनमत निर्माण के कौन से साधन हैं ?
(८,(राजस्थान 1978 कानपुर 1972 आगरा 1973)

७ जनमत की परिभाषा कीजिये। प्रबुद्ध जनमत के विकास मे हमारे देश में कौन सी बाधाय हैं ?
(आगरा १९७१)

८ जनमत किसे कहते हैं ? आधुनिक राज्य मे जनमत के निर्माण और महत्त्व का वर्णन कीजिय।
(ए. जर (राजस्थान 1976 आगरा 1964 लखेनऊ 1967)

९ प्रजातन्त्रीय सरकार मे राजनीतिक दलों के महत्त्व पर प्रकाश डालिये। दल पद्धति के कौन से गुण तथा अवगुण हैं ?
(आगरा १९७२)

१० राजनीतिक दलो की परिभाषा कीजिये तथा जनमत के निर्माण मे इसके महत्त्व का परीक्षण कीजिये।
(कानपुर १९७०)

११ क्या लोकतन्त्रीय शासन के लिय राजनीतिक दल अनिवार्य है ? एक समुचित दलीय व्यवस्था के क्या क्या लक्षण होने चाहियें ?
(आगरा १९६५ ६८)

१२ आधुनिक राज्य मे राजनीतिक दलों का क्या स्थान है ? निम्न मे से कौन सी व्यवस्था विकासशील देशो मे जनतन्त्र के प्रभावकारी संचालन के लिय उपयुक्त है—(क) एक दलीय राज्य (ख) द्विदलीय राज्य (ग) बहुदलीय राज्य।
(राजस्थान १९७१)।

13 राजनीतिक दल से आप क्या समझते हैं। इसकी विशेषताए समझाइय। लोकतान्त्रिक राज्य मे दल किन कार्यों का सम्पादन करत है ? (राज० 1971)

14 अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न प्रणालियो का वर्णन कीजिए।
(राजस्थान 1972)

15 राजनीतिक दल एव दबाव समूह की परिभाषा बताइये दोनो का अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा राजनीतिक दल के काय स्पष्ट कीजिए।
(राजस्थान 1974, 75, 77)

16 आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था का परीक्षण कीजिए तथा इसके गुण दोष बताइये।
(राजस्थान 1976)

17 निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखें—
(अ) जनमत (ब) वयस्क मताधिकार

18 "आनुपातिक प्रतिनिधित्व अल्पसख्यको की प्रतिनिधित्व की समस्या का अच्छा समाधान है।" आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं और क्यो ?
(राजस्थान 1982)